विज्ञान का इतिहास

लेखक

समरेंद्र नाथ सेन

अनुवादक

भूपेंद्र नाथ सान्याल

पुनरीक्षक

कुमारी माधुरी निगम

वरिष्ठ अनुसंधान अधिकारी,
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,
नई दिल्ली-२२

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
पटना-३

विज्ञान का इतिहास

अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक वर्ष १९७२

विज्ञान का इतिहास

लेखक

समरेंद्र नाथ सेन

अनुवादक

भूपेंद्र नाथ सान्याल

पुनरीक्षक

कुमारी माधुरी निगम

वरिष्ठ अनुसंधान अधिकारी,

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,

नई दिल्ली-२२

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना-३

विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत-सरकार (शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित यह ग्रंथ Indian Association for the Cultivation of Science, Calcutta द्वारा प्रकाशित तथा समरेंद्र नाथ सेन लिखित बंगला पुस्तक 'विज्ञानेर इतिहास' का हिंदी अनुवाद है, जो वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली द्वारा तैयार कराया गया है।

प्रकाशित ग्रंथ संख्या : ३५

प्रथम संस्करण : अगस्त, १९७२
३०००

मूल्य : २२·०० (बाइस रुपए मात्र)

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी,
सम्मेलन भवन, कदमकुआँ
पटना-३

मुद्रक :
नवयुग प्रिंटिंग प्रेस, पटना-४

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण-द्वारा करा रही है। हिंदी भाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार-द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ समरेंद्र नाथ सेन की बंगला पुस्तक "विज्ञानेर इतिहास" का हिंदी अनुवाद है। यह अनुवाद सुप्रसिद्ध विद्वान श्री भूपेंद्र नाथ सान्याल द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसका पुनरीक्षण कु० माधुरी निगम, वरिष्ठ अनुसंधान अधिकारी, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली-२२ ने किया है।

आशा है, अकादमी-द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

अध्यक्ष
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना
दिनांक, ९ अगस्त १९७२

भूमिका

सभ्य जगत् में सर्वत्र, मानव जीवन तथा समाज के लिए विज्ञान की उपयोगिता और उसके गहरे प्रभाव के संबंध में आज तनिक भी संदेह नहीं है। विज्ञान ने मनुष्य की जीवन-धारा को आमूल परिवर्तित कर दिया है। सभ्यता का रूप ही बदल गया है। द्रुतगामी यान, परिवहन और विमानों आदि ने पृथ्वी को संकुचित कर दिया है; जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न जातियों के बीच नए संपर्क स्थापित हुए हैं; अंतर्राष्ट्रीय संबंधों और समस्याओं की उत्पत्ति हुई है। प्रायः ५ हजार वर्ष के लंबे इतिहास में, मनुष्य-जीवन तथा समाज में, अनेक राजनीतिक क्रांतियाँ, राज्यों और साम्राज्यों के उत्थान-पतन तथा धर्म और दर्शन के गहन प्रभाव जो परिवर्तन नहीं ला सके, उसे विज्ञान ने केवल ३-४ सौ वर्षों में ही संभव कर दिया है। हम में से अधिकांश ने अपने जीवन-काल में इस परिवर्तन की विशेषता और गति का अनुभव किया है।

यदि केवल बाहरी परिवर्तन तक ही विज्ञान का प्रभाव सीमित होता तो इसका इतना महत्त्व होता या नहीं, यह संदेहजनक है। विज्ञान और विशेष रूप से वैज्ञानिक पद्धति तथा आदर्श ने मनुष्य की विचार-धारा और चिंतन को एक नए मार्ग की ओर अग्रसारित कर दिया है। वैज्ञानिक का उद्देश्य नए तथ्यों और सत्यों की खोज करना है। परंतु उसकी सत्य की यह खोज, अध्यात्मवादी, धर्मानुरागी अथवा दार्शनिक की परम सत्य की खोज से भिन्न है। लोगों में एक धारणा यह है कि व्यक्तिविशेषों ने समय-समय पर कुछ परम सत्यों की उपलब्धि की; इन सत्यों से वैज्ञानिक सत्यों का कोई संबंध नहीं है। वैज्ञानिक सत्य देश-काल-पात्र निरपेक्ष है। किसी समय, किसी स्थान पर, कोई भी व्यक्ति उपयुक्त पद्धति का अनुसरण कर इस सत्य की जाँच कर सकता है। यह पद्धति ही महत्त्वपूर्ण है; इसके मूलमंत्र हैं परीक्षण और पर्य-वेक्षण। इस पद्धति के सहारे जिन तथ्यों तथा ऊर्जा और पदार्थ के जिन गुणों, प्रकृतियों और उपयोगों के आविष्कार होते हैं, वे ही मुख्य और शाश्वत हैं। मतवाद और तत्व यहाँ गौण तथा महत्त्वहीन हैं। विज्ञान में मत-परिवर्तन से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। परंतु मत-परिवर्तन होने पर धर्मतत्त्व, अध्यात्म-विद्या और दर्शन में बहुत थोड़ा ही अवशिष्ट रह जाता है।

विज्ञान की यह पद्धति और दृष्टिकोण अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रों में धीरे-धीरे व्यापक रूप से प्रसारित हो चुका है। इतिहास, अर्थनीति, राष्ट्रीयनीति और समाज-विज्ञान इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। राजनीति में भी इस मत के पक्ष में लगातार बढ़ रहे एक सबल मत का आभास मिलता है। इतिहास, अर्थनीति, राष्ट्रीयनीति, समाज-विज्ञान आदि विषयों के अध्ययन में पूर्व-निश्चित मत, कुछ मनगढ़ंत धारणाओं, अंधविश्वासों तथा संस्कारों के आधार पर अग्रसर होने के स्थान पर, परीक्षित तथा सही तथ्यों के आधार पर संपूर्ण विषय की जाँच करने की एक नई प्रेरणा आज के युग की विशिष्टता है। यह कल्याणकारी परिवर्तन विज्ञान के कारण ही हो सका है।

अध्ययन का एक बड़ा अंश राष्ट्रीय चरित्र, इतिहास-परंपरा, संस्कृति तथा अन्य विशेषताओं पर निर्भर होता है। विज्ञान ही अधीन विषय का सर्वोत्तम दृष्टांत है, जो आरंभ से ही सार्वदेशिक तथा अंतर्राष्ट्रीय एवं मानव-मात्र की साधारण संपदा है। मानव-मानस की एकता, इतने गहन रूप में, और किसी विषय या वस्तु में प्रगट नहीं हुई है। विज्ञान के प्रसिद्ध इतिहास-कार जॉर्ज सार्टन (George Sarton) ने एक जगह लिखा है :

"अनुभव से लगातार समृद्ध हो रहे किसी व्यक्तिविशेष से समग्र मानव जाति की तुलना केवल उसके वैज्ञानिक क्रिया-कलाप के दृष्टिकोण से ही विधि-सम्मत है और यह किसी अन्य तर्क की तुलना में कहीं अधिक सबल रूप में मानव जाति की एकता को प्रमाणित करता है।" [ए गाइड टु दि हिस्ट्री ऑफ सायंस, मास, १९५२]।

इस अभिमत को थोड़ा और प्रसारित कर हम यह कह सकते हैं कि विज्ञान की अंतर्निहित एकता ही एक दिन वर्तमान काल के विरोधों और संघर्षों को दूर करके स्थायी अंतर्राष्ट्रीय शांति और सद्भावना का मार्ग प्रस्तुत कर देगी।

इन कारणों से ही विज्ञान के इतिहास के अध्ययन का एक विशेष सार्थकता है। मैंने वैज्ञानिक पद्धति तथा परीक्षण और पर्यवेक्षण के जिस आदर्श का उल्लेख किया है, उसका गठन एक ही दिन में अथवा केवल एक व्यक्ति की चेष्टा से नहीं हुआ। इसके पीछे अनेक शतियों की विफलता का इतिहास है। इसके अतिरिक्त विज्ञान को अध्ययन के एक स्वतंत्र और निर्दिष्ट विषय के रूप में हम आज जो देख रहे हैं, आरंभ में ही उसकी यह

स्थिति नहीं थी। विज्ञान को बहुत दिनों तक जादूगर, ज्योतिषी, विभिन्न श्रेणियों के कारीगरों, पुरोहितों तथा दार्शनिक संप्रदायों के अनिश्चित आश्रय में, नितांत अवहेलना और निरादर के बीच, समय व्यतीत करना पड़ा। केवल एक देश में नहीं, पृथ्वी में प्रायः सर्वत्र, धर्म, दर्शन तथा निहित स्वार्थ से उसका बारंबार भीषण संघर्ष हुआ है, उसकी स्वतंत्रता को बाधा पहुँची है, यहाँ तक कि अनेक बार, प्रतिकूल अवस्थाओं में उसका अस्तित्व भी संकट में पड गया है।

वैज्ञानिक विचारों की बाधाहीन स्वतंत्रता का समय अब आया है, यह भी हम उच्च स्वर में नहीं कह सकते। नात्सी जर्मनी और फासिस्ट इटली में दूसरे महायुद्ध से पहले वैज्ञानिक गवेषणा की स्वतंत्रता को हमने क्षुण्ण होते देखा है। आणविक गवेषणा के क्षेत्र में भी स्वतंत्रता को संकुचित करने का व्यापक आयोजन निश्चय ही चिंता का एक कारण बन गया है।

अपने मूल्यों पर विज्ञान के प्रतिष्ठित होने का इतिहास बहुत दिनों का नहीं है। इस प्रतिष्ठा के बाद से ही विज्ञान की वास्तविक प्रगति हमें दिखाई पड़ती है। इस प्रगति ने भी ज्यामिति की सरल रेखा का अनुसरण नहीं किया है। विज्ञान ने बारबार भूल की है, फिर वह आगे बढ़ा है। उसके इन प्रयासों के वैचित्र्यपूर्ण इतिहास का ज्ञान न हो तो विज्ञान की संपूर्ण जानकारी नहीं हो सकेगी; जिस नए आदर्श को विज्ञान ने इस युग के मनुष्यों के सामने खड़ा किया है, उसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाएगा। विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए तो अवश्य ही, अन्य विषयों के छात्रों के लिए भी, शिक्षा की संपूर्णता के लिए इस प्रकार के इतिहास का अध्ययन अनिवार्य है।

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने एक व्यापक पृष्ठभूमि पर विज्ञान के इतिहास की चर्चा की है। वैज्ञानिक विचारधारा का विकास और वैज्ञानिकों के जीवन इस पुस्तक का मूल आलोच्य विषय होने पर भी, लेखक ने धर्म और समाज से विज्ञान का संपर्क, विज्ञान की अंतर्राष्ट्रीयता, वैज्ञानिक गवेषणा का आदर्श आदि अति मौलिक विषयों पर भी सजग दृष्टि रखी है। बंगला भाषा में विज्ञान के इस प्रकार के संपूर्ण इतिहास का यह प्रथम प्रकाशन है। इतने प्रचुर वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक तथ्यों का एकत्र समावेश और उनका निपुण विश्लेषण तथा समालोचना बहुत विरल है। इस ग्रंथ की संपूर्ण सफलता की मैं कामना करता हूँ।

कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता, १८ चैत्र १३६१

ज्ञानचंद्र घोष

प्राक्कथन

समय का मुझे ठीक स्मरण नहीं है—१९४५ अथवा ४६ होगा। इंडियन कौंसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स (Indian Council of World Affairs) के प्रयास से शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति के क्षेत्रों में पूर्वी देशों की देन के संबंध में विचार-विनिमय के उद्देश्य से एशिया के विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन आयोजित हुआ था। कौंसिल के संचालक-मंडल ने प्राध्यापक मेघनाद साहा से एशिया की विज्ञान-साधना के संबंध में एक निबंध लिख भेजने का अनुरोध किया। इस निबंध की रचना में यत्सामान्य अंश ग्रहण करने का जो अवसर मुझे प्राप्त हुआ, उसी ने मुझे विज्ञान के इतिहास की ओर आकृष्ट किया और मेरे मन में इस इतिहास के प्रति अनुराग और उत्साह की सृष्टि की।

इसके थोड़े ही दिनों बाद, संयुक्त राष्ट्रमंडल के शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति संगठन के पैरिस स्थित विज्ञान विभाग में काम करते हुए (जुलाई १९४७-जून १९४९) इस विषय में अधिक मनोनिवेश करने और इस संबंध में कुछ पुस्तकों एवं पत्रिकाओं को देखने का मुझे आशातीत सुअवसर प्राप्त हुआ। विज्ञान-विभाग के निर्देशक, यशस्वी वैज्ञानिक तथा विज्ञान के इतिहासकार डाक्टर जोसेफ नीडहम, (Dr. Joseph Needham) उस समय, चीन के विज्ञान तथा सभ्यता के विषय पर विश्वकोष के अनुरूप एक विशाल ग्रंथ की रचना में लगे हुए थे। सात खंडों के इस ग्रंथ का प्रथम खंड अभी हाल में प्रकाशित हुआ है—सायंस ऐंड सिविलाइजेशन इन चायना (केंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, खंड १, १९५४)। डाक्टर नीडहम के अतिरिक्त, विज्ञान के इतिहास के कुछ और विशेषज्ञ भी हमारे विभाग में थे। उनमें पुर्तगाल के डाक्टर आमडो कॉर्टेसा तथा बेलजियम के डाक्टर जो पेल्सेनिए के नाम उल्लेखनीय हैं।

संयुक्त राष्ट्रमंडल के शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति संगठन के तत्वावधान में मानव-संस्कृति के इतिहास की रचना की एक योजना उस समय स्वीकृत हुई थी। उसमें विभिन्न जातियों की वैज्ञानिक चेष्टा और देन की समुचित चर्चा हो, इस उद्देश्य से ये विशेषज्ञ सहयोग प्रदान कर रहे थे। समाज तथा अंत-

जातीय क्षेत्रों से विज्ञान के संपर्क तथा उन पर विज्ञान के प्रभाव के संबंध में पृथ्वी के विभिन्न देशों के जन-साधारण को सजग बनाने के काम में यूनेस्को संस्था किस प्रकार सहायता कर सकती है, इस विषय में एक कार्य का भार मुझे सौंपा गया था। ऐसी परिस्थिति में नितांत स्वाभाविक कारणों से विज्ञान के इतिहास के प्रति मेरा अनुराग और उत्साह बहुत बढ़ गया और साधारण पाठकों के लिए इस विषय में कुछ लिखने की मेरी इच्छा प्रबल हो उठी।

विज्ञान के इतिहास की रचना एक दुरूह काम है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जो भी व्यक्ति इस कार्य में हाथ डालेगा उसे विज्ञान और साथ ही इतिहास का ज्ञान होना आवश्यक है। उसे विज्ञान के किसी एक विभाग की नहीं, बल्कि सभी विभागों की जानकारी होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त पुरातत्व, दर्शन और धर्मतत्व से भी उसका थोड़ा-बहुत परिचय होना आवश्यक है। अपने इस सामान्य प्रयास में, सभी पहलुओं को सामने रखते हुए, विभिन्न विद्याओं के बीच कितना तालमेल और सामंजस्य मैं रख सका हूं, इसका विचार पाठक ही करेंगे। मेरा मुख्य उद्देश्य, विभिन्न विद्याओं के परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिक विचार-धारा के विकास की अंतर्निहित एकता और समग्रता को यथासंभव प्रस्फुटित करना है। यदि इस कार्य में, कम से कम कुछ हद तक, मुझे सफलता मिली हो तो मैं यह मानूंगा कि मेरा सारा श्रम सार्थक हुआ है।

पहले यह योजना बनी थी कि प्रागैतिहासिक काल से लेकर १६ वीं शती के अंत तक, प्राचीन तथा मध्ययुग के विज्ञान का इतिहास एक ही खंड में पूरा कर लिया जाय। परंतु मुद्रणकार्य में विलंब होने के कारण और ग्रंथ के कलेवर की दृष्टि से इसे दो खंडों में प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। दोनों में से प्रत्येक खंड अध्ययन की दृष्टि से स्वयंसंपूर्ण हो, इस ओर पूरा ध्यान दिया गया है।

विज्ञान के इतिहास की चर्चा बंगला भाषा में करने की प्रयोजनीयता पर बल देना अब आवश्यक नहीं जान पड़ता। शिक्षित जनता और छात्र वर्ग को अपनी मातृभाषा के माध्यम से विज्ञान के विकास की कहानी की जानकारी हो सके और इस विषय की वे और अधिक चर्चा कर सकें, इसका मार्ग क्रमशः खुल जाना चाहिए और उसे प्रशस्त भी होता रहना चाहिए। हमारे विज्ञान की भाषा अब भी दुर्बल है। शीघ्र ही यह पुष्ट और सबल होकर

यूरोपीय भाषाओं की समकक्षता प्राप्त कर सके, इसके लिए किसी भी प्रकार के प्रयास का एक विशेष मूल्य है, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस ग्रंथ की रचना में जिनसे मुझे विशेष सहायता प्राप्त हुई है, उनमें सबसे पहले मेरे प्राध्यापक डाक्टर मेघनाद साहा का नाम उल्लेखनीय है। विश्वकोष के समान उनके ज्ञान की तुलना कम ही मिलती है। विज्ञान के इतिहास का उनका ज्ञान असाधारण है। उन्होंने मुझे अपने निजी पुस्तकालय के उपयोग की सुविधा प्रदान की और विभिन्न विषयों में जो मूल्यवान उपदेश दिए, उनका पालन किए बिना यह ग्रंथ त्रुटिपूर्ण रह जाता। इस ग्रंथ की रचना के विषय में डाक्टर ज्ञानचंद्र घोष ने मुझे प्रारंभ से ही विशेषरूप से प्रोत्साहित किया। केवल इतना ही नहीं कि भूमिका लिखकर इस ग्रंथ का उन्होंने महत्त्व बढ़ाया है, बल्कि सायंस असोसियेशन के भूतपूर्व सभापति के रूप में उनके परामर्श के कारण ही इस ग्रंथ का प्रकाशन संभव हो सका। श्रद्धेय प्राध्यापक डाक्टर शिशिर कुमार मित्र की सहायता प्राप्त किए बिना इस ग्रंथ को इतने सुंदर रूप में प्रकाशित करना संभव नहीं होता। प्राध्यापक प्रियरंजन राय ने रसायन के इतिहास संबंधी चर्चा में मुझे विशेष सहायता दी है। उन्होंने हाल में हिस्ट्री ऑफ हिंदू केमिस्ट्री (History of Hindu Chemistry) नामक आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय के ग्रंथ का नए सिरे से संपादन किया है और पांडुलिपि की अवस्था में ही इसके पठन की सुविधा उन्होंने मुझे दी। इनमें से प्रत्येक का ऋण मैं खुले हृदय से स्वीकार करता हूं।

अन्य जिन लोगों से मुझे लगातार उत्साह और प्रेरणा मिली, उनमें डाक्टर पुलिन बिहारी सरकार, डाक्टर शांतिरंजन पालित, श्री भूपतिनाथ चौधरी और प्रख्यात शिशुसाहित्यिक तथा इतिहासकार श्री योगेंद्र नाथ गुप्त के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। मेरी पत्नी श्रीमती कणिका देवी ने पांडुलिपि के संशोधन कार्य में मेरी सहायता की है और इस ग्रंथ की विशद अनुक्रमणिका का प्रणयन उनकी सहायता से ही संभव हो पाया।

इस ग्रंथ के प्रकाशन के संबंध में भारत सरकार और पश्चिम बंगाल की सरकार की आर्थिक सहायता और उदारता की बात अन्यत्र कृतज्ञता के साथ स्वीकृत की गई है। साधारण जनता में विज्ञान का अधिक प्रचार हो, इस विषय में अधुना सरकार का आग्रह और उत्साह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उसके इस प्रकार के आग्रह, उत्साह और सहायता के बिना इस ग्रंथ का प्रकाशन संभव न होता।

अंत में इस ग्रंथ के प्रकाशन को अनुमोदित करने के लिए इंडियन असोसिएशन फॉर दि कल्टिवेशन ऑफ सायंस (Indian Association for the Cultivation of Science) के संचालक मंडल (Council) के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

कलकत्ता
१४, चैत्र, १३६१ (वंगाब्द),
ई० सन् २८ मार्च, १९५५

—लेखक

लेखक की टिप्पणी

(दूसरे संस्करण के लिए)

ग्रंथ के प्रथम संस्करण ने बंगलाभाषी पाठक-समाज की दृष्टि और मन को जिस प्रकार आकर्षित किया, उससे मुझे बहुत उत्साह मिला। इस देश में विज्ञान के इतिहास की चर्चा और अध्ययन भले ही बहुत कुछ नया जान पड़ें, परंतु पाश्चात्य देशों में इस विषय को अधुना वयस्कों के अधिकार और सम्मान प्राप्त हुए हैं। वैज्ञानिकों और इतिहासकारों को, अध्ययन के एक पृथक् और विशेष विभाग के रूप में इसकी गणना करने में एक समय जो कुंठा थी, वह अब नहीं है। यूरोप और अमेरिका के अधिकांश विश्वविद्यालयों ने अब विज्ञान के इतिहास के अध्ययन और गवेषणा का अच्छा प्रबंध किया है और इस संबंध में अधिक अवसर तथा सुविधाएँ देने के लिए वे सदा आग्रहशील हैं।

संप्रति, एक अखिल भारतीय वैज्ञानिक प्रतिष्ठान, नैशनल इंस्टिट्यूट ऑफ सायंसेज आफ इंडिया (National Institute of Sciences of India) ने भारत में विज्ञान-साधना के एक प्रामाणिक इतिहास की रचना की योजना स्वीकृत की है। इस योजना के अनुसार एशियाटिक सोसायटी (Asiatic Society) जैसी कुछ प्रसिद्ध संस्थाओं के सहयोग से, इतिहास-रचना का प्रथम पर्व—तथ्य-संग्रह कार्य—इस बीच आरंभ भी हो गया है। पिछले वर्ष नैशनल इंस्टिट्यूट (National Institute) ने भारतीय विज्ञान के इतिहास के संबंध में एक संगोष्ठी आयोजित की। इस प्रकार के प्रयास के फलस्वरूप इस देश में विज्ञान के इतिहास के प्रति उत्साह और आग्रह क्रमशः बढ़ता गया है, इसमें कोई संदेह नहीं। परंतु विज्ञान के इतिहास की चर्चा और अध्ययन को स्थायी रूप देने और दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करने के लिए विश्वविद्यालयों का सहयोग अपरिहार्य है। दिल्ली-जैसे कुछ विश्वविद्यालयों में विज्ञान के इतिहास का एक पाठ्यक्रम, स्नातक स्तर पर, कुछ दिनों से आरंभ हुआ है, परंतु अधिकांश विश्वविद्यालय अब भी इस विषय में उदासीन हैं। मुझे आशा है कि विज्ञान के अध्ययन और चर्चा के द्रुत प्रसार से संगति रखते हुए हमारे विश्वविद्यालय भी विज्ञान के अध्ययन और गवेषणा के लिए हर प्रकार की व्यवस्था करेंगे।

तथ्यों और मनवाद की दृष्टि से पहले और दूसरे संस्करणों में अंतर बहुत थोड़ा है। त्रुटि-संशोधन और कहीं-कहीं भाषा के संस्कार की चेष्टा मात्र की गई है। हाल में कागज के संभरण में कमी और मुद्रण संबंधी बहुत प्रकार की असुविधाओं के होते हुए भी ग्रंथ के मुद्रण की विशेषता को पहले की भाँति ही रखने की चेष्टा की गई है।

कलकत्ता
३० आषाढ़, १३६९ (बंगाब्द);
२४ आषाढ़, १८८४ (शकाब्द);
ई० सन् १५ जुलाई, १९६२।

—लेखक

विषय-सूची

प्रागैतिहासिक काल : बेबीलोन, मिस्र, भारतवर्ष, महाचीन आदि सभ्यता के प्राचीनतम केंद्रों में विज्ञान का प्रथम विकास

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

ग्रीक और अलेग्जेंड्रियाई विज्ञान

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

रोमन और ग्रीको-रोमन विज्ञान, प्राचीन विज्ञान की समाप्ति और यूरोप में अंधकार-युग का आरंभ

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

प्रागैतिहासिक काल : बेबीलोन, मिस्र, भारतवर्ष, महाचीन आदि सभ्यता के प्राचीनतम केंद्रों में विज्ञान का प्रथम विकास

पहला अध्याय

विज्ञान का अर्थ, विज्ञान और समाज, विज्ञान की अंतर्राष्ट्रीयता

वर्तमान मानव-सभ्यता पूर्ण रूप से विज्ञान पर निर्भर है। सभ्यता के विकास में विज्ञान की देन और अंश-ग्रहण के संबंध में विद्वानों में किसी समय कितना ही मतभेद रहा हो, परंतु आज उसका कोई स्थान ही नहीं है। विज्ञान इस सभ्यता की मूल बुनियाद है और इसके अनुशीलन तथा वर्तमान परिणति के बिना सभ्यता का विकास कल्पनातीत है, इस विषय में सभी विद्वान और सभी पक्ष अब एकमत हैं। भौतिकतावादी सभ्यता की भलाई-बुराई के बारे में अवश्य कुछ प्रश्न हैं। मानव समाज के लिए इसने जिन समस्याओं और जटिलताओं की सृष्टि की है, उनके कारण दुश्चिंता का अंत भी नहीं है। लेकिन अच्छी हो या बुरी, यह भौतिकतावादी सभ्यता आज मानव-समाज के लिए परम सत्य है और इस सभ्यता का नियंत्रण करनेवाला विज्ञान आज मानव-जीवन में अपरिहार्य है।

डेढ़ सौ वर्ष पहले नेपोलियन को, रूस-दुर्घटना के बाद, विलना से पेरिस लौटने में ३१२ घंटे लगे थे। दोनों नगरों के बीच की १,४०० मील की दूरी इस समय रेल-मार्ग से ३० घंटों में और विमान-मार्ग से ४-५ घंटों में तय की जाती है। कुछ समय पहले भी उत्तर भारत के विभिन्न तीर्थों का पर्यटन कर अपने स्थान पर लौटने में जो समय लगता था, उससे बहुत कम समय में अब लोग रोम, लंदन, न्यूयार्क, सेनफ्रांसिस्को, टोकियो, हांगकांग और सिंगापुर आदि होकर पृथ्वी की परिक्रमा पूरी कर लेते हैं।

रोमन साम्राज्य की चौमुखी समृद्धि के युग में भी मनुष्य का औसत जीवन-काल २५ वर्ष से अधिक नहीं था। प्रगतिशील यूरोप और अमेरिका में इस समय जीवन-काल ६५ वर्ष है और शीघ्र ही १०० वर्ष की आशा उन देशों के लोग करते हैं। अमेरिका का एक साधारण नागरिक जिस प्रकार सुख-स्वच्छंदता का जीवन व्यतीत करता है, उसकी कल्पना मिस्र के फेरो भी नहीं कर सकते थे।

किसी समय इस दुनिया के मुट्ठीभर बाशिंदों को भोजन की तलाश में, विश्व भर में जंगली जानवरों का पीछा करते हुए, अनेक दिन निराहार व्यतीत करने पड़े हैं। आज वही पृथ्वी दो अरब मनुष्यों के शोरगुल और कार्य-व्यस्तता से मुखरित है। किसी-किसी अंचल में खाद्याभाव अवश्य है, परंतु कई लाखगुनी बढ़ी हुई जनसंख्या का भार हमारी धरती सानंद वहन कर रही है।

मनुष्य की बाह्य जीवन-प्रणाली में दूर-दूर तक फैले हुए ये परिवर्तन किसी विशेष सामाजिक, राष्ट्रीय या राजनीतिक परिवर्तन के परिणाम नहीं हैं। विज्ञान की प्रगति और प्रयोग इन परिवर्तनों का प्राथमिक और मौलिक कारण है। बल्कि इन परिवर्तनों में संतुलन और सामंजस्य स्थापित करने के उद्देश्य से ही सामाजिक, राष्ट्रीय और राजनीतिक परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ी है। सभ्यता इन सभी प्रकारों के परिवर्तनों का सम्मिलित परिणाम है। वैज्ञानिक प्रयोग-जन्य परिवर्तित जीवन-प्रणाली तथा मानसिक दृष्टिकोण से सामंजस्य रखकर सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन लाने में जब भी विलंब हुआ अथवा कोई कठिनाई हुई, तभी सभ्यता के संकट का आविर्भाव होता देखा गया है। वर्तमान सभ्यता भी इसी प्रकार के एक संकट का सामना कर रही है।समाज, विज्ञान की अति द्रुतगति से कदम मिलाकर चलने में आज समर्थ नहीं है। राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था भी विज्ञान की इस तेज गति से तालमेल नहीं रख पा रही है। यही कारण है कि खाद्याभाव होते हुए भी अनाज जला डालना पड़ रहा है, प्रचुरता के बावजूद बेरोजगारी की समस्या उग्र होती जा रही है, अनेक कल्याणकारी प्रवृत्तियों में विज्ञान के प्रयोग के लिए विस्तृत क्षेत्र पड़ा हुआ है, तथापि विनाशकारी भयावह विश्व-युद्ध से, पृथ्वी, एक छोर से दूसरे छोर तक आंदोलित हो रही है। ऊपरी दृष्टि से, ये सभी बातें विज्ञान पर निर्भर यांत्रिक सभ्यता का अनिवार्य परिणाम हैं, ऐसा जान पड़ना असंगत नहीं है। इसीलिए किसी-किसी ने आवाज उठाई है कि कुछ दिनों के लिए विज्ञान और वैज्ञानिकों को अवकाश ले लेना चाहिए, अन्यथा सभी कुछ विश्रृंखल हो जायगा। सन् १९२७ ई० में "ब्रिटिश एसोसिएशन फॉर दि एडवांसमेंट ऑफ साइंस" के अधिवेशन में बिशप ऑफ रिपन ने यह अभिमत प्रगट किया : "......क्या मैं, अपने श्रोताओं में से कुछ एक के द्वारा 'लिंच' (Lynch) किए जाने का खतरा उठाते हुए, यह सुझाव देने का साहस कर सकता हूँ कि यदि दस वर्ष के लिए प्रत्येक भौतिक और रासायनिक प्रयोगशाला को बंद कर दिया

जाय और उनमें जो धैर्य तथा साधन-संपन्न शक्ति है, उसे, मिलकर चलने की खोई हुई कला को पुनः प्राप्त करने और मानव-जीवन के पलड़ों में दोनों छोरों को मिलाने के लिए कोई सूत्र ढूँढ़ निकालने के काम में लगाया जाय तो वैज्ञानिक मंडलियों के बाहर मानव सुख के योगांक में अनिवार्यतः कोई कमी नहीं आएगी।*

परंतु क्या वास्तव में वैज्ञानिकों के लिए अवकाश ग्रहण करने का समय आ गया है ? बढ़ी हुई अथवा तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्य-समस्या के समाधान के लिए कृषि-उपज में वृद्धि की जो आवश्यकता है, वह वैज्ञानिकों की विशेष चेष्टा के बिना कैसे संभव हो सकेगी ? कोयला, पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस आदि शक्तियों की आधार, अमूल्य खनिज संपदा धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है; अतः वैकल्पिक शक्तियों के स्रोत का आविष्कार कर यदि उन्हें काम में न लगाया गया तो यह शंका है कि निकट भविष्य में इस यांत्रिक सभ्यता के पहियों का चलना बिलकुल ही बंद हो जायगा। हिमयुग में बर्फ के प्रसार के कारण मनुष्य और जीव-जगत् को जिस दुर्घटना का सामना करना पड़ा था, ऊर्जा के अभाव में यांत्रिक युग के मानव को उससे भी अधिक व्यापक ध्वंस के लिए तैयार रहना पड़ेगा। इसीलिए वैज्ञानिक कार्य-तत्परता में विराम अथवा लेश मात्र संकुचन की बात सोची भी नहीं जा सकती। इसे वर्तमान सभ्यता का प्राण-स्वरूप स्वीकार करना ही होगा। विज्ञान की बदौलत मनुष्य जिस अमित शक्ति का अधिकारी हुआ है, उसके दुरुपयोग से यदि किसी समस्या की उत्पत्ति हुई हो, अथवा ऐसा जान पड़े कि शांति के मार्ग में विघ्न उत्पन्न हो रहा है तो उस दुरुपयोग की रोक-थाम का आयोजन करना ही हमारा कर्तव्य है। जिस प्रकार की मानसिक अवस्था या सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था, शक्ति के दुरुपयोग के लिए जिम्मेदार है, कल्याणकारी बुद्धि-द्वारा संचालित होकर उसमें आवश्यक परिवर्तन करना होगा। विज्ञान की नवोपलब्ध शक्ति के परिप्रेक्ष्य में मनुष्य और मनुष्य के बीच तथा विभिन्न राष्ट्रों के बीच नए संबंधों की स्थापना की अत्यंत शुभ घड़ी आज समुपस्थित है।

विज्ञान की परिभाषा

अब प्रश्न यह है कि विज्ञान शब्द का हम क्या अर्थ लगाते हैं ? विज्ञान की वास्तविक परिभाषा क्या है ? इस प्रश्न का सर्वसम्मत संतोषजनक उत्तर

* J. D. BERNAL. "The Social Function of Science." 194'. p.2

देना बहुत कठिन है। विज्ञान के सुदीर्घ इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों में इसके विभिन्न अर्थ लगाए गए हैं। आज भी विज्ञान के यथार्थ तात्पर्य और लक्ष्य के विषय में पंडितों में मतभेद का अंत नहीं है। वेब्सटर ने अपने कोश में अंग्रेजी 'साइंस' (Science) शब्द की कई व्याख्याएं की हैं। उनकी प्रथम व्याख्या के अनुसार विज्ञान, सिद्धांतों अथवा तथ्यों का ज्ञान है। अनेकांश में, इसी अर्थ में, लैटिन शब्द 'साएंशा' का प्रयोग, मध्ययुगीन यूरोपीय पंडितों की रचनाओं में पाया जाता है। इस अर्थ में धर्मदर्शन भी विज्ञान के पर्याय में पड़ता है। कम-से-कम, मध्य युग के दार्शनिकों का, जिनमें टॉमस एक्विनस प्रमुख थे, यही विचार था।*

वेब्सटर की दूसरी व्याख्या कहीं अधिक स्पष्ट है और इसका क्षेत्र भी किसी हद तक सीमित है। इस अर्थ के अनुसार विज्ञान "संचित और सर्वजन-स्वीकृत ज्ञान है, जिसे, सामान्य सत्यों की खोज या सामान्य नियमों की क्रिया के संदर्भ में, व्यवस्थापित और निरूपित किया गया है।" (Accumulated and accepted knowledge which has been systematized and formulated with reference to the discovery of general truths or the operation of general laws.) यहां भी विज्ञान का बहुत व्यापक अर्थ स्वीकृत किया गया है। व्यवस्थापित तथा निरूपित सर्वजनग्राह्य हर प्रकार का ज्ञान ही विज्ञान है। इसमें, जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान का स्थान है, उसी प्रकार दर्शन, अर्थनीति, इतिहास, भाषातत्व आदि नाना विषय इसमें शामिल हैं। जर्मन शब्द 'व्हिसेनशाफ्ट' का व्यवहार भी बहुत कुछ इसी अर्थ में होता है।

आजकल विज्ञान शब्द का व्यवहार और भी संकुचित अर्थ में किया जाता है। अब विज्ञान शब्द से हमें प्राकृतिक विज्ञान और भौतिकी, ज्योतिष, रसायन, भूविज्ञान, जीवशास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, सार्वजनिक-निर्माण-विज्ञान, कृषि,

* "In the great medieval question: 'Is Theology a Science ?' .... the word Science has this meaning, and is to be specially distinguished from faith. Do we know that God exists, or do we only believe it ? St. Thomas claims that we know this truth, and would know it even if there were no inspired book in which we believe".—Stewart C. Easton, Roger Bacon and His Search for a Universal Science, Oxford, 1952

मनोविज्ञान आदि उसके विभिन्न विभागों तथा उनकी शाखा-प्रशाखाओं का बोध होता है। 'एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में सर विलियम सेसिल डेंपियर ने इस सीमित अर्थ में ही विज्ञान शब्द का व्यवहार किया है। उनकी व्याख्या के अनुसार विज्ञान, नैसर्गिक घटनावली और उनके बीच के संबंधों का सुसंबद्ध ज्ञान है (Ordered knowledge of natural phenomena and of their relations between them)। विज्ञान की यह अति सुंदर और संक्षिप्त परिभाषा अवश्य है, परंतु इसमें भी थोड़ी त्रुटि रह गई है। आधुनिक विज्ञान की प्रधान विशेषता यह है कि यह परीक्षण और प्रेक्षण-सापेक्ष है। पंद्रहवीं और सोलहवीं शती में इतालवी रिनेसां * के अनुकूल वातावरण में धीरे-धीरे आधुनिक विज्ञान का जन्म हुआ और उसके मूल में था लिओनार्दो, वेसालियस, गेलीलिओ, हार्वे आदि रिनेसां-युग के प्रमुख वैज्ञानिकों का प्रेक्षण तथा परीक्षण के आदर्श के प्रति गहरा अनुराग। इस नई वैज्ञानिक पद्धति की उदार स्वर से घोषणा की फ्रांसिस बेकन ने। उन्होंने इस पद्धति का सुचिंतित विश्लेषण लिपिबद्ध किया। परवर्ती काल में विशुद्ध बेकनीय पद्धति से चाहे वैज्ञानिक गवेषणा न हुई हो, तथापि परीक्षण तथा प्रेक्षण की महत्ता की ओर दृष्टि आकर्षित करते हुए उन्होंने वैज्ञानिक विचारधारा को जो नया उत्साह प्रदान किया और नई प्रेरणा दी, उसका प्रभाव आज भी मौजूद है। इसलिए विज्ञान को केवल 'व्यवस्थापित ज्ञान' की संज्ञा देने की बजाय कहना यह चाहिए कि विज्ञान नैसर्गिक घटनावली और उनके संबंधों के विषय में परीक्षण तथा पर्यवेक्षण-लब्ध श्रृंखलाबद्ध ज्ञान है।

उपर्युक्त परिभाषा की अपर्याप्तता

इस प्रकार देखने से जिस विज्ञान का बोध होता है, उसका इतिहास ४-५ सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। इतालवी रिनेसां के समय इसके प्रथम लक्षण प्रकाश में आए और सोलहवीं शती के मध्यभाग से इसका प्रारंभ हुआ। परंतु यदि यह समझा जाय कि सोलहवीं शती के पहले विज्ञान नाम की कोई चीज नहीं थी, तो बड़ी भूल होगी। विज्ञान का मूल सुदूर अतीत में प्रसारित है। यूरोपीय रिनेसां के पहले संपूर्ण मध्ययुग में इस्लामी सभ्यता के आश्रय में, पश्चिम में स्पेन से लेकर पूर्व में भारत तक विशाल भूखंड की विभिन्न जातियों ने आश्चर्यजनक वैज्ञानिक कार्य-तत्परता का परिचय दिया है। अरबी विज्ञान के पहले, दूसरी से लेकर आठवीं या नवीं

* **Renaissance**—नवचेतना या पुनर्जागरण (अनुवादक)

शती की लगभग सात सौ वर्षों की अवधि में, सिंधु-गंगा-यमुना-ब्रह्मपुत्र-प्रक्षालित भारत में और चीन, जापान, कोरिया आदि दूर पूर्व के देशों में विज्ञान की विशेष उन्नति हुई थी। उससे भी पहले ग्रीक जाति की विज्ञान-साधना मानव-प्रतिभा का अति समुज्वल निदर्शन है। थालेस से लेकर गैलेन तक ८ सौ वर्षों की अवधि में, अनेक उत्थान-पतनों के बीच इस विज्ञान-चर्चा की निर्बाध गति थी। पिथागोरस, अरस्तू, आर्किमीडिस, युक्लिड, हिपार्कस, टालेमी, गैलेन-जैसे प्रमुख वैज्ञानिकों-द्वारा गणित, ज्योतिष, भूगोल, चिकित्सा-शास्त्र, जीव-शास्त्र आदि विज्ञान के विभिन्न विभागों में की गई विस्मयकर उन्नति की बात स्मरण करके ही अल्फ्रेड ह्वाइटहेड ने एक बार यह अभिमत प्रकट किया था कि ईसा के पूर्व तीसरी शती में आर्किमीडिस को गणित, यांत्रिकी (Mechanics), भौतिकी आदि विषयों का जितना ज्ञान था, १४ वीं और १५ वीं शती में यूरोप के श्रेष्ठ गणितज्ञों और भौतिकी-विदों का विज्ञान के इन विषयों का ज्ञान उनसे कहीं कम था।*

आधुनिक विज्ञान से रिनेसां-पूर्व विज्ञान का मुख्य प्रभेद यह है कि आज जिस प्रकार विज्ञान की एक स्वतंत्र सत्ता है, जिस प्रकार इसकी चर्चा की विशेष पद्धति निर्धारित हुई है और इसकी बात छिड़ने पर जैसे एक विशेष प्रकार के ज्ञान और मनन-विधि का बोध होता है, पहले वैसा कुछ नहीं था। विज्ञान उस समय धर्मतत्व अथवा दर्शन अथवा दोनों में ही अविभिन्न रूप में मिला हुआ था। मध्य युग में इस्लामी मध्य-पूर्व और लैटिन यूरोप में दर्शन और धर्मतत्व से संगति रखकर ही विज्ञान का जीवन स्पंदित होता दिखाई देता है। ग्रीक काल में विज्ञान दर्शन का ही नामांतर था। ऐसी अवस्था में विज्ञान के अर्थ और लक्ष्य भिन्न होंगे, यह कहना अनावश्यक है। उस समय यह बताना ही पर्याप्त था कि विज्ञान तत्व और तथ्य का ज्ञान है।

विज्ञान की प्राचीनता

कुछ दिनों पहले भी अधिकांश पंडितों और पुरातत्वविदों की यह धारणा थी कि ग्रीक अभ्युत्थान के बाद अर्थात् लगभग ईसा-पूर्व ७वीं शती से ही वास्तविक विज्ञान-चर्चा का प्रारंभ हुआ। ग्रीकों के पहले अनेक प्रकार की विद्याएँ शायद थीं, लेकिन विज्ञान नहीं था। विज्ञान शब्द से हम आज मोटे तौर पर

* A. N. Whitehead, Science and Modern world, Cambridge, 1927.

जो कुछ समझते हैं, उसकी प्रथम सृष्टि ग्रीक दार्शनिकों ने ही की।* हाल में पुरातात्विक तथा अन्य प्रकारों की गवेषणाओं से यह धारणा पूर्णतया भ्रांत सिद्ध हुई है। ग्रीस के लोगों के कम-से-कम दो हजार वर्ष या इससे भी पहले टाइग्रिस-युफ्रेतिस, नीलनद और सिंधु-नद-प्रक्षालित उर्वर घाटियों में जिन जातियों ने पहली सभ्यता की नींव डाली थी, उनकी विज्ञान संबंधी देन को अस्वीकार करना इतिहास के एक अति महत्वपूर्ण सत्य को अस्वीकृत कर देना होगा। जिन जातियों के प्रेक्षण तथा मननशीलता के कारण वर्ष, मास, ऋतु, ग्रह, राशिचक्र, ग्रहण और ग्रहण का काल-निर्णय, शिरोविंदु और उसका परिक्रमा पथ आदि दुरूह ज्योतिष संबंधी आविष्कार संभव हुए, जिनके प्रयत्न से सर्व प्रथम अंकगणित, ज्यामिति और बीजगणित का उद्भव हुआ और जिस ज्ञान का प्रयोग पिरामिडके माध्यम से आज भी प्रतिबिंबितहै, एवं जिन लोगों ने सोना, ताँबा, पीतल, लोहा, चाँदी, सीसा आदि खनिज पदार्थों तथा अनेक प्रकार के रंग, काँच और चीनी मिट्टी से वस्तुएँ तैयार करके और उनका उपयोग करके अपने विस्मयजनक रासायनिक ज्ञान का परिचय दिया था, उनके समय में विज्ञान नहीं था यह उक्ति पूर्णतः निराधार प्रतीत होती है। दूसरी ओर, प्राचीन बेबीलोन तथा मिस्र के विज्ञान पर ही मुख्यतः ग्रीक विज्ञान की बुनियाद प्रतिष्ठित है, यह सत्य अब धीरे-धीरे प्रकट हो रहा है। इतना ही नहीं, ज्योतिष, अंकगणित, बीजगणित और रसायनशास्त्र-जैसे विज्ञान के कुछ विभागों में प्राचीन बेबीलोन और मिस्रवासियों का ज्ञान ग्रीस-निवासियों के ज्ञान की तुलना में बहुत अधिक उन्नत था।

बेबीलोन, मिस्र और मोहेंजोदड़ो के पहले, पाषाण और नवपाषाण युगों में जो असभ्य, असहाय, निराश्रय मानव समुदाय, प्रकृति के साथ नाना प्रकार से जूझते हुए, जीवन धारण करता था और जिसने अग्नि-उत्पादन, कृषि, पशुपालन, मिट्टी के काम, कुटीर निर्माण आदि की विद्या प्राप्त कर, धीरे-धीरे प्रकृति पर आधिपत्य जमाया था, पृथ्वी के उन आदिम, असभ्य निवासियों के कार्यों में भी, आधुनिक पुरातात्विकों और मानव-जाति वैज्ञानिकों को वैज्ञानिक प्रयत्न का आभास मिलता है। उनकी इस विशेष चेष्टा का कोई लिखित इतिहास नहीं है, लेकिन उनके अनेक निदर्शनों, उनके द्वारा उद्भावित और

* "There was knowledge before the Greeks, but no Science. Science as we know it was a Greek creation." —H. J. Randall, The Creative Centuries, London, 1945, p. 29-42

व्यवहृत अनेक वस्तुओं तथा जीवनोपयोगी अनेक उपकरणों ने, भूगर्भ के विभिन्न स्तरों पर दबे रहकर, प्रागैतिहासिक मानव की कथा को आज भी काल के विकराल हाथों से बचाकर, सावधानी से सुरक्षित रखा है। इन सामग्रियों और उपकरणों के, असीम धैर्य और अध्यवसाय के साथ, परीक्षण-द्वारा आदिम मानव के मानस का जो परिचय उद्‌घाटित हुआ है, उसमें एक प्रकार के वैज्ञानिक प्रयत्न की स्पष्ट छाप है। पाषाण युग के जिस चित्रकार ने सुनिपुण हाथ से कंदरा-प्राचीर पर 'बाइसन' (जंगली भैंसे) का चित्र अंकित किया है और आधुनिक काल में जिस शिल्पी ने तूलिका-रेखाओं-द्वारा 'मोनालिसा' की मुसकान को प्रस्फुटित किया है, इन दोनों शिल्पियों के बीच कहीं ऐसा विस्मयजनक मानसिक मेल है, जो हजारों वर्षों के व्यवधान के बावजूद निर्मल और अपरिवर्तित है। आत्मरक्षा और जीवन-धारण के उद्देश्य से मनुष्य ने एक समय सख्त पत्थर को अस्त्र, कुल्हाड़ी और हल का रूप प्रदान कर अपनी आविष्कार-शक्ति का परिचय दिया था। ५० हजार वर्ष बाद उसी मनुष्य के योग्य वंशज, आत्मरक्षा और जीवन-धारण की उसी अनिवार्य प्रयोजनीयता से प्रेरित होकर कृषि, शिल्प, स्थापत्य, लोक-निर्माण, सार्वजनिक स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि विविध, बहुमुखी चेष्टाओं में, उसी शाश्वत, अजेय मानव-बुद्धि और आविष्कार-शक्ति का परिचय दे रहे हैं। इस विचित्र, जटिल और व्यापक चेष्टा का प्रधान अवलंबन, मानव-बुद्धि और आविष्कार-शक्ति-जनित जिस ज्ञान को, सुसज्जित, सुव्यवस्थित करके विभिन्न चित्रों तथा तालिकाओं और नाना संकेतों तथा सूत्रों में प्रकाशित कर आज विज्ञान का नाम दिया जाता है, यद्यपि उस प्रकार का कोई सुव्यवस्थित, लिपिबद्ध विज्ञान पाषाण-युग के मनुष्य के लिए कल्पनातीत था, तथापि मानसपट पर सदा जाग्रत जिस अलिखित ज्ञान ने उसके सभी कार्यों को अनुप्राणित और सार्थक किया, वह भी विज्ञान के सम्मान का अधिकारी होने का दावा अवश्य ही कर सकता है।

प्रशांत महासागर के वक्ष पर फैले हुए अनेक द्वीपों और अफ्रीका के जंगलों में अब भी अनेक असभ्य, बर्बर जातियाँ बसी हुई हैं। ये लोग किसी प्रकार की सभ्यता के संपर्क में नहीं आए। मानव जाति-वैज्ञानिकों ने इन आदिम निवासियों के आचार-व्यवहार का परीक्षण करके दिखाया है कि उनमें भी एक प्रकार का वैज्ञानिक ज्ञान मौजूद है। बर्बर जातियों में भी विचारक, दार्शनिक, भविष्यवेत्ता और आविष्कार करनेवाले पैदा होते हैं, यह बात ड्राइबर्ग ने प्रमाणित की है। यही नहीं कि बर्बर केवल अपने आपको प्रकृति

के अनुकूल ढालकर ही जीवन-निर्वाह करना जानते हैं; बल्कि आवश्यक होने पर उन्हें प्रकृति को थोड़ा-बहुत बदलते भी देखा गया है। उदाहरण के लिए भूमि की उर्वरता बढ़ाने और भूमिक्षरण की रोकथाम के लिए सिंचाई और वृक्षारोपण की आवश्यकता का अनुभव बर्बर जातियों में व्यापक रूप से विद्यमान है। विशुद्ध पेयजल के स्रोतों को ढूँढ़ निकालने के विविध कौशलों की उन्हें अच्छी जानकारी है। वन्य पशु-पक्षियों को वे नितांत युक्तिपूर्ण कारणों से ही बहुमूल्य मानते हैं और इनके शिकार के संरक्षण के लिए उन्हें अनेक उपायों तथा कौशलों का अवलंबन करते देखा जाता है। इन आविष्कारों के पीछे दीर्घकालीन प्रेक्षण, विचार, मननशीलता तथा एक प्रकार के विज्ञान का इतिहास है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रमुख मानवजाति-वैज्ञानिक मालिनोव्स्की (Malinowski) ने लिखा है—

"......क्षणभर का विचार यह दिखलाने के लिए पर्याप्त है कि प्राकृतिक प्रक्रिया के सावधानतापूर्ण प्रेक्षण और उसकी नियमानुवर्तिता में दृढ़ विश्वास तथा तर्कशक्ति और उस शक्ति में विश्वास के बिना, अर्थात् विज्ञान के आरंभिक ज्ञान के बिना, किसी भी कला अथवा शिल्प का आविष्कार नहीं किया जा सकता था अथवा उसे कायम नहीं रखा जा सकता था और न संगठित रूप में, पशु और मछली का शिकार, ज़मीन जोतने, बोने या खाद्यानुसंधान का काम ही किया जा सकता था।"*

इसीलिए मैं कह रहा था कि विज्ञान का मूल दूर अतीत में प्रसारित है। पृथ्वी पर मनुष्य के आविर्भाव के साथ ही यह विज्ञान-चर्चा शुरू हुई। क्रमशः उसकी अभिज्ञता और ज्ञान बढ़कर सार्थक रूप से आधुनिक विज्ञान में परिणत हुए हैं। आदिम युग में खाद्य की खोज के लिए जंगलों में विचरण करते समय उनका वनस्पति तथा प्राणि-जगत् से जो प्रथम परिचय हुआ, उसी सूत्र से वनस्पति-विज्ञान, जीव-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान और चिकित्सा तथा शल्य-विज्ञान की उत्पत्ति हुई। मस्तक के ऊपर चंद्र-सूर्य उद्भासित, नक्षत्रमय महाकाश और पैरों तले कठिन, नीरस, क्षमाहीन पृथ्वी से प्रथम परिचय के साथ ही ज्योतिष, भौतिकी, रसायन, भू-विज्ञान आदि प्राकृतिक विज्ञानों का सूत्रपात हुआ। यही कारण है कि विज्ञान का इतिहास वास्तव में मानव-विकास के इतिहास से अभिन्न है। क्रमिक विकास के नियमानुसार प्राणि-जगत् से मानव

---

* Bronislaw Malinowski, 'Magic, Science and Religion,' Beacon Press, Boston, Massachusetts, 1948.

के आविर्भाव के साथ ही उसमें जो विराट मानसिक परिवर्तन हुए, उनके परिणामस्वरूप प्रकृति से मनुष्य का एक संपूर्ण नया संबंध स्थापित हुआ। नए तरीके से, नया दृष्टिकोण लेकर उसने प्रकृति को समझने की चेष्टा की। इस चेष्टा से जिस प्रकार धीरे-धीरे सभ्यता का उदय हुआ, उसी प्रकार विज्ञान का भी जन्म हुआ।

विज्ञान की ग्राह्य परिभाषा

इस सत्य को स्वीकार करके, एक वाक्य-द्वारा, विज्ञान का स्वरूप प्रकाशित करना हो, तो श्री क्राउथर के शब्दों में कहना पड़ता है कि विज्ञान एक प्रकार की ऐसी चेष्टा है, जिसकी सहायता से मनुष्य अपने पर्यावरण पर आधिपत्य स्थापित कर सकता है।

"विज्ञान व्यवहार की वह पद्धति है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने पर्यावरण पर आधिपत्य स्थापित करता है। पशु से मनुष्य के रूप में उसका विकास, प्रकृति के प्रति एक नई अभिवृत्ति-द्वारा हुआ, जिसमें उसने अपने पर्यावरण की अंतर्वस्तुओं का अध्ययन, अपने हित के लिए उनके इस्तेमाल, उनका प्रयोग करने के उद्देश्य से करना आरंभ किया। उसकी इस क्रिया के उपक्रमण ने विज्ञान को जन्म दिया।"*

विज्ञान की इससे अधिक संतोषजनक और व्यापक परिभाषा और क्या हो सकती है ? इसके द्वारा किसी भी काल अथवा युग के वैज्ञानिक क्रिया-कलापों को समझाना संभव है। पाषाण-युग से लेकर वर्तमान आणविक युग तक विज्ञान की जो अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती आई है, उसे समझने के लिए विज्ञान का यही अर्थ लेना होगा और विज्ञान के इसी अर्थ को मानकर ही प्रस्तुत पुस्तक की परिकल्पना की गई है।

विज्ञान और समाज

पर्यावरण पर आधिपत्य-स्थापना की चेष्टा में विज्ञान की उत्पत्ति हुई, यह स्वीकार कर लेने पर यह बात आप-से-आप स्वीकृत हो जाती है कि सामाजिक विकास का विज्ञान पर और वैज्ञानिक विकास का समाज पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता है। मनुष्य की आवश्यकताओं के लिए ही विज्ञान है और उन आवश्यकताओं को पूरा करने में ही विज्ञान की परम सार्थकता है। पहले

---

* J. G. Crowther, 'The Social Relations of the Science', Macmillan, 1941, p.1,

आयोनियन मतवाद में, फिर कुछ समय बाद अणु-सिद्धांत में विश्वास रखनेवाले एपिक्यूरियन दार्शनिकों ने पहले-पहल इस सत्य की उपलब्धि की। बेकनीय दर्शन के मूलमंत्र "उपयोगिता" और "प्रगति", दोनों एक सूत्र में बंधे हुए हैं। बेकन के संबंध में अपने एक निबंध में मेकाले ने लिखा था - "बेकनीय दर्शन का मूल उद्देश्य क्या है ? इसे यदि उनकी ही जोरदार भाषा में कहा जाय तो यह है "परिणाम"। मनुष्य की सुख-स्वच्छंदता में वृद्धि और उसकी दुःख-दुर्दशा का अंत करना ही उसका उद्देश्य है। ......मनुष्य को नई पद्धति, नए यंत्र और नए पथ का संधान देना ही उसका उद्देश्य है। और इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही विज्ञान के नाना विभागों, प्राकृतिक दर्शन, विधि अध्ययन एवं राजनीति में मनुष्य की जितनी भी चिंता एवं भावना निहित है, उनके संबंध में यदि बेकन के किसी शिष्य से पूछा जाय कि उसका यह नया दर्शन मनुष्य के किस काम आया है तो वह तुरंत उत्तर देगा कि इसने जीवन-काल को बढ़ाया है, कष्ट-लाघव किया है, रोग पर विजय प्राप्त की है, भूमि की उर्वरता बढ़ाई है, नाविक को नई सुरक्षा प्रदान की है, योद्धा को नया अस्त्र दिया है, बड़ी-बड़ी नदियों और संगमों पर सेतु- निर्माण किया है, रात को दिन के प्रकाश से उद्भासित किया है।......नए दर्शन की यह आंशिक और प्राथमिक देन मात्र है। इस दर्शन का कहीं विराम, अंत अथवा संपूर्णता नहीं है। इसका नियम है प्रगति। कल जो अदृश्य था, वह आज दृश्य है और अगले कल भी वहीं से यात्रा आरंभ होगी।"

समाज के प्रयोजनार्थ विज्ञान है, यह बात एक और समुदाय के लोग स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार विज्ञान विशुद्ध मननशीलता का एक प्रकाश मात्र है। इसे मुख्य रूप से प्रेरणा मिलती है कुतूहल से। जिस प्रकार कला के लिए कला है, उसी प्रकार विज्ञान के लिए विज्ञान है। यह किसी उद्देश्य या सामाजिक हित से प्रेरित नहीं है। इसके प्रयोग से मानव समाज का उपकार हुआ हो तो वह नितांत गौण घटना है। इस प्रकार का उपकार न हो तो भी विज्ञान की सार्थकता नहीं घटती। यह अपने अधिकार से ही सुप्रतिष्ठित है। साहित्य, शिल्प, कला और दर्शन की तरह विज्ञान भी मनुष्य के आविष्कारक मानस की विशेष अभिव्यक्ति है। प्लेटो ने विज्ञान को इसी भांति देखा। प्राचीन और मध्ययुग में विज्ञान के विषय में इसी अभिमत का प्राधान्य दिखाई पड़ता है। वर्तमान काल में भी इस मत के समर्थक कम नहीं है। एडिंगटन, ह्वाइटहेड, डीन इंज, बिशप आफ बर्मिंघम जैसे प्रमुख

विज्ञानवेत्ता और दार्शनिक, विज्ञान को विशुद्ध मननशीलता के पर्याय में रखते हुए, समाज से इसके संपर्क के प्रश्न को पूर्णतः अस्वीकृत चाहे न करें परंतु इसे संपूर्ण अनावश्यक मानते हैं। उनका मत यह है कि विश्व ब्रह्मांड की उत्पत्ति, जन्म-मृत्यु का रहस्य आदि गूढ़ प्रश्नों और जटिल रहस्यों का समाधान करना ही विज्ञान का वास्तविक उद्देश्य है। विज्ञान का समाज के साथ सीधा संपर्क नहीं है, बल्कि यह संपर्क व्यावहारिक विज्ञान से है और यह व्यावहारिक विज्ञान या कारीगरी या तकनीकी वास्तव में विज्ञान के पर्याय नहीं हैं।

प्राध्यापक जे० डी० बर्नाल ने इस मत की समालोचना करते हुए बताया है -"ब्रह्मांड, जन्म-मृत्यु, सृष्टि-रहस्य आदि दुर्ज्ञेय विषयों की गवेषणा करना ही यदि विज्ञान का एकमात्र लक्ष्य होता तो विज्ञान नाम की जिस चीज को आज हम जानते हैं, उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई होती। विज्ञान के इतिहास पर सामान्य ध्यान देने से ही पता चल जायगा कि नितांत पार्थिव औजारों के व्यवहार और मनुष्य के प्रयोजनों की प्रेरणा से वैज्ञानिक आविष्कार संभव हुए। इसके बावजूद उपर्युक्त मतवाद के व्यापक और दीर्घकालीन समर्थन का कारण कारीगरी संवर्धन, कार्यकलापों तथा आविष्कारों के इतिहास के प्रति वैज्ञानिकों तथा इतिहासवेत्ताओं की उदासीनता है। तात्विक विज्ञान के इतिहास तथा गुणों के कीर्तन के परिणामस्वरूप ही इस प्रकार की भ्रांत धारणा की उत्पत्ति हुई है और उसे स्थायित्व प्राप्त हुआ है।"

विज्ञान के स्वरूप और उद्देश्य के संबंध में यह मतभेद अब क्रमशः वामपंथियों और दक्षिणपंथियों के बीच के मतभेद में परिणत हुआ है। यह आलोचना यहाँ अनावश्यक है। विज्ञान के संबंध में उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में कुछ सच्चाई है, लेकिन दोनों में से कोई भी स्वयं संपूर्ण नहीं है। समाज और विज्ञान के घनिष्ठ संपर्क को अस्वीकार करना जिस प्रकार पागलपन है, उसी प्रकार विज्ञान की प्रगति में मनुष्य के अनंत कुतूहल और आविष्कारक मननशीलता के अंश को अस्वीकार करना सत्य को अस्वीकृत करना है।

विज्ञान की अंतर्राष्ट्रीयता

विज्ञान का एक अति विस्मयजनक अंतर्राष्ट्रीय सर्वव्यापी रूप है, जो ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में बहुत कम देखा जाता है। विज्ञान शुरू से ही सार्वदेशिक है और समग्र मानव समाज की साधारण संपत्ति है। इसकी धाराएँ पृथक्-पृथक् भौगोलिक क्षेत्रों से निकलकर अंत में विश्व-विज्ञान के महासागर में

सम्मिलित हुई हैं। यह धारा कहीं बड़ी, कहीं छोटी, कभी स्फीत तथा दोनों तटों पर बाढ़ लानेवाली और कभी सूखी और भरी हुई, प्राचीन गौरव की क्षीण साक्षी मात्र है। परंतु विश्व-विज्ञान के महासागर की सृष्टि में प्रत्येक धारा का विशेष योगदान है।

आधुनिक विज्ञान यूरोपीय, विशेषकर पश्चिमी यूरोपीय, जाति की प्रधान उपलब्धि है, यह बात बहुत कुछ सत्य है। इस सत्य के अतिरंजन के परिणामस्वरूप, कुछ दिनों पहले भी, इतिहासवेत्ताओं के दल-विशेष के लिए, विज्ञान केवल पाश्चात्य विज्ञान का ही अर्थ-बोधक था। इसका मूल प्रेरणास्रोत ग्रीक विज्ञान ही है। ग्रीक विज्ञान के ऐश्वर्य का पता लैटिन यूरोप को पहले-पहल अरबी विज्ञान के माध्यम से चला। यही कारण है कि अधिकांश यूरोपीय ग्रंथकारों-द्वारा रचित विज्ञान के इतिहास में और वैज्ञानिक विचारधारा की विकास-संबंधी समीक्षाओं में हम ग्रीक विज्ञान की एक लंबी भूमिका और प्रसंगवश अरबी विज्ञान का किंचित्‌मात्र उल्लेख पाते हैं। इनमें भारतीय या चीनी विज्ञान का नामोल्लेख भी नहीं है। विलियम हेवेल की पुस्तक, "लिस्तो-आर दे सायेंस ऐंदुइक्तिव" और जे० बी० बारी की पुस्तक, "आइडिया ऑफ प्रोग्रेस" इस प्रकार के दृष्टिकोण के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

परंतु ग्रीक जाति के पूर्व, दीर्घ दो हजार वर्षव्यापी वैज्ञानिक कार्यकलापों की हमें अब जानकारी है और जिनसे ग्रीक विज्ञान की उत्पत्ति हुई, उनके कार्य क्षेत्र थे पूर्वी देश, और उनके नायक अ-यूरोपीय जातियों के वंशज थे। ग्रीक और रोमन जातियों के पतन के बाद एक हजार वर्ष तक जब यूरोपीय भूभाग में (इस्लामी स्पेन को छोड़कर) ज्ञान-विज्ञान-चर्चा का कोई क्रम ही नहीं था, यूरोप जिस समय अज्ञान के घने अंधकार में डूबा हुआ था, तब पूर्व ज्ञान-विज्ञान की देदीप्यमान आलोक-छटा से प्रकाशमान था। भारत, महाचीन और इस्लामी मध्यपूर्व में, अर्थात् समग्र एशिया में उस समय एक अखंड ज्ञान-राज्य सुप्रतिष्ठित था। उस समय वसुबंधु, ईश्वरकृष्ण, दिङ्‌नाग, कुमारजीव, बुद्धघोष जैसे-प्रमुख बौद्ध दार्शनिक पूर्वी देशों में बौद्ध धर्म तथा दर्शन के प्रचार में तत्पर थे। आर्यभट्ट, वराह-मिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कर-जैसे प्रमुख विश्वविख्यात गणितज्ञ और ज्योतिर्विद, इस काल के भारत की गणितिक और ज्योतिषीय प्रतिभा के श्रेष्ठ निदर्शन स्वरूप थे; नागार्जुन, वाग्‌भट्ट, माधवकर, वृंद, चक्रपाणिदत्त और शारंगधर चिकित्सा विज्ञान और रसायन की प्रभूत उन्नति कर रहे थे। महाचीन में चिन्‌लोचि, होचेन तिएन,

सु चुंग्ची, सिया-हु-उंग, चेन-लुआन, चैंग च्यु-चिएन-जैसे प्रमुख चीनी गणितज्ञ और ज्योतिर्विद्, गणित और ज्योतिष-संबंधी दुरूह समस्याओं के समाधान में व्यस्त थे। फाहियान, ह्वेनसंग, वांगहुआन्-से, इत्सिंग-जैसे प्रमुख चीनी पर्यटक और भूगोलवेत्ता विभिन्न पूर्वी देशों की विभिन्न जातियों, भाषाओं, शिक्षा, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान के विषय में तथ्य संग्रह करके अपूर्व पर्यटन-वृत्तांत और भौगोलिक ग्रंथों की रचना कर रहे थे। इन देशों के कारीगरों और वैज्ञानिकों ने इस समय मुद्रण-प्रणाली तथा मुद्रण-यंत्र का आविष्कार किया था। कागज और दिक्सूचक यंत्र, बारूद, भूकपंमापी और न जाने कितने व्यावहारिक यंत्र तैयार किए थे। तेरहवीं शती में नासिर-अल्-दीन अत्तूसी ने, हुलागू खां की सहायता से, माराघा में जिस विख्यात वेधशाला का निर्माण किया, उसके उपकरण और त्रुटिहीन ज्योतिषीय प्रेक्षण-व्यवस्था, सोलहवीं शती में टाइको ब्राहे-द्वारा स्थापित युरानिबोर्ग की वेधशाला के उपकरणों और प्रेक्षण-व्यवस्था की तुलना में कहीं अधिक उन्नत थी, यह बात प्राध्यापक सार्टन-जैसे विज्ञान के प्रमुख इतिहासवेत्ता ने स्वीकार की है।

विभिन्न पूर्वी जातियों के वैज्ञानिक ज्ञान और विचारधारा के परस्पर आदान-प्रदान में आश्चर्यजनक अंतर्राष्ट्रीय क्रियाशीलता का परिचय मिलता है। हाल में, लंदन में आयोजित पूर्व और पश्चिम के बीच वैज्ञानिक विचार-धारा के आदान-प्रदान की इतिहास संबंधी एक गोष्ठी में, श्री जस्टिन शोव और डाक्टर जोसेफ नीढम ने जो निबंध पढ़े, उनमें इस प्रकार के कुछ उदाहरणों का उल्लेख है।* बेबीलोन में नक्षत्र-प्रेक्षण की बात अनुमानतः ईसा पूर्व ५२५ में चीन पहुंची। इसके कुछ समय बाद चीनियों ने मिस्र निवासियों से, बैल से चलाए जानेवाले हल का इस्तेमाल सीखा और घोड़े पर सवार तीरंदाजों को प्राप्त सुविधाओं के संबंध में जानकारी प्राप्त की। पनचक्की की सहायता से पानी चढ़ाने की पद्धति बेबीलोन का आविष्कार है। यह पहले ग्रीस और यूरोप में प्रचलित हुई और फिर (ईस्वी सन् १७० में) चीन तक फैल गई। इतिहास-प्रसिद्ध रेशम-मार्ग (Silk Road) द्वारा पश्चिम को पूर्व से अनेक आविष्कार प्राप्त हुए। इस मार्ग से यूरोप को कंपास, भूकंप-मापी यंत्र, कागज, मुद्रण-यंत्र और बारूद मिले। कागज तैयार करने की चीनी प्रणाली के मेसोपोटामिया पहुंचने का समय अनुमानतः ७५० ईस्वी

---

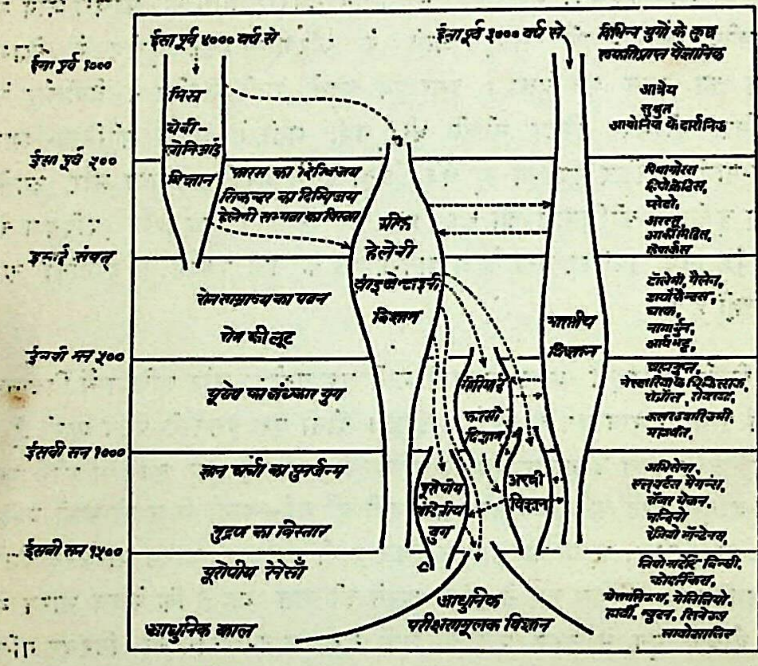
* "Historical Scientific contacts between East and West" Nature, May 1‥, 1952, p 774-76

है। बगदाद की वैज्ञानिक चेष्टा में इस नव निर्मित कागज ने प्रभूत सहायता दी, इसलिए वह चीन की ऋणी है। यह कथन यूरोपीय रिनेसां-काल के लिए भी अनेकांश में सत्य है। छठी शती में, सम्राट जस्टीनियन के काल में, पादरियों, संभवतः भारतीय संन्यासियों-द्वारा बांस के खोखले भाग में रेशमकीट चोरी-छिपे लाए जाने के परिणामस्वरूप यूरोप में रेशम वनाने का काम शुरू हुआ। ईसा पूर्व चतुर्थ शती में चीन ने बेबीलोन से प्राथमिक कीमिया विद्या सीखी थी; नवीं शती में चीनी कीमिया-विद्या रेशम-मार्ग से फिर मध्यपूर्व पहुंची, जहां उसने अरबी कीमिया और उसके जरिए यूरोपीय कीमिया-विद्या को प्रभावित किया। पूर्व और पश्चिम के बीच वैज्ञानिक विचारधारा के आदान-प्रदान के इस प्रकार के दृष्टांतों का अंत नहीं है।

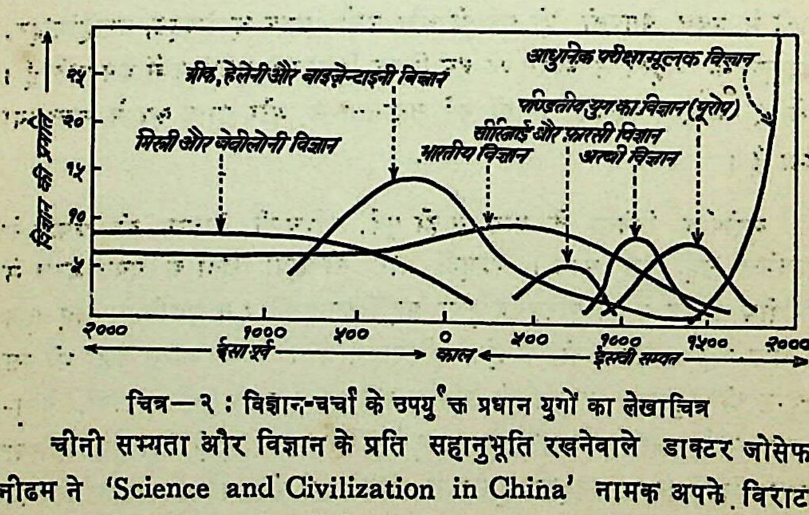
ईस्वी चौदहवीं और पंद्रहवीं शती तक यूरोप और एशिया में विज्ञान-चर्चा प्रायः समान रूप से होती आई है। दोनों एक दूसरे के परम ऋणी हैं। यह इतिहास-काल ४ हजार वर्ष से अधिक है। किसी एक काल में कोई एक जाति ज्ञान-विज्ञान के अग्रिम मोर्चे पर खड़ी हो गई—कभी मिस्र तो कभी बेबीलोन, कभी ग्रीस, कभा भारत और फिर कभी सीरिया, फारस या अरब देशों की जातियां। विशेष रूप से लक्ष्य करने की बात यह है कि केवल भारत में ही, वैदिक युग से लेकर पंद्रहवीं शती तक ज्ञान-विज्ञान की निरंतर गति हमें दिखाई पड़ती है। यह गति कुछ काल के लिए पांचवीं, छठी और सातवीं शती में प्रबल वेगवती हो गई थी और उसी समय आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त के नेतृत्व में भारत को हम विश्व विज्ञान के अग्रभाग में देख पाते हैं। इसे १ और २ संख्यक चित्रों की सहायता से और स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

यूरोपीय रिनेसां के बाद से ही पूर्व, पश्चिमी विज्ञान की प्रगति से तालमेल नहीं रख सका। पंद्रहवीं और सोलहवीं शती के नवजागरण में यूरोपीय समाज में जो परिवर्तन हुआ, वह विज्ञान की द्रुत उन्नति के लिए बहुत अनुकूल रहा। कारण जो भी हो, एशिया में चीन अथवा भारत कहीं भी इस प्रकार की अनुकूल अवस्था की उत्पत्ति नहीं हुई। इसलिए लिओनार्दो, वेसालियस, गेलीलिओ, हार्वी और न्यूटन यूरोप के भू-भाग में ही पैदा हुए। एशिया पुरातन में ही आवद्ध रहकर यूरोप से सैकड़ों वर्ष पीछे पड़ गया और वर्तमान को खोकर अतीत को उसने अपनी पूंजी बनाई। यह रिनेसां यदि यूरोप

के बदले भारत या महाचीन में आया होता तो लिओनार्दो, वेसालियस, गेलालिओ, हार्वी, न्यूटन भारतीय या चीनी नाम होते, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।



चित्र—१ : विज्ञान-चर्चा के प्रधान युग



चित्र—२ : विज्ञान-चर्चा के उपर्युक्त प्रधान युगों का लेखाचित्र

चीनी सभ्यता और विज्ञान के प्रति सहानुभूति रखनेवाले डाक्टर जोसेफ नीढम ने 'Science and Civilization in China' नामक अपने विराट ग्रंथ का परिचय देते हुए निम्नलिखित अभिमत प्रकट किया है :—

"ईसवी सन् की प्रथम चौदह शतियों में शिल्पविज्ञान संबंधी अनुसंधानों और आविष्कारों का प्रवाह पूर्व से पश्चिम की ओर रहा। केवल रिनेसां (पुनर्जागरण), रिफार्मेशन (धर्म सुधार) और पूंजीवाद के उदय के साथ ही आधुनिक गणितीय प्राकृतिक विज्ञान का यूरोप में जन्म हुआ। चीनी सामंत-तंत्री नौकरशाही, तकनीकी की दृष्टि से, यूरोपीय दास-समाज या यूरोपीय नौकरशाही की अपेक्षा अधिक उन्नत थी, परंतु यह रिनेसां के पश्चात् के विज्ञान और शिल्पविज्ञान की तुलना में पिछड़ गई।

यदि पर्यावरण और समाज संबंधी उपर्युक्त चारों कारक उलट गए होते और यदि चीनी जाति का जनसमुदाय यूरोप का निवासी होता, जिसे समुद्री व्यापार के प्रति विशेष उत्साह है, तो क्या गेलीलिओ, न्यूटन, वेसालियस और हार्वी, इन सबके चीनी नाम न होते ? और आधुनिक विज्ञान के परिणामों को अपनाने के लिए काकेसायड जाति के जनसमुदाय को क्या चित्राक्षरोंवाली भाषाएँ न सीखनी पड़तीं, जैसे कि आज एशियाई वैज्ञानिकों को वर्णमालायुक्त भाषाओं को सीखना पड़ता है ?·····*

प्रस्तुत ग्रंथ में विज्ञान के जिस इतिहास की समीक्षा में मैं प्रवृत्त हुआ हूँ, उसका प्रसार प्रागैतिहासिक युग से लेकर सोलहवीं शती तक है। दूर अतीत में, सभ्यता के प्रथम आविर्भाव के बहुत पहले, आदिम मानव के क्रिया-कलाप में अंकुरित होकर, विज्ञान ने किस प्रकार धीरे-धीरे, विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रिया और उत्थान-पतन के बीच गुजरकर, लगभग सोलहवीं शती में आधुनिक विज्ञान का रूप ग्रहण किया, उस विचित्र और विराट कथा की संक्षिप्त समालोचना करना, इस ग्रंथ का उद्देश्य है।

●

* 'Archives Internationales d'Histoire des Sciences, No. 14, 1951, p. 293—94

दूसरा अध्याय

मनुष्य का आविर्भाव और उसकी प्राचीनता

पृथ्वी की आयु

सत्रहवीं शती में आर्कविशप अशर (१५८१-१६५६) ने हिसाब लगाकर बताया था कि पृथ्वी की सृष्टि ईसा के जन्म के ४००४ वर्ष पूर्व हुई। उस वर्ष सृष्टि के विशेष वल से पृथ्वी पर मानव का आविर्भाव हुआ। १९वीं शती के मध्य भाग तक अधिकांश पंडितों और वैज्ञानिकों का यही विश्वास था कि पृथ्वी पर मनुष्य का अस्तित्व-काल ६ हजार वर्ष से अधिक नहीं है। पिछली शती के शेष भाग और वर्तमान शती में भूवैज्ञानिक गवेषणा और रेडियो-सक्रिय खनिजों के परीक्षण-द्वारा वैज्ञानिकों ने प्रमाणित किया है कि पृथ्वी की आयु २ अरब वर्ष से कम नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह है कि कम-से-कम २ अरब वर्ष पहले पृथ्वी को अपनी मौजूदा कठोरता और भौमिकी आकार प्राप्त हुए। वैज्ञानिक कहते हैं कि इसके वहुत पहले, अकस्मात् किसी ज्योतिषीय दुर्घटना के परिणामस्वरूप, आगे वढ़ते हुए किसी नक्षत्र के प्रबल आकर्षण से, सूर्य-पिंड से विच्छिन्न होकर उसके एक अंश ने पृथ्वी का रूप ग्रहण किया। यह घटना और कितने काल पहले की है, इस समय यह अनुमान अनावश्यक है। पृथ्वी की आयु आर्कविशप अशर की गणना से भी कई-लाख-गुनी अधिक है, इस विषय में आज किसी को संदेह नहीं।

मानव की प्राचीनता

पृथ्वी पर मानव का, अथवा अधिक सही तौर पर कहा जाय तो मानवानुरूप जीवों का, आविर्भाव ५ लाख वर्ष पहले हुआ था। फिर भी इस ग्रह पर जीवन के प्रथम आविर्भाव की तुलना में मानव का आविर्भाव प्रायः हाल की घटना है। भूगर्भस्तरों के जीवाश्मों (प्रस्तरीभूत कंकालों) के परीक्षण-द्वारा भूवैज्ञानिकों ने दिखाया है कि अनुमानतः १ अरब २० करोड़ वर्ष पहले पूर्व कैंब्रियन कल्प में स्पंज और समुद्री खर-पतवार की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी पर जैव

जीवन की यह प्रथम् सूचना है। उसके लाखों वर्ष बाद एक-एक कर आए पुराजीवक (Palaeozoic) कल्प में बिना रीढ़वाले ज़ीव, मछली, उभयचर और प्राथमिक वनस्पति; मध्य-जीवक कल्प में, सर्प जातीय जीव; नव जीवक कल्प में आई पुष्प-वनस्पति, पक्षी, स्तनपायी प्राणी, मनुष्येतर जीव और सबसे बाद में मनुष्य आया। Homo Sapiens (होमो सेपिएन्स-मानव) अर्थात् (विशुद्ध) आधुनिक मनुष्य का आविर्भाव-काल २५-३० हजार वर्ष पहले है। दस हजार वर्ष पहले नव-पाषाण (Neolithic) युग के मनुष्य से हमारा साक्षात्कार होता है। ताइग्रिस-युफ्रेतिस, नीलनद और सिंधुनद की घाटियों में जिन्होंने नागरिक सभ्यता की बुनियाद डाली, उनका इतिहास मात्र ५ हजार वर्ष पुराना है।

इस विराट काल के संदर्भ में मनुष्य का आविर्भाव कितनी हाल की घटना है, तनिक अन्य प्रकार से इसे समझने की चेष्टा करें तो यह बहुत सरल हो जायगा। स्वल्पायु मनुष्य के लिए करोड़ों वर्ष का व्यवधान निरर्थक जान पड़ना स्वाभाविक है। मान लीजिए कि पृथ्वी पर सर्वप्रथम जीव का अस्तित्व काल—१२० करोड़ वर्ष—१२ घंटे के समान है। इस प्रकार एक घंटा व्यतीत होने का अर्थ १० करोड़ वर्ष का समय पीछे छोड़ आना है। एक मिनट बराबर है लगभग १७ लाख वर्ष के और एक सेकेंड २८ हजार वर्ष के समान है। सृष्टिकर्त्ता यदि अब से ठीक १२ घंटा पहले स्पंज, समुद्री खर-पतवार आदि जैव जीवन का सृजन आरंभ कर दें तो प्राथमिक वनस्पति तक पहुँचने में सबेरे के ७ बज जायँगे। सबेरे ७ बजे से लेकर ११ बजकर १५ मिनट के अंदर बिना रीढ़वाले जीव, मछली, उभयचर, सर्पजातीय प्राणी और स्तनपायी जीव, एक-एक करके जन्म लेंगे। मनुष्य की तरह के या मनुष्येतर जीव का आविर्भाव होगा अब से एक मिनट से भी कम समय में और आधुनिक मनुष्य पैदा होगा केवल एक सेकेंड पहले। समय के इस अनुपात से नव पाषाण युग की सभ्यता अपने को प्रकट करेगी एक-तिहाई सेकेंड के अंदर।*

मनुष्य की प्राचीनता का प्रथम पुरातात्विक आभास

मनुष्य की यह प्राचीनता कैसे प्रमाणित हुई? उन्नीसवीं शती के प्रायः प्रथम भाग से ही ऐसे कुछ अन्वेषण हुए और ऐसे तथ्यों का संग्रह किया गया

* इस लोकप्रिय उदाहरण के प्रवर्तक हैं प्राध्यापक जेम्स रिची। ब्रिटिश एसोसिएशन के एक अधिवेशन में प्राणि-विज्ञान शाखा के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए उन्होंने पहली बार इस उदाहरण का व्यवहार किया।

कि मनुष्य की प्राचीनता के बारे में अत्यंत प्राचीन और धर्म संस्थाओं-द्वारा अनुमोदित मतवाद पर गहरा संदेह पोषण करने के अलावा कोई चारा न रहा। डेनिश पुरातात्विकों ने प्राचीन कब्रों और कब्रिस्तानों की खुदाई कर दिखाया कि उनमें प्राप्त लोहा, पीतल या पत्थरों के बने औजारों और किसी समय व्यवहृत द्रव्य-सामग्रियों के आधार पर मनुष्य के अस्तित्वकाल को विभिन्न श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। इस श्रेणी-विभाजन से स्पष्ट हो जाता है कि जिन कब्रिस्तानों में लौह-निर्मित वस्तुएँ मिली हैं, वे अपेक्षाकृत आधुनिक काल के मनुष्य के कार्यकलाप का साक्ष्य प्रदान करते हैं। पीतल-निर्मित वस्तुओं के मालिक, लोहा इस्तेमाल करनेवाले मनुष्यों की अपेक्षा प्राचीनतर हैं। उनसे भी पहले जो मानव समुदाय पृथ्वी पर आया था, वह पत्थर के बने औजारों या वस्तुओं के सिवा किसी प्रकार की धातु का इस्तेमाल नहीं ज़ानता था। सन् १८६० ई० तक यूरोप के अन्य प्रदेशों में कब्रिस्तानों की खुदाई से भी पुरातात्विक उसी नतीजे पर पहुँचे और बाद को यह भी साबित हुआ कि यह सिद्धांत पृथ्वी पर सर्वत्र लागू है।

सन् १८२५ ई० में रेवरेंड मैक एनेरी नामक एक रोमन कैथोलिक पादरी ने टॉर्क के पास एक प्रागैतिहासिक कंदरा का तल खोदकर एक स्तर में प्रच्छन्न रूप से अवस्थित पशु की हड्डी के पास प्रस्तर निर्मित एक औजार खोज निकाला। इस अन्वेषण से उन्होंने सही अनुमान लगाया कि पत्थर के उस औजार का इस्तेमाल करनेवाला मनुष्य उस लुप्त प्रागैतिहासिक पशु का समसामयिक था। इसके ८ वर्ष बाद बेलजियम के प्राध्यापक स्मेलिंग ने इस प्रकार की एक और कंदरा के तलदेश से प्रागैतिहासिक गैंडा, हायना और भालू के जीवाश्म (फॉसिल) दाँत और हड्डी के साथ मनुष्य के एक सिर-कंकाल का अन्वेषण करके मैक एनेरी के मत का समर्थन किया।

इन खोजों ने काफी हलचल पैदा कर दी, लेकिन उन दिनों जो लोग विज्ञान-क्षेत्र का नेतृत्व कर रहे थे, उन्होंने मैक एनेरी और स्मेलिंग के सिद्धांत की अवहेलना कर दी। लेकिन सन् १८५८ ई० में डाक्टर ह्यू फॉकनर और विलियम पेगैली ने, इंगलैंड की सुप्रसिद्ध रॉयल सोसाइटी तथा जिओलॉजिकल सोसाइटी के आह्वान पर, टॉर्क के पास, ब्रिक्सहम की एक कंदरा का तलदेश खोदकर प्रागैतिहासिक युग के एक लुप्त पशु के अस्थि-कंकाल के साथ फिर मनुष्य-निर्मित उसी प्रकार का औजार खोज निकाला, तब इस घटना को सहज ही उड़ा देना संभव न हो सका। इसके बाद यूरोप के नाना स्थानों से इस

प्रकार की खोजों के अनेक समाचार आने लगे। सन् १८६० ई० में प्रख्यात फ्रेंच पुरातत्वविद एदुआर लातें ने फ्रांस के कुछ ग्रामों में प्रागैतिहासिक कंदराओं की खुदाई से कुछ राख, एक तरह का चूल्हा और किसी लुप्त पशु का जला हुआ एवं कृत्रिम उपाय से तोड़ा हुआ हड्डी का एक टुकड़ा—सुदूर पाषाण युग के किसी मानव-परिवार के भोजन का अवशिष्ट अंश—प्राप्त किया।

जीव-विज्ञान और क्रम-विकास संबंधी प्रमाण

पुरातात्विक जब इस प्रकार प्राचीन कालों और प्रागैतिहासिक कंदराओं की खुदाई से मानव-अस्तित्व के इतिहास को दूर अतीत की ओर ढकेलते जा रहे थे, ठीक उसी समय, प्राणि-विज्ञान और जीव-विज्ञान-विशेषज्ञ, प्राणि-जगत की विकास-धारा के विश्लेषण-द्वारा, संपूर्ण नई पद्धति से, मनुष्य के आविर्भाव तथा उसकी प्राचीनता के संबंध में नए तथ्यों और तत्वों का आविष्कार कर रहे थे। सन् १८५९ ई० में प्रकाशित, चार्ल्स डारविन के विख्यात ग्रंथ 'Origin of Species' ने समग्र विषय के संबंध में एक संपूर्ण नया और क्रांतिकारी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। मनुष्य केवल प्राचीन ही नहीं है, बल्कि अपने से प्राचीनतर अन्य प्राणियों से, जिनका इस समय लोप हो गया है, क्रम-विकास के अनिवार्य नियम के अनुसार उद्भूत हुआ है। अन्य स्तनपायी प्राणी जैसे अपने से नीचे के स्तर के प्राणियों से उद्भूत हुए, मनुष्य के संबंध में भी उस नियम का व्यतिक्रम नहीं हुआ। किसी-न-किसी समय शिंपांजी, गोरिल्ला और मनुष्य का पूर्वज एक ही जाति का मानवेतर प्राणी था।

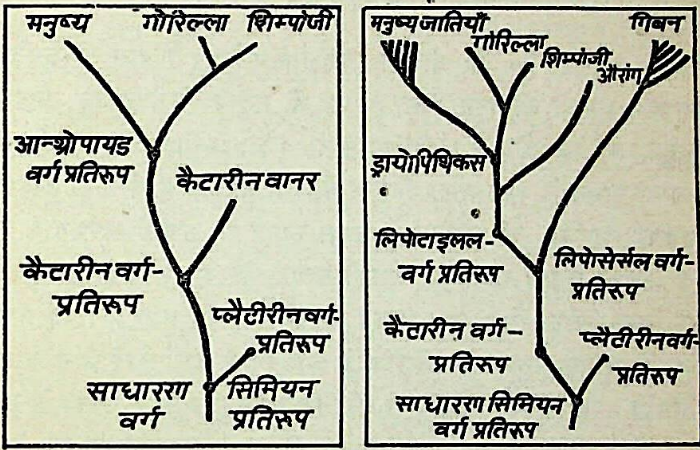
डारविन के इस अभिमत को लेकर अनेक छोटे-मोटे युद्ध हुए हैं। मनुष्य के संस्कार या कुसंस्कार की संरक्षक तथा पृष्ठपोषक धर्म संस्था ने और कहीं-कहीं समाज के नेताओं ने इस मत का तीव्र विरोध किया है और इसके प्रचार में बहुत विघ्न डाले हैं। अमेरिका की टेनेसी राज्य-सरकार ने अभी उस दिन तक भी डारविन के मतवाद की शिक्षा निषिद्ध कर दी थी। कोपर्निकस ने एक दिन पृथ्वी को विश्व के केंद्रस्थल से हटाकर और उसे अन्य ग्रहों के पर्याय में उतारकर मनुष्य को इस विशाल ब्रह्मांड में यायावर और गृहच्युत कर दिया था। समय के साथ मनुष्य उस धक्के से संभला। अब फिर डारविन और उनके शिष्यों ने एक और धक्का लगाकर मनुष्य को उससे निकृष्ट प्राणियों का परमात्मीय बना दिया। अपने को ईश्वर की विशेष सृष्टि मानने में मानव को जो आत्मतुष्टि थी, उसकी बुनियाद समाप्त हो जाने पर भी, अपराजेय मनुष्य ने विज्ञान के सत्य को स्वीकार कर अपने श्रेष्ठत्व की नई व्याख्या ढूँढ़ निकाली है।

मनुष्य का वंश-परिचय

डारविन का मत : मनुष्य जिस वर्ग के स्तनपायी प्राणी का सगोत्र है, लिनियस ने उस वर्ग का नामकरण 'प्राइमेट' किया था। वृक्ष-स्कंध के विभिन्न अंशों से जिस प्रकार शाखा-प्रशाखाएँ निकलती हैं, प्राइमेट वर्ग के प्राणियों ने भी उसी प्रकार मूल स्कंध की शाखा-प्रशाखाओं के रूप में, भिन्न-भिन्न समय में, क्रम-विकास के नियमानुसार आत्म-प्रकाश किया था। लिनियस उल्लिखित प्राइमेट-वृक्ष-स्कंध के एक विशेष स्थान से मनुष्य-शाखा फूट निकली, डारविन के इस साधारण मत के संबंध में वैज्ञानिकों में अब कोई मतविरोध नहीं है। लेकिन किस स्थान से और किस समय मनुष्य-शाखा की उत्पत्ति हुई, इस विषय में मतभेद अवश्य है। डारविन ने आधुनिक प्राइमेटों में गोरिल्ला और शिपांजी का मनुष्य से सादृश्य बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखा और उनकी यह धारणा बनी कि इस प्राइमेट-त्रय (मनुष्य, गोरिल्ला और शिपांजी) का अव्यवहित पूर्वज एक ही था और वह था 'एंथ्रापाइड' वर्ग का प्राइमेट। एंथ्रापाइड की उत्पत्ति 'कैटारीन' नाम के एक और वर्ग के प्राइमेट-प्रतिरूप से हुई। इस 'कैटारीन-' प्रतिरूप वर्ग से 'कैटारीन' वानर-शाखा की उत्पत्ति हुई। कैटारीन का पूर्वज एक साधारण 'सीमियन'-वर्ग-प्रतिरूप था।

हेकेल का मत : स्वयं डारविन ने वृक्ष-स्कंध और उसकी शाखा-प्रशाखाओं की सहायता से मनुष्य के वंश-परिचय के चित्रण की कोई चेष्टा नहीं की थी। इस प्रयास का श्रेय अर्नेष्ट हेकेल को प्राप्त है। हेकेल ने डारविन-परिकल्पित चित्र में कई उल्लेखनीय परिवर्तन किए। उनके मतानुसार कैटारीन एवं एंथ्रापाइड के बीच कई और वर्ग-प्रतिरूप थे तथा इनमें से एक से पहले गिवन और बाद को ओरांगउटान की उत्पत्ति हुई। क्रमविकास की समय-सारणी में गिवन और ओरांगउटान की उत्पत्ति, उच्च श्रेणी के एंथ्रापाइड जंगली आदमी, गोरिल्ला और शिपांजी से पहले हुई। मनुष्य, गोरिल्ला और शिपांजी के अव्यवहित पूर्वज एंथ्रापाइड-वर्ग-प्रतिरूप को उन्होंने ड्रायोपिथिक्स नाम दिया। हेकेल का एक और महत्वपूर्ण अनुमान यह था कि एंथ्रापाइड ड्रायोपिथिक्स से पूर्णावयव मनुष्य के आविर्भाव होने के मध्य भाग में मानव के अनुरूप एक प्रकार के जंगली मनुष्य का आविर्भाव हुआ था। इस जंगली मनुष्य का आकार और शरीर-संगठन मनुष्य के समान ही था, लेकिन वह मनुष्य की तरह बोल नहीं सकता था। हेकेल ने इस अंतर्वर्ती जंगली मनुष्य का नाम रखा 'पिथेकांथ्रोपी'।

पिलग्रिम का मत : पिछली शताब्दी के शेष भाग में भारतीय भूविज्ञान सर्वेक्षण संस्था के डॉक्टर पिलग्रिम तथा उनके सहयोगियों ने प्रमाणित किया



(डारविन) (हेकेल)

चित्र—१ : मनुष्य के वंशपरिचय का चित्र ।

कि मायोसीन कल्प में (डेढ़ से साढे तीन करोड़ वर्ष) और प्लायोसीन के प्रारंभ में भारत में विभिन्न जातियों के एंथ्रापाइड जीवों का निवास था । इनमें प्रमुख था हेकेल-कल्पित मनुष्य का पूर्वज ड्रायोपिथिक्स जाति-प्रतिरूप । पिलग्रिम-द्वारा प्राप्त अन्य एंथ्रापाइडों में 'शिवालिक' और 'शिव पिथिक्स' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । प्रथमोक्त ड्रायोपिथिक्स जाति-प्रतिरूप से ओरांग, शिपांजी और गोरिल्ला का निकट संबंध है और शिवालिक तथा शिव-पिथिक्स से मनुष्य का । पिलग्रिम के मतानुसार शिवपिथिक्स मनुष्य का आदिम पूर्वज है ।

मनुष्य—जैसे जीवों के जीवाश्मित देहावशेष से कुछ मूल्यवान तथ्य

सन् १८९२ ई० में डाक्टर दुबोआ ने जावा में भूगर्भ से जबड़ों और पैरों की कुछ जीवाश्मित हड्डियाँ और दांत प्राप्त किए । हड्डी और दांत के परीक्षण से देखा गया कि ये मानवानुरूप किसी प्राणी के जीवाश्मित देहावशेष हैं । यह भी प्रमाणित हुआ कि यह जीव मनुष्य की तरह सीधा खड़ा होकर चल-फिर सकता था । हेकेल-कल्पित पिथिकांथ्रोपी से इसका इतना गहरा सादृश्य

है कि पुरातात्विकों और मानव-जाति वैज्ञानिकों ने यह मान लिया कि यह जावा-मानव (Pithecanthropus Erectus) हेकेल-प्रकल्पित, वर्त्तमान-समय में लुप्त, अंतर्वर्तीकालीन वनमानुष है।

सन् १९२९ ई० में पीकिंग (वर्तमान पीपिंग) के पास चो-कू-तियेन में सिरकंकाल का जो जीवाश्म मिला है, वह भी मनुष्य की तरह एक प्रकार के वनमानुष का देहावशेष है। पीकिंग-मानव (Sinanthropus Pekinensis) और जावा-मानव के बीच अनेक विषयों में जैसा सादृश्य है, वैसा ही कुछ विषयों में उनका पार्थक्य भी स्पष्ट है। जावा-मानव की उँचाई लगभग ५ फुट ६ इंच है; उसका कपाल छोटा है, जिसकी ढलान पीछे की ओर है; उसका जवड़ा उभरा हुआ और सिर कुछ सामने की ओर झुकता हुआ है। मस्तिष्क का आयतन आधुनिक मनुष्य के मस्तिष्क के आयतन के दो-तिहाई भाग के बराबर है, अर्थात् यह वृहत्तम गोरिल्ला और निम्नतम आधुनिक मानव के लगभग बीच का है। पीकिंग-मानव, जावा-मानव की तुलना में आपेक्षिक रूप से छोटे कद का था, उसमें मस्तिष्क का आयतन कुछ अधिक था और संभवतः वह कुछ अधिक सीधा होकर चल सकता था। भूवैज्ञानिकों के अनुसार नवजीवक युग में, प्लामोसान काल के अंतिम भाग और प्लीस्टोसीन काल के प्रारंभ या हिमकाल अर्थात् ५ से लेकर १० लाख वर्ष पहले, मनुष्य की तरह एक प्रकार का जीव पृथ्वी पर रहता था।

यूरोप में जावा या पीकिंग-मानव की तरह के किसी जीव के जीवाश्मित देहावशेष अभी तक नहीं मिले हैं। हाइडेलबर्ग में धरती से ८० फुट नीचे जबड़े की जो हड्डी मिली है, विद्वानों का अनुमान है कि वह भी मनुष्य की भांति किसी जीव की हड्डी है, परंतु पूर्णावयव मानव की नहीं। सन् १९११ ई० में चार्ल्स डॉसन ने ससेक्स के पास, बजरी के एक गढ़े में, धरती के अंदर से सिर-कंकाल के कई टुकड़े, दाँत और जबड़े के कुछ अंश प्राप्त किए। यह स्त्री-जातीय किसी वनमानुष का जीवाश्म था। जावा या पीकिंग-मानव की अपेक्षा इस 'इओऐंथ्रोपस' (Eoanthropus dawsoni) या पिल्टडाउन-मानव को कहीं अधिक उन्नत देखकर विद्वानों की यह धारणा बनी कि यह संभवतः एंथ्रोपाइड और मानव के बीच की अवस्था है। पिल्टडाउन-मानव के जीवाश्म के संबंध में किए गए महत्वपूर्ण परीक्षणों के परिणाम कुछ ही वर्ष पहले प्रकाशित हुए थे। ये परीक्षण ब्रिटिश अजायबघर तथा आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय के शरीर-रचना-विज्ञान विभाग के कुछ विशेषज्ञों-द्वारा किए गए

थे। (Bull. Brit. Mus(Nat. Hist.)2, No. 3; 1953; Nature, 172) p. 981, Nov. 28, 1953; Nature, 172, p. 1110, Dec. 12, 1953) इन परीक्षणों से निःसंदेह प्रमाणित हुआ है कि पिल्टडाउन-मानव की खोपड़ी तो असली बनमानुष की है, लेकिन इसके जबड़े की हड्डी और दाँत बिल्कुल नक़ली हैं। असली बनमानुष की खोपड़ी में वास्तविक मनुष्य के जबड़े की हड्डी और दाँत कैसे जोड़ दिए गए, यह बात बहुत दिनों तक मानव वैज्ञानिकों के एक दल की समझ में नहीं आ सकी। इस जीवाश्म के विभिन्न अंशों में फ्लोरीन के परिमाण का सही-सही और निर्भूल निर्णय कर लिए जाने के बाद अब यह पता चला है कि मस्तिष्काधार खोपड़ी की अपेक्षा जबड़े की हड्डी और दाढ़ बहुत हाल के जीवाश्म हैं। रंग के अंतर के कारण होनेवाले संदेह को ढकने के लिए हड्डी और दाँत, लौह-घटित लवण और पोटायिशम डाइ-क्रोमेट से किंचित रंग दिए गए थे। यह एक निपुण वैज्ञानिक जालसाजी थी, जिसका इतने दिनों बाद भेद खुला। इओऐंथ्रोपस के अन्वेषण से मानव-विकास के इतिहास के बारे में जो जटिलता उत्पन्न हो गई थी, विशेषज्ञों के अनुसार, अब वह समाप्त हो गई है।

उपर्युक्त जीवाश्मों में से कोई भी वास्तविक मनुष्य का नहीं है, इसका उल्लेख हमने एकाधिक बार किया है। तथापि ये जिन जीवों के अस्तित्व की सूचना देते हैं वे जीव, एंथ्रोपाइड-पर्याय का अतिक्रमण करके मानव-पर्याय में उन्नत होने के अभियान में निश्चित कदम आगे बढ़ा रहे है। मनुष्य के सभी गुण उसे अभी प्राप्त नहीं हुए हैं, लेकिन पशु तथा उसके बीच व्यवधान बहुत अधिक है। उसके अब पीछे लौटने का कोई उपाय नहीं है, मनुष्य का विराट भविष्य उसे लगातार आगे की ओर संकेत कर रहा है।

हिमकाल

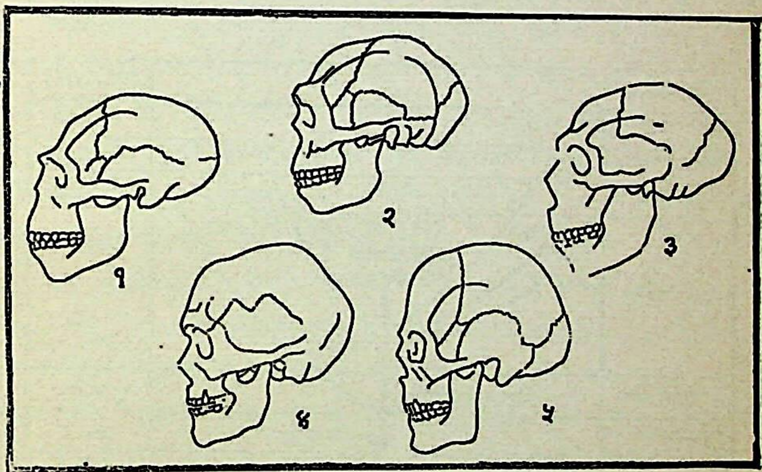
जिस समय मानव-विकास का यह क्रम चल रहा था, उसी समय धरती भी विराट और व्यापक नैसर्गिक परिवर्तन-द्वारा आंदोलित हो रही थी। पृथ्वी उस समय भूवैज्ञानिक परिवर्तन के अंतिम चरण में थी। किसी-किसी समय पृथ्वी का ताप इतना घटा कि सारा उत्तरी गोलार्द्ध हजारों फुट बर्फ के नीचे दब गया। आगे बढ़ते हुए बर्फ़ के इस विपुलाकार पहाड़ ने पृथ्वी का अधिकांश जल आत्मसात कर लिया और परिणामस्वरूप नदी, झील और समुद्र का एक व्यापक अंश सूखता गया। जहाँ आज समुद्र का पानी तरंगित हो रहा है, वह अंचल उस समय सूखी जमीन, पेड़-पौधों और प्राणियों

के जीवन-स्पंदन से मुखरित था। कई हजार वर्ष ऐसी स्थिति कायम रहने के बाद पृथ्वी फिर तप्त हो उठी। बर्फ का पहाड़ पिघलकर पुनः उत्तर ध्रुव की ओर लौट चला और उस पिघले हुए पानी से उफनकर समुद्र, झील और नदियों ने एक बड़े भूखंड को ग्रस्त कर लिया। भूवैज्ञानिकों का अनुमान है कि इस प्रकार का हिमकाल चार बार आया : पहला १० से ५ लाख वर्ष पहले और चौथा लगभग ५० हजार वर्ष पहले। प्राध्यापक अर्नेस्ट एंटेवस् का अभिमत है कि पृथ्वी पर हिमकाल के पुनः प्रत्यावर्तन की संभावना समाप्त नहीं हुई है और हम शायद हिमकाल के अंतर्गत चौथे उष्णकाल में रह रहे हैं।

नियंडर्थल मानव

हम मानव-विकास की बात कर रहे थे। सरल रेखा की तरह सीधे-सादे रूप में यह विकास घटित नहीं हुआ, इसका एक प्रमाण नियंडर्थल-मानव की तरह कुछ अन्य निकृष्ट मानव-जातियों का आविर्भाव और लोप होना है। पृथ्वी पर जिस समय चौथा हिमकाल चल रहा था, उस समय या उसके कुछ पहले मानव की एक निकृष्ट जाति, नियंडर्थल मानव के अस्तित्व का पता चलता है। सन् १८५६ ई० में, जर्मनी में डूसेलडार्फ के पास, नियांडर की घाटी में एक कंदरा के भूगर्भ में नियंडर-मानव का एक असंपूर्ण कंकाल मिला। उसके कुछ वर्ष पहले जिब्राल्टर से भी इस प्रकार के एक कंकाल की प्राप्ति का संवाद मिला था। वर्तमान शती में ला शापेल, ला मुस्तिए, ला किनाय आदि फ्रांस के विभिन्न स्थानों से तथा इंगलैंड, इटली, स्पेन, रूस, पोलैंड, क्रोशिया, क्रीमिया आदि देशों से यूरोप में प्रायः सर्वत्र और एशिया माइनर, पैलेस्टाइन, सीरिया, ईराक, अरब मरुभूमि का उत्तरी प्रदेश, अफ्रीका तथा चीन से नियंडर्थल-मानव के बहुत से कंकाल और उनके द्वारा इस्तेमाल किए जानेवाले औजारों और उपकरणों के टूटे हिस्से प्राप्त हुए हैं। इन तथ्यों से इस मानव-जाति की आकृति और व्यवहार के संबंध में एक विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करना संभव हो सका है। नियंडर्थल मानव नाटा और कृशकाय था : उंचाई ५ फुट ३ इंच से लेकर ५ फुट ४ इंच तक, सिर साधारण रूप में कुछ बड़ा और सामने की ओर झुकता हुआ, भौहें बड़ी, आँखें गोल और छोटी, नाक चपटी और जबड़े दृढ़ होंगे। इस प्रकार के उसके चेहरे पर हिंसा का भाव झलकता होगा। शरीर की तुलना में उसकी बांहें छोटी हैं; और इस अनुपात में हथेली और पाँव का तला बड़ा है। आयतन और जटिलता

की दृष्टि से, उसके और आधुनिक मानव के मस्तिष्कों में प्रभेद होते हुए भी, उसके पहले की किसी और मानवेतर जाति के मस्तिष्क की तुलना में उसका मस्तिष्क कहीं बड़ा है। कपाल के गठन से जान पड़ता है कि उसमें बुद्धि और विचार-शक्ति का यथेष्ट विकास हुआ है। नियंडर्थल-मानव कंदरावासी हैं। एक प्रकार के परिवार-गठन का प्रयास भी उनमें सुस्पष्ट है। वे मुर्दों को दफनाते थे और संभवतः आग के इस्तेमाल की जानकारी भी उन्होंने कर ली होगी। आधुनिक मानव का आविर्भाव होने पर, उससे संघर्ष के परिणामस्वरूप संभवतः नियंडर्थल जाति धीरे-धीरे लुप्त हो गई। इनके अंतिम वंशज विशुद्ध मानव के समसामयिक थे और इन दोनों जातियों में कभी-कभी यौन-संपर्क हुआ होगा, इस प्रकार का अभिमत भी मानव वैज्ञानिक प्रकट करते हैं।

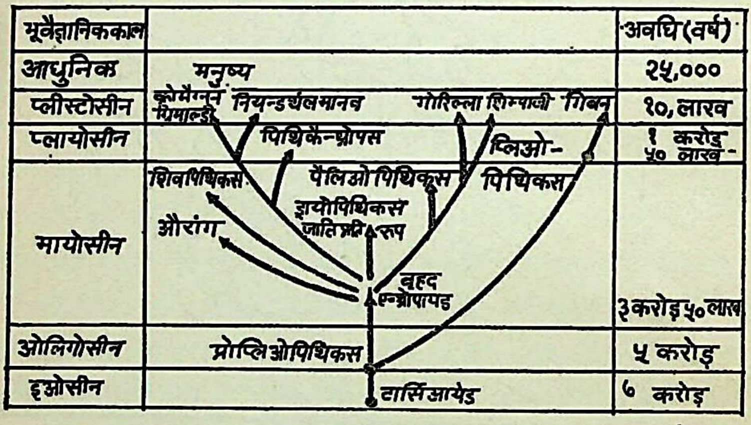


चित्र—४ : विभिन्न मानव जातियों के कपाल—कंकाल
(१) पिथिकैंथ्रोपस, (२) सिनैंथ्रोपस (३) नियंडर्थल, (४) क्रोमैग्नन, और
(५) आधुनिक मानव।

आधुनिक क्रोमैग्नन और ग्रिमाल्डी-मानव

चतुर्थ हिमकाल के अवसान के साथ जब धीरे-धीरे पृथ्वी की जलवायु फिर गर्म होने लगी, उस समय एक संपूर्ण नई मानव-जाति का आविर्भाव हुआ। ये हैं क्रोमैग्नन और ग्रिमाल्डी मानव। आधुनिक मानव से उनका कोई प्रभेद नहीं है। वास्तव में, क्रोमैग्नन और ग्रिमाल्डी जाति-प्रतिरूप से ही आधुनिक भूमध्य-

सागरीय, आपीय, नार्डिक, सेमिटिक, मंगोलकल्प नीग्रोकल्प, अस्ट्रालकल्प आदि जातिसमूह की उत्पत्ति हुई है। फ्रांस के दारदाइंये प्रदेश में क्रोमैग्नन-मानव का और दक्षिणी फ्रांस में मांतों के पास ग्रिमाल्डी कंदरा के भूगर्भ से ग्रिमाल्डी मानव का कंकाल मिला है। आरियाँक, ओत, गैरोन आदि स्थानों से, १८६० ई० में, फ्रेंच पुरातत्वविद् एदुआर लार्ते ने पत्थर के जो औजार और उपकरण खोज निकाले, उनका निर्माता क्रोमैग्नन-मानव है। ये लोग लंबे कद के हैं और इनके शरीर सुगठित हैं; कपाल पूर्णतः विकसित है। नियंडर्थल-मानव की भांति ये भी कंदरावासी, शिकारी, परिवारवद्ध तथा अग्नि का प्रयोग करनेवाले हैं। लेकिन इस बर्बर जीवन में भी वे एक प्रकार की सभ्यता के सृजन में व्यस्त हैं। प्राचीन चित्रों, जादू विद्या और प्राकृतिक पर्यावरण के संबंध में ही एक प्रकार के कुतूहल के मध्य उनका यह प्रयास परिस्फुट है।



चित्र—५ : उच्चतर प्राइमेटों के क्रम विकास का आरेख
(डब्ल्यू० के० ग्रेगरी के आरेख पर आधारित)

जिन अन्वेषणों और तथ्यों का उल्लेख किया गया है, वे अवश्य ही बहुत असंपूर्ण और अपर्याप्त हैं। इनके आधार पर मनुष्य की उत्पत्ति के बारे में केवल इतना कहा जा सकता है कि मनुष्य, क्रम-विकास के नियमानुसार, निम्न श्रेणी की किसी एंथ्रोपाइड जाति से उद्भूत हुआ है। एंथ्रोपाइड और मनुष्य के बीच, मानवानुरूप अनेक प्रकार के जीव क्रमिक रूप से प्रगट होकर फिर लुप्त हो गए। इन मध्यवर्ती जीवों का बहुत कम पता लगता है। सबसे उन्नत एंथ्रोपाइड और सबसे अनुन्नत मानव पिथिकैंथ्रोपस के बीच एक बहुत बड़ी खाई अब भी मौजूद है। जब तक यह खाई पाटी नहीं जाती, तब तक मनुष्य

का आदिम वंश-परिचय निश्चय ही अधूरा रहेगा। तथापि यह सुनिश्चित है कि मायोसीन युग के प्रारंभ में मनुष्य ने एंथ्रोपाइड के पर्याय का अतिक्रमण किया। मायोसीन और प्लायोसीन युग में उसका शरीर और उसके अंग-प्रत्यंग सीधे खड़े होने के योग्य हुए। उसके मस्तिष्क का परिवर्तन और संप्रसारण हुआ प्लायोसीन और प्लीस्टोसीन युगों में, और उसका मस्तिष्क बढ़ते ही वनमानुष के शरीर की आकृति-जनित बाहरी विशिष्टताएँ एक-एक करके परित्यक्त हुईं। मानव-विकास संबंधी उपर्युक्त तथ्यों को चित्र (संख्या ५) के माध्यम से दिखाया गया है।

प्रागैतिहासिक युग में मनुष्य के कार्यकलाप और कुछ आविष्कार

प्लीस्टोसीन (अत्यंत नूतन) युग के प्रारंभ से पृथ्वी पर मनुष्य का निवास प्रायः १० लाख वर्ष से है। इस अवधि में मनुष्य के लिखित-इतिहास की आयु ५ हजार वर्ष से अधिक नहीं है। ७-८ हजार वर्ष से वह धातु का प्रयोग कर रहा है—पहले तांबा और पीतल, और कुछ काल बाद लोहा। इसके पहले कई लाख वर्ष तक मनुष्य केवल पत्थर का इस्तेमाल करता रहा। जीवन-संग्राम में पत्थर-निर्मित औजार उसका प्रधान अवलंबन और सहारा थे। पीछे छूटे हुए काल पर विजय प्राप्त करनेवाले पत्थर के औजार-उपकरणों के भग्नावशेष लाखों वर्ष के उसके कार्यकलाप के एक मात्र निदर्शन हैं। इस प्रकार यह कठोर पाषाण, समय की अवहेलना कर विस्मृत अतीत की न जाने कितनी कहानियाँ और इतिहास युग-युग से मौन रूप में बड़ी सावधानी के साथ वहन कर लाया है।

पत्थर के प्रयोग और पत्थर-निर्मित औजारों की उन्नति और विकास-क्रम को ध्यान में रखते हुए पुरातत्वविद् समग्र पाषाण युग को मुख्यतः दो भागों में विभाजित करते हैं—पुरापाषाण युग (Paleolithic or Gold Stone Age) और नवपाषाण युग (Neolithic or New Stone Age)। मनुष्य की चेष्टाओं के परिणामस्वरूप नवपाषाण युग की विशिष्टताएं अनुमानतः १० से १२ हजार वर्ष पहले प्रकट हुईं। इसलिए देखा जाय तो प्रायः पूरा का पूरा पाषाण-युग पाषाण युग ही है। मानव विकास की अंतिम सीढ़ियाँ इसी युग की हैं। इस विकास के साथ ही औजार बनाने की उसकी दक्षता में भी विलक्षण परिवर्तन हुए। नियंडर्थल-मानव के औजारों और उसके पूर्वगामी इओएंथ्रोपस, सिनेंथ्रोपस और पिथिकेंथ्रोपस-मानव-निर्मित औजारों में

प्रचुर प्रभेद है। उसी प्रकार का प्रभेद नियंडर्थल और क्रोमैग्नन तथा ग्रिमाल्डी मानव-द्वारा निर्मित औजारों में भी है।

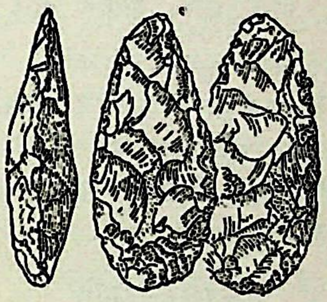
औजार तथा उसके प्रयोग को ध्यान में रखते हुए विभिन्न युगों की प्रवृत्तियों के उल्लेख के लिए वैज्ञानिकगण 'संस्कृति' (Culture) शब्द का प्रयोग करते हैं। नियंडर्थल मानव के पहले की कुछ लाख वर्षों की प्रवृत्ति को हम चेलीय (Chellean Culture) और उसकी अपनी २०-३० हजार वर्ष की प्रवृत्ति को मौस्तारी संस्कृति (Mousterian Culture) का नाम देंगे। फ्रांस में चेले (Chelles) और ले मौस्तीयर (Le Moustier) में प्रागैतिहासिक मानव के औजार और देहावशेष प्राप्त होने के कारण इस प्रकार नामकरण किया गया है। आधुनिक मानव के आविर्भाव के बाद उसकी प्रवृत्तियों के विभिन्न सूक्ष्म प्रभेदों और विशिष्टताओं का आविष्कार किया गया है। विभिन्न स्थानों के औजारों की विशिष्टताओं का अवलोकन करके उन स्थानों के नामानुसार इनकी प्रवृत्तियों को प्रकट करने का रिवाज है, जैसे आरिनेसी संस्कृति (फ्रांस में अरिनाक से), सलूत्रीय संस्कृति (फ्रांस में सलूत्रे से), मग्देली संस्कृति (स्विट्जरलैंड में मोग्दलेन से), आजिली संस्कृति (फ्राँस में मा दा' जील के नामानुसार) इत्यादि।

(१) पुरापाषाणयुग

(चेलीयसंस्कृति)

पुरापाषाण युग का मानव खाद्य-संग्राहक था। शिकार उसकी जीविका का मुख्य साधन था। शिकार और आत्मरक्षा के लिए मनुष्य ने जो औजार या इयोलिथ (Eolith) तैयार किए, वे बिलकुल ही विशेषताविहीन हैं। पत्थर ठोक-पीटकर और तोड़कर साधारण अवस्था से अधिक कारगर और पैने पत्थर के टुकड़े बनाने की चेष्टा इयोलिथ में भले ही प्रकट हुई हो, किंतु इसमें और प्राकृतिक रूप में प्राप्त पत्थर के टुकड़े में इतना कम अंतर है कि इयोलिथ वास्तव में मनुष्य के हाथ से बनाया हुआ है, इस विषय में अब भी बहुतों को संदेह है। पहले सभी प्रकार के कार्यों में इस औजार का प्रयोग होता था—जैसे छुरी, आरा, खुरचनी आदि का काम इसी एक औजार से लिया जाता था। पत्थर के टुकड़ों से छुरी, आरी आदि विशेष प्रकार के विभिन्न औजार बनाने का कौशल, चेलीय मानव ने ज्ञान की वृद्धि के साथ बहुत धीरे-धीरे प्राप्त किया।

इस प्रकार के औजार बनाने में मनुष्य की आविष्कार-क्षमता का पर्याप्त परिचय मिलता है। सभी पत्थरों से अच्छे और कारगर औजार तैयार नहीं किए जा सकते। अतएव इस काम के उपयुक्त फ्लिंट अथवा चकमक पत्थर पहचानने के कौशल का उसे आविष्कार करना पड़ा। इसके उपरांत किसी पत्थर से उसके टुकड़े निकालकर, उनसे विभिन्न प्रकार के उपयोगी औजार गढ़ने के लिए एक विशेष पद्धति का प्रयोग आवश्यक है। गॉर्डन चाइल्ड ने



चित्र—६

कहा है—"एक प्रकार की वैज्ञानिक परंपरा का सृजन किए बिना इस प्रकार के औजार तैयार नहीं किए जा सकते। औजार बनाने की प्रक्रिया में प्राचीनतम मानव-समुदायों ने पत्थरों का निरीक्षण कर यह तय किया कि कौन से पत्थर उत्तम हैं और कहाँ मिल सकते हैं तथा उन्हें कैसे काम में लाया जा सकता है।"* यही विचारधारा उसके शिकार के संबंध में भी लागू होती है। चेलीय मनुष्य जैसे जंगली जानवरों का शिकार करता था, वैसे ही वह स्वयं भी हिंसक जंगली पशुओं का एक अति प्रलोभनीय शिकार था। सामान्य पत्थरों के टुकड़ों पर निर्भर हो, अपने से कहीं अधिक बलशाली पशुओं का शिकार करने के लिए, उनके स्वभाव, गतिविधि, प्राप्तिस्थान, शिकार के लिए श्रेष्ठ ऋतु आदि नाना विषयों का पर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक था। धीरे-धीरे इन सब बातों का ज्ञान प्राप्त न होने तक शिकार में सफलता प्राप्त करने की आशा दुराशा मात्र है, यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है। इसलिए शिकार-चेष्टा के माध्यम से उसने निश्चय ही प्राणि-विज्ञान का प्राथमिक ज्ञान अर्जित किया।

चेलीय मानव के युग में, संभवतः अंतिम हिमकाल के आविर्भाव से पहले, एक प्रकार के प्रस्तर-शिल्प के गठित होने के अनेक पुरातात्विक प्रमाण मिलते

* V. Gordon Childe, Man Makes himself, 1936, p. 55

हैं। मूल पत्थर से निकाले गए टुकड़ों से जो औजार बनते थे, उनके माध्यम से संभवत: एक श्रेणी के उद्योग, Flake Industry की स्थापना यूरोप और एशिया के उत्तरी भाग में हुई। टुकड़े के बाद टुकड़े अलग करके मूल पत्थर को ही औजार-उपकरण में परिणत करने के जिस दूसरे कौशल का परिचय मिलता है, उसके माध्यम से, एक और श्रेणी का उद्योग, Core Industry का जन्म हुआ। इसके अनेक दृष्टांत दक्षिण भारत, सीरिया, पैलेस्टाइन, स्पेन, फ्रांस, इंगलैंड और अफ्रीका आदि स्थानों में मिले हैं।

पुरापाषाण युग के प्रथम भाग के कई लाख वर्षों की मानव-चेष्टाओं का यही संक्षिप्त इतिहास है। इस प्रचेष्टा की गति शिथिल है। सामान्य मात्र उन्नति करने में हजारों वर्ष लग गए। एक तरह से देखा जाय तो यह मानव-इतिहास का महानिश्चेष्टता का युग था।

मौस्तारी संस्कृति

कोई ५० हजार वर्ष पहले, चौथे हिमकाल के अग्रसर होते समय, यूरोप में जिस मौस्तारी संस्कृति का परिचय प्राप्त होता है, वह अनेक दिशाओं में उन्नत और विशेषतापूर्ण है। मौस्तारी संस्कृति का नायक छोटे कद का नियंडर्थल मानव है। आधुनिक मनुष्य की तरह वह अनायास बातचीत नहीं कर सकता था, लेकिन मोटे तौर पर वह बोल सकता था। उसमें यह क्षमता नहीं होती तो नियंडर्थल मानव के संघवद्ध होने की जो सूचना मिलती है, वह संघवद्धता संभव न होती।

अग्नि का आविष्कार

मौस्तारी संस्कृति की प्रथम उल्लेखनीय विशिष्टता कृत्रिम उपाय से अग्नि-उत्पादन का कौशल प्राप्त करना है। कुछ लोगों का कहना है कि अग्नि का आविष्कार करनेवाला चेलीय मानव ही है। इस बारे में ठीक-ठीक कुछ कहा नहीं जा सकता। चेलीय मानव-द्वारा आग के व्यवहार का प्रमाण नहीं के बराबर है, जब कि मौस्तारी संस्कृति के अनेक निदर्शनों में आग के इस्तेमाल किए जाने का प्रमाण मौजूद है। विभिन्न प्राकृतिक घटनाओं की तरह आग से मनुष्य का परिचय प्रारंभ में ही हुआ था। भूगर्भ में प्राकृतिक सूराखों से होकर निकलते हुए जलते पेट्रोलियम या प्राकृतिक गैस-जनित आग उसने कहीं-न-कहीं अवश्य देखी होगी। बिजली गिरने से या पेड़ की डालों में रगड़ लगने से अपने

आप उत्पन्न दावानल की अभिज्ञता भी उसे निश्चय ही हुई होगी। इसके अलावा ज्वालामुखी की आग से उसका परिचय रहा होगा। दावानल या ज्वालामुखी की आग के रूप को देखकर वह भले ही भयभीत हुआ हो या घबरा गया हो, परंतु जलती हुई प्राकृतिक गैस और पेट्रोलियम की आपेक्षिक रूप से शांत अग्नि को देखकर शायद वह हिम्मत बाँधकर आगे बढ़ा होगा। कुतूहलवश उसमें लकड़ी का टुकड़ा या पेड़ की सूखी शाखा डालकर शायद देखा होगा कि आग के स्पर्श से वह भी जल उठती है। ऐसी अवस्था में लकड़ी का एक टुकड़ा जलाकर उसकी सहायता से अन्यत्र रखे हुए लकड़ी के एक ढेर में आग लगाने की प्रबल इच्छा होना बहुत स्वाभाविक है। अग्नि से परिचय के प्रथम पर्व में आदिम मानव ने निस्संदेह इस प्रकार के अनेक परीक्षण किए। आग का सर्वस्व विध्वंकारी और प्रलयकारी रूप के अतिरिक्त एक कल्याणकारी रूप भी है—यह अंधकार का नाश करती है, गरमी देती है और जंगली पशुओं को पास नहीं आने देती—यह अनुभव करके वह प्रकृति पर निर्भर रहने की अपेक्षा कृत्रिम उपाय से स्वयं आग उत्पन्न करने में प्रवृत्त हुआ। चकमक पर हेमाटाइट या लौहयौगिक खनिज पत्थर ठोककर, या सूखी लकड़ी के दो टुकड़ों को परस्पर रगड़कर या बाँस के खोखले भाग में बंद हवा का दाब बढ़ाकर आदिम मानव कृत्रिम उपाय से आग उत्पन्न करने में सफल हुआ। यह युगांतकारा आविष्कार सबसे पहले कब और कहाँ हुआ, यह शायद अनंतकाल तक एक रहस्य बना रहेगा।

मानव-विकास के इतिहास में अग्नि के आविष्कार के महत्व पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है। इस आविष्कार के द्वारा मनुष्य ने प्रकृति की एक विराट शक्ति को अपने वश में किया। यह पहला मौका था कि प्रकृति की एक शक्ति पर आधिपत्य प्राप्त कर उसने अपने भाग्य का नियंत्रण स्वयं करना शुरू किया। मनुष्य ने अपने भाग्य का नियंत्रण अपने हाथों लेने पर ही, क्रमशः पशुत्व से मनुष्यत्व को प्राप्त किया। इस प्रचेष्टा के इतिहास में अग्नि के व्यवहार का आविष्कार एक क्रांतिकारी घटना है। गॉर्डन चाइल्ड ने लिखा है—"आग को तेज या धीमा करने, उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने और उसके प्रयोग-द्वारा मनुष्य ने अपने को अन्य पशुओं के व्यवहार से बिलकुल भिन्न दिशा में मोड़ लिया। इस प्रकार वह मनुष्य होने के दावे को सुप्रतिष्ठित कर आत्मनिर्माण कर रहा था।"*

* V. Gordon Childe, loc, cit, p. 56

आदिम मानव के मानस पर इस आविष्कार की प्रतिक्रिया कम नहीं हुई। उसने देखा, लकड़ी के दो टुकड़ों या चकमक और हेमाटाइट को परस्पर रगड़ने से प्रायः कुछ नहीं से एक आश्चर्यजनक गुण तथा शक्ति-संपन्न वस्तु का जन्म हुआ है। इस अभिनव अभिज्ञता से उसे एक नई सृष्टि का आनंद तो मिला ही, साथ ही उसने अपने अंदर स्रष्टा की दुर्ज्ञेय क्षमता का भी आविष्कार किया। इससे उसका आत्म-विश्वास कई गुना बढ़ गया।

अब कड़ाके की ठंडी रातें उसके लिए भयावह नहीं रहीं। यहां तक कि शीतोष्ण और शीत कटिबंध में जाकर बस्तियां बसाना भी उसके लिए संभव हुआ। अग्नि की सहायता से, एक ओर गुहा-कंदरा को आलोकित करके, और दूसरी ओर रात में हिंसक पशुओं के अचानक आक्रमण की रोकथाम कर, उसने अपने लिए पहले की अपेक्षा अधिक सुरक्षित और आरामदेह आश्रय का निर्माण किया। इसी समय संभवतः पाक-विद्या का आविष्कार भी हुआ होगा। इससे खाद्यों के चयन की स्वतंत्रता बहुत बढ़ गई। परवर्ती काल में, मिट्टी के वर्तन और धातु-पदार्थों के निर्माण-कौशल का आविष्कार, मुख्य रूप से अग्नि के आविष्कार का ही परिणाम है। मानव जीवन और मानव समाज में अग्नि की अपरिहार्यता की बात स्मरण करके ही ग्रीक लोगों ने प्रोमेथिउस के अग्नि-अपहरण के उपाख्यान की रचना की थी।

मौस्तारी-मानव परिवार-सहित रहता था और दलबद्ध होकर शिकार करता था। समाज-गठन का यह पहला प्रयास था। यहां पर यह भी देखने की बात है कि वे मृतकों को विशेष आदर-सम्मान के साथ दफनाते थे। ला शापेल-ओ-सें में प्राप्त एक मौस्तारी कब्र में, मृतक के सिर के नीचे पत्थर की तकिया और उसके पास कुछ औजार और जीवाश्मित मांस के टुकड़े मिले। मृतक के चारों ओर पत्थर जमाए गए हैं, जिससे मिट्टी धंसकर मृत देह पर छा न जाय और शव की रक्षा हो सके। मृतक को गर्मी मिल सके, इस उद्देश्य से चूल्हा या आग जलाने के स्थान के बहुत पास कब्रों में शवदेह मिलते हैं। शवदेहों के प्रति इस प्रकार के सम्मान-भाव से यह जान पड़ता है कि मौस्तारी मानव का मृत्यु के बाद एक प्रकार के जीवन के अस्तित्व में विश्वास था। उसके लिए ताप, औजार और खाद्य की व्यवस्था किए जाने का यही कारण है। तभी से वह मृत्यु के रहस्य पर गंभीर विचार कर रहा है। दूर प्रागैतिहासिक काल के आदिम मानव की मनोवृत्ति किस प्रकार ऐतिहासिक काल के मानव की विचारधारा और कार्यकलाप में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रह सकती है

और विद्यमान है, इसका अकाट्य प्रमाण पिरामिड और ताजमहल है। मृतकों की परिचर्या के विश्लेषण से मानव वैज्ञानिकों को चेलीय मानव में एक प्रकार की प्राथमिक जादू-विद्या का विकास दिखाई पड़ता है।

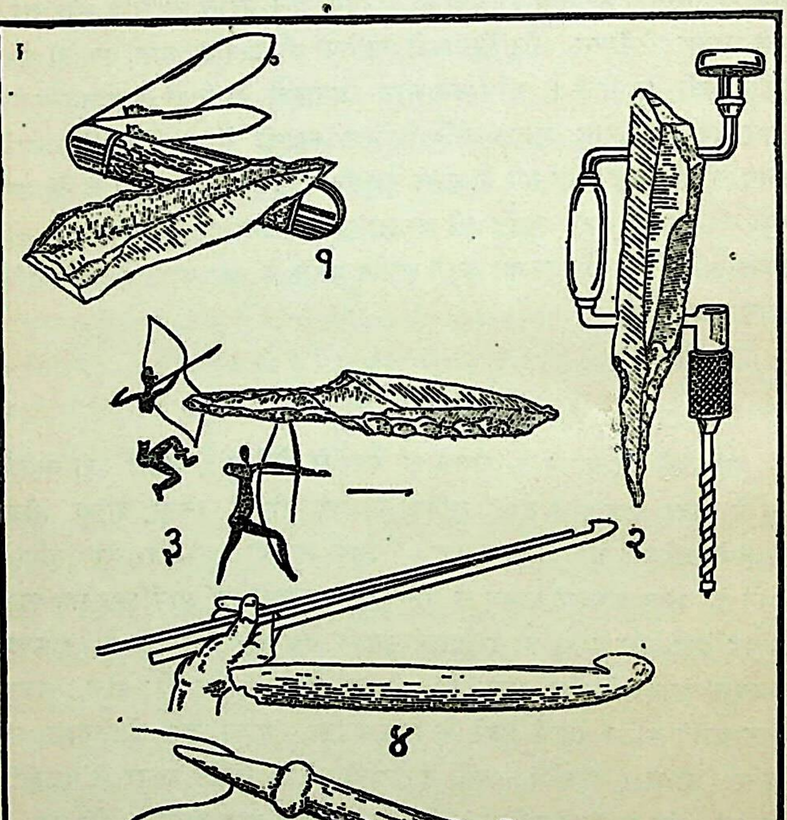
औरिग्नेसी, माग्दली तथा अन्य संस्कृतियाँ

लगभग ३० हजार वर्ष पहले, चौथे हिमकाल के अवसान के साथ या उसके ठीक बाद मौस्तारी संस्कृति का लोप हो गया। संभवतः इसी समय नियंडर्थल जाति का मानव भी लुप्त हो गया था। नियंडर्थल जाति का लोप और आधुनिक मानव क्रोमैग्नन और ग्रिमाल्डी जातियों की उत्पत्ति प्रायः एक ही समय होती देखी जाती है। क्रोमैग्नन और ग्रिमाल्डी जातियों के मानव यूरोप, उत्तर अफ्रीका, ईरान, भारत आदि विभिन्न स्थानों में प्रागैतिहासिक कार्य-कलाप के जो चिह्न छोड़ गए हैं, उनसे यह निःसंदेह प्रमाणित होता है कि उनसे पहले की किसी मानव जाति की अपेक्षा उनकी अवस्था अधिक उन्नत थी। जीवन संग्राम में पर्यावरण को अपने अधीन करने में इस जाति ने बहुत अधिक सफलता प्राप्त की।

औजारों का विकास

पहले औजार बनाने के कौशल की बात ले लीजिए। केवल यही नहीं कि उन्होंने नाना प्रकार के तथा अधिक कारगर औजार बनाए, बल्कि औजार बनाने के औजार भी तैयार किए। इसके अलावा औजार और हथियार बनाने के लिए चकमक पत्थर के अतिरिक्त, वृहदाकार प्रागैतिहासिक पशुओं की हड्डियों और दाँतों का इस्तेमाल उनकी एक और विशेषता है। हथियारों में अनेक प्रकार के तेज धारवाले औजार. फलक, तीर की नोक, लकड़ी, पत्थर आदि कठिन पदार्थ छेदने के लिए बरमा, भाला, दूर फेंकनेवाला यंत्र, हार्पून (कांटेदार बरछी) आदि उल्लेखनीय हैं। विशेष प्रकार के फलकों के अस्तित्व और तत्कालीन भित्ति-चित्रों से हमें यह ज्ञात होता है कि इस नए मानव समुदाय ने तीर-धनुष और भाला फेंकने का कौशल प्राप्त किया था। वास्तव मे धनुष एक विशेष प्रकार का इंजन है। इसके जरिए शारीरिक शक्ति की सहायता से तीर बहुत वेग के साथ फेंका जाना सभव है। इसी प्रकार, भाला-निक्षेपकारी यंत्र भी लीवर (उत्तोलक) की सहायता से भाले की गतिशक्ति बढ़ाता है। हार्पून, काँटा आदि देखकर लगता है कि उन्होंने मछली पकड़ने की विद्या भी सीख ली थी।

इन औजारों और हथियारों से सज्जित होकर ऑरिग्नेसी, माग्दली आदि संस्कृतियों की मानव-जाति ने खाद्य-संग्रह के मामले में मौस्तारियों की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता प्राप्त की। इस सफलता के परिणामस्वरूप, इस काल में मनुष्य जाति की जन-संख्या में विशेष वृद्धि हुई। अकेले फ्रांस में पुरापाषाण काल के अंतिम भाग के जो नरकंकाल मिले हैं, उनकी संख्या इसके पहले के संपूर्ण पुरापाषाण काल के नरकंकालों की सम्मिलित संख्या से कहीं अधिक है।

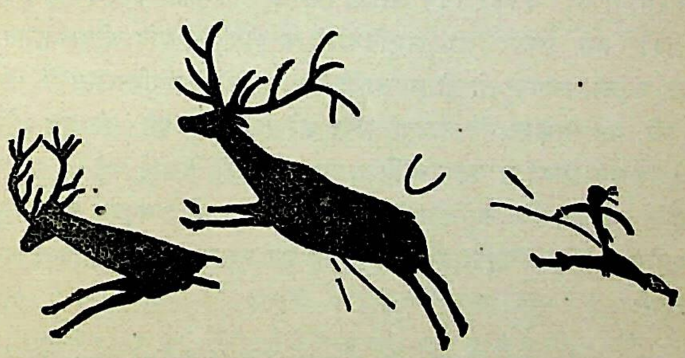


चित्र—७ : पाषाण काल के औजार

(१) छुरी का फलक, (२) बरमा, (३) तीर का फलक, (४) भाला-निक्षेपकारी यंत्र, (५) हड्डी की हार्पून (काँटेदार बर्छी)

प्रागैतिहासिक चित्रांकन और मूर्तिकला

खाद्य-चिंता बहुत कुछ दूर होने पर, मनुष्य को संभवतः पहली बार कुछ अवकाश पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रागैतिहासिक मानव ने चित्रांकन, मूर्तिकला आदि विभिन्न विषयों पर ध्यान दिया। माग्दली संस्कृति चित्रांकन और मूर्तिकला की दृष्टि से विशेष समृद्ध है। पत्थर और हाथी-दांत के बने औजारों पर ये चित्र अंकित हैं। गुहा-प्राचीर और छतें इस प्रकार के अनेक चित्रों से सुशोभित देखी जाती हैं। प्रायः सभी क्षेत्रों में चित्रों का विषय पशु-पक्षी और विशेषकर वे पशु हैं, जो प्रागैतिहासिक मानव के प्रिय शिकार थे, जैसे बाइसन (जंगली भैंसा), बारहसिंघा, जंगली घोड़ा, भालू, जंगली सुअर और कभी-कभी अन्य वृहदाकार जंतु। पहले ये चित्र केवल रेखांकन थे। ऑरिग्नेसी संस्कृति में रेखाचित्र का परिचय मिलता है। माग्दली चित्रांकन में रेखाओं का अध्याय समाप्त हो गया है, यह सभी दिशाओं में परिपूर्ण है। चित्रों की अभिव्यक्ति-पद्धति और गहराई में कलाकार की अद्भुत निपुणता के बारे में कोई भूल नहीं की जा सकती। विख्यात आधुनिक चित्रकारों के मतानुसार ये प्रागैतिहासिक चित्र सभी दृष्टि से विशुद्ध कला के नमूने हैं।



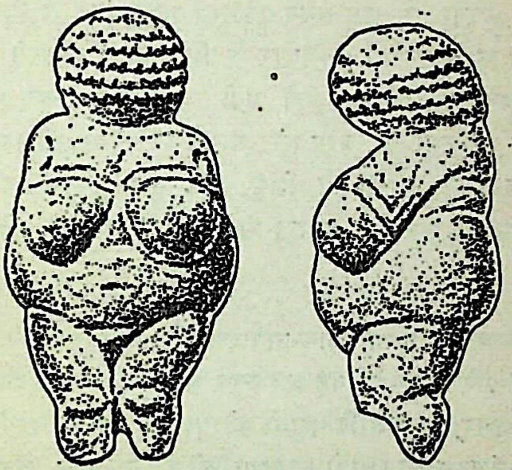
चित्र—८ : बारहसिंघा का शिकार—स्पेन कुइन्हा दे लाँ माँ द जोसेफ की कंदरा से प्राप्त पुरापाषाणकाल का एक भित्ति-चित्र।

यहाँ एक बात हमें विशेष रूप से स्मरण रखनी होगी कि प्रागैतिहासिक कलाकार ने केवल कला के लिए चित्रांकन अथवा प्रस्तर-मूर्तियों का निर्माण नहीं किया। उसका उद्देश्य कुछ और था। शिकार में हर समय कुछ अनिश्चितता होती है। इस अनिश्चितता को दूर करने के लिए शिकारी कुछ कर

नहीं सकता, तथापि यह उसके या उसके परिवारवालों के लिए आहार या उपवास की समस्या है। ऐसी अवस्था में शिकार की संभावना-वृद्धि के लिए प्रागैतिहासिक शिकारी ने जादू-विद्या की शरण ली होगी। लगता है कि उसका कला-सृजन इसी जादू-विद्या से अनुप्रेरित है। कंदरा-प्राचीर पर किसी जंगली भैंसा या बारहसिंघा का चित्र अंकित करते समय उसके मन में यह विचार आया होगा कि अभी कुछ समय पहले जहाँ कुछ नहीं था, वहाँ अब देखो कि एक मनोरम जंगली भैंसा या बारहसिंघा ऐसा खड़ा है, मानों हाथ बढ़ाने से ही उसे पकड़ लिया जा सकता है। पत्थर की एक और खरोंच से एक भाला अंकित करके जंगली भैंसे को बींधने से ही काम पूरा हो जायगा। क्या कंदरा में चित्रित यह मूर्ति मिथ्या है? क्या वह अविलंब, कंदरा के बाहर खुले प्रदेश में यह न देख पाएगा कि वास्तव में ऐसा ही एक मनोरम जंगली भैंसा, उसके बलिष्ठ हाथों से भाला-विद्ध होने की प्रतीक्षा कर रहा है? इस प्रकार जादू-विद्या का प्रभाव बढ़ाने के लिए प्रागैतिहासिक चित्रकार ने स्वेच्छा से दुर्गम, विपदावेष्टित और निवास के अयोग्य गुहा-गह्वरों को चुना है और नाना प्रकार के शारीरिक क्लेश और असुविधाएँ होते हुए भी इन दुर्गम स्थानों पर बैठकर चित्र अंकित किए हैं। इसका कारण यह है कि उसे लगा कि इस प्रकार की असुविधाओं के होते हुए यदि जीता-जागता चित्र अंकित करना संभव है तो हो सकता है कि सैकड़ों अनिश्चितताओं के होते हुए भी वह शिकार में सफलता प्राप्त करे। ध्यान देने की एक और बात यह है कि इन चित्रों में मनुष्य-मूर्ति शायद ही कहीं दिखाई पड़े। मनुष्य की प्रतिकृति अंकित करने से कहीं पशु उसे देखकर उलटे मनुष्य पर जादू-विद्या का प्रयोग न करे, संभवतः इस डर से वह इस प्रकार के चित्र अंकित करने से दूर रहा।

ऑरिग्नेसी और प्रेद्मोस्ती कलाकारों द्वारा-निर्मित पत्थर और हाथी-दाँत की बनी कुछ बहुत छोटी नारी-मूर्तियाँ भी मिली हैं। ये गर्भवती, स्थूल-काय नारियों की मूर्तियाँ हैं। इनमें स्त्री जाति की शारीरिक विशेषताएँ अस्वाभाविक रूप से अतिरंजित करके दिखाई गई हैं, लेकिन चेहरे पर नाक, आँख मुख आदि कुछ भी नहीं दिखाया गया है। ये मूर्तियाँ भी जादू-विद्या का प्रकट रूप हैं। इन विचित्र मूर्तियों-द्वारा संभवतः उर्वरता को ही इंगित किया गया है। परंतु इसका संबंध मनुष्य जाति की उर्वरता से है या शिकार की वृद्धि से, यह प्रश्नात्मक है।

पुरापाषाण काल के अंतिम भाग के ऑरिग्नेसी, माग्दली और प्रेद्मोस्ती संस्कृतियों के मनुष्यों के उपर्युक्त कार्यकलापों से यह बात सहज ही मालूम पड़ जाती है कि मनुष्य इस काल में द्रुत उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो रहा था। मात्र २० हजार वर्षों में पुरापाषाण-काल के अंतिम नेताओं ने प्रस्तर-औजारों



चित्र—९ : ऑरिग्नेसी और प्रेद्मोस्ती द्वारा निर्मित नारी-मूर्तियाँ

के निर्माण में क्रांति ला दी। पत्थर के साथ ही उन्होंने हड्डी और दाँत का प्रयोग औजार और हथियार-निर्माण के काम में किया। तीर, धनुप, भाला, हार्पून आदि नए-नए हथियारों का आविष्कार करके उन्होंने अपने शिकारी-जीवन की सफलता को सुनिश्चित किया। चित्रकारिता, मूर्तिकला और जादू-विद्या के माध्यम से उन्होंने उच्चतर मानसिक वृत्तियों का अनुशीलन शुरू कर दिया। अंत में अजीली संस्कृति के एक मनुष्य-समुदाय ने कुत्ते को पालतू पशु बनाकर शिकार के इतिहास में एक और नए अध्याय की रचना की। कुत्ते को पालतू पशु बनाने की यही पहली मिसाल है। इसी प्रकार कैंपिग्नियाई संस्कृति के एक और मानव-समूह को इस समय मिट्टी के बरतन बनाने की प्राथमिक चेष्टा करते देखा जाता है। इसलिए इसके पूर्ववर्ती काल की लाखों वर्ष की व्यापक निश्चेष्टता की तुलना में यह अत्यंत ही द्रुत प्रगति है, इसमें कोई संदेह नहीं, फिर भी पाषाणकाल की पहली और विराट क्रांति संघटित होना अभी बाकी है। मनुष्य उस समय भी खाद्य-संग्रहकारी की अवस्था से उठकर खाद्य-उत्पादक की स्थिति पर नहीं पहुँचा था।

नव-पाषाण युग की क्रांति—कृषि, पशुपालन, मृत्तिका-शिल्प आदि

गॉर्डन चाइल्ड ने मनुष्य के खाद्य-संग्रहकारी अवस्था से खाद्य-उत्पादक की अवस्था में उन्नत होने को एक क्रांतिकारी घटना बताया है। पशु और मछली का शिकार तथा उसी बीच जंगली कंदमूल बटोरकर जब मनुष्य जीवन व्यतीत करता था, उस समय एकमात्र खाद्य-संचय के सिवा और कुछ करने की उसे फुरसत न थी। शिकार के पीछे भाग-दौड़ करते रहने के कारण उसे आवास बनाने की जरूरत नहीं पड़ी और दलबद्ध रूप में विचरते रहने पर भी, इस अवस्था में ग्राम और सामाजिक जीवन की स्थापना असंभव थी। इस घुमक्कड़ जीवन में शिशु और वृद्ध अवांछनीय भार स्वरूप थे। जहाँ शिकार कम और समाप्त-प्राय होते, जनसंख्या भी वहाँ क्रमशः घटती रहती।

इस अवस्था की तुलना खाद्य-उत्पादक की अवस्था से कीजिए। कृषि के आविष्कार के परिणामस्वरूप वह अब स्वयं अनाज का उत्पादन करने लगा। भेड़, बकरी, सुअर, गाय आदि पशुओं को पालतू बनाकर उसने अपनी खाद्य-सूची में मांस-संभरण की स्थायी व्यवस्था की। अनाज के खेत और पशुओं के झुंडों की देखभाल के लिए अब से स्थायी तौर पर एक जगह बसने की जरूरत पड़ी। इसके परिणामस्वरूप ग्राम और एक प्रकार की समाज-व्यवस्था का उद्‌भव हुआ। कृषि-उपज तथा मांस, दूध आदि पशु-जनित विभिन्न खाद्यों से मनुष्य को पुष्टिकर भोजन मिलने लगा। जनसंख्या भी तेजी से बढ़ने लगी। शिशु और वृद्ध अब भार-स्वरूप नहीं रहे। वे अब पशुपालन और खेतों की निरौनी जैसे हल्के कामों में सहायता दे सकते थे। वर्ष के जिस मौसम में कृषि-कार्य बंद रहता, उस समय पशु और मछली के शिकार के लिए ग्राम से बाहर निकल पड़ने का प्रलोभन तो था ही। शिकार मिला तो बहुत अच्छा और खाली हाथ लौटना पड़े तो भी अनशन की दुश्चिंता नहीं थी, कारण अनाज और पशुओं का झुंड घर में मौजूद होता। फिर अनाज के संचय के लिए मिट्टी के बरतन बनाने पड़े। कुशल कुम्हार खाली पात्र गढ़कर और उनके बदले किसानों से अनाज लेकर स्वच्छंद जीवन बिता सकते थे। उनको खेतीबारी, पशुपालन या शिकार के झंझट में पड़ने की कोई जरूरत नहीं थी। इस बीच एक और जनसमूह पशुओं के बालों की सहायता से बुनकारी की कला सीखकर, मनुष्य की एक और प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति में सहायता प्रदान करने लगा।

कृषि और पशुपालन-द्वारा खाद्य-समस्या का संतोषजनक समाधान कर लेने के बाद मनुष्य को अन्य दिशाओं में ध्यान देने का अवसर मिला। नए अभावों का उसे बोध होने लगा। अब तक इन अभावों की बात सोचने का उसे अवकाश नहीं मिला था। इन विचित्र प्रवृत्तियों के लिए सहयोगिता और समाज-व्यवस्था अपरिहार्य है। गाँव के मुखिया को अब अनेक नई समस्याओं का सामना करना पड़ा। एक व्यक्ति की भेड़ों ने दूसरे व्यक्ति के गेहूँ के खेत नष्ट कर डाले, तो वह दूसरा व्यक्ति मुआवजे का दावा करने के लिए मुखिया का शरणापन्न हुआ। शिकारियों के सरदार को इस प्रकार के प्रश्नों पर माथा-पच्ची नहीं करनी पड़ी। यहां तक कि जादू-विद्या, भूत-प्रेत, देव-देवियों के स्वरूप भी बदल गए थे। अब उसे ऐसी जादू-विद्या की आवश्यकता हुई, जिससे भूमि की उर्वरता बनी रहे, अकाल न पड़े और पशुओं के समूहों में महामारी न फैले। ऐसे देव-देवियों की आवश्यकता हुई, जो इन उपद्रवों से उसकी रक्षा कर सके।

दोनों अवस्थाओं में जमीन-आसमान का अंतर है। मानव-जीवन-पद्धति में यह एक विराट परिवर्तन है। अनुमानतः १० हजार वर्ष पहले इस परिवर्तन का प्रारंभ हुआ और ६ हजार वर्ष पहले नवपाषाण काल की संस्कृति का परिपूर्ण विकास हुआ। इस अत्यल्प काल में—और यह कितना स्वल्प है, यह पूर्ववर्ती मौस्तारी अथवा इसके भी पहले की संस्कृति के सुदीर्घ अस्तित्व पर नजर डालने से ही समझा जा सकता है—मनुष्य ने बर्बर जीवन छोड़कर सभ्य जीवन व्यतीत करने का प्रायः हर आयोजन पूरा किया, यह निस्संदेह एक विराट क्रांति थी।

नवपाषाण काल के कुछ मुख्य आविष्कार और विशिष्टताएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) कृषि—गेहूँ, जौ, धान, ज्वार-बाजरा, राई।

(२) पशुओं को पालतू बनाना और पशुपालन—भेड़, बकरी, सुअर और मवेशी।

(२) मृत्तिका-शिल्प।

(४) बुनकारी।

(५) झीलों पर गृह-निर्माण।

यहाँ इन आविष्कारों की संक्षिप्त समालोचना की जाती है।

कृषि

पुरापाषाण काल के अंतिम भाग में फ्रांस के आरिग्नेसी और माग्दली मानव-द्वारा औजार-निर्माण, चित्रांकन और स्थापत्य में पर्याप्त उन्नति का

परिचय दिए जाने पर भी कृषि के आविष्कार के माध्यम से नव-पाषाणकाल की क्रांति पहले उनमें प्रचलित नहीं हुई। इस क्रांति के क्षेत्र हैं उत्तरी अफीका, पैलेस्टाइन, सीरिया, मेसोपोटामिया, फारस और भारत। मध्य पूर्व के मानचित्र में इन अंचलों को जोड़ने से फर्टाइल क्रिसेंट की भांति जो भूखंड बनता है, उसी Fertile Crescent अर्थात् धन्वाकार उर्वर भूभाग में कृषि-कार्य का प्रथम उद्भव हुआ। वनस्पति विज्ञान तथा पुरातत्व की गवेषणाओं और आविष्कृत तथ्यसमूह से इस सिद्धांत को अब साधारण स्वीकृति मिल चुकी है।

गेहूँ : इस समय जिस जाति के गेहूँ और जौ की खेती हुई, उनके पुरखे कई किस्मों की जंगली घास हैं। आधुनिक गेहूँ और जौ इन घासों के सम्मिश्रण से उत्पन्न संकर वनस्पति हैं। गेहूँ के पूर्वज, डिन्केल और एमेर नाम की दो जंगली घास अब भी प्रचुर परिमाण में उगती देखी जाती हैं। पहली प्रकार की उपज बाल्कन, क्रीमिया, एशिया माइनर और काकेशस के पर्वतीय प्रदेशों में और दूसरी किस्म की पैलेस्टाइन और फारस के पर्वतीय प्रदेशों में होती है। इनकी उपज के वर्तमान स्थानों से यह अनुमान करना सहज नहीं है कि सुदूर अतीत के पाषाणकाल में ये कहाँ उत्पन्न होती थीं, क्योंकि जलवायु के परिवर्तन के साथ वनस्पतियों का भी स्थान-परिवर्तन हुआ है। वनस्पति-भूगोल (Plant Geography) संबंधी गवेषणा से वाबीलॉव्ह ने अनुमान लगाया है कि गेहूँ की प्रथम खेती संभवतः अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिम चीन में आरंभ हुई। प्रागैतिहासिक स्विटजरलैंड और मध्य यूरोप के विभिन्न स्थानों में घटिया किस्म के जिस गेहूँ की खेती होने का प्रमाण मिलता है, वह संभवतः डिन्केल घास से उत्पन्न है। एमेर (Triticum dicoccum) की खेती से पुराकाल में मिस्र, एशिया माइनर और पश्चिमी यूरोप में उत्कृष्ट गेहूँ का उत्पादन होता था और कहीं-कहीं अब भी होता है। इसके अलावा ट्रिटिकम वलगेर (Triticum Vulgare) नाम की एक और जाति के गेहूँ की खेती प्राचीन मेसोपोटामिया, तुर्की, फारस और भारत में होती देखी जाती है और इस समय इसी गेहूँ की खेती अधिकांश स्थानों में हो रही है। इसकी किसी जंगली जाति का संधान नहीं मिला है। यह संभवतः एमेर और किसी अन्य अज्ञात किस्म की जंगली घास के सम्मिश्रण से उत्पन्न एक संकर वनस्पति है।

जौ का पूर्वज भी एक प्रकार की पर्वतीय घास है। उत्तर अफ्रीका में मार्मारिका में और पैलेस्टाइन, ट्रांसकॉकेशस, फारस, अफगानिस्तान और तुर्की में यह पहाड़ी घास उपजती है। वाविलॉव्ह का मत है कि जौ की पहली

खेती अफगानिस्तान और दक्षिण-पूर्वी एशिया में होनी चाहिए। इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। पैलेस्टाइन की नाटुफी संस्कृति में नवपाषाणकाल के प्राथमिक भाग में जौ की खेती होने की सूचना मिलती है। लेकिन कौन कह सकता है कि नाटुफियों ने यह जानकारी किसी अन्य स्थान से प्राप्त नहीं की ?

धान की खेती, गेहूँ और जौ की खेती के कुछ काल बाद शुरू हुई। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि इसका आविष्कार प्रागैतिहासिक काल में ही हुआ। धान की खेती संभवतः भारत में पहले-पहल शुरू हुई।* चीन में अनुमानतः ईसा के जन्म के लगभग २००० वर्ष पहले धान की खेती का प्रारंभ हुआ। ज्वार-बाजरा ही उस देश का नवपाषाणकालीन अनाज था। इन अनाजों के अलावा नवपाषाणकाल में राई की खेती भी शुरू हो गई थी।

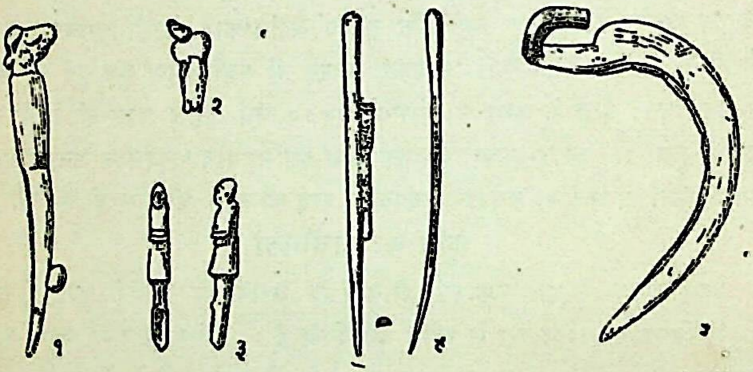
कृषि की प्राचीनता

इस प्रसंग में प्राथमिक कृषिजीवियों के आविर्भाव संबंधी पुरातात्विकों के आविष्कार विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। पैलेस्टाइन में, वादी-एल-नाटुफ नामक स्थान में पुरातात्विक खुदाई से जो सामान मिले हैं, उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि लगभग १० हजार वर्ष पहले एक मानव-समूह खाद्य-संचय की जीवन-प्रणाली छोड़कर खाद्य-उत्पादन की प्रणाली अपना रहा है। नाटु-फियों-द्वारा छोड़ी गई चीजों में जिस प्रकार छूरा, चमड़ा उतारने के औजार, काँटा आदि पशु और मछली-शिकार के उपयोगी हथियार मिले हैं, उसी प्रकार कुछ हँसिए और घास तथा अनाज काटने की छुरियाँ भी इस संग्रह की मूल्यवान वस्तुएँ हैं। घास और अनाज में बालू या रेत भी कुछ मात्रा में होती है। सिलिका (बालू) की लगातार रगड़ से अनाज काटने का औजार अपने आप चिकना और चमकदार हो जाता है। उपर्युक्त हँसियों और छुरियों को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि उनका इस्तेमाल कभी अनाज काटने के लिए किया गया होगा। इसके अलावा कुछ ओखलियों और फर्श पर बने बड़े-बड़े गड्ढों से लगता है कि वहाँ अनाज कूटा या पीसा जाता होगा।

मेसोपोटामिया में मसूल (Mosul) के पास टेल् हसूना (Tell Hasuna) नाम के टीले के सबसे निचले स्तर में नवपाषाणकालीन कृषि का एक और दृष्टांत मिला है। इस स्थान से पुरातत्वविदों ने प्राप्त किए हैं निराई के औजार, अनाज काटने की ओखली और मूसल, अनाज जमा रखने के लिए मिट्टी के

* **Stuart Piggott, "Prehistoric India", Penguin books, 1950; p.4?.**

पात्र और भेड़ें तथा अन्य मवेशियों की हड्डियाँ इत्यादि। इस अंचल के नवपाषाणकालीन मानव कृषिजीवी और पशुपालक थे, ये वस्तुएँ इसके निदर्शन स्वरूप हैं। ऊपर के कई स्तरों में और भी चिह्न मौजूद हैं, जिनसे पता लगता है कि कृषि में और अधिक उन्नति हुई है और स्थायी रूप से निवास की व्यवस्था भी की गई है।



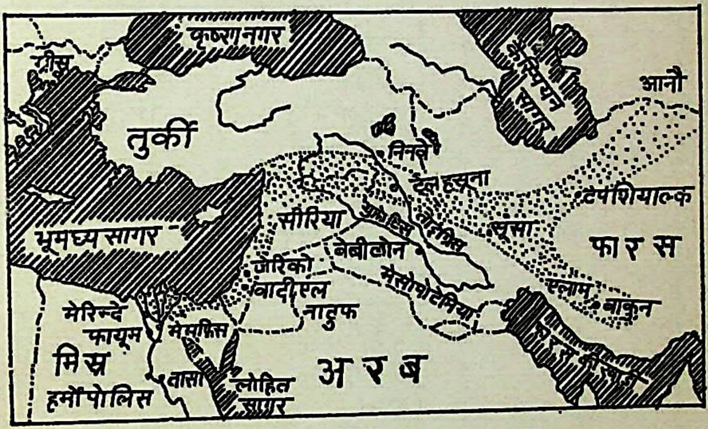
चित्र—१० : पैलेस्टाइन (१ तथा २), शियाल्क (३) फायूम (४) और साकारा (मिस्र) (५) आदि स्थानों से प्राप्त प्रागैतिहासिक काल के कृषि-योग्य औजार।

उत्तरी फारस में कासान के निकट टेप शियाल्क में पुरातात्विक खुदाई के एक और केंद्र के सब से निचले स्तर से इसी प्रकार के प्राथमिक कृषि-कार्य के अनेक चिह्न मिले हैं। यहाँ एक कंकाल के हाथ में पत्थर की कुल्हाड़ी और साथ ही अनाज काटने की कई छुरियाँ और हँसुआ आदि मिले हैं। नाटुफ में प्राप्त औजारों से इनका बहुत मेल है। मिट्टी के कुछ टूटें बर्तन इस स्थान की विशेषता हैं। लेकिन देखने में ये हसूना के मृत्पात्रों की तरह हैं। सबसे निचले स्तर से कुछ ऊपर मिट्टी के मकान और बस्ती होने के बहुत प्रकार के चिह्न खोज निकाले गए है। इस प्रांत में धातु की बनी चीजों का संभवतः सब से पहले इस्तेमाल था। तांबे की बनी कुछ बहुत छोटी वस्तुओं की प्राप्ति से इसका पता चलता है।

भारत में नवपाषाणकालीन कृषि-कार्यों के प्रमाण बलूचिस्तान में राणा घुंडाई टेल् (Rana Ghundai Tell) से प्राप्त हुए हैं। यहाँ भी नवपाषाणकालीन कृषि-जीवियों के एक समूह के कार्यकलाप के निदर्शन मौजूद हैं। लेकिन ये कार्यकलाप पैलेस्टाइन, मेसोपोटामिया या फारस के कार्यकलापों की

भाँति उतने प्राचीन नहीं हैं। संभवतः इन प्रांतों से ही, नवपाषाणकाल के अंतिम भाग में, कृषि-विद्या भारत पहुँची थी।

हमने अभी तक मिस्र का कोई उल्लेख नहीं किया है। किसी-किसी पुरातत्वविद की धारणा है कि नीलनदी घाटी ही कृषि की आदिम जन्मभूमि है। नील नदी की नियमित बाढ़-द्वारा जमा की जानेवाली सैलाबी मिट्टी से इस घाटी की मिट्टी को सदा उर्वर बनाए रखने का जो आयोजन प्रकृति ने स्वयं किया है, इस कारण कृषि का आविष्कार इसी स्थान पर हुआ, ऐसा अभिमत, पेरी ने सभ्यता का विकास (Growth of Civilization) नामक



चित्र—११ : फर्टाइल क्रिसेंट—मध्यपूर्व के धनुषाकार भूखंड में कृषि का प्रथम उद्भव हुआ।

अपने ग्रंथ में प्रकट किया है। काहिरा के दक्षिण और नील नदी से २५ मील पश्चिम फायूम झील के किनारे-किनारे एक के बाद एक बहुत से छोटे-छोटे ग्राम और कृषि-योग्य उपकरणों के खंडहर खोज निकाले गए हैं। यह एक अतिसमृद्ध नवपाषाणकालीन संस्कृति के साक्ष्य हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन ये प्राचीनतम हैं, इस विषय में मतभेद है। गॉर्डन चाइल्ड का यह अभिमत है कि नील नदी के उपत्यका-प्रदेश की विशिष प्राकृतिक परिस्थिति को कृषि के आविष्कार का कारण मान लेने से तो पैलेस्टाइन, मेसोपोटामिया, फारस आदि स्थानों में कृषि कार्य की अति प्राचीनता की व्याख्या करना कठिन हो जायगा। पुरातात्विक गवेषणाओं से भी यह प्रमाणित हुआ है कि आपेक्षिक रूप से नाटुफ, हसूना, शियाल्क आदि स्थानों का काल फायूम के काल से प्राचीनतर है। इसलिए ऐसा लगता है कि नाटुफ, शियाल्क या

देश	पुरातात्विक खनन कार्य के केन्द्र	खाद्योत्पादन और पशुपालन											व्यवहार में आनेवाले सामान												
		अनाज उत्पादन और सम्बद्ध उपकरण							गृहपालित पशु				निवासस्थान			बुनकारी			औजार			औजार बनाने के सामान			
		अनाज	हंसिया	निरौनी	ओखल	खत्ती	मिट्टी के पात्र	टोकरी	भेड़	कुत्ता	सुअर	गौ आदि मवेशी	कन्दरा	गृह	ग्राम	पिन	सुई	वस्त्र	तेजधार वाले औजार	छुरी	हार्पून	चकमक पत्थर	घिसने वाले पत्थर	हड्डी	धातु
मिस्र	फायूम	o	o	o	?	o	o	o	o	o	o	o		o	o	o	o	o	o	o	o	o	o	o	
मेसोपोटेमिया	हसूना	?	o	o	o	o	o		o		?	o		o	o		o		o	?		o	o	o	
फारस	शियाल्क		o	o	o		o		o			?		o	o	o				?		o	o	o	o
पैलेस्टाइन	नाटुफ		o		o					o			o			o	?		o	?	o	o		o	

o —सामान प्राप्त, ?—अस्तित्व संदेहात्मक

चित्र—१२ : नवपाषाणकालीन कुछ कृषिजोवी मानव समुदायों-द्वारा व्यवहृत सामान तथा औजारों के नमूने
(रॉबर्ट ब्रेडवुड रचित Prehistoric Men नामक ग्रंथ में दी गई सूची के आधार पर)

हसूना में जिन्होंने पहले-पहल बस्ती बसाने का प्रयत्न किया था, वे ही संभवतः प्राचीतम कृषिजीवी मानव-समुदाय हैं। उपर्युक्त केंद्रों में पुरातात्विक आविष्कारों को सारणी के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कृषि की प्राथमिक अवस्था में कृषि-जीवियों के लिए एक स्थान पर अधिक दिन बसना संभव नहीं हो सका था। एक ही खेत में लगातार कई वर्ष अनाज उपजाने के कारण भूमि की उर्वरता घट जाने पर, उन्हें उपजाऊ क्षेत्रों की खोज में अन्यत्र जाना पड़ा था। जब तक उन्हें यह जानकारी नहीं हुई कि पशु-पालन और पशुओं की चराई से किस प्रकार भूमि की उर्वरता का संरक्षण किया जा सकता है, तब तक कृषिजीवियों को भी यायावर-जीवन व्यतीत करना पड़ा था।

एक और उल्लेखनीय बात यह है कि गेहूँ, जौ आदि की जंगली घास बोकर पहले-पहल खाद्यान्न उपजाने का श्रेय संभवतः स्त्री जाति को ही प्राप्त है। पुरुष जब जंगलों-झाड़ियों में वन्य पशुओं का पीछा करने में लगे होते, स्त्रियों ने उस समय, गुहा-कंदराओं के आस-पास वनस्पति-राज्य से लता-फल-मूल संग्रह करने का प्रयास करते हुए, यह विस्मयजनक, युगांतकारी आविष्कार किया होगा।

पशुपालन

कृषि-कार्य शुरू होने के साथ ही नवपाषाणकालीन मानव ने कुछ सीधी किस्मों के वन्य पशुओं को पालतू बनाकर पशुपालन का अभ्यास आरंभ किया या नहीं, इस विषय में बड़ा मतभेद है। किसी-किसी विशेषज्ञ का मत है कि शिकारी से किसान बनने के पहले ही पशुपालक के रूप में मानव का आविर्भाव अधिक युक्तिसंगत है। किसी-किसी की धारणा है कि मनुष्य ने प्रायः एक ही समय, पृथ्वी के विभिन्न भागों में, स्वतंत्र रूप से शिकारी, पशुपालक और कृषक के रूप में आत्म-प्रकाश किया था। अर्थात् मनुष्यों का एक समूह जब जंगली घास के बीज बोकर अनाज उत्पादन की प्राथमिक परीक्षा में लगा हुआ था, उसी समय एक और समूह किसी अन्य स्थान में जंगली पशुओं को पालतू बनाने के काम में मनोनिवेश कर रहा था। परंतु मेसोपोटामिया, मिस्र और फारस में प्राचीनतम नवपाषाणकालीन संस्कृति के जो नमूने मिले हैं, उनमें कृषि-कार्य और पशुपालन साथ-साथ होता देखा जाता है। कम-से-कम 'फर्टाइल क्रिसेंट' में पशुपालन की अभिज्ञता कृषि के बाद की घटना है, यह उस अंचल की मानव-प्रवृत्तियों की धारा को तनिक गहराई से देखने पर ही स्पष्ट हो जाता है।

पशुपालन की चर्चा से हमें भेड़, वकरी, सुअर, मवेशी आदि पशुओं की बात का ही ध्यान हो आता है। लेकिन केवल पालतू वनाने की चर्चा उठे तो निस्संदेह यह कहना पड़ेगा कि कृषि के आविर्भाव के पहले ही शिकारी मनुष्य ने पशुओं में से सब से पहले कुत्ते को पालतू वनाया था। पुरापापाणकाल के अंतिम भाग में ऐजीलियाई संस्कृति के एक समूह ने शिकारी कुत्ते को पालतू वनाकर स्वयं अपने लिए शिकार की सुविधा प्राप्त कर ली थी, इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं।

पशुपालन के आविष्कार का कृषि से संपर्क है, इस अनुमान का मुख्य कारण यह है कि पृथ्वी के जिन अंचलों में एक समय गेहूँ और जौ के पूर्वजों का निवास था, ठीक उन्हीं अंचलों में या उनके पास-पड़ोस में ही भेड़, बकरी, सुअर, गौ आदि के पूर्वज विचरण करते थे। पिरेनीज से हिमालय तक जो पर्वत-शृंखला फैली हुई है, वहाँ पहाड़ी प्रदेशों में एक समय जंगली भेड़-बकरियों का निवास था। मूफ्लॉन जाति की जंगली भेड़ अव भी भूमध्यसागर के द्वीपों और तुर्की से पश्चिमी ईरान तक के इलाके में पाई जाती है। इसके पूर्व तुर्की, अफगानिस्तान और पंजाब में जंगली भेड़ की एक और जाति युरियाल का निवास है। और भी पूर्व, एशिया के पहाड़ी इलाकों में आर्गल जाति की भेड़ें हैं। मेसोपोटामिया के प्राचीन प्रस्तर स्तंभ पर मूफ्लॉन और युरियाल के चित्र देखे जा सकते हैं। उपर्युक्त विस्तृत क्षेत्र में, तृणाच्छादित खुला प्रदेश, जंगल और दलदल, गाय-भैंस आदि मवेशियों और सुअर के वन्य पूर्वजों का आदि निवास था। इसलिए इस वात की प्रबल संभावना है कि इन अंचलों के निवासियों ने ही पहले पहल भेड़-बकरी, गाय-भैंस और सुअर को पालतू बनाया होगा।

पशुओं को पालतू बनाने के काम में शिकारियों की तुलना में कृषिजीवियों के अग्रणी होने की संभावना ही अधिक है। मध्यपूर्व के जिन अंचलों में कृषि का उद्भव हुआ था, उन स्थानों में नवपाषाणकाल में बीच-बीच में जलवायु में व्यापक परिवर्त्तन हुए। विशेषकर उत्तरी यूरोप और एशिया में वर्फ पिघलने से इन अंचलों में वर्षा की मात्रा कम होते-होते कभी-कभी भीषण सूखा पड़ा, उस समय जलाभाव और वनस्पति की कमी के कारण मनुष्य को जिस प्रकार जलाशय, मरुद्यान आदि स्थानों में सामयिक रूप से आश्रय लेना पड़ा था, उसी प्रकार जंगली मूफ्लॉन, गाय-भैंस आदि पशुओं ने भी उन स्थानों पर मनुष्य का अनुसरण किया। ऐसी स्थिति में, यदि मनुष्य ने इसके पहले ही

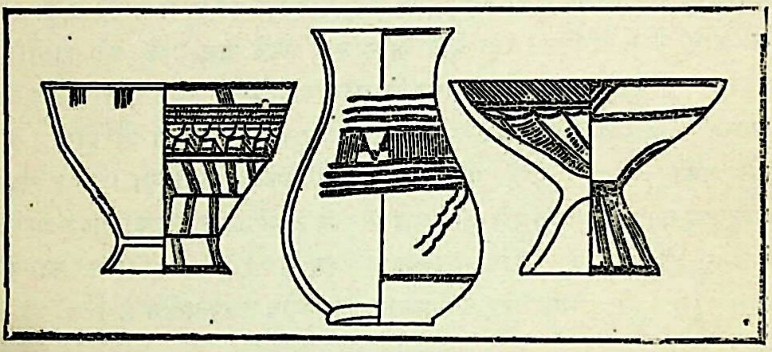
कृषि कार्य शुरू किया हो तो अनाज का भूसा और खेतों में उपजनेवाली, मनुष्य के लिए अनुपयुक्त वनस्पति अकाल-पीड़ित सीधे-सादे पशुओं को घूस के तौर पर देकर, उन्हें धीरे-धीरे पालतू बनाने का प्रयास किया गया हो, यह बहुत स्वाभाविक है। कारण उन्हें किसी-न-किसी तराके से यदि पालतू बनाया जा सके तो स्वयं मनुष्य की खाद्य समस्या के समाधान की संभावना हो। इस संभावना की बात सोचकर ही वह शायद उन प्राणियों की हत्या करने से या उन्हें भयभीत करने से विरत रहा होगा और उन्हें अपने पास आने को प्रोत्साहित करता रहा होगा। उनकी प्रकृति और आदतों को उसने देखा होगा और अनाज के अखाद्य अंश देकर उन्हें जीवनधारण की सुविधा दी होगी, और इस प्रकार क्रमशः उन्हें पालतू बनाने में समर्थ हुआ होगा। यह कहना अनावश्यक है कि परिस्थिति-जन्य सुअवसर से लाभ उठाना खाद्योत्पादक किसान के लिए ही संभव है। खाद्य संचयकारी जिस शिकारी को प्रतिदिन का खाद्य लाना पड़ता हो, उसके लिए इस प्रकार का प्रयोग कल्पनातीत है।

मृत्तिका शिल्प

कृषि और पशुपालन-आविष्कार के संपर्क के विषय में चाहे मतभेद हो, लेकिन कृषि और मृत्तिका शिल्प के संपर्क के विषय में ऐसा कोई मतभेद नहीं है। मृत्तिका शिल्प कृषि-व्यवस्था का ही अनिवार्य परिणाम है। गेहूँ या जौ की फसल साल में केवल एक बार होती है। कृषि-जीवियों के लिए यह सारे वर्ष का खाद्य है। इसका एक अंश अगले वर्ष की फसल के लिए बीज बोने के काम आता है। ऐसी हालत में अनाज का संचय अवश्य ही करना पड़ता है। अनाज जमा रखने के लिए उपयुक्त पात्र की आवश्यकता है। एकमात्र कंदरा-निवासी नाटुफियों के सिवा, शियाल्क, हसूना और फायूम में प्राचीनतम कृषि-जावियों-द्वारा व्यवहृत वस्तुओं में मृत्तिका शिल्प के अस्तित्व के प्रचुर निदर्शन मिले हैं।

अनेक कारणों से मृत्तिका शिल्प एक अति महत्वपूर्ण आविष्कार है। प्रागैतिहासिक मानव की विचार-धारा का यह जिस प्रकार निर्भरयोग्य मापदंड है, उसी प्रकार उसकी वैज्ञानिक मनोवृत्ति और प्रचेष्टा इसमें जितनी स्पष्ट हुई है, वैसी और किसी चीज में नहीं। वास्तव में मृद्‌भांड निर्माण के माध्यम से कुम्हार एक जटिल रासायनिक परिवर्तन सचेत अवस्था में संपन्न करता है। ऊपरी तौर पर ऐसा लगता है कि नरम हालत में मिट्टी को इच्छानुसार विभिन्न आकारों में ढालकर उसे आग में तपाने से ही मिट्टी के बर्तन

बनकर तैयार हो जाते हैं। परंतु वास्तव में हाइड्रेटेड अलुमीनियम सिलीकेट यानी कुम्हार की मिट्टी से ६०० डिग्री ताप की सहायता से जल के कुछ अणुओं को निकालकर अंदर-ही-अंदर एक रासायनिक परिवर्तन को संभव बनाकर ही इस संघनित ठोस पदार्थ को तैयार किया जाता है। सभी प्रकार की मिट्टी से अच्छे पात्र नहीं बनते। उपयुक्त मिट्टी का चुनाव अनेक



चित्र—१३ : नव पाषाणकालीन मिट्टी के वर्तन—राणा घुंडाई टेल।

दिनों की अभिज्ञता और प्रेक्षण पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त मिट्टी के दाने मोटे तौर पर बराबर होने चाहिए; मोटे दानों को छानकर या धोकर अलग कर देना चाहिए। मिट्टी अधिक चिपकनेवाली हो तो हाथ में मिट्टी सन जाती है और बर्तन गढ़ने में असुविधा होती है, इसलिए कुछ परिमाण में रेत या पिसा पत्थर मिलाना आवश्यक है। गीली और लचीली हालत में मिट्टी के लोंदे को सीधे आग में तपाने से बर्तन में दरार पड़ जाने की संभावना है, इसलिए धूप में या चूल्हे के पास स्वल्प ताप में इसे सुखा लेना पड़ता है। आग में जलाने पर गीला लोंदा केवल सख्त ही नहीं बनता, बल्कि उसका रंग भी आश्चर्यजनक रूप से बदल जाता है। मिट्टी में कई प्रकार के रासायनिक पदार्थ मिले होते हैं—जैसे अति सामान्य मात्रा में यौगिक लौह, लवण आदि। खुले चूल्हे में जलाने की व्यवस्था हो तो आक्सीजन के संपर्क से लाल रंग की फेरिक आक्साइड उत्पन्न होने के कारण पात्र का रंग लाल हो जायगा। लेकिन पात्र को लकड़ी के कोयले से ढककर जलाया जाय तो यौगिक लौह-लवण जलकर फेरोसी-फेरिक ऑक्साइड में परिणत हो जायगा। इसका रंग काला है, इसलिए पात्र भूरे रंग का बन जायगा।

नवपाषाणकालीन कुम्हार को इस प्रकार के रासायनिक परिवर्तन के रूप और कारण का ज्ञान अवश्य ही नहीं था, लेकिन कौन-सी पद्धति अपनाने से

मिट्टी के विभिन्न रंगों के अच्छे पात्र बनाए जा सकते हैं, इसकी उसे भली-भांति जानकारी थी। गॉर्डन चाइल्ड ने लिखा है—

"मृत्तिका शिल्प के आविष्कार की मुख्य खोज यह थी कि जिस रासायनिक परिवर्तन का अभी उल्लेख किया गया है, उसका नियंत्रण और उपयोग किस प्रकार किया जाय।" अन्यत्र उन्होंने लिखा है......"कुम्हार का शिल्प, अतिशय अपरिपक्व और सामान्यीकृत रूप में भी, उसी समय जटिल हो चुका था। स्पष्टतः कई भिन्न प्रक्रियाओं और आविष्कारों के परिणाम एवं संपूर्ण प्रयोग इसमें शामिल थे।"

कृषि के आविष्कार की भांति मृत्तिका-शिल्प के आविष्कार का श्रेय भी संभवतः स्त्री जाति को ही प्राप्त है। पाषाणकाल से लेकर अब तक, मिट्टी के बर्तनों का इस्तेमाल मुख्यतः स्त्री जाति ही करती आई है।

मनुष्य को, मिट्टी के बर्तन के आविष्कार में, सृजन के अव्यक्त आनंद की उपलब्धि हुई थी। अपने अंदर उसे एक वैसी ही शक्ति का आभास हुआ था, जैसे अग्नि के आविष्कार में हुआ था। गंदी मिट्टी के लोंदे से विचित्र वर्णों और विविध आकृतियों के अति आवश्यक कठोर मृद्‌भांडों के निर्माण की अभिज्ञता अतुलनीय है। उस दिन मानव ने अपने को स्रष्टा के आसन पर प्रतिष्ठित देखा होगा। परवर्ती काल में, धर्म-नायकों ने, ईश्वर की महिमा का गान करने के लिए, लौकिक दृष्टांत की खोज में बारंबार कुम्हार के सृजन-चातुर्य का ही उल्लेख किया है।

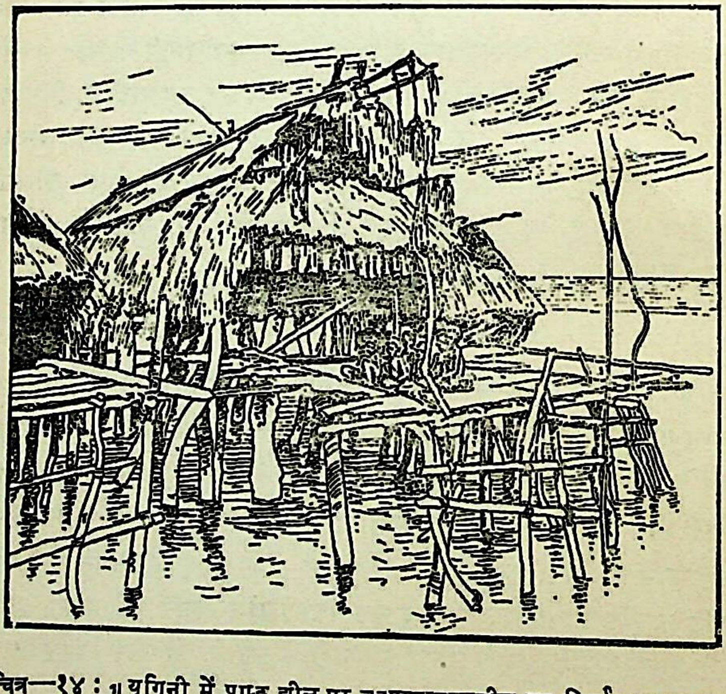
बुनकारी

बुनकारी का आविष्कार नवपाषाणकाल के अंतिम भाग की घटना है। मनुष्य पुरापाषाणकाल से ही पशुओं के चमड़े को छीलकर और सुखाकर परिधान के तौर पर उसका इस्तेमाल करता रहा है। उसी चमड़े की उसने रस्सी बनाई और इन रस्सियों की सहायता से चटाइयां बनीं। वस्त्र बुनने के लिए कच्चे माल हैं तीसी, कपास और पशुओं के लोम। कृषि विज्ञान की पर्याप्त प्रगति न होने तक तीसी और कपास-जैसी विशेष प्रकार की वनस्पतियों की खेती संभव नहीं है। उसी प्रकार बुनकारी में पशुओं के लोम के इस्तेमाल के पहले विशेष प्रकार की लोमश भेड़ें पैदा करना आवश्यक है। भेड़ों के बारे में दीर्घकालीन अभिज्ञता और प्रेक्षण के परिणामस्वरूप ही इस प्रकार के लोमश भेड़-वंश का उद्‌भव संभव है। नवपाषाणकाल में मिस्र और स्विट्-

जरलैंड में अलसी के कपड़े बुने जाने का प्रमाण मिला है। अनुमानतः ईसा के जन्म के ३ हजार वर्ष पहले सिंधु नदी की घाटी तथा अन्य स्थानों में कपास की खेती और बुनकारी में कपास का इस्तेमाल और मेसोपोटामिया में ऊन का इस्तेमाल शुरू हुआ होगा। तीसी, कपास और ऊन से धागा कैसे बनता था और कपड़ा बुनने के लिए किसी प्रकार के आदिम करघे का आविष्कार हुआ था या नहीं और हुआ हो तो वह किस प्रकार का था, इन विषयों में पर्याप्त तथ्य पुरातात्विक अभी तक खोज नहीं पाए हैं। संभवतः धागा तैयार करने के उपकरण और करघे, लकड़ी के बने हुए होने के कारण काल के गर्भ में समाकर मिट गए हैं।

झील पर गृह-निर्माण

मध्यपूर्व (पश्चिमी एशिया) का नवपाषाणकालीन किसान साधारणतया मिट्टी के मकान में रहता था। इस समय झीलों के आसपास के रहनेवालों ने



चित्र—१४ : ११ यूगिनी में प्राप्त झील पर नवपाषाणकालीन गृह-निर्माण का नमूना।

पानी के ऊपर मकान बनाने में विशेष दक्षता प्राप्त की थी। सन् १८५१ ई० से लेकर सन् १८५४ ई० तक जाड़ों में तापमान के स्वाभाविक रूप से घट जाने

के कारण जूरिक झील का पानी बहुत नीचे उतर गया था। उस समय अत्यंत अप्रत्याशित रूप से इस झील के किनारे प्रागैतिहासिक काल के एक नवपाषाण-कालीन ग्राम के खंडहर का पता चला। जाँच-पड़ताल से यह जानकारी मिली कि झील के आसपास के स्विस् निवासी पानी में लकड़ी के बड़े बड़े तने गाड़-कर उन पर मजबूत मकान बनाते थे। झील-प्रदेशवासियों की जाति कर्मठ और कुशल थी, इसके अनेक प्रमाण मौजूद हैं। ये लोग भेड़, बकरी, सुअर और मवेशी का पालन करते थे और पशुओं का दूध पीते थे। उनकी खेती में गेहूँ और जौ उल्लेखनीय हैं और उन्होंने तीसी से वस्त्र बुनने में पटुता प्राप्त कर ली थी। फलों में वे मुख्यत. सेव, अंगूर, चेरी, रैस्पबेरी और ब्लैकबेरी खाते थे। इसके अतिरिक्त वे अच्छे शिकारी भी थे। स्विट्जरलैंड की यह नवपाषाणकालीन संस्कृति पैलेस्टाइन, मेसोपोटामिया आदि स्थानों की नवपाषाणकालीन संस्कृति से बहुत बाद की है। स्कॉटलैंड, आयरलैंड, न्यूगिनी आदि कुछ और स्थानों में भी, नवपाषाणकाल में, झीलों के अंचल के निवासियों के इस प्रकार के कार्यकलाप के कुछ दृष्टांत मिले हैं।

नवपाषाणकालीन संस्कृति की बहुविध प्रवृत्तियों का यह एक अति संक्षिप्त परिचय है। यह युग अनेक मौलिक आविष्कारों से समृद्ध है। कृषि, पशुपालन, मृत्तिकाशिल्प, बुनकारी, गृह-निर्माण और उन्नत किस्म के नाना प्रकार के औजारों के लगातार आविष्कारों ने नवपाषाणकाल के कार्यकलाप और प्रवृत्तियों को अपूर्व विशिष्टता प्रदान की है। यहाँ तक कि धातुओं का आविष्कार भी इसी युग में हुआ। एक वाक्य में कहा जाय तो सभ्यता की रचना के लिए सभी विद्याओं, उपकरणों और आयोजनों को नवपाषाणकालीन मानव ने इस अत्यल्प काल में ही पूरा कर लिया था। ईसा के जन्म के तीन हजार वर्ष पहले, टाइग्रिस, युफ्रेतिस, नीलनदी और सिंधु नदी की घाटियों में सभ्यता के जिस प्रथम विकास और नए मार्ग पर विज्ञान की विजय-यात्रा को देखकर हम विस्मय से निर्वाक रह जाते हैं, यह उसी की तैयारी थी।

धातुओं का आविष्कार और प्रयोग—सोना, ताँबा, टिन, पीतल, चाँदी, सीसा, लोहा—तथाकथित तांबा-पीतल और लोहा-युग।

सोना

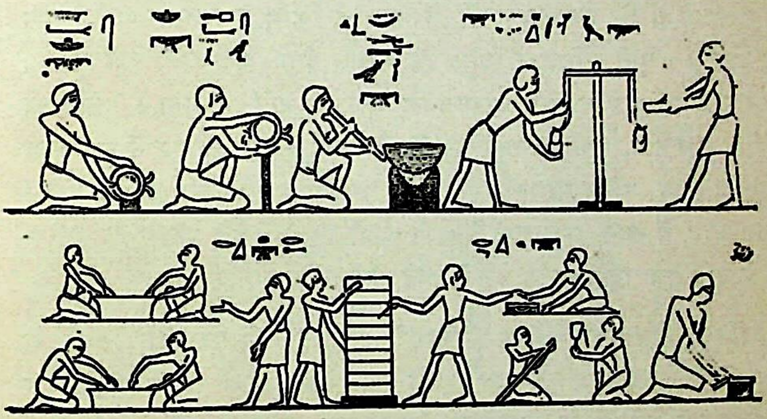
धातुओं में सोने का व्यवहार प्राचीनतम है। पाषाणकाल का मनुष्य सोने से परिचित था, इसका प्रमाण यह है कि उस काल के पालिश किए हुए पत्थर

के औजारों के ध्वंसावशेष के साथ सोने की बनी चीजें भी मिली हैं। छह या सात हजार वर्ष पहले बहुत क्षुद्र आभूषणों के रूप में ही सोने का पहले-पहल प्रयोग होता देखा जाता है। प्राकृतिक अवस्था में नट-भूमि पर कभी-कभी सोना मिलता है। नवपाषाणकाल में व्यवहृत सोना संभवतः ऐसे ही स्थानों से प्राप्त हुआ। स्वर्ण की विशेषता यह है कि अन्य धातुओं की तरह इसका रंग वायु के संस्पर्श से काला नहीं हो जाता। साधारण हालत में ऑक्सीजन के साथ इसकी कोई यौगिक क्रिया न होने के कारण यह बहुत उज्ज्वल और चमकदार हालत में मिलता है। इसके अलावा पृथ्वी पर प्रायः सर्वत्र यह धातु मिलती है। जहाँ तक इसके मिलने का प्रश्न है, यह लोहा के यौगिक खनिज की तरह ही सुलभ है। सोने की रासायनिक निष्क्रियता और अन्य पदार्थों की तुलना में इसका आपेक्षिक घनत्व होने के कारण, किसी-किसी शिला की प्रथमावस्था में इसका परिमाण बहुत कम होने पर भी, कालातंर में उक्त पत्थर की क्षयप्राप्ति के साथ, सोने का भाग बढ़ता और एक स्थान पर जमा होता देखा गया है। प्रागैतिहासिक मानव प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त इस उज्ज्वल पदार्थ की ओर सहज ही आकृष्ट हुआ होगा और उसने इस लचीली (malleable) धातु का प्रयोग आभूषण के रूप में किया होगा, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। नवपाषाणकालीन फ्रांस के अनेक खंडहरों में सोने की मनका माला आदि मिली हैं। सुमेर सभ्यताकालीन उर (जनपद), मिस्र का प्राक्-राजवंशीय स्मृतिस्तंभ और क्रीट की मिनोयाई सभ्यता के ध्वंसावशेष छोटे-बड़े अनेक प्रकार के स्वर्णाभूषणों से समृद्ध हैं।

तांबा

तांबे का प्रयोग सोने से पहले किया जाता था या नहीं, निश्चित रूप से यह कहना कठिन है, क्योंकि ताँबा भी प्राकृतिक अवस्था में मिलता है। वायु में मौजूद ऑक्सीजन से रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप तांबे का असल ताम्रवर्ण बिल्कुल बदल जाता है और यह काले रंग का या हरियाली लिए हुए काले रंग का बन जाता है। सोने की तलाश करते हुए प्रागैतिहासिक मानव ने इस प्रकार के काले या हरियाली लिए हुए काले रंग के पत्थर का अवश्य ही आविष्कार किया होगा और यह देखा होगा कि इस प्रकार के पत्थर को सामान्य रूप से पीटने से यह उज्ज्वल पीले-लाल रंग का हो जाता है। सोना और इस नए पदार्थ के रंगों में इतना अधिक सादृश्य है कि इस नए ढंग के

पत्थर के प्रति वह निश्चय ही आकृष्ट हुआ होगा। इसलिए, आभूषण के रूप में सोने के साथ तांबे का व्यवहार हम ऐतिहासिक काल के बहुत पहले से ही देखते हैं। उत्तरी फारस (ईरान) में टेप शियाल्क के नवपाषाणकालीन खंडहरों में तांबे की बनी छोटी-छोटी कीलों की प्राप्ति का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। टेप शियाल्क के काल से इतना कहा जा सकता है कि तांबे का व्यवहार सोने से पहले न हुआ हो, तो भी दोनों रासायनिक तो हैं ही। प्राक्राजवंशीय जमाने की मिस्री कब्रों में सोने और तांबे की अनेक मनका मालाएँ एक साथ मिली हैं। प्राचीन कैल्डिया के ध्वंसावशेषों में भी (ईसा पूर्व ४५००) तांबे के बने आभूषण और वस्तुएँ उल्लेखनीय हैं।



चित्र—१५ : मिस्री स्वर्णकारों का कारखाना—इसमें सोने की धुलाई, उसे पिघलाना और तौलना आदि देखा जा सकता है।

यह तो हुई प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त तांबे के व्यवहार की बात। खनिज तांबे से विशुद्ध धातु को अलग करके, उससे औजारों और वस्तुओं का निर्माण बिल्कुल भिन्न बात है। इस कार्य के घटित होने का अर्थ है धातु विद्या के बारे में मनुष्य के ज्ञान में पर्याप्त वृद्धि। धातु जहाँ प्राकृतिक अवस्था में ही प्रचुर परिणाम में मिलती है, वहाँ खनिज धातु की खोज और उससे विशुद्ध धातु निकालने की चिंता अनावश्यक है। कोलंबस के अमेरिका पहुँचने के पहले रेड इंडियन लोग उस देश में प्रचुर परिमाण में प्राप्त प्राकृतिक तांबे को केवल पीटकर और उससे नाना प्रकार की वस्तुएँ तैयार कर, उनका

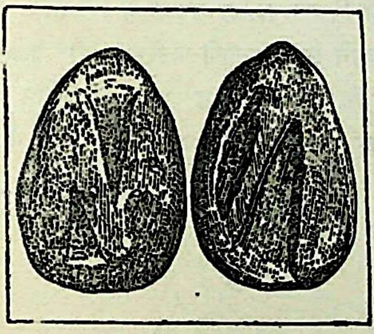
व्यापक रूप से प्रयोग करते रहे हैं। प्रकृति की इस अयाचित कृपा के कारण खनिज पिघलाकर उससे विशुद्ध धातु निकालने की चिंता उन्हें नहीं करनी पड़ी। इसीलिए प्राचीनकाल की पृथ्वी पर विशुद्ध धातु निकालने की विद्या प्रायः ५ हजार वर्ष पुरानी होते हुए भी हम प्राक्-कोलंबस रेड इंडियनों को इस विद्या से पूर्णतः अनभिज्ञ पाते हैं।

मेसोपोटामिया और फारस के अंतर्गत फर्टाइल क्रिसेंट की कुम्हार श्रेणी के कारीगरों ने नवपाषाणकाल में ही तांबा निकालने की पद्धति का आविष्कार किया, यह निश्चित है। मैलाकाइट आदि सुलभ खनिज तांबे को वे पहले एक किस्म का पत्थर ही समझते थे। हो सकता है कि नितांत आकस्मिक रूप से या खेल-खेल में इस प्रकार का पत्थर आग में फेंके जाने पर, किसी ने पहले-पहल देखा होगा कि यह पत्थर पिघलकर, एक किस्म के लाल पदार्थ के रूप में चू रहा है। ऐसी अभिज्ञता बहुत ही हलचल पैदा करनेवाली रही होगी। साधारण पत्थर आग में ऐसे रहस्यजनक रूप में नहीं बदलता। तांबे की खानों के अंचल में, नवपाषाणकालीन किसी बस्ती के खेमे या गृह में संयोगवश अग्निदुर्घटना के परिणामस्वरूप भी ऐसी अभिज्ञता का होना असंभव नहीं। कटांगा प्रदेश में खान-अन्वेषणकारियों ने नीग्रो बस्ती में इस प्रकार के अग्निकांड के बाद बच रहे राख के ढेर से तांबे के दाने प्राप्त किए थे।

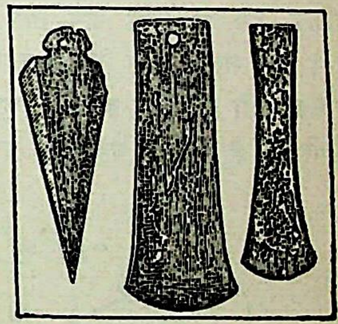
खनिज पिघलाकर तांबा निकालने के लिए साधारणतया ७०० से ८०० डिग्री तापमान की जरूरत होती है। केवल यही नहीं, ऑक्सीजन की अधिकता यथासंभव घटाकर अपचायक वातावरण (reducing atmosphere) में यह काम पूरा करना पड़ता है। हम देख चुके हैं कि मिट्टी के बर्तन पकाने के लिए भी इसी तरह के ताप की जरूरत होती है। लकड़ी का कोयला जलाकर, अपचायक वातावरण की सहायता से भूरे रंग के मिट्टी के बर्तन गढ़ने में नवपाषाणकालीन कुम्हार इसके पहले ही सिद्धहस्त हो चुका था। इसलिए पत्थर की भाँति खनिज तांबे को कहीं एक बार अकस्मात् पिघलते देखकर, बिना विलंब के, तांबा निकालने की पद्धति का आविष्कार करना उसके लिए बिलकुल भी कठिन नहीं है। नवपाषाणकालीन कुम्हार ने पहले इसी तरीके से तांबे का उत्पादन किया होगा, यह विश्वास करने का पर्याप्त कारण है। स्टुअर्ट पिगट ने लिखा है—"बंद भट्ठे (Closed kiln) की प्रगलन भट्ठी (Smelting furnace) में संक्रमण की कल्पना अधिक मानसिक श्रम-सापेक्ष नहीं है, इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात

नहीं कि सबसे पहले तांबा पिघलाए जाने का प्रमाण, प्राचीन पूर्व में, हम रंगे हुए मिट्टी के वर्तनों के निर्माणकर्ताओं के बीच पाते हैं।"*

खनिज तांबे को पिघलाना भले ही सहज हो, लेकिन धातु को पिघलाना आसान नहीं है। तांबे का गलनांक १०८५ डिग्री सेंटीग्रेड है। नवपाषाण-कालीन कुम्हार का चूल्हा यह उष्णता उपलब्ध नहीं कर सकता था। अतएव इस प्रकार का ऊँचा तापमान प्राप्त करने के लिए विशेष किस्म के चूल्हे का निर्माण आवश्यक था। उसमें वेग के साथ हवा के झोंकों के प्रविष्ट कराने का प्रवंध होना आवश्यक था और इसके लिए धौंकनी आवश्यक थी। पुरातात्विकों के अनुसार, धौंकनी का आविष्कार बहुत बाद को, ऐतिहासिक काल में हुआ। इसके बाद ढलाई-द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ तैयार करने के लिए ही धातु पिघलाने की जरूरत हुई। यह ढलाई की पद्धति अथवा तकनीक भी एक कठिन आविष्कार है। इसके लिए सांचा चाहिए। नवपाषाणकाल में



चित्र—१६ : कुल्हाड़ी और छूरी के फल के लिए उपयोगी पत्थर का सांचा।



चित्र—१७ : तांबे की बनी वस्तुओं के कुछ प्राचीनतम नमूने—कैल्कोलिथिक युग।

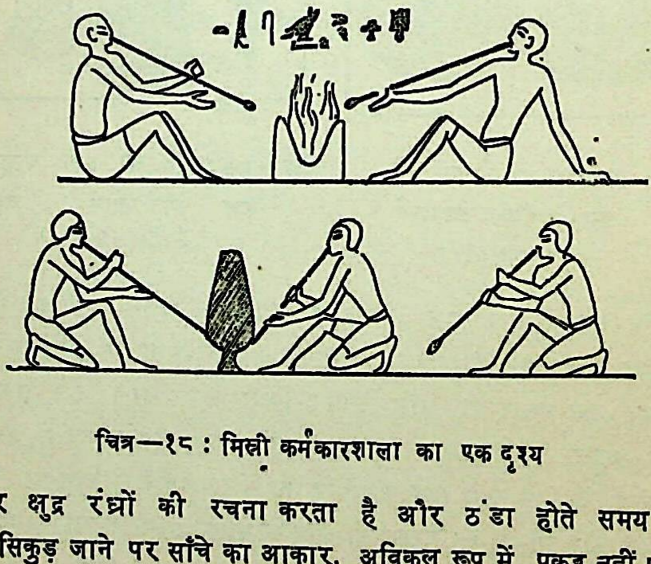
पत्थर पर खुदाई-द्वारा एक किस्म के सांचे के निर्माण के संबंध में कई प्रमाण प्राप्त हैं। छुरी के फल या कुल्हाड़ी के धातु-भाग के आकार पत्थर पर खोदकर इस प्रकार का सांचा तैयार किया जाता था। इस प्रकार के प्राथमिक प्रयत्न से ही बाद को खोखले साँचे का उद्भव हुआ। इसलिए नाना वस्तुओं के निर्माण में तांबे के प्रयोग को संभव बनाने के लिए धातु विद्या के संबंध में और भी अधिक जानकारी और अभिज्ञता प्राप्त करना अपरिहार्य

* Stuart Piggot, loc. cit p 51-52

था। धीरे-धीरे यह ज्ञान और अभिज्ञता मनुष्य के आयत्ताधीन होने पर ही तांबा पत्थर का स्थान ले सकता था। संभवतः ऐतिहासिक काल के ठीक पहले, नदी घाटियों में नागरिक सभ्यता के आविर्भाव होने पर, तांवे का व्यवहार दूर-दूर तक फैला। मेसोपोटामिया और मिस्र में तांवे की बनी वस्तुओं के जो ध्वंसावशेष खोज निकाले गए हैं उनसे अनुमान लगाया जाता है कि उपर्युक्त उपाय से प्राप्त तांवे का प्रयोग ईसा पूर्व ३५०० वर्ष से लेकर ईसा पूर्व ३००० वर्ष के बीच शुरू हुआ।

कांस्य और पीतल

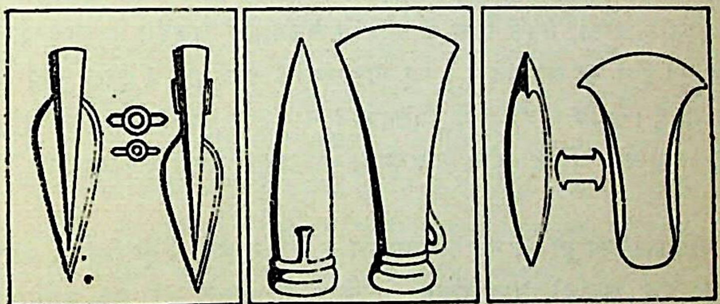
ताँबा के कुछ बाद ही कांस्य और पीतल का प्रयोग होते देखा जाता है। कांस्य, तांबा और टिन के सम्मिश्रण से उत्पादित एक मिश्र धातु (Alloy) है। तांबा और जस्ता के सम्मिश्रण से पीतल बनता है। ये दोनों मिश्र धातुएँ ताँबा की तुलना में अधिक सख्त हैं और इन्हें आपेक्षिक रूप में बहुत कम ताप में पिघलाया जा सकता है। ताँबे के साथ १ से ३ शतांश मात्र टिन मिलाए जाने से ही इसकी कठोरता और दृढ़ता बहुत बढ़ जाती है। फिर ढलाई के काम के लिए विशुद्ध तांबा बिलकुल ही उपयोगी नहीं है। कारण यह है कि इसका गलनांक बहुत अधिक है; यह गैस



चित्र—१८ : मिस्री कर्मकारशाला का एक दृश्य

सोखकर क्षुद्र रंध्रों की रचना करता है और ठंडा होते समय बहुत अधिक सिकुड़ जाने पर साँचे का आकार, अविकल रूप में पकड़ नहीं पाता। लेकिन तांबे में टिन की मिलावट से इसका गलनांक घट जाता है। इसके

अलावा धातु में गैस का शोषण रुक जाता है और ठंडा होते समय सिकुड़न भी कम होती है। इन गुणों के कारण ढलाई के काम में कांस्य का व्यवहार कहीं अधिक सुविधाजनक है। इसलिए व्यवहार की सुविधा की दृष्टि से कांस्य और पीतल, ताँबा की अपेक्षा सभी विषयों में श्रेष्ठतर है। प्रथम दृष्टि से ऐसा लगेगा कि मिश्र धातुओं का उत्पादन टिन और जस्ता की खोज पर निर्भर है, लेकिन तांवा, टिन और जस्ता पृथक् रूप से प्राप्त नहीं हुए। ताँबा के साथ कभी टिन, कभी एंटीमनी और कभी जस्ता की कुछ-न-कुछ मिलावट होती है। तांवे का काम करते-करते ताम्रकार को इस मिलावट के अस्तित्व की जानकारी हुई होगी और इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उसने यह देखा हो कि मिलावट की मात्रा अधिक होने पर धातु की कठोरता भी बढ़ जाती है। इसके अलावा पृथ्वी पर अनेक स्थानों में खनिज तांवा के साथ ही खनिज टिन भी पाया जाता है। कार्नवाल, बोहेमिया और चीन देश के विभिन्न स्थानों में खनिज ताँबा में थोड़ी बहुत टिन की मिलावट रहती है।



चित्र—१९ : कांस्य की बनी कुछ वस्तुएँ—कुल्हाड़ी, भाले का फल आदि।

दक्षिण स्पेन के 'पारा जुएल्स' और 'द कांपो' जिलों के खनिज ताँबे में ०.०८ से लेकर ०.२५ शतांश तक टिन मौजूद है। भारत में कहीं-कहीं खनिज ताँबे के साथ ही खनिज जस्ता भी मिलता है। ताँबा निकालने के उद्देश्य से ऐसे मिश्र खनिजों को लेकर काम करते हुए, संभवतः कांस्य और पीतल का प्रथम उत्पादन हुआ होगा। अब हम जानते हैं कि उत्तरी अमेरिका में ताम्रयुग के बाद किसी कांस्य युग का आविर्भाव नहीं हुआ। अर्थात् उस देश के निवासी कांस्य या पीतल के निर्माण का कौशल प्राचीनकाल में प्राप्त नहीं कर सके

थे। इसका मुख्य कारण यह है कि इस महादेश में खनिज ताँबे के साथ, साधारणतया टिन, जस्ता, एंटीमनी आदि की मिलावट नहीं होती।

विशुद्ध कांस्य के प्राचीनतम नमूने का आविष्कार विख्यात पुरातत्वविद् श्लिमैन ने, हिसार्लिक (Hissarlik) के द्वितीय नगर के खंडहरों की खुदाई के दौरान किया। यह प्राचीन नगर ईसा पूर्व २२०० और ईसा पूर्व १९०० के बीच का है। हिसार्लिक के निकट बोहेमिया के अंतर्गत एर्त्सगेविर्जे की तांबा और टिन की खानें मशहूर हैं। हिसार्लिक के व्यवसायियों ने इस खान से पहले ताँबा और बाद में टिन का इस्तेमाल किया होगा और इन दोनों धातुओं से काम करने की जानकारी के बाद संभवतः कांसे का आविष्कार किया होगा। इस आविष्कार के संबंध में बोहेमिया के धातुकारों के दावे की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जो भी हो, अनुमानतः ईसा पूर्व २२०० वर्ष के लगभग पूर्वी यूरोप और ईजियन सागर के तटवर्ती अंचलों में कांस्य का प्रयोग प्रचलित था।

मिस्र में इससे भी पहले कांसे का प्रयोग प्रचलित था या नहीं, इस विषय में मतभेद है। पुरातत्वविद् पेत्रि ने कांस्य निर्मित जिन वस्तुओं को यहां खोज निकाला, उनके मिस्र के चौथे से लेकर छठे राजवंश के शासनकाल में प्रयुक्त होने का अनुमान है। यह शासन-काल ईसा पूर्व ३ हज़ार वर्ष से पहले का है। प्रथम राजवंश के शासनकाल में (ईसा पूर्व ३४०० वर्ष) कांस्य निर्मित कुछ वस्तुओं के प्रयोग के अनुमान का उल्लेख मोसो ने किया है। *

यदि यह सत्य हो तो नव पाषाणकाल के अंतिम भाग में ही मिस्र में कांस्य का इस्तेमाल शुरू हो गया होगा। मिस्र में पीतल की इस प्राचीनता के संबंध में मुख्य प्रश्न यह उठता है कि कांस्य का प्रधान उपादान टिन कहाँ से आया? मिस्र में टिन प्रायः नहीं मिलता। मिस्र-निवासी अति प्राचीन काल से सिनाई के पर्वतीय प्रदेश की ताँबा-खानों से तांबा का उत्पादन करते रहे, ऐसी जानकारी मिलती है। इन खानों में टिन मौजूद नहीं है। किसी पुरातत्वविद् का मत है कि यह टिन संभवतः ब्रिटेन के अंतर्गत कार्नवाल के तट-प्रदेश से आया होगा। ब्रिटेन के तटप्रदेश के निवासियों से प्राचीन मिस्र-निवासियों के वाणिज्य-संपर्क होने की बात प्रमाणित हो चुकी है। अतः फिनीशिया के

---

* J. R. Partington, A Short history of Chemistry, Macmillan, 1948, p. 6.

व्यवसायियों से मिस्री धातुकारों ने यह टिन प्राप्त किया हो, यह असंभव नहीं है। पार्टिंगटन का अभिमत है कि यह टिन फारस की ड्रांगियाना (Drangiana) टिन-खानों से आता था।* स्ट्राबो ने अपने भूगोल में ड्रांगियाना की टिन-खानों का उल्लेख किया है। इस समय वहाँ टिन का अस्तित्व नहीं है; संभवतः बहुत प्राचीनकाल में ही फारस की टिन की खानें निःशेष हो गई थीं। किसी-किसी पुरातत्वविद् की धारणा है कि मिस्र की प्राचीन कब्रों से जो कांस्यनिर्मित वस्तुएँ मिली हैं, वे विदेशों से मंगाई गई थीं। मिस्र में कांस्य शिल्प की वास्तविक बुनियाद पड़ी अठारहवें राजवंश के काल में अर्थात् ईसा पूर्व १४८० वर्ष पहले। इस समय सीरिया मिस्र के अधिकार में आ जाने से उसके लिए विदेशों से टिन का आयात सहज हो गया होगा।

भारत में भी तांबे का प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। ऋग्वेद में 'अयस' नाम से जिस धातु का उल्लेख किया गया है, उससे संभवतः तांबा या लोहा का बोध होता था। सिंधु-घाटी-सभ्यता का पता लगने के पहले गंगा-यमुना के दोआब में तांबे की बनी कुछ वस्तुए मिली हैं। हाल ही में दक्षिण भारत में हैदराबाद, नागपुर, मदुराई और मैसूर से तांबा और पीतल के बने अनेक औजार और हथियार आदि मिले हैं। पिगट का विचार है कि राजपूताना (राजस्थान) और छोटानागपुर तथा सिंहभूम जिला से मंगाए गए तांबे से ये औजार तथा अन्य वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक संपूर्ण उत्तर भारत में भारतीय सभ्यता के आविर्भाव के आदि-पर्व में तांबे और पीतल का प्रयोग व्यापक रूप से किया जाता था। अर्थात् नवपाषाण-काल से लौह युग तक पहुँचने के अंतवर्ती काल में भारत को भी तांबा और पीतल-युग के बीच होकर गुजरना पड़ा था, यह निश्चित है। यहां तक कि पश्चिमी एशिया के पीतल के कारीगरों की तुलना में भारतीय पीतल के कारीगरों की पटुता का नमूना देखकर बहुत लोगों का यह खयाल होता है कि संभवतः पीतल का प्रथम आविष्कार भारत में ही हुआ था।

आविष्कार और वाणिज्य-व्यवसाय के प्रसार की दृष्टि से पीतल-युग विराट प्रयत्नों और कार्यकलाप का युग है। पीतल का प्रयोग अधिक प्रचलित होने और धातु की मांग बढ़ने पर तांबा और दुष्प्राप्य टिन की खानों का पता लगाना अनिवार्य हो गया। इन धातुओं का अन्वेषण करने के लिए व्यापारी एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे देशों में फैल गए। इस व्यापक

---

* Ibid, p. 6.

अन्वेषण के फलस्वरूप निःसंदेह अनेक खानों का पता लगाया गया और संभवतः इसी समय कार्नवाल की टिन-खान का भी पता लगाया गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस तरह के प्रयत्नों से एक प्रकार के रत्न, खनिज और भू-विज्ञान की उत्पत्ति अतीव युक्तिसंगत है। पृथ्वी के ऊपरी भाग की आकृति देखकर खनिजों के अस्तित्व का अनुमान करना, विभिन्न प्रकार के खनिज पत्थरों को, नितांत असंलग्न रूप में ही सही, श्रेणीबद्ध करना आदि विषयों का ज्ञान पीतल युग के आविर्भाव के बाद मनुष्य ने प्राप्त किया था।

तांबा और पीतल संबंधी धातु-विज्ञान के आविष्कार के बहुत बाद तथा-कथित तांबा और पीतल युगों का आविर्भाव हुआ। दोनों के बीच कम-से-कम एक हजार वर्ष का व्यवधान होगा। तांबा या कांस्य युग का अर्थ यह है कि इस काल में मनुष्य औजार और हथियार बनाने के लिए पत्थर की जगह इन दोनों धातुओं का इस्तेमाल करता था। परिचित पुरानी चीज या पुरानी पद्धति के प्रति मनुष्य की आसक्ति चिरकाल से रही है। अतः लाखों वर्षों से परिचित और जीवन-संग्राम के एकमात्र सहारे पत्थर को मनुष्य रातों-रात कैसे छोड़ सकता था ? इसके अतिरिक्त नई चीज और नई पद्धति को सम्यक् रूप मे कार्यकारी बनाना भी समय-सापेक्ष है। पत्थर की एक मुख्य त्रुटि यह है कि इसकी तीक्ष्णता बहुत जल्दी नष्ट हो जाती है। कुल्हाड़ी, छुरी आदि औजार, कई बार इस्तेमाल किए जाने पर, काम के लायक नहीं रहते। लेकिन पत्थर की जहाँ प्रचुरता है, वहाँ नए औजार बनाने में ही कितना समय लगेगा। पत्थर के औजार बनाने के लिए किसी अलग उद्योग की स्थापना आवश्यक नहीं है। जो चाहे अपना औजार या हथियार स्वयं बना सकता है। उपर्युक्त असुविधा केवल उन्हीं स्थानों के लिए प्रधान समस्या होगी, जहाँ पत्थर की प्रचुरता न हो। धातुनिर्मित स्थायी औजारों की सुविधा का अनुभव भी पहले-पहल ऐसे ही स्थानों में हुआ होगा। अवश्य ही प्रयोग के साथ धातु-निर्मित औजार भी क्षय को प्राप्त होते हैं। लेकिन उसे आग में पिघलाकर, फिर पीट लेने से एक बिल्कुल नया औजार पुनः बनकर तैयार हो जाता है। इसके अलावा भी धातु के अनेक गुण हैं और उन गुणों को देखकर ही पत्थर का इस्तेमाल करनेवाला धातु के व्यवहार की ओर आकृष्ट हुआ होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। फिर क्यों पत्थर छोड़कर धातु को अपनाने में उसे इतना विलंब हुआ ?

इसका कारण यह है कि धातु का काम आरंभ से अंत तक जटिल है, खनिज पत्थर की तरह सुलभ नहीं। पहले पक्का बंदोबस्त होना चाहिए कि खनिज बराबर मिलता रहे। फिर इस खनिज से धातु निकालना, उसे पिघलाना, ढालना एवं पीटकर उसको धारदार बनाना होगा, तब कहीं औजार बनकर तैयार होगा। ऐसा विशेष प्रकार का और जटिल काम, खेती या शिकार के बीच मिलनेवालें अवकाश में पूरा नहीं किया जा सकता। फिर यह एक आदमी का काम भी नहीं है। इसके लिए कुशल कारीगरों के निरंतर और सम्मिलित श्रम की जरूरत है। इन कारीगरों को खाद्यान्न उपलब्ध करने का भार किसी अन्य समूह को लेना होगा। जिस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए खाद्य का उत्पादन स्वयं करना पड़ता है, उस अवस्था में इस प्रकार के प्रयत्न संभव नहीं। जिस व्यवस्था में किसान अपने तथा अपने परिवार के प्रयोजन के अतिरिक्त खाद्योत्पादन करने में समर्थ हों और समूह के प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह जरूरी न हो कि अपने लिए खाद्य का उत्पादन वह स्वयं करे, केवल वही व्यवस्था ऐसे जटिल और एक प्रकार के वैज्ञानिक ज्ञान पर निर्भर विशेष प्रकार के श्रम और कार्य के लिए श्रेष्ठ होती है। ईसा के जन्म के ३ हजार वर्ष से पहले ऐसी व्यवस्था का उद्भव नहीं हुआ और इसके उद्भव के साथ ही सभ्यता का अभ्युदय हुआ।

चाँदी और सीसा

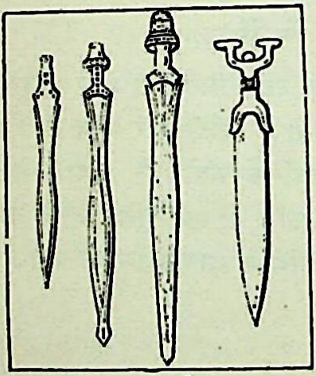
तांबा और टिन की तलाश करते हुए, उसके लिए कुछ अन्य धातुओं का पता लगाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। चाँदी और काँच का संधान शायद इसी तरह हुआ। मिस्र की प्रागैतिहासिक कब्रों की खुदाई से चाँदी और कांच के कुछ आभूषण प्राप्त हुए हैं। कांच की एक मूर्त्ति, जिसके बारे में अनुमान किया जाता है कि यह प्रथम राजवंश के शासनकाल की बनी है, इस समय ब्रिटिश संग्रहालय में संरक्षित है।

लोहा

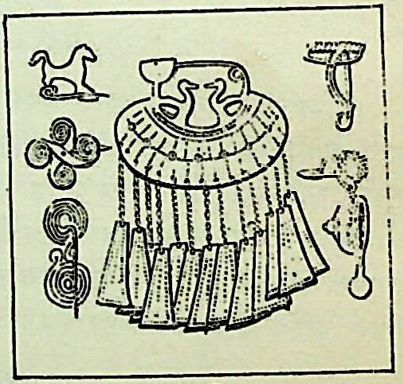
पश्चिमी एशिया और उससे लगे हुए यूरोपीय प्रदेश में ईसा पूर्व दूसरी शती के मध्य भाग से लोहे का व्यापक रूप से प्रयोग मिलता है। इसलिए ऐतिहासिक काल शुरू होने के लगभग डेढ़-दो हजार वर्ष बाद लौह युग का आर्विर्भाव हुआ। इस युग ने सर्वत्र कांस्य युग का अनुसरण किया, ऐसी बात नहीं है। अकेले मिस्र को छोड़कर अफ्रीका में सर्वत्र आदिम निवासियों ने

पाषाणकाल से सीधे लौहयुग में प्रवेश किया। तांबा, पीतल आदि धातुओं के काम में मिस्र की दीर्घकालीन अभिज्ञता होते हुए भी नीलनदी की निचली घाटी में साधारणतया लोहे का इस्तेमाल अर्थात् वास्तविक लौहयुग का प्रारंभ ईसा पूर्व ४०० वर्ष के पहले नहीं हुआ था।

धातु के रूप में लोहे का ज्ञान और इसका कुछ-कुछ व्यवहार भी इतने बाद की घटना नहीं है। उल्कापात के बाद पत्थर का जो टुकड़ा बचा रहता है, उसका मुख्य भाग लोहा होता है। इस प्रकार के पत्थर या उल्का लोहे के साथ प्रागैतिहासिक मनुष्य का परिचय था; यहाँ तक कि आभूषण के रूप में भी इसके प्रयोग के कुछ नमूने मिले हैं। लाजवर्त (Lapis-Larzuli) यानी लाल रंग की मणि के साथ लोहे के मनके पिरोया हुआ एक हार श्री पिशेया पैत्री ने मिस्र में प्राक्-राजवंशीय कब्र से खोज निकाला है। वेन् राइट एल गेज़ में लोहे का जो मनका उन्होंने खोज निकाला, वह ईसा के जन्म के ४ हजार वर्ष पहले का है। चौथे राजवंश के शासनकाल में निर्मित पिरामिड (ईसा-पूर्व ३१०० वर्ष) के अंदर कुछ लोहे के औजार आदि खोज निकाले गए हैं। निःस्संदेह इनसे यह संकेत मिलता है कि लोहे का इस्तेमाल बहुत प्राचीनकाल से होता आया है।



१



२

चित्र—२० : हॉलस्टाट युग में कांसे और लोहे के प्रयोग के कुछ नमूने
(१) कांस्य हथेली युक्त लोहे की तलवार (२) कांस्यनिर्मित कर्णाभूषण, कांस्य (रत्नजटित पिन) आदि।

लोहा निकालने के कौशल और लौह-शिल्प का आदि स्थान उत्तर-पूर्वी एशिया माइनर है। प्राचीन काल में इस प्रदेश के कैलिबिस (Chalybis)

में लौह-शिल्प के एकाधिकार होने की ख्याति थी। इससे २ सौ मील दक्षिण में कोमाजेन (Commagene) नगर के लौह-शिल्प की स्थापना में अग्रणी होने का दावा भी उपेक्षणीय नहीं है। वास्तव में एशिया माइनर लौह खनिज में विशेषरूप से समृद्ध है और हित्तियों (Hittites) के शासनकालीन लौह-शिल्प के ध्वंसावशेष इस प्रदेश में अनेक मिले हैं। हित्ती लौह-शिल्प में विशेष कुशल थे। इनके माध्यम से ही मध्य और निकट-पूर्व में और बाद को यूरोप में लोहे का प्रचलन हुआ। ईसापूर्व १२५० में मिस्र-नरेश ने हित्तियों के राजा को लोहा उपलब्ध कराने का अनुरोध करते हुए जो पत्र लिखा था और उत्तर में हित्ती-नरेश ने अपने पत्र में लोहा के बदले सोना भेजने का जो अनुरोध किया था, उन दोनों पत्रों की मूल पांडुलिपियाँ संरक्षित हैं। * लौह-शिल्प में हित्तियों का प्रमुख होना इस पत्र-विनिमय में बहुत स्पष्ट हो जाता है।

प्राचीन यूरोप में डेन्यूब नदी की घाटी में हालस्टाट आदि स्थानों की लौह शिल्प में ख्याति इतिहास-प्रसिद्ध थी। पूर्व से आई हुई केल्ट, डोरियन आदि जातियों के साथ एशिया माइनर की लोहा निकालने संबंधी धातु-विद्या पहले-पहल डेन्यूब घाटी में पहुँची और वहाँ कुछ शताब्दियों में इस शिल्प की बहुत उन्नति हुई।† लोहा इस्तेमाल करनेवाली केल्ट, डोरियन आदि डेन्यूब प्रदेश की जातियों के आक्रमण के फलस्वरूप क्रीट द्वीप में नोसस और ग्रीस में मिसीन की कांस्य सभ्यता का ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दी के अंतिम भाग में अंत हो गया था। इसी समय से (ईसापूर्व १९०० से) क्रीट और ईजियन सागर के तटवर्ती प्रदेश में लौह युग का प्रारंभ होता है। ईजियन प्रदेश में लौहयुग के आरंभ के कुछ ही बाद हम एक संपूर्ण नई सभ्यता का आकस्मिक और अति उज्ज्वल विकास देखते हैं।

काँच

काँच मनुष्य की सर्जन-प्रतिभा के विकास का उदाहरण है। मृत्तिका शिल्प, धातु और मिश्र धातु के आविष्कार और व्यवहार के माध्यम से मनुष्य की बहुमुखी प्रतिभा का जो परिचय हमें मिलता है, काँच का आविष्कार उसी प्रतिभा पर एक और आश्चर्यजनक तथा नया प्रकाश डालता है।

*Partington, loc. cit. p. 8

†Encyclopaedia Britannica 1, Vol 2; p. 253;
"Archeology" शीर्षक निबंध में देखिए।

काँच का आविष्कार अत्यंत ही प्राचीनकाल में हुआ है। लेकिन यह कहाँ और कब आविष्कृत हुआ, यह अभी तक अज्ञात है। प्लीनी ने लिखा है कि रेत और सोडामिश्रित मिट्टी में आकस्मिक अग्नि-संयोग के परिणाम-स्वरूप काँच उत्पन्न होता है। इस प्रकार की संभावना के आधार पर बाद में नाना प्रकार की कहानियाँ भी गढ़ी गई। इन सब कहानियों की सत्यता की जाँच करने की चेष्टा अवश्य ही व्यर्थ होगी। लेकिन बिजली की आग से रेत और सोडा के प्राकृतिक मिश्रण को बहुत बार पिघलकर काँच में बदलते देखा जाता है और इस प्रकार की नैसर्गिक प्रक्रिया से उत्पन्न काँच के कुछ नमूने मिले भी हैं।

पुरातत्वविदों का खयाल है कि रंगीन और चिकने मिट्टी के बर्तन तैयार करने के प्रयत्न से ही काँच का आविष्कार हुआ। मिस्र और मेसोपोटामिया के प्राचीन बाशिंदे रंगीन और चिकने मिट्टी के बर्तन बनाने में दक्ष थे। काँच इन मिट्टी के दक्ष शिल्पियों का ही आविष्कार है। इन दोनों में से किस देश में काँच का आविष्कार पहले हुआ, इस विषय में मतभेद है। बहुत दिनों तक पुरातत्वविदों के एक दल की धारणा थी कि मिस्र ही काँच का आदि जन्म-स्थान है। अब देखा जाता है कि इस आविष्कार में मेसोपोटामिया के अग्रणी होने का दावा भी उपेक्षणीय नहीं है। सर फ्लिंडर्स पैत्री का कहना है कि ईसा के जन्म के अनुमानतः १२ हजार वर्ष पहले मिस्र में बादारी (Badarian) पत्थर के मनकों पर हरे रंग का जो चिकनापन देखा जाता है, वह कृत्रिम उपाय से उत्पादित चिकनेपन का प्राचीनतम दृष्टांत है। यह कला शायद एशिया से मिस्र आई थी। उन्होंने विशुद्ध काँच के एक टुकड़े का नमूना भी खोज निकाला है, जो देखने में लाजवर्त मणि-जैसा है और जिसके संबंध में अनुमान किया जाता है कि वह ईसा के जन्म के ७ हजार वर्ष पहले का है। विशुद्ध काँच का इससे प्राचीन नमूना अब तक नहीं मिला है। मिस्री राजवंश के शासन काल में आभूषण के तौर पर व्यवहृत बहुविध रंग के काँच के मनके, कंगन आदि जो चीजें मिली हैं, उनके संबंध में पैत्री का अनुमान है कि उन्हें एशिया से मिस्र में लाया गया था।

उपर्युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त पश्चिमी एशिया में काँचशिल्प की अति प्राचीनता के संबंध में प्रत्यक्ष पुरातात्विक प्रमाण भी थोड़े-बहुत मिलते हैं। बगदाद के उत्तर-पश्चिम, टेल आसमार में हल्के नीले रंग के काँच के जिस बेलन का संधान फ्रैंकफर्ट ने किया, उसका निर्माण-काल ईसापूर्व २७००

और २६०० के बीच है। यहाँ ईसापूर्व २४५० वर्ष के एक प्राचीन कारखाने की खुदाई से रंगीन काँच के अनेक मनके मिले हैं।

काँच का आदिम इतिहास जो भी हो, परवर्तीकाल में काँचशिल्प की उन्नति और प्रसार का प्रधान केंद्र मिस्र था। अठारहवें राजवंश के शासन-काल से ही एक अति-प्रतिष्ठित शिल्प के रूप में इसका परिचय हमें मिलता है। आमेनहोटैप (ई० पू० १५५१-१५२७) का नामांकित एक बड़ा गोल काँच का मनका, इस शिल्प-द्वारा निर्मित वस्तुओं का सबसे प्राचीन मिस्री निदर्शन है। तृतीय थटमेस (ई० पू० १५२७-१४७५) शासन काल के पीने के कुछ छोटे-छोटे पात्र, जिन पर मीनाकारी की गई है, अब ब्रिटिश संग्रहालय (British Museum) की मूल्यवान वस्तुएँ हैं। काँच की ये चीजें रंगीन थीं और स्वच्छ नहीं थीं। स्वच्छ काँच के निर्माण कौशल का आविष्कार बहुत बाद में हुआ। धातु विद्या में पारदर्शी मिस्रियों ने विभिन्न वर्णों के काँच के उत्पादन में विशेष दक्षता का परिचय दिया था। यौगिक ताँवा लवण के व्यवहार से नीले, हरे और लाल रंग के और टिन ऑक्साइड के व्यवहार से सफेद रंग के काँच के उत्पादन में मिस्री प्राचीन जातियों में अद्वितीय थे। पिघली हालत में काँच के अंदर फूंक मारकर विभिन्न आकारों के पात्रों के निर्माण-कौशल के आविष्कार के पहले काँच की ये वस्तुएँ किस प्रकार तैयार की जाती थीं, यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। खोखला फूलदान या उसी प्रकार का कोई पात्र गढ़ने के लिए पहले जिस प्रकार का पात्र तैयार करना होता, उसी आकार का, गीली रेत का एक पिंड, धातु की छड़ी के चारों ओर लपेट देते। इस पिंड पर, सुघट्य अवस्था (Plastic State) में, गरम काँच की एक छड़ी, धीरे-धीरे और बहुत सावधानी तथा धैर्य के साथ, चारों ओर लपेट दी जाती। विकल्प पद्धति से, पिघले काँच के अंदर, उपर्युक्त रेत के पिंड को बार-बार डुबोकर, इच्छानुसार मोटे पात्र तैयार किए जाने का प्रमाण मिलता है। बाद को काँच के ठंडा और सख्त हो जाने पर, अंदर की रेत के पिंड को खुरच डालने पर एक संपूर्ण खोखला पात्र बनकर तैयार हो जाता। उपर्युक्त पद्धति से प्याला-प्याली-जैसे खुले पात्र तैयार करना संभव नहीं है। ऐसे पात्र तैयार करने के लिए साँचे का व्यवहार आवश्यक है। ई० पू० १२०० वर्ष के लगभग मिस्रियों को साँचे के इस्तेमाल से प्याला-प्याली आदि काँच की खुली वस्तुएँ निर्माण करते देखा जाता है।[1] ईसा पूर्व १५५० से ईसाई

1. Encyclopaedia Britannica, Vol 10, p. 400;
"Glass" शीर्षक निबंध देखिए।

संवत् शुरू होने तक, इस प्रकार के काँच के पात्रों के निर्माण में मिस्र-निवासी न केवल प्राचीन जातियों में अग्रणी थे, बल्कि मिस्र समग्र काँच शिल्प का केंद्र-स्थान रहा। फोनिसिया के व्यापारियों की कृपा से इस विद्या का, समय पाकर, विभिन्न देशों में प्रसार हुआ।

फूंक मारकर काँच के पात्रों का निर्माण-कौशल : फूंक मारकर काँच के पात्रों का निर्माण कौशल काँच शिल्प का सबसे बड़ा आविष्कार है। इसे समग्र कारीगरी विद्या का श्रेष्ठ आविष्कार कहना भी अत्युक्ति न होगी। सच तो यह है कि इस कौशल या तकनीक के आविष्कार के बाद ही काँच-शिल्प की वास्तविक बुनियाद पड़ी।

इस तकनीक का कब और कहाँ आविष्कार हुआ, इसकी ठीक जानकारी हमें नहीं है। अधिकांश विशेषज्ञों का यह मत है कि ईसापूर्व ३०० और ई० पू० २० वर्ष के बीच फोनिसिया के काँच शिल्पियों ने इस कौशल का आविष्कार किया। एक और मत के अनुसार, ऑगस्टस के काल में सिडन में इस तकनीक का आविष्कार हुआ। फूंक मारने के लिए चार से पाँच फुट लंबी लोहे की नली का इस्तेमाल किया जाता था। यह विशेष रूप से लक्ष्य करने की बात है कि काँच शिल्प में आज भी फूंक मारने के लिए इसी माप की नली का इस्तेमाल किया जाता है।

कुछ अन्य आविष्कार

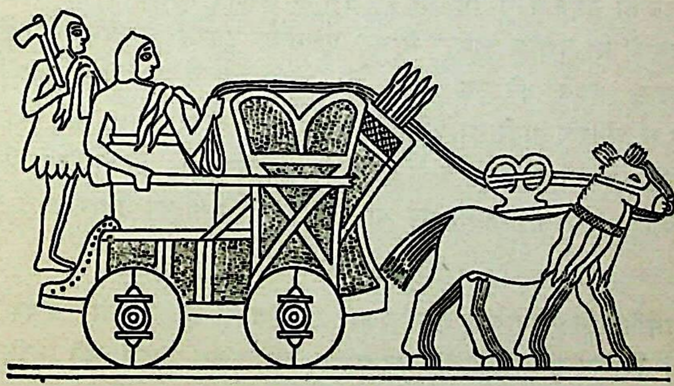
बातों-ही-बातों में हम ऐतिहासिक काल से बहुत दूर आ पहुँचे। प्रस्तुत ग्रंथ के अवशिष्ट अंश में आलोच्य विषय अवश्य ही ऐतिहासिक काल में विज्ञान की प्रगति का इतिहास है। ऐतिहासिक काल में वैज्ञानिक गवेषणाओं की चर्चा शुरू करने के पहले प्रागैतिहासिक काल के कुछ और महत्वपूर्ण आविष्कारों का उल्लेख आवश्यक है। पहिए का आविष्कार, पशु शक्ति का प्रयोग, सिंचाई व्यवस्था की उद्भावना इत्यादि विषयों पर कुछ न कहने से यह समीक्षा अपूर्ण रह जायगी।

पहिया

पहिए के आविष्कार पर रहस्य का परदा पड़ा हुआ है। इस विषय में निर्भरयोग्य तथ्य बहुत कम मिलते हैं। लेकिन इस विषय में विशेषज्ञों में कोई मतभेद नहीं है कि इसका आविष्कार प्रागैतिहासिक काल में हुआ। पहिया लकड़ी का बनाया जाना ही स्वाभाविक है और लकड़ी स्थायी नहीं

होती। इसलिए लकड़ी के बने प्रागैतिहासिक पहिए का कोई नमूना नहीं मिलता। प्रागैतिहासिक काल में या ऐतिहासिक काल के बिल्कुल प्रारंभ में शिल्पियों ने पहिए के जो चित्र अंकित किए थे, केवल उन्हीं के सहारे पहिए के आदि-इतिहास के संबंध में कुछ सामान्य तथ्यों का उद्घाटन हुआ है।

सुमेरी चित्रांकन में पहिएवाली गाड़ी का पहला नमूना ईसा के जन्म के ३५०० वर्ष पहले मिलता है। इस प्रकार के एक प्राचीन चित्र का नमूना नीचे दिया जा रहा है। उत्तरी सीरिया के चित्रांकन में पहिएवाली जो गाड़ियाँ दिखाई पड़ती हैं, वे इससे भी प्राचीन हैं। सिंधु-घाटी सभ्यता (ई० पू० ३२५०-२५००) में कुम्हारों के शिल्प और यानवाहनों में शुरू से ही पहिए का प्रयोग देखा जाता है। इसके प्रायः ५०० वर्ष बाद एशिया माइनर और क्रीट में पहिए का प्रयोग प्रचलित हुआ। ई० पू० १६५० से पहले मिस्र को पहिए के प्रयोग की कोई जानकारी नहीं थी। मिस्र में पहिए का प्रथम प्रचलन पश्चिमी एशिया की दुर्धर्ष हिक्सस जाति ने किया। मिस्र पर हिक्सस-आक्रमण तथा विजय के बाद से ही नीलनदी के देश में पहिए का प्रथम व्यवहार दृष्टिगत होता है।



चित्र—२१ : प्राचीन सुमेरी युद्ध-रथ

पहिए का प्रथम प्रयोग मृत्शिल्प और परिवहन में कहीं एक साथ, कहीं आगे-पीछे किया गया। पश्चिमी एशिया और भारत में पहिए का प्रयोग प्रायः साथ-साथ हुआ। मिस्र में परिवहन के काम में पहिए का इस्तेमाल शुरू होने के बहुत पहले कुम्हारों ने मिट्टी के शिल्प में चक्के के व्यवहार का प्रवर्तन किया। उधर क्रीट टापू में, कुम्हार के शिल्प में चक्के का दृष्टांत, पहिएवाली

गाड़ी के आविर्भाव के कम-से-कम दो सौ वर्ष बाद हमें मिलता है। यूरोप में, आल्प्स पर्वत के उत्तर में ई० पू० ५०० तक कुम्हार यह नहीं जानते थे कि मिट्टी के शिल्प में चक्के का प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन इसके एक हजार वर्ष पहले से उन अंचलों में पहिएवाली गाड़ियाँ प्रचलित थीं।

पहियों के चालू होने से मृत्तिका-शिल्प और परिवहन-व्यवस्था में युगांतकारी परिवर्तन हुए। पहले जहाँ मझले आकार का एक पात्र गढ़ने में कुम्हार को कई दिन लग जाते थे, वहाँ अब मिनटों में वह पात्र तैयार होने लगा। केवल समय की बचत हुई, इतना ही नहीं; चक्के की सहायता से तैयार किए गए पात्र और इससे पहले के हाथ से गढ़े गए पात्रों में कोई समानता नहीं है। ऊपरी तौर पर देखने में सामान्य एक आविष्कार का उपयुक्त सुयोग ग्रहण करने के कारण मृत्शिल्प प्रायः एक हजार वर्ष आगे निकल गया। चक्के के आविष्कार के पहले भी मृत्शिल्प था, लेकिन किसी प्रकार की गाड़ी अथवा रथ था या नहीं, यह संदेहजनक है। वर्फ पर चक्रविहीन स्लेजगाड़ी खींचना संभव होने पर भी उष्ण या शीतोष्ण कटिबंध के खुरदरे मार्गों पर चक्रविहीन गाड़ी की कल्पना करना कठिन है। गाड़ी में पहिया जोड़ना शुरू-शुरू में निश्चय ही सहज काम नहीं था। संभवतः अर्द्धवृत्त आकार में कटे लकड़ी के दो टुकड़ों या वृत्तांश आकार में कटे एकाधिक टुकड़ों को ताँवे की कीलों से जोड़कर, चमड़े की एक प्रकार की चक्रवेष्टनी से लकड़ी के टुकड़ों को मजबूती से बाँधकर गाड़ी का पहिया तैयार किया जाता था। फिर धुरी दंड से कसकर बंधे पहिए, इस दंड के साथ ही घूमा करते। किसी-किसी पिछड़े हुए अंचल के आदिम निवासी अब भी इसी पद्धति से पहिया तैयार करते हैं।

नाव और पाल

प्रागैतिहासिक मानव एक प्रकार की चमड़े की नाव या पेड़ का तना पानी में तैराकर मछली का शिकार करता था। इस प्रकार की अभिज्ञता से क्रमशः नौका-निर्माण और हवा के गतिवेग का सहारा लेने के लिए पाल के आविष्कार के बीच कई सीढ़ियाँ हैं। एक के वाद एक सीढ़ी सफलता से पार करके अंत तक पाल-सहित नाव का आविष्कार किस प्रकार हुआ, इस वृत्तांत की जानकारी हमें नहीं है। पत्थर और मिट्टी के पात्रों पर अंकित प्रागैतिहासिक मिस्र के चित्रों में नाव का जो नमूना दिखाई पड़ता है, उससे लगता है कि पपीरस का गट्ठर बाँधकर चाटी-जैसी किसी तरणी का उस समय प्रयोग करते थे। नाव के बीच छोटा-सा एक छप्पर होता था। ऐसी बड़ी नाव

के भी कुछ चित्र मिले हैं, जो यात्री और मल्लाह मिलाकर लगभग ४० व्यक्तियों को ले जा सकती थी। ईसा के जन्म के लगभग ३५०० वर्ष पहले से पाल-सहित नाव के चित्र मिस्री मृत्तिकाशिल्प की नक्काशी में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस प्रकार की नाव समुद्र के किनारे-किनारे आती-जाती थी।

सिंचाई और नदी-नियंत्रण

नदी घाटियों में ही सभ्यता का प्रथम आविर्भाव हुआ, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। लेकिन सभ्यता के प्राथमिक उपादान कृषि, पशुपालन, कपड़ा बुनाई, मिट्टी के काम, धातु का प्रयोग आदि अनेक व्यावहारिक विज्ञानों का आविष्कार फर्टाइल क्रिसेंट के अर्द्ध-ऊसर अंचल में नवपाषाणकाल में हुआ। हम देख चुके हैं कि फर्टाइल क्रिसेंट इन आविष्कारों के पुरातात्विक निदर्शनों से विशेष समृद्ध है। आश्चर्य की बात यह है कि इस विस्तृत अंचल के किसी स्थान में नवपाषाणकालीन निवासियों में सभ्यता का प्रथम उद्भव न होकर उसका आविर्भाव इस अंचल के दक्षिण में कुछ विशेष नदी घाटियों में, जैसे—नीलनदी, ताइग्रिस, युफ्रेतिस और सिंधु नदी के किनारे हुआ। इसका कारण क्या है?

नद-नदियों से धुली घाटी अंततः किसानों का स्वर्ग है, इसमें कोई संदेह नहीं, लेकिन यह अंततः ही है, प्रथम अवस्था में नहीं। नीलनदी की वार्षिक बाढ़ से जहाँ एक ओर नदी के दोनों तटों पर संकीर्ण पट्टियाँ जलोद मिट्टी से सदा उर्वर रहती हैं, वहाँ पास ही, बाढ़ का पानी जमा होकर, मनुष्य के निवास के अयोग्य, कुत्सित, भयावह दल-दल बन जाता है, जहाँ चीता, बाघ आदि घूमते फिरते हैं। नदीतट और दलदल से कुछ ही दूर दुर्गम पर्वत और कठिन मरुभूमि है। ताइग्रिस और युफ्रेतिस नदियों में बाढ़ नील नदी की बाढ़ की तरह नियमित रूप से नहीं आती। इस अंचल में वर्षा भी सामान्य होती है। बीच-बीच में उच्छृंखल नदी अकस्मात दोनों तटों को बहा ले जाती है। सिंधु नदी की भी यही हालत है। स्वाभाविक अवस्था में नदी सभ्यता-निर्माण के काम में कतई सहायक नहीं है। तथापि नदी-तट पर अवस्थित हेलिओपोलिस, मेम्फिस, निनेवे, इरेक, मोहंजोदड़ो, हड़प्पा आदि जनपद ही तो मानव-सभ्यता के प्रथम लीला-क्षेत्र हैं।

जंगली नदी को पालतू बनाने और काबू में लाने के कौशल के आविष्कार में ही, इस सफ़लता का कारण निहित है। जंगली डिनकेल और एमेर घास की खेती करने के पहले पृथ्वी का वनस्पति-राज्य मनुष्य के कितने उपयोग में

आया ? पशुओं को पालतू बनाने के पहले क्या वह जानवरों के शिकार की अपेक्षा जानवरों के उपद्रव से आत्मरक्षा के चिंतन में ही अधिक परेशान नहीं होना था ? उच्छृंखल अशांत नदी को अपने वश में करके उससे काम लेने के कौशल का मनुष्य ने जिस दिन आविष्कार किया, उसी दिन से सभ्यता का सिंहद्वार उसके सामने खुल गया ।

बाढ़-विध्वस्त नीलनदी की घाटी को जरूरत है बांध की सहायता से बाढ़ का पानी रोककर, सुविधानुसार कृषि-कार्य के लिए उसका पूर्ण व्यवहार किए जाने की । दक्षिण मेसोपोटामिया की प्रधान समस्या है युफ्रेतिस और ताइग्रिस नदियों से कृत्रिम नहर निकालकर, सिंचाई के जरिए संपूर्ण घाटी को नम बनाए रखने की व्यवस्था करना । इस प्रकार की चेष्टा व्यक्ति-विशेष की क्षमता के बाहर है । आधा-ऊसर पैलेस्टाइन, सीरिया या फारस में, जहाँ वर्षा थोड़ी होती है, नवपाषाणकालीन किसान, जमीन के अपने-अपने छोटे टुकड़ों पर खेती करके, किसी प्रकार पेट भर सकते हैं, लेकिन मनमौजी नदियों के किनारे रहनेवालों के लिए जिंदा रहने का एकमात्र उपाय है जन-समूह के सम्मिलित श्रम से बाँध का निर्माण, नहरें निकालना, पूरे वर्ष बाँध और नहरों पर निगरानी रखना और उनका संरक्षण करना । यह एक विशाल सामूहिक सहकारी प्रयत्न है । इस सहकारी प्रयत्न के परिणामस्वरूप न केवल बाढ़-मुक्त, सिंचित घाटी में हरियाली लहलहाने लगी और अनाज की भरपूर पैदावार होने लगी, अपितु मनुष्य ने मनुष्य के साथ एक होकर, मिलकर काम करना सीखा । मनुष्य के साथ मनुष्य का नया संपर्क स्थापित हुआ, अनेक कानून बने, नाना बाधाओं एवं निषेधों की सृष्टि हुई और नाना प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं का प्रचलन हुआ । इसके बाद सभ्यता-जनित संपन्नता के अनिवार्य आकर्षण से उत्तर से अनेक भूखी, पिछड़ी हुई, बर्बर जातियाँ उतर आईं और उनके संघर्षों ने कितने ही योद्धा, वीर, नृपति और सम्राट पैदा किए । कितने ही राज्यों और साम्राज्यों की स्थापना हुई, युद्ध-विग्रह अनिवार्य हो पड़ा, राज्यों और राज-शासनों के उत्थान-पतन हुए और सभ्यता का विपुल भँवर और घटना-प्रवाह शुरू हो गया । इस भँवर में पड़कर नीलनदी, युफ्रेतिस, ताइग्रिस और सिंधु नदी के किनारे जिन साहसी और बलिष्ठ किसानों, पशुपालकों, कारीगरों और मजदूरों ने, प्रचुरता के बीच जीने की आशा से, सभ्यता का प्रथम बीज बोया था, वे ही, भाग्य के परिहास से, चिर-दुर्भाग्य को अपना अवलंबन बनाए सबसे पीछे रह गए ।

●

तीसरा अध्याय

सभ्यता का विकास : बेबीलोन, मिस्र और भारत

नव-पाषाण काल के विभिन्न आविष्कारों और मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों तथा चेष्टाओं की हमने चर्चा की है। कृषि, पशुपालन, मृत्शिल्प, बुनकारी, गृह निर्माण, धातु विद्या, और इनमें से प्रत्येक से संबद्ध छोटे-बड़े असंख्य आविष्कार नवपाषाणकाल की अतुलनीय विशिष्टता है। तथापि इस काल के अंतिम भाग में आज से ६ हजार वर्ष पहले, नील नदी के मुहाने और पैलेस्टाइन से फारस (ईरान), बलूचिस्तान और पंजाब तक विस्तृत भूखंड में कहीं भी सभ्यता का विकास हम नहीं देखते। छोटे-छोटे असंख्य विच्छिन्न जन-समूह जीवन संग्राम में व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। उनमें से कुछ समूह पहाड़, जंगल और दल-दल में शिकार-द्वारा, कुछ जानवरों के झुंडों का पीछा करके, कुछ मछली पकड़कर, कुछ मुख्यतः कृषि-कार्य-द्वारा और कुछ समूह उपर्युक्त सभी प्रकार की वृत्तियों का थोड़ा-बहुत सहारा लेकर जीवन धारण करते थे। इन विभिन्न विच्छिन्न जनसमुदायों की बहुविध प्रवृत्तियों में कोई ऐसी समानता नहीं थी, जिसके आधार पर नवपाषाणकालीन चेष्टा को सभ्यता का नाम दिया जा सके। गॉर्डन चाइल्ड ने दिखाया है कि वृहत्तम नवपाषाणकालीन ग्राम का विस्तार ६-७ कट्ठे* से अधिक नहीं था और ऐसे किसी ग्राम में जो कब्रें ढूंढ़ निकाली गई हैं, उनकी संख्या साधारणतया २०-२५ से अधिक नहीं है।

लेकिन इसके १००० वर्ष बाद, ईसा के जन्म से कोई ३ हजार वर्ष पूर्व, नील नदी की निचली घाटी में टाइग्रिस-युफ्रेतिस के दोआब में अवस्थित सुमेर और अक्कड़ में या सिंधु नदी के तटवर्ती मोहंजोदड़ो और हड़प्पा में, भूगर्भ के विभिन्न स्तरों पर जो वस्तुएँ पुरातात्विक खनन-कार्य से मिली हैं, वे बिलकुल भिन्न प्रकार की हैं।

इस काल से शिकार या प्राथमिक कृषि के उपयोगी अतिसाधारण औजारों या घरेलू उद्योग-द्वारा तैयार आडंबरहीन वस्तुओं का पूर्णतः लोप हो जाता है। उनके स्थान पर प्रगट होते हैं वृहत् प्रासाद, मंदिर, समाधि-स्तंभ, सुमेर

---

* २० कट्ठा = १ बीघा (अनुवादक)

का जिग्गूराट, मिस्र के पिरामिड, खलिहान और कारखाने और मीनाकारी शोभित सोने, पीतल, काँच आदि धातुओं से बने आभूषण, युद्धोपयोगी विभिन्न अस्त्र, चक्के की सहायता से निर्मित उन्नत प्रकार के विचित्र मिट्टी के पात्र, धातुओं से बनी वस्तुएँ और लिपि। जिस समाज और समूह में ऐसी कीर्तियाँ और सामग्रियाँ संभव हो सकीं, उसके पुरोभाग में हम अनायास ही प्रथम श्रेणी के पुरोहित और याजक-संप्रदाय, राजवंश और शासक-श्रेणी, लिखने-पढ़ने में अभिज्ञ शिक्षित समुदाय और शासन कार्य में नियुक्त कर्मचारियों की कल्पना कर सकते हैं। अनंतर पुलिस और सेना का गठन होता है, फिर विभिन्न शिल्पों तथा कारीगरी विद्या में पारदर्शी कारीगरों की श्रेणी, वणिक संप्रदाय और पश्चात् मजदूर एवं किसान वर्ग का आविर्भाव होता है। नवपाषाणकालीन वृहत्तम ग्राम का विस्तार जहाँ ६-७ कट्ठे से अधिक नहीं है, वहाँ मोहंजोदड़ो नगर एक वर्गमील क्षेत्र पर स्थापित है। ऊर के पास के कब्रिस्तान में कम-से-कम ७०० कब्रों के होने का प्रमाण मिला है। स्पष्ट है कि ये कार्य-व्यस्त एक-एक वृहद् नगर, वृहद् जनपद थे। इन जनपदों के निवासियों का एक बड़ा अंश खाद्योत्पादन और दैनिक मजदूरी के काम में लगा हुआ था। शेष अंश में शिल्पी और स्थापत्य-कलाविद् (architects) थे, जो जीवन-स्तर और सौंदर्य बढ़ाने में तत्पर थे। ये व्यवसाय तथा वाणिज्य के द्वारा संपदा की वृद्धि और सभ्यता के प्रसार में सहायता करते, शासन-व्यवस्था के द्वारा आंतरिक शांति और सुव्यवस्था की रक्षा करते तथा सामरिक प्रवृत्तियों-द्वारा बाहरी शत्रु के आक्रमण से देश-रक्षा का भार ग्रहण करते थे। इतिहासकार और समाजशास्त्रविद् इन प्रवृत्तियों को देखकर ही नीलनद, टाइग्रिस-युफ्रेतिस तथा सिंधु नदी की घाटियों में पहली सभ्यता के विकास की बात करते हैं।

उपर्युक्त तीनों नदी-घाटियों की सभ्यताएँ समसामयिक काल की उपज थीं और उनमें सूक्ष्म विभेद होते हुए भी उनके उपादान और स्वरूप एक थे। उदाहरणार्थ सिंधु नदी की घाटी की सभ्यता की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

सिंधु घाटी की सभ्यता : नदी घाटी सभ्यता का एक नमूना

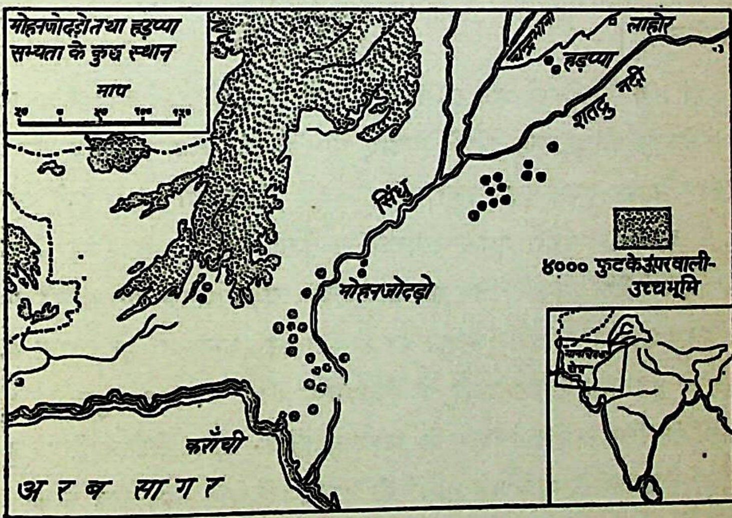
मोहंजोदड़ो (या मोअन्जोदड़ो-मुर्दों का टीला)* के एक के बाद एक

* डाक्टर प्रफुल्लचंद्र घोष का कथन है कि सिंधी भाषा के अनुसार इस शब्द का यथार्थ उच्चारण है, 'मोअन्जोदड़ा', अर्थात् मृतकों का स्तूप या अन्य मतानुसार-मृतकों की पुरी।—प्राचीन भारतीय सभ्यता का इतिहास, पृष्ठ २२६।

सात स्तरों के ध्वंसावशेषों का परीक्षण करके, पुरातात्विकों ने दिखाया है कि ई० पू० ३२५०.वर्ष के लगभग आद्य-आस्ट्रालाइड (Proto Australoid), भूमध्यसागरीय, अल्पिनोइड (Alpinoid), मंगोलीय आदि विभिन्न प्रजातियों के एक मिश्रित समूह ने सिंधु नदी की घाटी में मोहंजोदड़ो, हड़प्पा आदि स्थानों में पहले-पहल बस्तियों की स्थापना की। इस अंचल में इस प्रकार के समूह-द्वारा अंतिम बस्ती का स्थापना-काल ईसा के जन्म से २७५० वर्ष पहले है। इस अवधि में, ई० पू० २८०० से २५०० तक, लगभग ३-४ सौ वर्ष का काल, डाक्टर फाब्री के मतानुसार, वास्तविक सभ्यता की सृष्टि का काल है। सिंधु-घाटी सभ्यता के इस काल-निर्णय के मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—

(१) इस प्रदेश के किसी पुरातात्विक अंचल से अब तक लोहे की बनी वस्तुएँ प्राप्त नहीं हुई हैं; ईसापूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के मध्यभाग से मध्य तथा निकट पूर्व में सर्वत्र लोहे का व्यवहार होता देखा जाता है।

(२) डाक्टर गैड ने मेसोपोटामिया में सिंधु-घाटी की जिस मुहर का



चित्र—२२ : मोहंजोदड़ो तथा हड़प्पा सभ्यता के कुछ स्थान

आविष्कार किया था, उसके परीक्षण से इस मुहर का काल ई० पू० २८०० अनुमान किया गया है। इसके अतिरिक्त ऊर तथा एशनुन्ना में प्राप्त मोहंजो-

दड़ो की कुछ और मुहरों का काल ई० पू० २१५० और ई० पू० २६००-२५०० होने का अनुमान है।

(३) सुमेर, एलाम तथा मिस्र में प्रस्तुत मिट्टी के पात्रों और मोहंजोदड़ो हड़प्पा के मिट्टी के पात्रों की तुलना से देखा गया है कि ई० पू० ३०००-२५०० में सिंधु घाटी में इस प्रकार के मृत्‌शिल्प का उद्‌भव हुआ था।

गृहादि निर्माण, नगर परियोजना तथा स्थापत्य : एक अंग्रेज पर्यटक ने मोहंजोदड़ो के खंडहरों को देखकर कहा है कि वे मानो लंकाशायर-जैसे आधुनिक काल के किसी शिल्प-प्रधान नगर के खंडहरों के बीच विचरण कर रहे हों। इस नगर का निर्माण एक सुविचारित योजना के अनुसार हुआ था, इसमें कोई संदेह नहीं है। पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण में प्रसारित ९ फुट से लेकर ३४ फुट तक चौड़े, छोटे-बड़े अनेक मार्ग, सारे शहर को छोटे-बड़े विभिन्न वर्गाकार या आयताकार क्षेत्रों से विभाजित करते थे। इन वर्गाकार या आयताकार क्षेत्रों पर कतार में ईंट के मकान थे। सब से छोटे दो कमरों-वाले मकान मध्यवित्त दरिद्रों के थे। अनेक कमरोंवाली बड़ी अट्टालिकाओं की कमी नहीं थी। ये धनिकों के निवास-स्थान और सरकारी कार्यालय थे।

अनाज के बड़े-बड़े भंडार और जन साधारण के लिए निर्मित स्नानागार मोहंजोदड़ो और हड़प्पा की विशेषताएँ थीं। हड़प्पा में प्राप्त अनाज का एक विशाल भंडार १६९ फुट लंबा और १३५ फुट चौड़ा था। इसी प्रकार ३९, २३, ८ फुट गहरा एक स्नानागार या तैरने के लिए तालाब का भी पता चला है। लेकिन हमारे लिए सब से अधिक आश्चर्यजनक बात दोनों नगरों की स्वास्थ्य-व्यवस्था है। सड़कों पर रोशनी की व्यवस्था हर जगह थी। शहर के हर भाग में गंदे पानी के निकास के लिए नाले बने हुए थे। बड़ी सड़कों के नीचे १-२ फुट व्यास के मुख्य नालों के साथ छोटी नालियाँ जुड़ी हुई थीं। जमीन के नीचे लगे नालों की हालत की जाँच बीच-बीच में की जा सके, इसके लिए थोड़ी-थोड़ी दूर पर गर्त बनाए गए थे। नगर के नालों और पानी की निकासी के नालों की सफाई का बंदोबस्त था। नालो का पानी नगर के बाहर निकालने की और शहर से थोड़ी ही दूरी पर एक गहरे गढ़े में कचरा जमा करने की भी व्यवस्था थी। स्वास्थ्य-रक्षा का इस प्रकार

व्यापक और विज्ञान-सम्मत बंदोबस्त इस काल में पृथ्वी पर अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता—न बेबीलोन में और न मिस्र में। बेबीलोन में जिग्गूराट की भाँति वृहत् कृत्रिम पहाड़ पर मंदिर या मिस्र के पिरामिड की तरह समाधि-सौध, मोहंजोदड़ो या हड़प्पा में नजर नहीं आते। इसके स्थापत्य और नगर-परियोजना का मुख्य उद्देश्य यह था कि जनता स्वच्छंदता और आराम से रह सके। कृषि, शिल्प, व्यवसाय आदि से संबद्ध विभिन्न श्रमजीवी वर्गों का यह भूस्वर्ग था। इसके स्थापत्य में कहीं भी सर्वाधिनायक किसी पुरोहित-संप्रदाय या राजवंश की अपरिमित क्षमता के दंभ का प्रकाश नहीं है।

कृषि : सिंधु-घाटी-सभ्यता का मेरुदंड कृषि था। अनाज में मुख्यतः गेहूँ, जौ और धान की खेती होती थी। मोहंजोदड़ो और हड़प्पा में जिस गेहूँ और जौ की खेती होती थी, उसी प्रकार के अनाज की खेती आज भी पंजाब में होती है। खाद्य के रूप में खजूर का प्रचुर परिमाण में व्यवहार होता था। दूध, शाक-सब्जी और फल खाद्यतालिका के महत्वपूर्ण अंग थे। पशुओं में भेड़, बकरी, सुअर और मवेशी का मांस, पक्षियों में मुर्गी और हरियल का मांस और नदियों की स्वादिष्ट मछलियां और कछुए खाद्य के रूप में व्यवहृत होते थे।

पशुपालन : पालतू जानवरों में दूबड़वाले बैल, भैंस, भेड़, सुअर, कुत्ता, बिल्ली और हाथी उल्लेखनीय हैं। किसी-किसी ने यह मत प्रकट किया है कि सिंधु घाटी के निवासी उस काल में घोड़े का प्रयोग करते थे। मोहंजोदड़ो के ऊपरी स्तर से प्राप्त घोड़े की कई हड्डियों से यह अनुमान लगाया गया है। ई० पू० १६०० में अश्वारोही, यायावर (nomad) आर्य जाति के भारत में प्रवेश करने के बाद अश्व से इस देश का प्रथम परिचय हुआ। पिक और फ्लाँएर (Fleur) के मत से घोड़े को पहले-पहल मध्य एशिया और दक्षिण रूस की विस्तृत स्टेपीज (Steppes) में पालतू बनाया गया था।*

इस तृणभूमि के पश्चिम में सलूत्री (Solutrean) मानव के वंशों का और पूर्व में, हिमकाल समाप्त होने पर, मंगोल जाति का निवास था। इस तृणभूमि के एर्त्सेवास्किस् (Erzewalskis) अंचल में अब भी जंगली घोड़े मिलते हैं। संभवतः यायावर और शिकारी सलूत्रियों और मंगोलों ने

* M. S. Randhawa—'Role of Domesticated Animals in Indian History', Science and Culture, 12,1, 1946, p. 10.

सभ्य मानव के बहुत पहले, घोड़े को पालतू बनाया होगा। लेकिन ई० पू० २००० वर्ष से पहले सभ्य जगत में कहीं घोड़े के उपयोग किए जाने का प्रमाण नहीं मिला है। सिंह, बाघ, भारतीय बाइसन, गैंडा, बंदर, भालू आदि जंगली जानवरों से सिंधु-घाटी के लोग परिचित थे; मुहरों पर इन जंतुओं की प्रतिकृति अंकित देखी जाती है।

बुनकारी : रुई और ऊनी सूत कातने, और इस सूत से वस्त्र बुनने में मोहंजोदड़ो और हड़प्पा के बुनकर विशेष पारदर्शी थे—तकुए और तकुआचक्री के कुछ ध्वंसावशेष यह निर्देश करते हैं। पांच हजार वर्ष के बाद सूती और ऊनी वस्त्रों के लेशमात्र अवशेष की भी आशा करना निरर्थक है। फिर भी नितांत आकस्मिक रूप से चांदी के एक पात्र की दीवार पर रुई का यह किंचित अंश मिला है। मातुंगा (बंबई) के कपास संबंधी वैज्ञानिक गवेषणागार (Cotton Technological Laboratory) में इस रुई के ध्वंसावशेष के परीक्षण से यह पता चला है कि उत्तर भारत में इस समय मोटे रेशोंवाला एक प्रकार का जो कपास उत्पन्न होता है, सिंधु घाटी का कपास उसी किस्म का था।*

मृत्तिका शिल्प : मोहंजोदड़ो और हड़प्पा के मिट्टी के पात्र मुख्यतः कुम्हार के चक्के की सहायता से बनाए जाते थे। बहुरंगी नक्काशी किए हुए पात्रों की अपेक्षा बिना नक्काशी के सीधे-सादे पात्रों की ही बहुलता है। ईरान और मेसोपोटामिया के पतले और हल्के पात्रों के मुकाबले सिंधु घाटी के मृद्भांड मोटे और भारी हैं। संभवतः साधारण तौर पर व्यवहारोपयोगी बनाने के लिए, पतले और हल्के, नक्काशीदार, सुंदर पात्रों के स्थान पर इस प्रकार का मोटा, भारी और सीधा-सादा पात्र तैयार किया जाता था। सिंधु की पीली मिट्टी, रेत, थोड़ा-सा अबरख और चूने का चूरा मृत्-शिल्प के मुख्य उपादान थे। पात्रों को आग में जलाने के लिए ऐसी गोलाकार भट्ठी की व्यवस्था थी, जिसमें नीचे से आग का नियंत्रण किया जा सकता था।

रंगीन और चित्रित विशेष प्रकार की मिट्टी के पात्र भी यहाँ से प्राप्त हुए हैं। चित्रों में या तो ज्यामितिक नमूनों की प्रधानता है या फिर पशुओं के अभिकल्पों की। सिंधु घाटी के मिट्टी के शिल्प का विदेशों में बहुत आदर था, यह इससे प्रमाणित होता है कि टेल-आस्मार इत्यादि स्थानों में इस प्रकार के भारतीय मृद्भांड मिले हैं।

---

* The vedic Age, p. 181

कांच की तरह चमकीले और चिकने चीनी मिट्टी के पात्रों का निर्माण मोहंजोदड़ो और हड़प्पा के मृत्तिका शिल्प की एक और उल्लेखनीय विशेषता थी। फ्रेंच भाषा में जिसे फेइयांस (faience) कहते हैं; उस किस्म के चीनी मिट्टी के अनेक सामान यहां मिले हैं। ये पात्र सफेद, गाढ़े या हल्के हरे और नीले रंग के हैं। इनके चिकनेपन पर ऐसी निपुणता की छाप है कि अकस्मात् देखने पर यह भूल होना स्वाभाविक है कि वे काँच के पात्र हैं। इस भूल के कारण ही शुरू-शुरू में बहुतों ने यह अभिमत प्रकट किया था कि सिंधु घाटी के भारतीय लोग शीशे का व्यवहार जानते थे। समसामयिक मिट्टी के शिल्पियों में इतने ऊँचे स्तर की दक्षता और ज्ञान शायद ही मिलता हो।

धातु का व्यवहार : सोना, चांदी, तांबा, पीतल और सीसा, इन पाँच धातुओं से सिंधु घाटी के धातुकार परिचित थे। लोहे का व्यवहार पूर्णतः अज्ञात था। सोना संभवतः दक्षिण भारत के कोलार और अनंतपुर जिलों की सोने की खानों से प्राप्त किया जाता था। केवल आभूषण के रूप में ही इसका इस्तेमाल देखा जाता है। सूक्ष्म कारीगरी की दृष्टि से बेबीलोनिया (ऊर) के स्वर्णकारों ने भारतीयों के मुकाबले, अवश्य ही, कहीं अधिक निपुणता का परिचय दिया है।

मोहंजोदड़ो और हड़प्पा को चांदी विदेशों से मंगानी पड़ती थी। चांदी-संभरण के मुख्य केंद्र थे अफगानिस्तान, आर्मेनिया और फारस (ईरान)।

मोहंजोदड़ो और हड़प्पा के सब से नीचे के स्तर से भी तांबा और पीतल की वस्तुएँ मिली हैं। राजपूताना, बलूचिस्तान और मद्रास से खनिज तांबा संग्रह करना असंभव नहीं था। लेकिन टिन कहाँ से लाया जाता था, इस विषय में कोई जानकारी नहीं मिली है। यदि फारस या कॉर्नवाल से सुदूर मिस्र के लिए टिन संग्रह करना दुःसाध्य नहीं था तो मोहंजोदड़ो और हड़प्पा के ताम्रकारों के लिए फारस या मलाया से टिन संग्रह करना कठिन था, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है। तांबा के काम में भारतीय, सुमेरिया के मुकाबले चाहे श्रेष्ठतर न रहे हों, लेकिन पीतल या कांसे के काम में भारतीय अद्वितीय थे।

प्राचीनकाल की परिचित मोम-सांचा-विधि (Cire Perdue) से पीतल की ढलाई का काम होता था। पीतल की कुल्हाड़ी, ढाल, बल्लम, आरी, उस्तरा आदि अनेक विभिन्न औजार मिले हैं। साढ़े सोलह इंच लंबे पीतल के एक बड़े आरे के विषय में पुरातात्विकों का कहना है कि रोम

निवासियों के पहले दाँतवाले इतने बड़े आरे की जानकारी किसी और जाति को नहीं थी। पीतल की बनी कई अति सुंदर नर्तकी-मूर्तियाँ मिली हैं। पीतल का आइना एक और उल्लेखनीय वस्तु है, जो वहाँ प्राप्त हुई है।

प्राचीन भारत की खानों से सीसा यथेष्ट परिमाण में निकाला जाता था। सीसा संभरण का केंद्र अजमेर था।

वजन पैमाना, दशमलव प्रणाली : मोहंजोदड़ो और हड़प्पा में छोटे-बड़े नाना प्रकार के अनेक बाट मिले हैं। स्वर्णकार के व्यवहार के लिए उपयोगी बहुत छोटे बाटों के साथ ही ऐसे बड़े और भारी बाट मिले हैं, जिन्हें उठाना कष्टकर है। बड़े बाट साधारणतया चौकोर घन के आकार के और छोटे बाट बहुत कुछ शंकु के आकार के हैं। मेसोपोटामिया और एलाम में इस प्रकार के बाट प्रचलित थे। एकक मान के रूप में जो बाट मोहंजोदड़ो और हड़प्पा में व्यवहृत होता था, मैट्रिक प्रणाली में उसका वजन ८७५० ग्राम के समान है। एक विशेष बाट प्रचुर संख्या में दोनों स्थानों में मिलने से यह अनुमान लगाया जाता है कि साधारण खरीद-बिक्री में इसी बाट का सब से अधिक व्यवहार होता था। इसका पैमाना १३.६४ ग्राम एकक मान का ठीक १६ गुना वजन का है। मापजोख और हिसाब की भारतीय पद्धति में १६ की प्रधानता सुविदित है। यह प्रधानता संभवतः मोहंजोदड़ो में ही निर्धारित हुई थी।

कुछ तराजुओं के भग्नावशेष भी प्राप्त किए गए हैं। इनके ऊपर के दंड पीतल के और दोनों पलड़े तांबे के हैं। हल्की और मूल्यवान वस्तुओं को तोलने में संभवतः इन्हीं तुलादंडों का व्यवहार होता था। भारी वजन की वस्तुएँ तौलने के लिए संभवतः लकड़ी के तराजुओं की व्यवस्था थी।

६.६२ इंच लंबी शंख की एक मापनी का परीक्षण करके डाक्टर मैके ने दिखाया है कि इस प्रकार की मापनी से लंबाई मापने की जो व्यवस्था थी, उसका एकक मान था ०.२६४ इंच। यह मापनी हर पाँच भाग पर (१.३२ इंच) एक के बाद एक निशान द्वारा विभाजित है। इससे मैके ने यह अनुमान किया है कि गणना के विषय में सिंधु घाटी के प्रागैतिहासिक निवासी संभवतः दशमलव प्रणाली से परिचित थे। उपर्युक्त मापनी संभवतः १३.२ इंच लंबी एक संपूर्ण मापनी का भग्नावशेष है। चौथे राजवंश के समय से मिस्र में और इसी काल में एलाम में दशमलव प्रणाली के व्यवहार के उदाहरण मिलते हैं। सभ्यता के विशेष किसी केंद्र में इस प्रणाली के आविष्कृत और प्रचलित होने के बाद अन्यत्र इसका प्रसार हुआ या नहीं, इस विषय में

कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। परंतु स्वतंत्र रूप से भिन्न-भिन्न स्थानों में इसका आविष्कार और प्रचलन होना भी असंभव नहीं है।

औषधि संबंधी ज्ञान : सिंधु घाटी के निवासियों के औषधि और चिकित्सा संबंधी ज्ञान के विषय में बहुत थोड़ी जानकारी मिली है। कुछ मृद्भांडों में संरक्षित कोयले के रंग की एक प्रकार की वस्तु मिली है। इस वस्तु को पानी में घोलने से गाढ़े बादामी रंग का घोल तैयार हो जाता है। यह प्रमाणित हो चुका है कि शिलाजीत से इस वस्तु का सादृश्य है। शिलाजीत एक मूल्यवान औषधि है, जिसका प्रयोग पेट के रोग, गठिया, मधुमेह, जिगर की पीड़ा इत्यादि के उपचार के लिए किया जाता है। कटल (Cuttle) नामक कंबुज जाति की एक प्रकार की समुद्री मछली की हड्डी भी मृत्पात्रों में सुरक्षित मिली है। यह हड्डी चबाने से भूख लगती है और आँख, कान तथा गले के दर्द में दवा का काम भी करती है। प्रवाल, नीम की पत्ती और हिरण, गैंडा आदि जानवरों के सींग का संभवतः औषधि के रूप में व्यवहार किया जाता था। आयुर्वेद में उपर्युक्त औषधियों का उल्लेख किया गया है। इस कारण अनेक लोगों की यह धारणा बनी है कि आयुर्वेद तथा भारतीय चिकित्सा शास्त्र का मूल प्राचीन सिंधु घाटी सभ्यता के काल तक प्रसारित है।

लिपि : मोहंजोदड़ो के टीलों के खंडहरों में सिंधु-सभ्यता-काल में प्रचलित लिपि के कुछ नमूनों का संधान मिला है। बहुत चेष्टा और परिश्रम के बावजूद इस लिपि का पठन या मर्मोद्धार अभी तक संभव नहीं हो सका है। जो इस प्रयत्न में असफल हुए हैं, उनका अभिमत है कि यह लिपि चित्र-लिपि का ही एक विशेष स्वरूप है। इसमें पक्षी, मछली तथा मानव शरीर के विभिन्न अंगों, आकृतियों और मुद्राओं-द्वारा एक प्रकार के अर्थ के प्रकाश का प्रयत्न सुस्पष्ट है, तथापि इसी लिपि में विभिन्न चिह्नों तथा प्रतीकों के व्यवहार को देखकर ऐसी धारणा बनती है कि चित्रलिपि स्तर को लांघकर उन चिह्नों तथा प्रतीकों को अर्थबोधक बनाने की क्रमिक चेष्टा हुई थी। समसामयिक मेसोपोटामिया में कीलाक्षर लिपि इस दिशा में जितनी अग्रसर हुई थी, सिंधु घाटी के लिपिकार, अपने चिह्नों और प्रतीकों को उस हद तक अर्थबोधक और सर्वजन-स्वीकृत बनाने में सफल नहीं हो सके थे। कारण जो भी हो, इस लिपि के विभिन्न स्तरों के नमूनों का आविष्कार न होने से, इसके विकास की धारा के परीक्षण की सुविधा अबतक नहीं मिल पाई है।

मोहंजोदड़ो की लिपि की एक विशेषता चिह्नों के साथ स्वराघात-रेखाओं का व्यवहार है। संभवतः इन रेखाओं की सहायता से चिह्नों की उच्चारण-ध्वनियों में विभेद उत्पन्न किया जाता था। यह प्रमाणित हुआ है कि विभिन्न चिह्नों की संख्या प्रायः ४०० थी। चिह्नों और रेखाओं की संख्या इतनी अधिक होने के कारण पंडितों का अनुमान है कि सिंधु घाटी के सभ्यता-काल में इस देश में वर्णमालायुक्त लिपि का आविर्भाव नहीं हुआ था।

सुमेरी, आद्य-एलामी, हित्ती, मिस्री, क्रीटी, यहाँ तक कि चीन की लिपियों की प्राथमिक अवस्था से, मोहंजोदड़ो की लिपि का कुछ विषयों में सादृश्य है। सुमेरी और आद्य-एलामी लिपियों से इसका मेल देखकर राय-बहादुर काशीनाथ दीक्षित ने यह मत प्रकट किया है कि सिंधु घाटी लिपि को प्रथम अवस्था में उक्त दोनों अंचलों से प्रेरणा अवश्य मिली, परंतु अंततः भारत की भूमि में इसका विकास स्वतंत्र रूप से हुआ और इसकी स्वतंत्र परिणति हुई। कुछ विशेषज्ञों ने सिंधु लिपि का ब्राह्मी लिपि से संपर्क होने का निर्देश किया है। लेकिन इस विषय में किसी निश्चयात्मक सिद्धांत पर पहुँचना अभी तक संभव नहीं हो सका है।

सिंधु सभ्यता का विस्तार : सिंधु घाटी सभ्यता के मुख्य निदर्शन मोहंजोदड़ो और हड़प्पा में ही मिले हैं, लेकिन निश्चय ही यह कोई स्थानीय घटना नहीं है। सपूर्ण उत्तर-पश्चिमी भारत और गंगा नदी की घाटी में इस सभ्यता का प्रसार हुआ था। श्री ननीगोपाल मजुमदार ने सिंधु प्रदेश में पुरातात्विक खोजों से यह प्रमाणित किया है कि उक्त अंचलों के अनेक स्थानों में इस सभ्यता का अस्तित्व था। सर ऑरेल स्टाइन ने उत्तर और दक्षिण बलूचिस्तान में इसका अस्तित्व लक्ष्य किया है। बक्सर और पटना के समीप के अंचल में सिंधु-घाटी की विशेषताओं से समन्वित पक्वमृत्तिका से तैयार वस्तुओं के आविष्कार से यह प्रमाणित होता है कि उत्तर भारत में गंगानदी की घाटी के संपूर्ण प्रदेश में इस सभ्यता का विस्तार हुआ।

इसके अतिरिक्त इस काल में पृथ्वी के विभिन्न नदी-घाटी अंचलों में मानव सभ्यता के निर्माण का जो प्राथमिक प्रयास चल रहा था, सिंधु घाटी की सभ्यता उससे कोई विच्छिन्न घटना नहीं थी। इन घाटियों, विभिन्न नगरों और जनपदों में एक प्रकार का व्यावसायिक और सांस्कृतिक संपर्क था। इस संपर्क के माध्यम से वे निस्संदेह एक दूसरे से प्रभावित हुए। मोहंजोदड़ो और हड़प्पा का क्षेत्र उस काल का एक प्रमुख व्यावसायिक केंद्र

था और इस क्षेत्र में परस्पर संपर्क का विशेष उत्कर्ष हुआ था। बलूचिस्तान और फारस होकर स्थलपथ से और अरब सागर तथा फारस की खाड़ी होकर जलपथ से, सिंधु घाटी के विभिन्न नगरों और सुमेर तथा एलाम के बीच समृद्ध व्यावसायिक संपर्क का अकाट्य प्रमाण, हमें मुहरों और विभिन्न वस्तुओं के विनिमय के माध्यम से मिलता है।

गॉर्डन चाइल्ड ने लिखा है—"मेसोपोटामिया के कुछ नगरों में ऐसी मुहरें, मनके और बर्तन बिखरे हुए मिले हैं, जिन पर सुमेरी विशेषता की छाप है, लेकिन ये वस्तुएँ तत्कालीन सिंध और पंजाब में भी साधारणतया प्राप्त थीं। यह उस अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य का निश्चयात्मक प्रमाण है, जिसने १ हजार २ सौ मील की दूरी पर अवस्थित सिंधु और टाइग्रिस नदियों के बीच संपर्क स्थापित किया था। वे हमारी आँखों के सामने उन काफिलों के चित्र प्रस्तुत करते हैं, जो दोनों घाटियों को पृथक् करनेवाली लवण-मरूभूमि और दुर्गम पर्वतश्रृंखला को नियमित रूप से इधर से उधर और उधर से इधर पार किया करते थे अथवा उन जहाजों के बेड़े की ओर संकेत करते हैं, जो दोनों नदियों के मुहानों के बीच अरबसागर के तट से होकर आया-जाया करते थे।"*

लिपि और वर्णमाला का आविष्कार

मोहंजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता की चर्चा के प्रसंग में हमने लिपि का उल्लेख किया है। लिपि मनुष्य का प्रमुख और श्रेष्ठ आविष्कार है। उसने भाषा को स्थायित्व प्रदान कर और भावविनिमय को सहज बनाकर मानव के लिए मनन का पथ उन्मुक्त किया है और ज्ञान-विज्ञान को संभव बनाया है।

पृथ्वी पर मनुष्य का आविर्भाव जिस समय हुआ, उसकी तुलना में लिपि का आविष्कार प्रायः हाल की घटना है। यह केवल ५-६ हजार वर्ष की कहानी है और पूर्णांग आक्षरिक लिपि का इतिहास तो और भी हाल की बात है। लिपि के प्रचलन के पहले मनुष्य को भाव-विनिमय के क्षेत्र में, मुख्यतः कथित भाषा के सहारे, बहुत धीरे-धीरे आगे बढ़ना पड़ा है। पाषाण युग की महानिश्चेष्टता और अनग्रसरता का एक प्रमुख कारण था लिपि का आविष्कार न होना। लिपि के अभाव में हजारों वर्ष तक पृथ्वी में सर्वत्र विभिन्न मानव-समुदायों के उत्थान, पतन और लोप के साथ अनेक भाषाओं का भी जन्म

* V. Gordon Childe, loc. cit, p. 168.

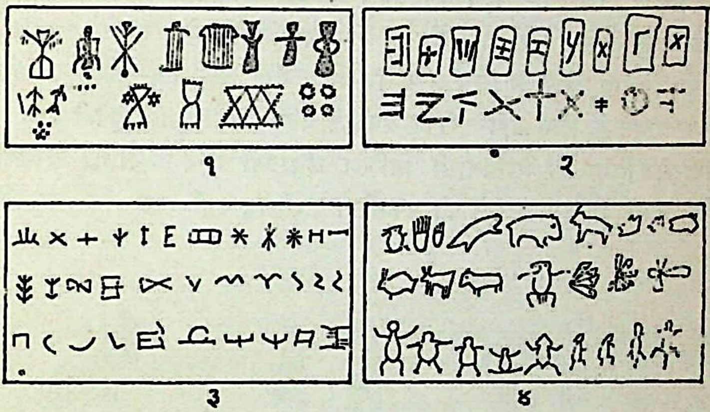
और मृत्यु हुई। इन मानव-समुदायों की चेष्टा से जो मूल्यवान अनुभव और ज्ञान संचित हुए थे, उनके लिपिबद्ध न होने के कारण, परवर्ती समुदायों को अनेक क्षेत्रों में उनके लाभ से वंचित रहना पड़ा। उन्हें सब कुछ नए सिरे से शुरू करना पड़ा। इस प्रकार मनुष्य को कितनी बार बहुमूल्य तथ्य, अभिज्ञता और ज्ञान खोकर उन्हें पुनः प्राप्त करना पड़ा, इसका कोई ठिकाना नहीं। लिपि के आविष्कार से मानव-चेष्टा का विराट अपचय समाप्त हुआ। पूर्वजों की लिपिबद्ध अभिज्ञता और ज्ञान ने बाद की पीढ़ियों का काम सरल बना दिया। सभ्यता के मार्ग पर उसके महाभियान ने और द्रुतगति प्राप्त की।

लिपि हमारी बोली का लिखित रूप है। बोली की ध्वनि तथा भाव लिपि में स्थायी रूप से प्रकाशमान है। और स्पष्ट रूप में कहा जाय तो उच्चरित शब्द या वाक्य की ध्वनि-विचित्रता अथवा अव्यक्त चिंता तथा भाव को पत्थर, धातु, लकड़ी, चमड़ा, कपड़ा, कागज या अनुरूप किसी वस्तु पर, दृश्यमान संकेतों की सहायता से स्थायी रूप से चिह्नित करने या उनकी खुदाई करने का नाम लिपि है। वर्णमाला और उसके प्रयोग के आविष्कार होने के बाद ही किसी प्रकार की लिपि का उद्भावन संभव हो सका। यह महत्वपूर्ण आविष्कार ईसा के जन्म से लगभग दो हजार वर्ष पहले हुआ। आज सभ्य जगत् में सर्वत्र वर्णमाला की लिपि ही प्रचलित है।

प्रागैतिहासिक चित्रांकन

वर्णमाला की लिपि, लिपि-विकास की अंतिम परिणति है। इस विकास का इतिहास अनेक स्तरों में विभक्त है। इन स्तरों का पूरा इतिहास अब भी लिपि-विशारदों के लिए खोज और तर्क-वितर्क का विषय बना हुआ है। ध्वनि को प्रकाशित करने की क्षमता को अलग रखकर यदि केवल भाव प्रकाशित करने की क्षमता पर विचार किया जाय तो यह देखा जा सकता है कि प्रागैतिहासिक चित्रांकन भी एक प्रकार की लिपि है। पाषाण युग के लोग, पत्थर की दीवारों पर खरोंच-द्वारा अंकित, नाना पशुओं अथवा प्राकृतिक वस्तुओं के जो चित्र छोड़ गए हैं, वे ही वास्तविक लिपि के मार्गदर्शक थे। पाषाण युग के अंतिम भाग में दुनिया में सर्वत्र—फ्रांस, स्पेन, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, साइबेरिया में—इस प्रकार के प्राचीन चित्रों के अनेक निदर्शन मिले हैं। यह जिस प्रकार चित्रांकन का निदर्शन है, उसी प्रकार इस तरह की चेष्टा में

लिपि की संभावना भी अंतर्निहित है। चित्र और लिपि, दोनों की ही यह शिशु-अवस्था है। शिशु आज भी चित्र खींचना सीखकर ही लिखना सीखता है।



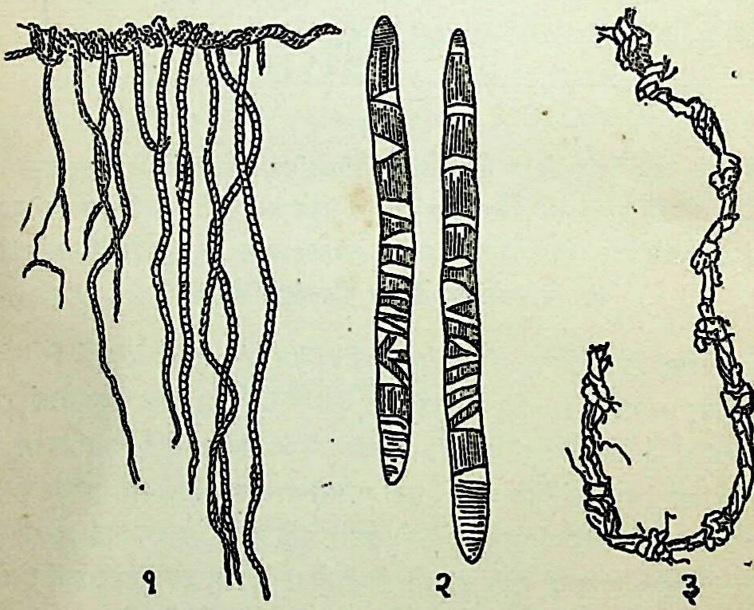
चित्र—२३ : लिपि के मार्ग-प्रदर्शक प्रागैतिहासिक चित्रांकन के कुछ नमूने। (१) स्पेन में प्राप्त; (२) पैलेस्टाइन में प्राप्त अनेक प्रकार के ज्यामितीय प्रतीक; (३) क्रीट में प्राप्त मृत्पात्रों पर अंकित नाना प्रकार के ज्यामितीय प्रतीक; (४) कैलिफोर्निया में प्राप्त जीव-जंतुओं के चित्र।

प्रागैतिहासिक मिस्र और ग्रीस में चित्रांकन और लेखन में कोई विभेद नहीं किया जाता था। मिस्री शब्द स्-श् (S—Sh) या ग्रीक शब्द ग्राफीन (Graphein) चित्रांकन और लिपि, दोनों अर्थों में व्यवहृत होते थे। परंतु, फ्रेंच पंडित तथा लिपिविद मॉरिस दूनाँ पशुओं या वस्तुओं की इस प्रकार की प्रतिमूर्तियों को लिपि की संज्ञा देने को तैयार नहीं हैं। कारण यह है कि लिपि में चिंता-धारा या गति का जो संकेत होना है, वह इस प्रकार के चित्रों में नहीं है। उनका मत है कि इस प्रकार के चित्र स्थितिशील हैं।

स्मृति-सहायक लिपि

लिपि स्मृति की सहायक है। 'पेरुविया' पोलीनेसिया-द्वीप-समूह तथा भारत में आसाम, संथाल परगना आदि प्रांतों के आदिवासी, लिपि का व्यवहार न जानते हुए भी, कुछ चीजें स्मरण रखने के लिए अनेक प्रकार के कौशलों का अवलंबन करते हैं। ये लोग रस्सी में गाँठ लगाकर या किसी लाठी पर चिह्न काटकर किसी व्यक्ति के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को संदेश भेजते हैं।

संदेह-वाहक को इन गांठों या चिह्नों का अर्थ समझा दिया जाता है ताकि उस व्यक्ति को, जिसके पास संदेश भेजा गया है, सूचना देने में वाहक को कोई कठिनाई न हो। वास्तव में गाँठ-बंधी सुतली या चिह्नित लाठी एक प्रकार का पत्र है। आस्ट्रेलिया, उत्तर अफ्रीका, चीन, हिंदचीन आदि देशों के कुछ अंचलों में आदिवासियों को, सप्ताह, मास या वर्ष का हिसाब रखने के लिए और लेन-देन, यहां तक कि व्यवसाय संबंधी हिसाब रखने के लिए यही तरीका अपनाते देखा जाता है। यह भी देखा गया है कि पेरूविया के आदिवासी विभिन्न लंबाइयों और रंगों की रस्सियों में गांठ लगाकर मुख्य घटनाओं को प्रकाशित करते हैं, यहां तक कि दलपतियों



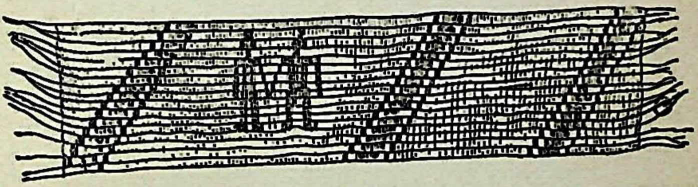
चित्र —२४ : चिह्नित लाठी और गांठ-बंधी रस्सी।

(१) पेरुवियाई; (२) आस्ट्रेलिया के आदिवासियों-द्वारा व्यवहृत चिह्नित लाठी; (३) टैंगानिका में प्राप्त आदिवासियों की गांठ-बंधी रस्सी का नमूना।

की महत्त्वपूर्ण घोषणाओं का भी प्रचार करते हैं। पेरुवियाई भाषा में इस पद्धति का नाम क्विपस् (Quipus) या किपस् (kipus) है। उत्तर अमेरिका के इरोकोआ आदिवासियों की वांपुम (Wampum) सांकेतिक पद्धति भी

बहुत कुछ इसी प्रकार की है। वांपुम, घोंघा या मनकों से तैयार किया गया एक विशेष प्रकार का चौड़ा कमरबंद है। मनकों के गूँथने और उनकी सजावट की विचित्रता में ही वक्तव्य का विषय प्रच्छन्न रहता है।

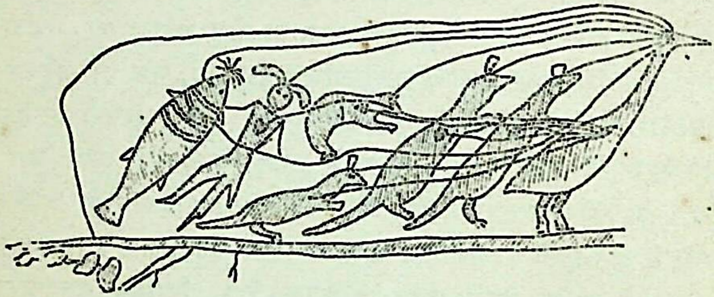
पृथक रूप से खींचे गए जीव-जानवरों या जड़ वस्तुओं के चित्र ठीक-ठीक लिपि के पर्याय में नहीं पड़ते, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। केवल एक मनुष्य के चित्र-द्वारा व्यक्तिविशेष का ही बोध कराया जा सकना है। किसी वृत्त की सहायता से अधिक-से अधिक चंद्र, सूर्य, चक्र या अनुरूप किसी गोलाकार वस्तु की अभिव्यक्ति संभव है। लेकिन अनेक अवसरों पर एकाधिक चित्र के निपुण समावेश-द्वारा वास्तव में जटिल विषय तथा घटना का सुंदर और स्पष्ट प्रकाशन तथा व्याख्या भी संभव है। इस प्रकार के भाव-व्यंजक चित्रों में गति होती हैं, उसे पढ़ा जा सकता है। इस प्रकार के चित्र को लिपि के पर्याय में शामिल करना पूर्णतः युक्तियुक्त है। विशेषज्ञ इस प्रकार के चित्र को भाव-लिपि (Ideographic Writing) या चित्र-लिपि (Picture Writing) की संज्ञा देते हैं। उनके मतानुसार चित्र-लिपि वास्तविक लिपि की प्राचीनतम अवस्था है। विज्ञापन साहित्य में चित्र-लिपि का आसन अब भी सुप्रतिष्ठित है।



चित्र—२५ : इरोकोआ आदिवासियों का वांपुम—पेंसिलवानिया की इतिहास-समिति-द्वारा संरक्षित।

आदिवासियों में प्रचलित चित्र-लिपि का एक नमूना नीचे दिया जा रहा है (चित्र—२६)। यह चित्र-लिपि अमेरिकी रेड इंडियनों की ओर से संयुक्त राष्ट्र कांग्रेस को भेजा गया एक आवेदन पत्र है। इस पत्र में किसी झील में सात रेड इंडियन उपजातियों के लिए मछली-शिकार के अधिकार का दावा प्रस्तुत किया गया है। सात प्राणियों की आँखों और हृदयों को जोड़कर, मछली-शिकार के दावे के विषय में, सातों उपजातियों के एकमत होने की बात बताई गई है। चित्र में दिखाए गए सात प्राणी सात उपजातियों के प्रतीक हैं। इसमें सारस पक्षी नेतृस्थानीय 'असकाबावइस' उपजाति

है। दल के अग्रभाग में अवस्थित सारस पक्षी को, पीछे की ओर अवस्थित झील की कुछ मछलियों के साथ जोड़कर चित्र-लिपिकार ने स्वजातियों के मछली-शिकार के दावे को समझाने की चेष्टा की है।[1]



चित्र—२६ : रेड इंडियन चित्रलिपि का एक नमूना । संयुक्त राष्ट्र कांग्रेस को प्रेषित एक आवेदन-पत्र ।

चित्र-लिपि की अधिक उन्नत अवस्था में देखा जाता है कि किसी भावविशेष को हर समय एक ही चिह्न या प्रतीक-द्वारा प्रकट किया जाता है। उदाहरण के रूप में एक आँख और उससे निकलती हुई दो बूंद आंसू के चित्रण-द्वारा दुःख प्रकट किया जाता है। मनुष्य की पीठ अंकित करके किसी वस्तु या बात की उपेक्षा अथवा अस्वीकृति समझाई जाती है। एक ही विशिष्ट प्रकार के चित्रण-द्वारा किसी विशिष्ट वस्तु या भाव को लगातार प्रकट करने का यह अर्थ है कि इन चित्रों ने संकेत का रूप ग्रहण कर लिया था और इनके अर्थ और व्यवहार साधारण रूप से, समूह या उपजाति के सभी सदस्यों में प्रचलित हो गए थे। इस सांकेतिकता के कारण ही चित्र-लिपि लिपि के पर्याय-रूप में आ जाती है।

चित्र-लिपि की मुख्य दुर्बलता यह है कि इसके साथ ध्वनि संयुक्त नहीं होती। आंख से जिन वस्तुओं को देखा जाता है और विचार करते समय मानस-पट पर जो चित्र स्फुट होता है, यथासंभव उन्हीं का अनुकरण करके चित्र-लिपि का उद्भावन किया गया था। यह लिपि उच्चरित शब्दों का प्रतिरूप नहीं है। ध्वनि लेखन (Phonetic Writing) के उद्भव के पहले उच्चरित वाणी के वास्तविक लिखित प्रतिरूप ने आत्मप्रकाश नहीं किया था।

1. David Diringer, "The Alphabet." Hutchinson, 1947, p. 34,

ध्वनि-लिपि

बात करते समय हम विभिन्न प्रकार की ध्वनियों का सृजन करते हैं। ह्रस्व तथा दीर्घ नाना प्रकार की ध्वनियों और ध्वनि-समष्टि के विशेष अर्थ निर्दिष्ट होकर जब उन्हें समूह-विशेष या जन-समुदाय की साधारण स्वीकृति या समर्थन प्राप्त होता है, तब उन उच्चरित ध्वनियों-द्वारा निष्पन्न शब्द-समष्टि को भाषा का नाम दिया जाता है। उच्चरित ध्वनियों तथा ध्वनि-समष्टि का इस प्रकार अर्थकरण मनुष्य की इच्छा के अधीन है; दुनिया के विभिन्न देशों, यहाँ तक कि एक ही देश के विभिन्न अंचलों, के निवासियों-द्वारा उच्चरित ध्वनियों के भिन्न-भिन्न अर्थकरण के परिणामस्वरूप विभिन्न भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। यदि इन ध्वनियों के कुछ संकेतों या चिह्नों को सर्वसम्मति से ग्रहण करना संभव हो तो उच्चारण के अनुकरण में उन संकेतों को एक के बाद एक सजाकर हम भाषा का लिखित प्रतिरूप प्राप्त कर सकते हैं। कारण यह है कि ये संकेत जिन ध्वनियों के निर्देशक हैं, उन्हें वाग्यंत्र-द्वारा एक के बाद एक निकालने से वही बोली निकलती है, जिसे प्रकट करने के लिए उन संकेतों का प्रयोग किया गया था। इस प्रकार के संकेतों की सहायता से जिस लिपि की उत्पत्ति हुई, उसका नाम ध्वनिलिपि (Phonetic Writing) है।

ध्वनिलिपि के दो प्रकार हैं। पहले प्रकार में शब्दांश या अक्षर के प्रतीक व्यवहृत होते हैं; दूसरे प्रकार में वर्णमाला के वर्ण। दूसरी पद्धति ही ध्वनिलिपि की अधिक उन्नत तथा अंतिम अवस्था है। भाषा की सहज और सरल अवस्था में स्वाभाविक कारणों से ही अक्षर के प्रतीक के व्यवहार-द्वारा ध्वनिलिपि की रचना होती है। पहले हुआ भी ऐसा ही। असीरिया की कीलाक्षर लिपि अथवा चीन या जापान की लिपियां इसका दृष्टांत हैं। परंतु भाषा की जटिलता में वृद्धि के साथ तथा उच्चारण-विकार, ध्वनि की अवनति तथा शब्दांश में व्यंजन वर्णों की बहुलता आदि विभिन्न कारणों से इस पद्धति का चलन क्रमशः रुक गया। उदाहरण के रूप में अंग्रेजी 'Family' शब्द को सहज ही तीन शब्दांशों या अक्षरों में (fa-mi-ly) विभाजित किया जा सकता है, और इन तीन शब्दांशों के लिए तीन प्रतीकों के व्यवहार-द्वारा इसे सरलतापूर्वक प्रकाशित किया जा सकता है। परंतु 'Strength' —जैसे किसी शब्द को उपर्युक्त पद्धति में (Se-te-re-ne-ge-the ?) प्रकाशित करना बहुत ही असुविधाजनक है। आधुनिक वर्णमाला के प्रयोग से इस प्रकार की असुविधा पूरी तरह दूर हो गई है। कारण यह है कि वर्ण-

माला का एक-एक वर्ण यथासंभव केवल एक ही विशुद्ध ध्वनि को प्रकाशित करता है। विभिन्न ध्वनियों के शुद्ध रूप में प्रकाशित होने के कारण एक ही प्रकार के वर्णों-द्वारा एकाधिक भाषा को व्यक्त करना संभव हो सका है। अंग्रेजी, फ्रेंच, इटालवी, जर्मन, पोलिश, चेक, हंगेरीय, वेल्श आदि विभिन्न यूरोपीय भाषाएँ इस समय रोमन वर्णमाला में ही लिखी जाती हैं। यहाँ तक कि इसी वर्णमाला की सहायता से बंगला, आसामी, उड़िया, हिंदी आदि संस्कृतजा विभिन्न भारतीय भाषाओं को भी व्यक्त करना दुःसाध्य नहीं है, यह विशेषज्ञों ने प्रमाणित कर दिखाया है।

चित्रलिपि और आक्षरिक लिपि की अंतर्वर्ती अवस्था

अक्षर तथा वर्णमाला समन्वित लिपि की, सीधे चित्रलिपि से उत्पत्ति नहीं हुई है। लिपि-विकास के इतिहास में चित्रलिपि और आक्षरिक लिपि के बीच एक अंतर्वर्ती अवस्था विशेष रूप से लक्ष्य करने की चीज है। लिपि की इस अंतर्वर्ती अवस्था में संकेत, भाव और ध्वनि, दोनों को आंशिक रूप से व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं। प्राचीन मैसोपोटामिया, मिस्र, क्रीट तथा हित्तियों की लिपियां बहुत कुछ इसी प्रकार की हैं। सुदूर पूर्व में चीन में तथा दक्षिण अमेरिका की प्राचीन माया और ऐजटेक जातियों में इस प्रकार की लिपि का आविर्भाव हुआ था। इन लिपियों की वाहरी आकृति से पहले ऐसा लगना स्वाभाविक है कि ये विशुद्ध भाव-व्यंजक हैं। लेकिन तनिक गहराई से देखने पर ही मालूम पड़ जाता है कि इन लिपियों के अनेक संकेत उच्चरित भाषा की ध्वनियों को भी आंशिक रूप से प्रकट करने का प्रयास कर रहे हैं। विशेषज्ञों का यह अभिमत है कि ये लिपियाँ वास्तव में चित्र तथा आक्षरिक लिपियों के बीच की लिपियाँ हैं।

कीलाक्षर लिपि

चित्रलिपि और आक्षरिक लिपि के बीच की जिन अंतर्कालीन लिपियों का उल्लेख किया गया है, उनमें कीलाक्षर लिपि प्राचीनतम है। सुमेर, मेसोपोटामिया, वेवीलोन, असीरिया, एलाम, फारस आदि देशों के प्राचीन निवासियों में यह लिपि प्रचलित थी। कीलाक्षर लिपि अंग्रेजी Cuneiform Script का हिंदी रूपांतर है। क्युनिफार्म (Cuneiform) शब्द की उत्पत्ति लैटिन Cuneus (अंग्रेजी Wedge या हिंदी कील) तथा forma (अंग्रेजी Shape या हिंदी आकृति) से हुई है। नरम मिट्टी की चक्की, वेलन

(Cylinder) या त्रिपार्श्व (Prism) के ऊपर किसी लकड़ी के नुकीले अग्रभाग द्वारा चिह्न खरोंचकर लिखने से लिपि-चित्र बहुत कुछ कील की तरह दिखाई पड़ते हैं; इस कारण लिपिविद् टॉमस हाइड ने इस नाम का प्रस्ताव किया। क्युनिफॉर्म के जर्मन प्रतिशब्द Keilschrift का अर्थ भी कीलाक्षर लिपि है।

ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी के मध्यकाल से कीलाक्षर लिपि का व्यवहार होता देखा जाता है। मध्यपूर्व में ठीक किस समय और ठीक किस स्थान में इस लिपि का आविष्कार हुआ, यह अभी तक अज्ञात है। बहुतों का मत है कि प्राचीन सुमेर निवासियों ने ही इस लिपि का आविष्कार किया था। कुछ अन्य लोगों का कहना है कि इस लिपि का जन्म-स्थान मेसोपोटामिया है। वास्तविकता जो भी हो, कीलाक्षर लिपि के सब से प्राचीन नमूनों के ध्वंसावशेष अभी तक केवल उरुक या वाइविल-वर्णित 'इरेक' में प्राप्त हुए हैं। यह मेसोपोटामिया के प्राक्-राजवंशीय काल की बात है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि चित्रलिपि के प्रकार विशेष से ही कीलाक्षर लिपि की उत्पत्ति हुई। उरुक में जो नमूने मिले हैं, वे वस्तुओं तथा प्राणियों के चित्र-प्रतीक हैं। इससे बाद की अवस्था में प्रतीक क्रमशः भाव व्यंजक होते गए हैं और बीच-बीच में ऐसे प्रतीक दिखाई पड़ते हैं, जो किसी शब्द विशेष या किसी शब्द-समष्टि का बोध कराते हैं। चित्रलिपि की एक मुख्य असुविधा यह है कि इससे सर्वनाम, क्रिया विशेषण, उपसर्ग आदि शब्दों को व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस असुविधा की जानकारी के साथ क्रमशः संकेतों के साथ उच्चरित ध्वनियों के योग की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। इसकी परवर्ती अवस्था थी ध्वनियों के अनुकरण में संपूर्ण एक-एक अक्षर (Syllable) को निर्देशित करके, विभिन्न प्रकार के कुछ संकेतों का सृजन। यह अक्षर-सृजन ही कीलाक्षर लिपि की अंतिम परिणति है। इससे ऊपर की सीढ़ी पर है वर्णमाला। कीलाक्षर लिपि वहाँ तक प्रगति नहीं कर सकी।

चित्रलिपि का स्तर पार करके एक प्रकार की ध्वनि-लिपि में परिणत होने पर, कीलाक्षर लिपि के प्रतीकों ने जो रूप ग्रहण किया, उसमें एक ही प्रतीक का व्यवहार प्रायः एकाधिक ध्वनि को प्रकट करने के लिए किया जाता था। साथ ही, एक ही ध्वनि को चिह्नित करने के लिए एकाधिक प्रतीक का व्यवहार होता था। ऐसी स्थिति में लिपि की व्याख्या में बहु अनिश्चितता, संदेह और गड़बड़ी की प्रबल आशंका रहती है और संभवतः इस प्रकार की अप्रीतिकर परिस्थिति की उत्पत्ति हुई भी थी।

इस अनिश्चितता से बचने के उद्देश्य से प्रतीकों के आगे या पीछे विशेष प्रकार के कुछ चिह्नों का व्यवहार किया जाने लगा था। ये चिह्न उच्चरित



चित्र—२७ : चित्रलिपि से कीलाक्षर लिपि का विकास

नहीं होते थे। लेकिन जहाँ एक ही प्रतीक, एकाधिक ध्वनि, अतः एकाधिक वस्तु या भाव को प्रकट करता है, वहाँ इस प्रकार के चिह्नों-द्वारा यह

निर्देश करना असंभव है कि लेखक ठीक किस ध्वनि या भाव को प्रकट करने का इच्छुक है। इसलिए कीलाक्षर लिपि में हम साधारणतया यह देखते हैं कि एक ही प्रकार के प्रतीक कुछ विशिष्ट चिह्नों से संयुक्त होकर कभी किसी अक्षर, कभी एक स्वरवर्ण, कभी एक शब्द और कभी-कभी किसी संपूर्ण भाव को व्यक्त करते हैं।

इस प्रसंग में कीलाक्षर लिपि के प्रतीकों के आकारों के बाहरी परिवर्तन विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य हैं। चित्र २७ में स्पष्ट दिखलाया गया है कि प्राथमिक युग के चित्र-प्रतीक, धीरे-धीरे परिवर्तित होते-होते किस प्रकार कीलाक्षर लिपि में बदल गए। पहले और दूसरे स्तंभ के प्रतीक मूलतः एक हैं; दूसरे स्तंभ में ये प्रतीक केवल ९० डिग्री घूम गए हैं। संभवतः किसी लेखक के दिमाग में यह कल्पना आई होगी और उसी के अनुसार इस प्रकार का परिवर्तन किया गया। इन प्रतीकों की रचना सुगम चित्रों के अनुकरण में हुई; एक खोपड़ी का चित्र खींचकर मनुष्य के सिर, या अनाज की एक बाली का चित्र खींचकर गेहूँ या जौ का बोध कराया गया है। दूसरे और तीसरे स्तंभों में कीलाक्षर प्रतीकों की विकसित अवस्था दिखाई गई है। अब उन प्रतीकों के साथ वस्तुओं के चित्रों का कोई संपर्क नहीं रह गया था; सीधी समांतर या टेढ़ी रेखाओं की सहायता से इनका गठन हुआ था। नरम मिट्टी पर लकड़ी के नुकीले अग्रभाग-द्वारा इन रेखाओं की रचना के कारण उन्होंने यह कीलाक्षर रूप ग्रहण किया है। नरम मिट्टी पर वक्र या वृत्ताकार रेखा सरलता से काटी नहीं जा सकती; इसलिए प्रतीकों में वक्र रेखाएँ हैं ही नहीं। अंतिम स्तंभों के प्रतीकों में तुलनात्मक रूप से कम संख्यक रेखाओं का समावेश और सुसंबद्ध योजना, असीरियाई कीलाक्षर लिपि की अधिक उन्नत अवस्था को प्रकट करती है। इस उन्नततर लिपि में भी लगभग ५७० प्रतीकों के व्यवहार के बिना काम नहीं चल सकता था। यह लिपि बाएँ से दाहिने लिखी जाती थी।

कुछ रूढ़िवादी पुरोहित वर्ग इस लिपि का व्यवहार प्रायः ईस्वी संवत् के प्राथमिक काल तक करते आए थे। लेकिन ईसापूर्व ५ वीं या छठी शती से ही वाणिज्य-व्यवसाय में इसका चलन प्रायः बंद हो गया था।

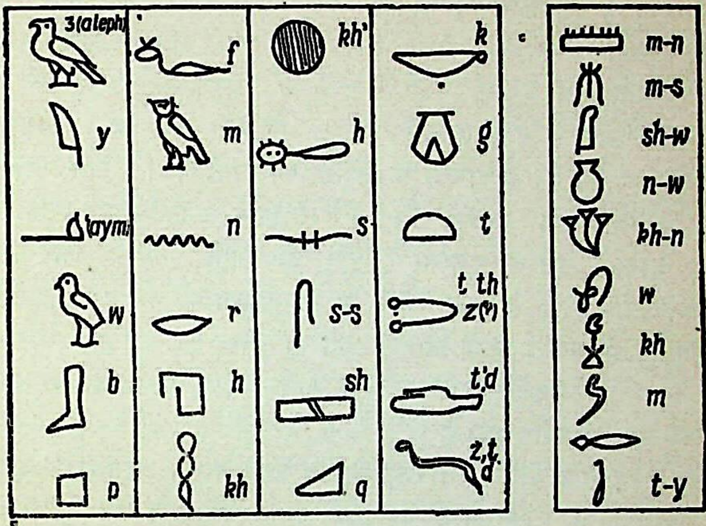
हेरोग्लिफिक, हेरेटिक तथा डिमोटिक लिपि : कीलाक्षर लिपि की भाँति हेरोग्लिफी लिपि भी अति प्राचीन लिपि है। इस लिपि का जन्म नील नदी की घाटी में हुआ। कीलाक्षर तथा हेरोग्लिफी लिपियों में कौन-सी अधिक प्राचीन है, इस प्रश्न का अभी तक समाधान नहीं हुआ है।

ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के अंतिम भाग में दोनों लिपियों का अस्तित्व देखा जाता है।

हेरोग्लिफी 'पवित्र लिपि' है। इसकी उत्पत्ति दो ग्रीक शब्दों से हुई है hiero's (पवित्र) और glyphien (रेखांकन)। प्राचीन मिस्रनिवासियों ने इस लिपि का जो नामकरण किया था (mdw-ntr), उसका अर्थ है देव-भाषा। मंदिर, समाधि आदि पवित्र स्थानों के संगमर्मर के फलकों को अलंकृत करने के उद्देश्य से इस देव-भाषा का व्यवहार किया जाता था।

बहुत-से लोगों की यह धारणा है कि प्रथम राजवंश के शासन काल में (अनुमानतः ई० पू० ३००० वर्ष) मिस्र के एकीकरण के समय राजनीतिक तथा आर्थिक प्रयोजन से ही इस लिपि का उद्भव हुआ था। उनका कहना है कि मिस्र में जिन्होंने पहले-पहल लिपि शुरू की, उन्हें अन्यत्र प्रचलित लिपियों की जानकारी थी और प्रयोजन होते ही उन्होंने उस जानकारी का प्रयोग किया और बिरादरी में अपनी लिपि को प्रचलित किया। अन्यों की अभिज्ञता से प्रेरणा मिलने पर ही सभ्यता का प्रसार संभव है, प्राध्यापक ए० एल० क्रोबर के इस प्रकार के अभिमत पर जिन्हें विश्वास हैं, वे मिस्र में लिपि के प्रचलन के विषय में उपर्युक्त धारणा के विशेष रूप से समर्थक हैं। लिपि-विशेषज्ञों के एक और दल की इस मत पर आस्था नहीं है। उनका कहना है कि कीलाक्षर लिपि की तरह हेरोग्लिफी लिपि की उत्पत्ति भी चित्रलिपि से ही हुई; इस चित्र-लिपि के साथ धीरे-धीरे ध्वनि संयुक्त होकर, भाव तथा ध्वनि-ज्ञापक एक प्रकार के मिश्र प्रतीक का उद्भव हुआ; और कीलाक्षर लिपि की भांति ही, एक ही प्रतीक-द्वारा एकाधिक ध्वनि के प्रकाश की असुविधा दूर करने के लिए विभिन्न अर्थबोधक चिह्नों का प्रयोग होने लगा। लिपि के पठन के समय ये चिह्न उच्चरित नहीं होते थे।

हेरोग्लिफी लिपि की प्रधान विशेषता है विभिन्न व्यंजन ध्वनियों (Consonantal Sounds) को व्यक्त करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रतीकों का व्यवहार। कुछ प्रतीक निर्दिष्ट एकमात्र व्यंजन को प्रकट करते थे और कुछ दो या तीन व्यंजनों की समष्टि को। एकक ध्वनि व्यक्त करनेवाले २४ प्रतीक और दो प्रकार के व्यंजनों को व्यक्त करनेवाले ७५ विशेष प्रतीक हेरोग्लिफी लिपि में दिखाई पड़ते हैं। नीचे ऐसे प्रतीकों के कुछ नमूने दिखाए गए हैं।



चित्र—२८ : हेरोग्लिफी लिपि के व्यंजन-ध्वनि व्यक्त करनेवाले प्रतीक

(१) एकक व्यंजन-प्रकाशक प्रतीक; (२)द्विविध व्यंजन-प्रकाशक प्रतीक।

व्यंजन ध्वनियों के इस प्रकार के सांकेतिक नमूनों को देखकर अनेक व्यक्तियों ने यह धारणा बना ली कि मिस्रनिवासी ही एक प्रकार से प्राथमिक वर्णमाला के आविष्कारक हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है।* पहली बात तो यह है कि एक ही व्यंजन-ध्वनि एकाधिक प्रतीक की सहायता से व्यक्त हुआ है। दूसरी यह कि अर्थ प्रकट करने के उद्देश्य से इस प्रतीक के अतिरिक्त कुछ अन्य चिह्नों का भी व्यवहार होता था, जिनका उच्चारण से कोई संबंध नहीं था। वर्णमाला के आविष्कार की चर्चा हम अब कर रहे हैं।

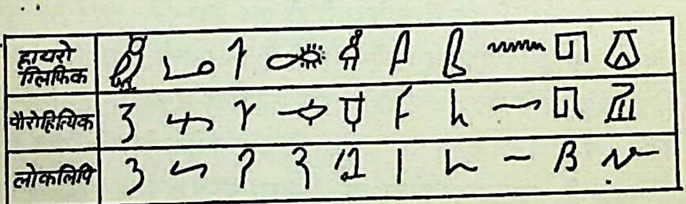
हेरोग्लिफी लिपि साधारणतया दाहिने से बाएँ लिखी जाती थी। बाएँ से दाहिने भी इस लिपि को अनेक बार लिखते देखा जाता है। यह नितांत ही जाति-विशेष की लिपि है। मिस्र में इसका जन्म हुआ, मिस्र की मिट्टी में ही यह पनपी और वहीं इसकी मृत्यु हुई। कीलाक्षर की तरह यह अंतर्जातीय लिपि नहीं हो पाई और एक मात्र मिस्र की भाषा को छोड़कर, अन्य किसी जाति की भाषा का वह वाहन नहीं बन सकी।

हेरेटिक तथा डिमोटिक लिपि : हेरेटिक और डिमोटिक लिपियाँ हेरोग्लिफी के अपभ्रंश हैं। हेरोग्लिफी लिपि का व्यवहार मंदिर

* Diringer, loc. cit., p. 61-63

की दीवारों या राजकीय अथवा धर्म-संबंधी कार्यों तक सीमित होने के कारण इसकी आकारिक शोभा और सुंदरता को बनाए रखना आवश्यक था। इसलिए ये प्रतीक सूक्ष्म रेखाओं की बहुतायत से जटिल हैं। साधारण कामकाज के लिए यह बिल्कुल उपयोगी नहीं था। व्यवसाय, वाणिज्य और लेन-देन के मामलों में शीघ्रता की आवश्यकता होती है, इन क्षेत्रों में लिपि की संरचना जितनी सरल होगी, उनका आदर उतना ही अधिक होगा। इस आवश्यकता की पूर्ति की पहले हेरेटिक और फिर डिमोटिक लिपि ने। हेरेटिक लिपि में भी शुचिता की गंध है; मिस्र का पुरोहित वर्ग ही मुख्यतः इसके प्रति उत्साही था और वही इसका व्यवहार करता था। धर्मसंबंधी विभिन्न अनुशासनों तथा ग्रंथ-रचना के काम में इसका मुख्यतः प्रयोग हुआ है।

इस दृष्टि से डिमोटिक लिपि ही वास्तव में मिस्र की साधारण जनता की लिपि थी। इस लिपि का उद्भव हुआ ईसापूर्व सातवीं या छठी शती में और ईसा के जन्म के बाद पाँचवीं शती तक इसका प्रचलन बना रहा। इसकी लोकप्रियता बढ़ने के साथ, युक्तिसंगत कारणों से ही हेरेटिक (पौरोहित्यिक) लिपि की अस्वाभाविक मृत्यु घटित हुई। यहाँ हेरेटिक (पौरोहित्यिक) तथा डिमोटिक (लोकलिपियों) के कुछ दृष्टांत दिखाए गए हैं।



चित्र—२९ : हेरोग्लिफी, पौरोहित्यिक तथा लोक-लिपियों के कुछ नमूने

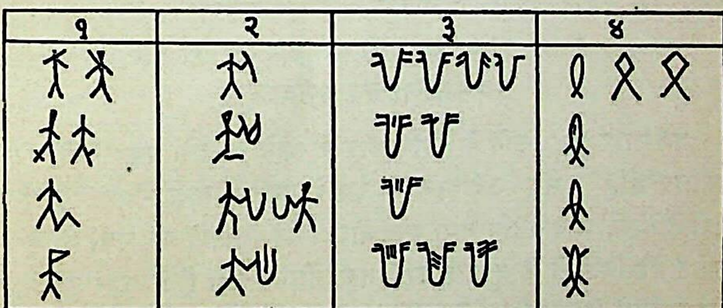
रॉसेटा संगमर्मर फलक :—प्राचीन मिस्र की लिपि के पाठोद्धार में रॉसेटा के प्रख्यात संगमर्मर फलक के आविष्कार की कितनी देन है, यह सर्व-विदित है। सन् १७९९ ई० में नेपोलियन के मिस्र अभियान के समय फ्रेंच कप्तान एम० बूसार ने सैं जूलियां द रॉसेटा किले में इस शिला-खंड का आविष्कार किया। सन् १८०१ ई० में अंग्रेजों ने इस फलक को हथिया लिया और आज यह ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित है।

रॉसेटा फलक की लिपि पंचम टॉलेमी एपिफानेस के सम्मानार्थ ई० पू० १९६-९७ में रचित, पुरोहितों का एक विशेष घोषणापत्र है। यह घोषणापत्र

मिस्री और ग्रीक, इन दो भाषाओं में, तथा हेरोग्लिफी, डिमोटिक और ग्रीक, इन तीन लिपियों में लिखा गया है। ऊपर की १४ पंक्तियाँ हेरोग्लिफी लिपि में, बीच की ३२ पंक्तियां डिमोटिक लिपि में और नीचे की ५४ पंक्तियां ग्रीक भाषा तथा वर्णमाला में लिखी गई हैं। स्वीडेन के जे० डी० आकेरब्लड, फ्रांस के सिलवेस्त्र द साकी और कैंब्रिज के डॉक्टर टॉमस यंग-जैसे प्रख्यात पंडितों तथा लिपिविदों की चेष्टा से रॉसेटा-फलक की लिपि का पाठोद्धार और साथ ही हेरोग्लिफी, हेरेटिक तथा डिमोटिक लिपियों का रहस्योद्‌घाटन हुआ।

सिंधु घाटी की लिपि

सिंधु घाटी की लिपि के बारे में कुछ चर्चा पहले ही की जा चुकी है। यह चित्र-लिपि और आक्षरिक लिपि के बीच की अवस्था है। इस लिपि में प्रायः ३०० विभिन्न प्रतीकों का व्यवहार मिलता है (गैड और स्मिथ के मतानुसार ३९६; लैंगडेन के मतानुसार २८८; हंटर के मतानुसार २५३।)। इतनी अधिक संख्या में प्रतीकों के व्यवहार से लगता है कि यह आक्षरिक लिपि के स्तर तक पहुँच नहीं पाई थी। दूसरी ओर पूर्णतः चित्र-लिपि के लिए यह संख्या अपर्याप्त है। इसलिए अंशतः चित्र-लिपि और अंशतः ध्वनि-लिपि, इस रूप में सिंधु घाटी की लिपि का वर्णन आपत्तिजनक नहीं ठहराया जा सकता।



चित्र –३० : सिंधु घाटी की लिपि का नमूना—मानव और मछली के चिह्न।

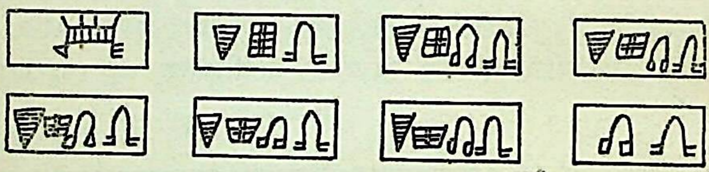
इस लिपि का पाठोद्धार अभी तक संभव नहीं हो सका है। भाव व्यंजक चित्र-लिपि से तुलना के आधार पर इस लिपि के अर्थ निकालने की चेष्टा में मेरिग्गी को सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। लैंग्डेन और हंटर ने ब्राह्मी लिपि से इसका संपर्क प्रदर्शित करने की चेष्टा की। हित्ती-लिपि विशारद बी० रोजनी (B. Hrozny) का यह विश्वास है कि मोहंजोदड़ो की लिपि का

हित्ती-लिपि से किसी-न-किसी प्रकार का संपर्क है। हंटर का विचारपूर्ण अभिमत है कि मोहंजोदड़ो—हड़प्पा-लिपि से ही ब्राह्मी वर्णमाला निकली है। उनका यह भी विश्वास है कि सिंधु घाटी की लिपि ने फोनिसिया तथा साइप्रस द्वीप के प्राचीन निवासियों की साइप्रियाई-लिपि की वर्णमाला पर विशेष प्रभाव डाला था।*

सिंधु घाटी की लिपि अपने आप पैदा हुई या किसी विदेशी लिपि के प्रभाव ने इसे उत्पन्न किया—इस विषय में केवल अनुमान ही संभव है। अब तक जो तथ्य हाथ लगे हैं, उनसे निम्नोक्त अनुमान युक्तिसंगत जान पड़ते हैं।

(१) कीलाक्षर लिपि तथा एलामी और मोहंजोदड़ो की लिपियां एक ऐसी साधारण लिपि से निकली हैं, जो इन तीनों में से प्रत्येक से प्राचीनतर है; अर्थात् इन तीनों लिपियों का एक ही पूर्वज होना आश्चर्य की बात नहीं है।

(२) इन तीनों में ही किसी एक लिपि का सर्व प्रथम स्वतंत्र रूप से आविष्कार हुआ और उसकी देखा-देखी बाकी दोनों लिपियों ने अन्यत्र आत्म-प्रकाश किया।



चित्र—३१ : सिंधु घाटी की लिपि मुहरों पर अंकित

वर्णमाला का आविष्कार

वर्णमालायुक्त लिपि के आविष्कार के पहले कितने प्रकार की लिपियाँ प्रचलित थीं, इसके उदाहरण के रूप में हमने कीलाक्षर-लिपि, हेरोग्लिफी, पौरोहित्यिक, लोक-लिपि तथा मोहंजोदड़ो की लिपियों की चर्चा की है। इस प्रकार की लिपियों के दृष्टांत इन्हीं तक सीमित नहीं हैं। सुदूर पूर्व में, चीन और जापान में, अमेरिका के आदिम निवासियों में और पृथ्वी के अन्य स्थानों में इस प्रकार की लिपियों का उद्भव और विकास होता देखा जाता है। किसी-किसी क्षेत्र में, जैसे जापान में, यह आक्षरिक लेखन (Syllabic Writing) के स्तर तक पहुँच गई थी। परंतु इनमें से कोई भी वर्णमाला-युक्त लिपि के स्तर तक उन्नति नहीं कर पाई थी। इस लिपि का आविष्कार अन्यत्र

* G. R. Hunter, "The Script of Harappa and Mohenjodaro and its connection with other Scripts"; London 934.

मेसोपोटेमिया, मिस्र आदि सभ्यता के प्राचीनतम केंद्रों से बहुत दूर पर हुआ। उसकी कहानी अब बताई जायगी।

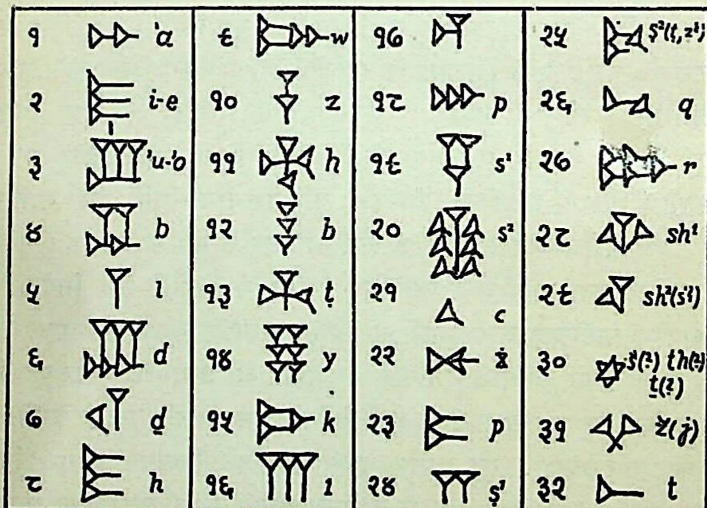
वर्णमाला की उत्पत्ति का हेरोग्लिफी मतवाद : पहले पंडितों की यह धारणा थी कि सभ्यता के अन्यतम प्राचीन केंद्र मिस्र में ही वर्णमाला का उद्भव हुआ था। शापोलिओ, लेनोर्म, ऑलेवी, दरूजे, टेलर, बावर आदि प्रख्यात पुरातात्विकों का यही मत है। हेरोग्लिफी, हेरेटिक अथवा डिमोटक लिपि को वर्णमाला-लिपि का नाम देने में प्रधान आपत्ति यह है कि इनमें व्यंजन-ध्वनि-विशिष्ट बहुविध प्रतीक होते हुए भी एक ही व्यंजन-ध्वनि को प्रकट करने के लिए एकाधिक प्रतीकों का व्यवहार हुआ है। इसके अतिरिक्त, इन प्रतीकों को छोड़कर इस प्रकार के कुछ चिह्नों का प्रयोग किया गया है, जिनके उच्चारण की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरी ओर वर्णमाला का प्रत्येक वर्ण वाग्यंत्र से निःसृत किसी-न-किसी विशुद्ध शब्द को प्रकट करता है।

सिनाई मतवाद : सन् १९०६ ई० में फ्लिंडर्स पेत्री ने सिनाई उपद्वीप में प्राचीन लिपि के कुछ नमूने ढूँढ़ निकाले। इस लिपि का परीक्षण करके डाक्टर ए० गार्डिनर ने दिखाया कि यह हेरोग्लिफी लिपि और सेमेटिक वर्ण-माला-लिपि के बीच की अवस्था है। इस खोज से उन्हें यह विश्वास हुआ कि सिनाई लिपि, सेमेटिक वर्णमाला-लिपि की मार्ग-प्रदर्शिका है और इस तथ्य के अनुसार मिस्र के हेरोग्लिफी लिपि से ही वर्णमाला-लिपि का आविष्कार हुआ। अब भी अनेक लिपिविद् डाक्टर गार्डिनर के मत के समर्थक हैं। दूसरी ओर मॉसिए दूना आदि अन्य लिपिविद् इस मत के विरोधी हैं। सिनाई लिपि के अपर्याप्त पाठोद्धार और इसकी अंतर्निहित असंगति को प्रदर्शित कर, ये लोग कहते हैं कि इसमें वर्णमाला-लिपि के उद्भावन की प्राथमिक चेष्टा का निर्देश होने पर भी यह मत ग्रहण-योग्य नहीं है कि वर्णमाला की उत्पत्ति इससे हुई।

क्रीटीय मतवाद : सर आर्थर इवांस ने अपने विख्यात ग्रंथ 'स्क्रिप्टा मिनोआ' (Scripta Minoa) में वर्णमाला-लिपि के आविष्कार का श्रेय क्रीट की प्राचीन सभ्य जाति को प्रदान किया है। उनका कहना है कि फिलिस्तीनी पहले पहल क्रीट से वर्णमाला-लिपि पैलेस्टाइन ले गए और बाद को फोनि-सियाइयों ने इसे संस्कृत और विकसित किया। ऐतिहासिक कारणों से ही यह मत स्वीकार करने योग्य नहीं है। फिलिस्तीनों ने ई० पू० १२२० में पैलेस्टा-इन के तटवर्ती भाग पर अधिकार जमाया; इससे कई सौ वर्ष पहले ही मध्य-पूर्व के विभिन्न स्थानों में वर्णमाला-लिपि का आविर्भाव देखा जाता है।

लेकिन क्रीटीय वर्णों से, कुछ विषयों में, सेमेटिक वर्णों का आकारिक मेल है; संभवतः सेमेटिक वर्णमाला के आविष्कारक को क्रीटीय अक्षरों की जानकारी थी।

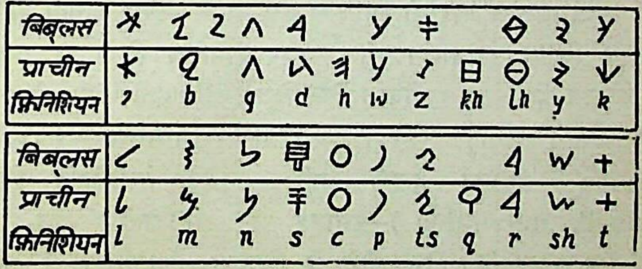
यूगारिट कीलाक्षर वर्णमाला : सन् १९२९ ई० में शेफर, शाने और विरोला ने सीरिया के तटवर्ती रास शामरा (Ras Shamrah) [प्राचीन यूगारिट] में प्राचीन वर्णमाला लिपि के कुछ अति महत्वपूर्ण नमूनों का आविष्कार किया। इस लिपि के अक्षरों के आकार कीलाक्षर लिपि के प्रतीकों की तरह हैं और इनको भी बाएँ से दाहिने लिखा जाता है। इस नितांत बाहरी आकारिक मेल को छोड़कर, यूगारिट लिपि से सुमेरी, बेबीलोनियाई या असीरियाई कीलाक्षर लिपि का और कोई मेल नहीं है। इसमें ३२ वर्णों का व्यवहार होता देखा जाता है। इस लिपि का काल ई० पू० १५ वीं शती में आरंभ होता है और लगभग ई० पू० १३ वीं शती में इसका लोप हो जाता है।



चित्र —३२ : यूगारिट-कीलाक्षर वर्णमाला

कुछ क्षेत्रों में यूगारिट वर्णमाला से उत्तर-सेमेटिक वर्णमाला का थोड़ा-बहुत रूपात्मक मेल है। विशेषज्ञों का यह अभिमत है कि यूगारिट लिपि के प्रवर्तक को उत्तर-सेमेटिक लिपि से वर्णमाला की धारणा प्राप्त हुई, परंतु वर्णों के प्रतीकों के उद्भावन में, उसने कीलाक्षर चिह्नों की सहायता ली। इसमें कोई संदेह नहीं कि दोनों के मिश्रण से यह एक अति-अभिनव आविष्कार बन गया।

बिब्लस के अनुकरण में हेरोग्लिफी लिपि : सीरिया. में बिब्लस नामक एक और स्थान में फ्रेंच पंडित दूना ने सन् १९२९ ई० तथा १९३३ ई० में एक प्रकार की प्राचीन लिपि के कुछ नमूनों की खोज की। यह लिपि बहुत कुछ हेरोग्लिफ़ी लिपि के ढांचे पर गठित है। दूना का खयाल है कि फिनिशियनों ने बिब्लस लिपि के अक्षरों को ही और सरल बनाकर उन्हें अपनी भाषा के लिए उपयोगी कर लिया था। उन्होंने दिखाया है कि खेट (Kheth) और कोफ (Qoph), इन दोनों अक्षरों को छोड़कर अन्यान्य फिनिशियन अक्षर बहुत कुछ बिब्लस लिपि के अक्षरों की तरह हैं। दोनों लिपियाँ दाएँ से बाएँ लिखी जाती थीं। इस प्रकार के कुछ और तथ्यों से वे इस सिद्धांत पर पहुँचे कि बिब्लस और फोनिसियाई लिपियां समसामयिक हैं, इनका काल ई० पू० २००० से ई० पू० १७८० वर्ष है, और वर्णमाला-सृजन के मार्ग में संभवतः यही प्राचीनतम प्रयास है। इस अभिमत की मुख्य निर्बलता यह है कि लिपि की तिथि के विषय में यथेष्ट अनिश्चयता है। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि ईसापूर्व द्वितीय सहस्राब्दी में सीरिया और पैलेस्टाइन के जिन अंचलों में एक प्रकार की वर्णमाला की सहायता से लिपि के आमूल संस्कार का प्रयास चल रहा था, बिब्लस उनमें अन्यतम था।



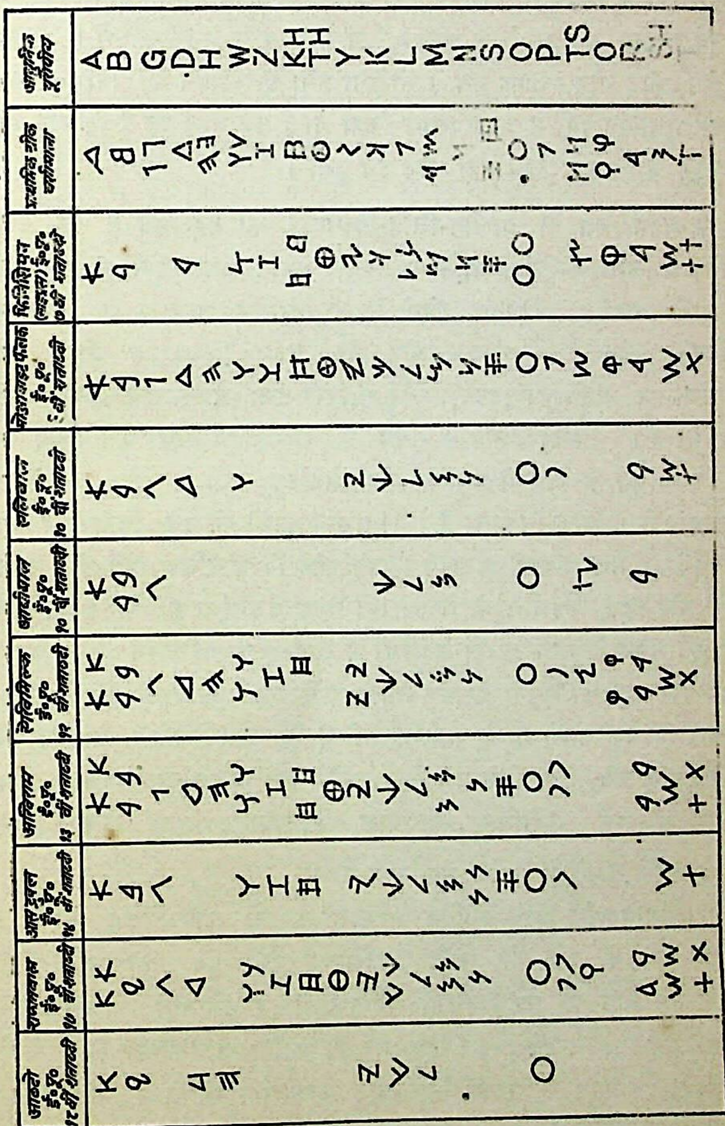
चित्र—३३ : बिब्लस और प्राचीन फ़िनिशियन वर्णमाला के बीच सादृश्य।

कनानी लिपि : हमें यह जानकारी मिली है कि ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दी के प्रथम भाग में वर्णमाला लिपि के सृजन के सिलसिले में पैलेस्टाइन में विशेष चेष्टा हुई थी। पैलेस्टाइन उस समय कांस्य युग में से गुजर रहा था। सन् १९२९ ई० से १९३७ ई० के बीच पुरातात्विक खोजों के परिणामस्वरूप ऐसी ११ लिपियों के नमूनों का आविष्कार हुआ, जिनके विषय में यह अनुमान किया गया है कि ये इस युग के मध्य तथा अंतिम भाग में प्रचलित थीं। कई दृष्टियों से कनानी लिपि का आविष्कार बहुत महत्वपूर्ण है।

डाक्टर गार्डिनर की सिनाई लिपि के विषय में पहले चर्चा की जा चुकी है। उनका तथा उनके समर्थकों का विचार है कि सिनाई लिपि से ही सेमेटिक वर्णमाला की उत्पत्ति हुई। कनानी लिपि का आविष्कार होने पर उन्होंने यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की कि यह लिपि सिनाई तथा सेमेटिक लिपियों के बीच की एक प्रकार का मध्यवर्ती अवस्था है। कनानी अक्षरों के आकारों का सिनाई और सेमेटिक अक्षरों के आकारों से प्रचुर मेल है, परंतु असंगति की भी कमी नहीं है। इसलिए वर्णमाला-लिपि के उद्भावन में यह एक पृथक् और स्वतंत्र चेष्टा हो सकती है। दूना आदि पंडितों का मत है कि यह इसी प्रकार की स्वतंत्र चेष्टा का निदर्शन है।

उत्तर सेमेटिक लिपि : अंत में उत्तर सेमेटिक वर्णमाला की प्रारंभिक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ग्रीक और परवर्ती यूरोपीय वर्णमालाओं का सेमेटिक वर्णमाला से अभिन्न योग है। इस वर्णमाला के कुछ प्राचीनतम नमूने हैं। (१) मोआबाइट शिला (Moabite Stone)—इसका काल है ईसापूर्व नवीं शती का मध्य भाग; (२) साइप्रस में प्राप्त एक पात्र के बाहरी भाग पर खुदी हुई फोनिसियाई लिपि का एक अंश—यह भी संभवतः मोआबाइट शिला का समसामयिक है; और (३) सीरिया के जेंजिर्ली नामक स्थान में प्राप्त प्राचीन आरामी लिपि के कुछ नमूने—ईसापूर्व नवीं या आठवीं शती में ये लिपियाँ प्रचलित थीं। उत्तर सेमेटिक लिपि के कुछ और प्राचीन दृष्टांत हैं : (१) एलीबाल शिलालेख (Eliba'al inscription)—ईसापूर्व दसवीं शती; (२) आबीबाल शिलालेख (Abiba'al inscription)—ईसापूर्व दसवीं शती; (३) येखीमिल्क शिलालेख (Yekhimilk inscription)—ईसापूर्व ११ वीं शती। सन् १९२३ ई० में फ्रेंच पुरातत्वविद् पी० मौने ने ब्रिब्लस (फिनिशिया) में अखिराम लिपि नाम की एक और उत्तर-सेमेटिक लिपि का नमूना खोज निकाला। इसकी तिथि ईसापूर्व १३ वीं शती निर्धारित हुई है। पुरातात्विक मॉरिस दूना ने बिब्लस में, आब्दो (Abdo), शफातबाल (Shafat ba'al) और आसद्रुबाल (Asdrubal) नामों से ज्ञात प्राचीन सेमेटिक लिपि के कुछ और नमूने प्राप्त किए हैं। यदि उनके काल-निर्णय में कोई भूल न हुई हो तो ईसापूर्व १८ वीं शती में आब्दो लिपि, ईसापूर्व १८वीं शती के शेष भाग या ई० पू० १७ वीं शती के प्रथम भाग में शफातबाल लिपि और ई० पू० १४ वीं शती में आसद्रुबाल लिपि का उद्भव हुआ था। प्रथमोक्त दोनों लिपियों की इतनी प्राचीनता के संबंध में मतभेद

अवश्य है। नीचे के चित्र में, विभिन्न कालों में उद्भावित इन उत्तर-सेमेटिक लिपियों की वर्णमालाओं के आकार, सारणी के रूप में दिखाए गए हैं।



चित्र—३४ : उत्तर सेमेटिक वर्णमाला का विकास

वर्णमाला-आविष्कार का काल और स्थान

वर्णमाला के आविष्कार संबंधी विभिन्न मतवादों और कुछ प्राचीनतम वर्णमालाओं के विषय में संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी है। हम यह देखते हैं कि ईसापूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के प्रथमार्द्ध में मध्यपूर्व के अनेक स्थानों में, सिनाई प्रायद्वीप, क्रीट और व्यापक रूप से सीरिया तथा पैलेस्टाइन में, विभिन्न रूपों की वर्णमाला-लिपियों ने आत्मप्रकाश किया था। अब प्रश्न यह है कि यह अति महत्वपूर्ण आविष्कार ठीक कहाँ और कब हुआ।

साधारण रूप से प्राचीन-लिपि-विशारदों का यह मत है कि उत्तर सेमेटिक वर्णमाला के ठीक पहले का रूप, अर्थात् आद्य-सेमेटिक वर्णमाला ही प्राचीनतम है; हिक्सस लोगों के राजनीतिक प्राधान्य के काल में, अनुमानतः ई० पू० १७३० और ई० पू० १५८० के बीच, इस वर्णमाला का आविष्कार हुआ, और सीरिया तथा पैलेस्टाइन इसकी आदि जन्मभूमि है। 'आब्दो' लिपि के समय से 'मोआवाइट शिला' की लिपि तक प्रायः ९०० वर्ष के काल में प्रचलित उत्तर-सेमेटिक लिपि के अनेक नमूनों को पुरातत्वविदों ने खोज निकाला है। विभिन्न कालों की इन लिपियों में एक आश्चर्यजनक मेल दिखाई पड़ता है। यहाँ तक कि प्राथमिक काल की फिनिशियन और हिब्रू वर्णमालाओं से उत्तर-सेमेटिक वर्णमाला का विभेद सामान्य मात्र है। समय के साथ अक्षरों के रूपों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य हुआ। लेकिन परिवर्तन का नमूना देखकर लगता है कि यह बहुत धीमी गति से हुआ। इस कारण अनेक लोगों में यह धारणा बनी है कि उत्तर-सेमेटिक वर्णमाला के ठीक पहले के रूप, जिसे विशेषज्ञों ने आद्य-सेमेटिक वर्णमाला का नाम दिया है, और अखिराम, येखीमिल्क, लिएबाल, मोआबाइट आदि विशुद्ध उत्तर-सेमेटिक वर्णमालाओं में विशेष भेद नहीं था।

पुरातत्वविद्गण उत्तर-सेमेटिक वर्णमाला का जो काल-निर्देश करते हैं (आब्दो-ईसापूर्व १८ वीं शती, अखिराम ई० पू० १३ वीं शती आदि), वह मोटे तौर पर हिक्ससों की राजनीतिक प्रधानता का काल है। (ई० पू० सन् १७३०-१५८०)। हिक्ससों का आविर्भाव, विभिन्न दिशाओं में निकट तथा मध्यपूर्व के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में, एक महान क्रांति और परिवर्तन की सूचना देता है। हिक्सस आंदोलन से इन अंचलों में जिस नए उत्साह, उत्तेजना और परिवेश की सृष्टि हुई, वह वर्णमाला के उद्भावन में विशेष सहायक हुई।

वर्णमाला की आदि जन्मभूमि के तौर पर सीरिया और पैलेस्टाइन का दावा विभिन्न कारणों से समर्थन-योग्य है। इन दो देशों में पुरातात्त्विक खनन कार्य से प्राचीन उत्तर-सेमेटिक लिपि के अनेक नमूने मिले हैं। ईसापूर्व द्वितीय सहस्राब्दी में इन दोनों देशों में वाणिज्य-व्यवसाय तथा संस्कृति के क्षेत्रों में विशेष उन्नति हुई थी। अनेक शतियों तक यह अंचल, प्राचीन काल के दो सभ्य देशों, मिस्र और मेसोपोटामिया, के बीच सेतुस्वरूप था। इन दोनों सभ्यताओं में सांस्कृतिक आदान-प्रदान मुख्यतः सीरिया और पैलेस्टाइन के मार्ग से ही हुआ था। पश्चिम में क्रीट और साइप्रस की कांस्ययुग की उन्नत मिनोयाई सभ्यता ने भी इस अंचल को कम प्रभावित नहीं किया। व्यवसाय, वाणिज्य और जटिलतर समाज-व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु जिस समय लिपि में शीघ्र परिवर्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही थी, और जिस समय कीलाक्षर लिपि, हेरोग्लिफी आदि प्राचीन लिपियों की असुविधा का व्यापक रूप से अनुभव किया जा रहा था, उस समय अधिक उन्नत लिपिपद्धति के आविष्कार को संभव बनाने के लिए जिस प्रकार अनुकूल अवस्था की जरूरत थी, वह सीरिया और पैलेस्टाइन में पूर्णतः विद्यमान थी।

वर्णमाला का जन्म सीरिया और पैलेस्टाइन की मिट्टी में होने पर भी, पास-पड़ोस के विभिन्न अंचलों की अभिज्ञता और चेष्टा ने इस महत्वपूर्ण आविष्कार को अनेक प्रकारों से प्रेरित और प्रभावित किया, इसमें संदेह नहीं। कम-से-कम मिस्री, कीलाक्षर और क्रीटीय लिपियों का प्रभाव तो इस आविष्कार पर अवश्य ही पड़ा। सेमेटिक वर्णमाला और इन प्राचीनतर लिपियों के बीच अनेक संकेतों के, यहाँ तक कि ध्वनिगत मेल की व्याख्या इसी प्रकार से करना सरल और युक्तिसंगत है।

उत्तर-सेमेटिक वर्णमाला के बाईसों वर्ण, व्यंजनवर्ण मात्र हैं। इनमें स्वर वर्ण एक भी नहीं है। वर्णमाला में स्वर वर्ण की योजना पहले-पहल ग्रीकों ने की। सेमेटिक वर्णमाला में स्वर वर्णों के न होने की व्याख्या संतोषजनक रूप से नहीं की गई है। कुछ विशेषज्ञों का खयाल है कि सेमेटिक जातियाँ जानबूझकर स्वर वर्णों के प्रतीकों के व्यवहार से विरत रही थीं। संभवतः उनकी इच्छा यही थी कि देश तथा काल-भेद का विचार कर और भाषा तथा उच्चारण की पृथकता का विवेचन कर, विभिन्न अंचलों के लोग, अपनी सुविधा के अनुसार स्वर वर्ण लगा लेंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तात्कालिक दृष्टि से स्वर वर्ण का अनस्तित्व एक गंभीर त्रुटि जान

पड़ने पर भी यही सेमेटिक वर्णमाला के व्यापक प्रचलन का कारण भी था। सेमेटिक वर्णमाला में केवल व्यंजन ध्वनि के प्रतीक होने के कारण, विभिन्न भाषा-भाषी जातियों के लिए उसे अपनाना सहज हो गया था।

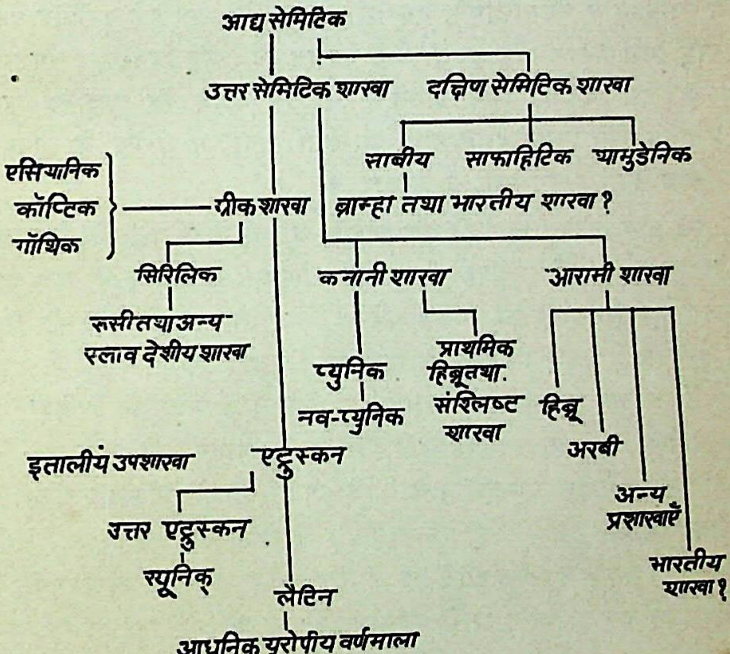
उत्तर-सेमेटिक वर्णमाला के वर्णों के नाम आधुनिक हिब्रू वर्णमाला में आज भी संरक्षित हैं। २२ हिब्रू वर्णों के नाम इस प्रकार हैं—आलेफ ('aleph), वेथ (beth), गिमेल (gimel), डालेथ (daleth), हे (he), वाव (waw), जैन (zayin), खेथ् (kheth), तेथ् (teth), योड (yod), लामेड् (lamed), काफ (kaph) मेम् (mem), नून (nun), सामेख (samckh), ऐन ('ayin), पे (pe), सादे (sade), कोफ (qoph), रेश (resh), शिन् (shin), टाव (taw)। आलफा (alpha), बीटा (beta), गामा (gamma), डेल्टा (deltha) आदि ग्रीक वर्णों के नाम हिब्रू नामों से ही लिए गए हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि हिब्रू नाम अधिकांशतः किसी-न-किसी व्यंजन वर्ण पर समाप्त होते हैं और ग्रीक नाम स्वर वर्ण पर। पुनः, हिब्रू भाषा में ये नाम किसी-न-किसी वस्तु, मानव देह के किसी-न-किसी अंग या पशु के नाम भी हैं। उदाहरणार्थ, वेथ-गृह, डालेथ-द्वार, योड-हाथ, ऐन-आंख, पे-मुख, अलेफ-बैल, कोफ-बंदर इत्यादि।

संक्षेप में वर्णमाला का यही आदि इतिहास है। वर्णमाला आविष्कार के देश-काल-संबंधी ब्योरों के बारे में पंडितों में मतांतर होने पर भी, साधारण रूप से यह सिद्धांत असंगत या युक्ति-विरुद्ध नहीं जान पड़ता कि ईसा-पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के प्रथम भाग में उत्तर-पश्चिमी सेमेटिक जातियों-द्वारा यह युगांतकारी आविष्कार घटित हुआ। इस सहस्राब्दी के शेषार्ध में वर्णमाला की पूर्ण परिणति और विकास हुआ। हम देख चुके हैं कि पृथ्वी के विभिन्न स्थानों और जातियों में, विभिन्न प्रकार की लिपियों ने परस्पर प्रभाववश या पूर्णतः स्वतंत्र रूप से, आत्म प्रकाश किया था। इनमें से कुछ लिपियाँ प्राथमिक अवस्था को पार करने के पहले ही लुप्त हो गईं; साथ ही कई लिपियाँ उन्नत स्तर तक पहुँचीं। स्वतंत्र रूप से और एक ही समय या विभिन्न समयों में एकाधिक जातियों ने आक्षरिक लिपि का आविष्कार और व्यवहार किया, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन वर्णमाला का आविष्कार केवल एक ही बार हुआ। मोंसिए दूना की भाषा में, "Cest la uneinvention qu'on nepent faire deux fois," अर्थात्, यह एक ऐसा आविष्कार है, जो एक बार ही घटित हो सकता है, दुबारा नहीं।

सेमेटिक जाति-द्वारा वर्णमाला के आविष्कार के मूल कारक हैं भौगोलिक अवस्थान, संस्कृति और विशिष्ट प्रकार की राजनीतिक तथा आर्थिक अवस्था। सेमेटिक जातियों की एक और विशेषता यह है कि उनकी भाषा व्यंजन-ध्वनि-प्रधान है। विशेषज्ञों का यह अभिमत है कि वर्णमाला के आविष्कार में सेमेटिक भाषा की इस विशेषता की देन कम नहीं है।

वर्णमाला की विभिन्न शाखाएँ

आद्य सेमेटिक वर्णमाला से, समय के साथ, विभिन्न वर्णमालाओं की उत्पत्ति हुई। ईसापूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के शेष भाग में कांस्य युग के अवसान के साथ मिस्री, वेवीलोनी, असीरियाई, हित्ती, क्रीटीय आदि प्राचीन सभ्य जातियों की प्रधानता तिरोहित हो गई। इस समय विश्व के राजनीतिक और



चित्र—३५ : वर्णमाला की विभिन्न शाखाएँ

सांस्कृतिक इतिहास में जिस नए अध्याय की सूचना मिलती है, उसका गुरुत्व-केंद्र था सीरिया और पैलेस्टाइन। इस नए नाटक की मुख्य नायिकाएँ थीं, तीन जातियाँ—इजराइल, फिनिशिया और आराम। दक्षिण में साबीय तथा कई अरब जातियों को व्यवसाय-वाणिज्य में प्रतिष्ठा लाभ करते देखा जाता है। पश्चिम में समुद्र के उस पार, हेलास में एक नई जाति संगठित

हो रही थी और प्राधान्य प्राप्त करने के मार्ग पर अग्रसर हो रही थी। इन विभिन्न जातियों के उत्थान से आद्य-सेमेटिक वर्णमाला की प्रगति कई प्रधान शाखाओं में विभाजित हो गई। इसकी मूल शाखा, उत्तर-सेमेटिक वर्णमाला, ने उत्तर में क्रमानुसार आरामी, कनानी और ग्रीक वर्णमालाओं का सृजन किया।

दक्षिण में इसकी एक और प्रधान शाखा दक्षिण सेमेटिक वर्णमाला से साबीय, साफाहिटिक, थामडेनिक आदि कई वर्णमालाओं की उत्पत्ति हुई। आरामी शाखा से हिब्रू, अरबी, भारतीय तथा अन्य प्रशाखाएँ निकलीं। प्राथमिक हिब्रू, फिनिशियन, प्युनिक् आदि सेमेटिक वर्णमालाओं का विकास, कनानी शाखा से हुआ। एसियानिक, कॉप्टिक, गॉथिक, सिरिलिक (रूसी तथा अन्य स्लावदेशीय वर्णमालाएँ), एरुस्कन, लैटिन तथा आधुनिक यूरोपीय वर्ण-मालाएँ किस प्रकार ग्रीक वर्णमाला से उद्भूत हुईं, यह चित्र-द्वारा समझाया गया है। इस चित्र पर दृष्टि डालने से पता लग जायगा कि आधुनिक काल में प्रचलित सभी प्रधान वर्णमालाएँ, देश-काल तथा भाषा-भेद के अनुसार मूल आद्य-सेमेटिक वर्णमाला के रूपांतर हैं।

भारतीय लिपि : खरोष्ठी और ब्राह्मी—अंत में भारतीय लिपि, विशेषकर खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियों के आदि इतिहास के संबंध में कुछ बातें कहकर हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। सिंधु सभ्यता की लिपि की चर्चा हम कर चुके हैं। यह वर्णमाला से, यहाँ तक कि आक्षरिक लिपि से भी बहुत पहले की अवस्था है। इस देश में आर्यों के आगमन के बाद जिन लिपियों का प्रचलन देखा जाता है, उनमें खरोष्ठी और ब्राह्मी अन्यतम तथा प्राचीनतम हैं। वर्तमान समय में इस उपमहाद्वीप के विभिन्न प्रदेशों में जो लिपियाँ प्रचलित हैं, वे मुख्यतः ब्राह्मी लिपि से ही निकली हैं। खरोष्ठी और ब्राह्मी के आदि इतिहास के संबंध में अनेक खोजें हुई हैं और परस्पर विरोधी अनेक मतों के प्रस्ताव किए गए हैं, परंतु किसी सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचना संभव नहीं हो सका है।

भारतीय लिपि की प्राचीनता—पहले हम भारतीय लिपि की प्राचीनता पर विचार करें। वेद हिंदुओं का प्राचीनतम ग्रंथ हैं। संपूर्ण वैदिक साहित्य में लिपि का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। लेकिन उल्लेख नहीं होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि लिपि थी ही नहीं। अध्यापक डेविड्स के मतानुसार लिपि का उल्लेख न होना ही उसके अस्तित्व का एक

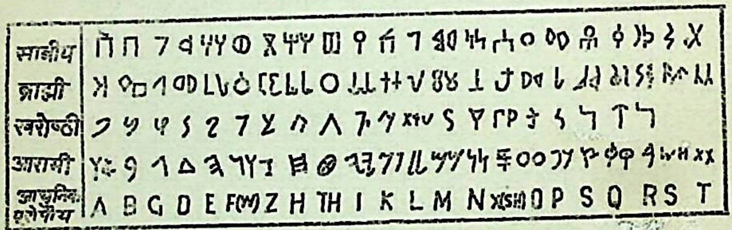
बड़ा प्रमाण है। जो भी हो, लिपि का प्रथम उल्लेख हमें बौद्ध साहित्य में मिलता है। ईसापूर्व पाँचवीं शती के एक बौद्ध ग्रंथ में 'अक्षरिका' नाम की एक क्रीड़ा का उल्लेख किया गया है। वर्णमाला की सहायता से विभिन्न शब्दों की रचना इस क्रीड़ा का उद्देश्य था। बौद्ध जातकों में 'लेख' और 'लेखक' शब्दों का अनेक स्थानों में व्यवहार किया गया है। लेखक सम्मानित व्यक्ति होते थे, इस प्रकार के मत भी प्रकट किए गए हैं। 'ललित-विस्तर' में यह बात कही गई है कि बुद्ध ने किशोरावस्था में लिपि का अभ्यास किया था। इसके अलावा गोरखपुर जिले में प्राप्त सोगौरा ताम्रलिपि के या सौगर जिले में प्राप्त मुद्रा पर अंकित ब्राह्मी लिपि के जो प्राचीनतम नमूने मिले हैं, उनका काल ईसापूर्व चौथी शती है।

इन तथ्यों से अब प्रमाणित हुआ है कि ईसापूर्व पांचवी, संभवतः छठी शती में ही इस देश में वर्णमाला लिपि का व्यापक प्रचलन था। इसके कम-से-कम २—३ सौ वर्ष पहले इस लिपि का व्यवहार आरंभ हुआ, यह निःसंशय है। राजनीतिक तथा आर्थिक कारणों से भी ईसापूर्व नवीं से लेकर छठी शती तक का काल, भारत में वर्णमाला-लिपि के प्रचलन के लिए, विशेष अनुकूल समय था। इस काल में इस देश में व्यवसाय-वाणिज्य की विशेष उन्नति हुई थी, विभिन्न देशों से भारत का व्यापारिक संपर्क हुआ था। राजा बिंबिसार के नेतृत्व में मगध की राजशक्ति ने इस समय उत्तर भारत के एक बहुत बड़े अंश में राजनीतिक एकता और व्यवस्था की स्थापना की थी। धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भी भारत के प्राचीन इतिहास में यह एक क्रांतिकारी युग था। ऐसी अनुकूल अवस्था में भारत में वर्णमाला-लिपि के चालू होने का अनुमान, अनेक कारणों से युक्तिसंगत है।

खरोष्ठी : हमने कहा है कि खरोष्ठी और ब्राह्मी, भारतीय वर्णमाला के प्राचीनतम निदर्शन हैं। इन दोनों में खरोष्ठी के आदि इतिहास के उद्धार करने का काम बहुत कुछ सहज रहा है। ईसापूर्व १७५ वर्ष से लेकर पहली ईस्वी शती तक इंडो-ग्रीक तथा इंडो-साइदियाई मुद्राओं पर अंकित खरोष्ठी लिपि के अनेक नमूनों का पता चला। अशोक के अनुशासन का एक खरोष्ठी अनुवाद, सन् १८३६ ई० में, भारत-अफगानिस्तान सीमा पर अवस्थित शाहबाजगारही नामक स्थान में आविष्कृत हुआ। इस अनुवाद-लिपि का काल ईसा पूर्व २५१ वर्ष है। सर ऑरेल स्टाइन ने नीआ, लौलान, पूर्वी तुर्किस्तान आदि स्थानों में खरोष्ठी लिपि के अनेक नमूने आविष्कृत

किए। इस वर्णमाला में रचित कई बौद्ध ग्रंथ भी उनके संग्रह में शामिल हैं। ईस्वी पांचवीं शती के बाद, इस लिपि का व्यवहार कदाचित् ही देखा जाता है। संभवतः लगभग इसी समय से इस लिपि का प्रचलन इस देश में नहीं रहा था। यह लिपि दाहिने से बाएँ लिखी जाती थी। व्यतिरेक के रूप में कुछ नमूने ऐसे भी हैं, जिनमें यह लिपि बाए से दाहिने लिखी गई है।

साधारणतः अब इसी मत को स्वीकृति मिली है कि खरोष्ठी की उत्पत्ति आरामी वर्णमाला से हुई थी। आरामी वर्णमाला से खरोष्ठी वर्णमाला का बाहरी तथा ध्वनिगत बहुत मेल है। साथ ही प्राचीन काल में आरामी भाषी सेमेटिक जातियों से भारतीयों का वाणिज्य-संपर्क था। संभवतः फारस के रास्ते, उत्तर पश्चिम भारत पर आरामी भाषा का प्रथम प्रभाव पड़ा।



चित्र—३६ : साबीय, ब्राह्मी, खरोष्ठी और आरामी वर्णमालाओं के नमूने

ब्राह्मी : ब्राह्मी वर्णमाला ही विभिन्न भारतीय वर्णमालाओं का पूर्व रूप है। इस वर्णमाला के आविष्कार का इतिहास अभी तक एक रहस्य है। लिपि-विशारद इस आविष्कार के विषय में दो दलों में बंटे हुए हैं। एक दल का विचार है कि ब्राह्मी वर्णमाला का आविष्कार भारत में स्वतंत्र रूप से हुआ था; किसी विदेशी वर्णमाला के प्रभाव से इसकी उत्पत्ति नहीं हुई। मोहंजोदड़ो-हड़प्पा की लिपि आविष्कृत होने पर इस दल ने सिंधु सभ्यता और ब्राह्मी लिपियों के बीच घनिष्ठ संपर्क स्थापित करने की चेष्टा की।

दूसरे दल की धारणा है कि ब्राह्मी लिपि के विकास पर विदेशों का प्रभाव पड़ा है। ठीक किस विदेशी वर्णमाला ने कहाँ तक इसके आविष्कार को प्रभावित किया, इस विषय में अवश्य ही बहुत मतभेद है।

जेम्स प्रिंसेप*, राऊल द रोशेत्, ओट्फ्रिड मुलेर, एमिल सेनार्ट आदि पंडितों का मत है कि ब्राह्मी वर्णमाला, ग्रीक वर्णमाला से निकली है। जोसेफ आलेब्री, विल्सन आदि पंडितों ने भी हेलेनी प्रभाव का उल्लेख किया है। परंतु ऐतिहासिक कारण से ही यह मत स्वीकार करने योग्य नहीं। भारत में ग्रीक संस्कृति के प्रभाव का अनुभव होने के कई सौ वर्ष पहले ही ब्राह्मी वर्णमाला प्रकाश में आ चुकी थी।

वर्त्तमान समय में अधिकांश लिपिविदों तथा पंडितों की धारणा है कि अन्य प्राचीन वर्णमालाओं की तरह ब्राह्मी वर्णमाला भी सेमेटिक वर्णमाला से निकली है। बेनफी, वेबर, बूलेर, येसन आदि पंडितों की एक समय यह धारणा थी कि ब्राह्मी वर्णमाला फिनिशियन वर्णमाला से प्रभावित हुई थी। लेकिन प्राचीन काल में फिनिशिया और भारत के बीच ऐसा घनिष्ठ संपर्क नहीं था, जो इस प्रभाव को समर्थन-योग्य बनाता हो। दूसरी ओर दक्षिण-सेमेटिक या आरामी वर्णमाला से ब्राह्मी लिपि के उद्‌भव की संभावना बहुत प्रबल है। प्राध्यापक डिक, कैनन् टेलर, प्राध्यापक सेठी आदि विशेषज्ञों का अनुमान है कि ब्राह्मी वर्णमाला की उत्पत्ति दक्षिण सेमेटिक वर्णमाला से हुई और संभवतः उनके अभिमत को ध्यान में रखकर ही एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका

* जेम्स प्रिंसेप (१७९९-१८४० ई०) ने ब्राह्मी लिपि के पाठोद्धार में पूरी सफलता प्राप्त की थी; खरोष्ठी लिपि के पाठोद्धार में भी वे अंशतः सफल रहे। हेरोग्लिफी लिपि का मर्मोद्धार जिस प्रकार मिस्री पुरातत्व के लिए शापोलिओं की महत्वपूर्ण देन है, उसी प्रकार ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियों का रहस्योद्‌घाटन भारतीय पुरातत्व को प्रिंसेप की महत्त्वपूर्ण देन है। सन् १८१९ ई० में, २० वर्ष की आयु में, वे कलकत्ते की टकसाल में सहायक विश्लेषणकारी (एसे-मास्टर) के पद पर नियुक्त होकर भारत आए। टकसाल के एसे-मास्टर उस समय डाक्टर विल्सन थे। सन् १८३३ ई० में विल्सन आक्सफर्ड में संस्कृत साहित्य के अध्यापक बनाए गए और उनके पद पर प्रिंसेप की नियुक्ति हुई। इसके कुछ पहले ही वे एशियाटिक सोसाइटी के मंत्री (१८३२-३८) चुन लिए गए थे। विल्सन के संपर्क में आने पर उन्हें भारतीय इतिहास, पुरातत्व और संस्कृति के प्रति गहरा अनुराग उत्पन्न हुआ। एशियाटिक सोसाइटी के मंत्री के रूप में उन्हें प्राचीन भारतीय लिपि, मुद्रा आदि के संबंध में गवेषणा करने का सुवर्ण सुयोग प्राप्त हुआ। गुजरात में देहली-सम्राट फिरोजशाह तुगलक के राज भवन तथा साँची स्तूप पर प्राप्त अशोक की कुछ शिलालिपियों ने उन्हें आकृष्ट किया और इस लिपि के मर्मोद्धार की चेष्टा में ही उन्होंने ब्राह्मी लिपि के रहस्य का उद्‌घाटन किया। सन् १८३८ ई० में पेशावर में शाहबाजगारही, मंशेरा आदि स्थानों में प्राप्त कुछ शिलालिपियों के संबंध में गवेषणा करते समय खरोष्ठी लिपि के मर्मोद्धार में उन्हें आंशिक सफलता मिली।

(Encyclopaedia Britannica) ने लिखा है—"इसका मूल अज्ञात है; लेकिन यह प्राय: निस्संदेह है कि यह दक्षिण सेमेटिक वर्णमाला से, सावाती (Sabataean) व्यापारियों के संपर्क के माध्यम से निकली।" (प्रथम खंड, १९४७, पृष्ठ ६८३)।

डेविड डिरिंगर को इस वात में अधिक विश्वास है कि ब्राह्मी वर्णमाला की उत्पत्ति आरामी वर्णमाला से हुई। उन्होंने यह दिखाया है कि वाणिज्यिक तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान की दृष्टि से विचार करने पर यह मानना पड़ता है कि आरामी वर्णमाला को ब्राह्मी वर्णमाला पर विशेष रूप से प्रभाव डालने का अवसर मिला था। उनका सिद्धांत है कि "जितने ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक प्रमाण प्राप्त हुए हैं, उनमें सबसे अच्छा मेल उस सिद्धांत से बैठता है, जिसका विचार है कि प्रारंभिक आरामी अक्षर ब्राह्मी लिपि के आद्य रूप थे। ब्राह्मी प्रतीकों और फिनिशियन अक्षरों का स्वीकृत सादृश्य प्रारंभिक आरामी अक्षरों के क्षेत्र में भी लागू है, जबकि मेरे विचार में इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता कि सभी सेमाइटों में आरामी व्यापारी सर्वप्रथम थे, जो भारतीय आर्य व्यापारियों के सीधे संपर्क में आए"।*

आरामी या अन्य किसी सेमेटिक वर्णमाला के साथ ब्राह्मी वर्णमाला के सबंध का इतिहास सही होने पर भी, इस विषय में कोई संदेह नहीं कि इसके उद्भावन में आर्यों की निजी प्रतिभा की भी प्रचुर देन थी। इस वर्णमाला का आविष्कार इस प्रकार किया गया था कि यह संस्कृत भाषा को प्रकाशित करने के लिए उपयोगी हो। भाषा विज्ञान तथा ध्वनि तत्व की दृष्टि से इस प्रकार की त्रुटिरहित, सर्वांगसुंदर वर्णमाला के दृष्टांत बहुत कम हैं।

बेबीलोन, मिस्र, भारत, महाचीन आदि, सभ्यता के प्राचीनतम केंद्रों में, विज्ञान का प्रथम विकास : गणित का आदि इतिहास

गणित और ज्योतिष के आविष्कार का कृषि-निर्भर सभ्यता तथा अर्थ-नीति से घनिष्ठ संबंध है। कृषि-निर्भर अर्थ-नीति में ऋतु-परिवर्तन तथा उसके काल-निर्णय की अर्थात् एक प्रकार के प्राथमिक पंचांग की, विशेष आवश्यकता है। गणना पद्धति यथेष्ट उन्नत न होने पर ऋतु-परिवर्तन आदि प्राकृतिक घटनाओं का हिसाब रखना असंभव है। कृषि के संबंध में संपूर्ण अनभिज्ञ आदिम जातियों में ऋतु-परिवर्तन का अत्यल्प ज्ञान ही देखा

* Diringer, loc. cit, p. 336 (अंग्रेजी से अनूदित)

जाता है। हमें यह जानकारी प्राप्त है कि सुमेर प्रदेश के प्राचीनतम कृषि-जीवी-निवासी, ईसा के जन्म के लगभग ५ हजार ७ सौ वर्ष पहले से, वर्षारंभ का हिसाब महाविषुव (Vernal equinox) से लगाते थे।* इसके कोई एक हजार वर्ष बाद (ई० पू० ४०००) सुमेरियों ने वर्ष के प्रथम महीने को 'वृष' नाम देना शुरू किया। महाविषुव के अवसर पर सूर्य का अवस्थान वृष-तारा-मंडल में होता है। प्राथमिक अंकगणित का विचक्षण ज्ञान न होने पर इस प्रकार का निभू ल ज्योतिषीय अवलोकन संभव नहीं।

आदिम वास्तुकला भी गणित की प्रगति में विशेष सहायक बनी थी। गृह, नगर तथा सिंचाई संबंधी निर्माण-कला में प्राचीन बेबीलोनियों, मिस्रियों तथा भारतीयों के अद्‌भुत निपुणता-प्रदर्शन के बहुविध प्रमाण आज भी मौजूद हैं। इन निर्माण-कार्यों की सफलता को, अंकगणित तथा ज्यामिति के ज्ञान को उन्नत करने का विशेष श्रेय प्राप्त है।

गणित की प्रगति का एक और कारण है वाणिज्य और व्यवसाय का प्रसार। एक दूसरे से सैकड़ों, हजारों मील की दूरी पर अवस्थित सुमेर, एलाम, मोहंजोदड़ो, हड़प्पा आदि जनपदों के बीच वाणिज्य-संपर्क का होना, जिसके अनेक पुरातात्विक प्रमाण मिले हैं, निःस्संदेह गणित और विशेष रूप से अंकगणित के नाना मौलिक आविष्कारों के लिए अनुकूल हुआ था।

बेबीलोन

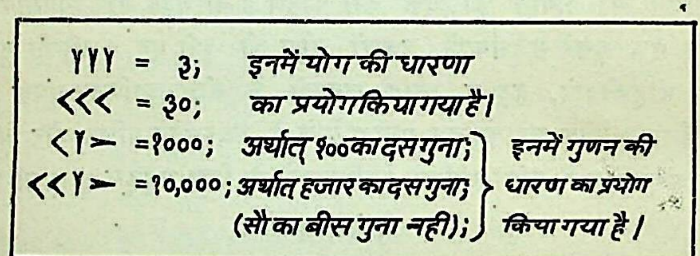
बेबीलोन-निवासी नरम मिट्टी के चक्के, बेलन या प्रिज्म पर किसी लकड़ी के नुकीले अग्रभाग-द्वारा कीलाक्षर लिपि की सहायता से अपने हिसाब-किताब, गणितीय पद्धति आदि लिखा करते थे। बाद को उन चक्कों, बेलनों या पार्श्वों को जलाकर लिपि को स्थायी बना लेते थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कीलाक्षर-अंकित ये चक्के ही उन दिनों के मूल्यवान बेबीलोनी ग्रंथ थे। असुर बनीपाल (मृत्यु ई० पू० ६२६ वर्ष) के ग्रंथागार में कीलाक्षर लिपिवाले २२ हजार चक्के मिले हैं। इस समय ये ब्रिटिश संग्रहालय में संरक्षित हैं। निप्पुर मंदिर के ग्रंथागार में ई० पू० ३००० और ई० पू० ४५० वर्ष के बीच लिखित कीलाक्षर लिपिवाले प्रायः ५० हजार चक्कों का आविष्कार किया गया है।† गणित संबंधी बेबीलोनी लिपि का अस्तित्वकाल

* E. T. Bell— "The Development of Mathematics"; 1940, p. 25

† Benjamin Farrington, "Science in Antiquity," 1936, p. 22.

प्रायः २००० वर्ष है—अनुमानतः प्रथम बेबीलोनी राजवंश के शासन काल (ई० पू० २१८६-१९६१) से ईसाई संवत के प्रारंभ तक। इस अवधि में ई० पू० २००० से ई० पू० १२०० वर्ष तक, आठ सौ वर्ष का काल गणित संबंधी तत्परता के लिए प्रख्यात है—गणित विषयक अधिकांश मृण्मय लिपि की रचना इसी समय में हुई थी।

कीलाक्षर लिपि की सहायता से संख्याओं का अंक-विन्यास ध्यान देने योग्य है। एक, दस और सौ क्रमशः Y, < तथा Y>— इन चिह्नों-द्वारा लिखे जाते थे। इस प्रकार के अंक-विन्यास-द्वारा हजार, दस हजार आदि बड़ी-बड़ी संख्याओं को प्रकट करना भी कुछ कठिन नहीं था। योग तथा गुणन की धारणा के प्रयोग-द्वारा उपर्युक्त प्रतीकों की सहायता से कोई भी बड़ी संख्या लिखी जाती थी।



चित्र—३७ : कीलाक्षर अंक पद्धति।

षाष्ठिक पद्धति : यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि उपर्युक्त अंक-लेखन दशमलव पद्धति पर आधारित है। हो सकता है कि हाथ या पैर की दस उंगलियों से दशमलव पद्धति की उत्पत्ति हुई हो। परंतु दशमलव पद्धति सुविधा की दृष्टि से आदर्शस्थानीय नहीं है। बहुतों ने यह टिप्पणी तक की है कि मनुष्य के हाथ-पैर में दस के बदले बारह उंगलियाँ होतीं तो अंक-गणित और सहज हो जाता। द्वादशिक पद्धति (Duodecimal System) की मुख्य सुविधा यह है कि १२ क्रमानुसार २, ३, ४ और ६ द्वारा विभाज्य है; १० केवल दो संख्याओं द्वारा विभाज्य है—२ और ५। तथापि द्वादशिक पद्धति भी सब दृष्टियों से पूर्णतः संतोषजनक नहीं है, क्योंकि ५ द्वारा यह विभाज्य नहीं है। संभवतः इन कारणों का विवेचन करके ही बेबीलोनियों ने दशमलव और द्वादशिक दोनों पद्धतियों की सुविधाओं को कायम रखकर षाष्ठिक पद्धति का आविष्कार किया। दशमलव प्रणाली की बुनियादी संख्या

जिस प्रकार १० और द्वादशिक की १२ है, उसी प्रकार षाष्ठिक अंक-विन्यास प्रणाली की बुनियादी संख्या ६० है। इस संख्या को कम-से-कम ९ अन्य संख्याओं द्वारा पूर्णतः विभाजित किया जा सकता है—२, ३, ४, ५, ६, १०, १२, १५ तथा ३०। अनुमानतः ई० पू० २००० वर्ष से वेबीलोनियों को षाष्ठिक पद्धति का व्यवहार करते देखा जाता है। घंटा अथवा कोण को डिग्री, मिनट और सेकेंड में विभाजित करने के लिए हम अभी भी इसी पद्धति का व्यवहार करते हैं।

षाष्ठिक पद्धति से अंक-लेखन के कुछ नमूने नीचे दिए जा रहे हैं :—

१ $\begin{cases} १२३ = १ \times (१०)^२ + २ \times (१०) + ३ & \text{(दशमलव : आधुनिक)} \\ \quad\;\; = १ \times (६०)^२ + २ \times (६०) + ३ & \text{(षाष्ठिक : वेबीलोनी)} \end{cases}$

२ $\begin{cases} १{\cdot}२३ = १ + \dfrac{२}{१०} + \dfrac{३}{(१०)^२} & \text{(दशमलव : आधुनिक)} \\ \quad\;\; = १ + \dfrac{२}{६०} + \dfrac{३}{(६०)^२} & \text{(षाष्ठिक : वेबीलोनी)} \end{cases}$

वेबीलोन की गणित-लिपि का आविष्कार होने पर, प्रारंभ में यह गणित-पद्धति बिल्कुल ही पकड़ में नहीं आई। १२३ से हम जिस संख्या को समझते हैं, वेबीलोन निवासी को उस संख्या का बोध नहीं होता था। वे इसे ३७२३ समझते थे। इसी प्रकार वेबीलोनी मृत्तिका-लिपि में कुछ वर्ग संख्याओं के उदाहरण मिले हैं, जैसे—

$१.४ = ८^२,\ १{\cdot}२१ = ९^२,\ १{\cdot}४० = १०^२,\ २{\cdot}१ = ११^२;$

केवल षाष्ठिक पद्धति से ही इसका तात्पर्य समझा जा सकता है। $१{\cdot}४$ है $१ \times ६० + ४ (= ८^२)$; $१{\cdot}२१$ है $१ \times ६० + २१ (= ९^२)$; $२{\cdot}१$ है $२ \times ६० + १ (= ११^२)$।

शून्य का व्यवहार : वेबीलोनी गणित में शून्य नाम की कोई चीज थी या नहीं, इस विषय में बहुत खोज की गई है। अब यह बात सर्वजन-स्वीकृत है कि शून्य का आविष्कार सर्वप्रथम हिंदुओं ने ही किया। लेकिन यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शून्य की धारणा अन्यत्र स्वतंत्र रूप से प्रकट हुई ही नहीं। कितने ही ऐसे आविष्कार हुए हैं, जो संपन्न होने के बाद पुनः विस्मृति के गर्भ में समा गए और परवर्ती काल के मनुष्य को नए सिरे से उनका

पुनराविष्कार करना पड़ा। जो भी हो, ई० पू० २०० वर्ष के आसपास कुछ बेबीलोनी लिपियों में, संख्या के भीतर शून्य स्थान अथवा किसी संख्या की अस्तित्वहीनता का निर्देश करने लिए एक प्रकार के कोणिक प्रतीक ≤ का व्यवहार होता देखा जाता है। ईस्वी प्रथम शती में टॉलेमी ने अपने विख्यात ग्रंथ 'ऐलमैजेस्ट' में, षाष्ठिक पद्धति के व्यवहार के प्रसंग में शून्य स्थान का निर्देश करने के लिए ग्रीक अक्षर 'ο' (ओमीक्रन) का प्रयोग किया। इन उदाहरणों के आधार पर फ्लोरियन केजरी ने यह मत व्यक्त किया है कि किसी संख्या के अंतर्वर्ती शून्य स्थान की पूर्ति के लिए बेबीलोनियों ने संभवतः शून्य का तात्पर्य समझ लिया था और इसके लिए किसी प्रतीक का भी वे व्यवहार करते थे। लेकिन कारण जो भी हो, गणना कार्य में उन्होंने कभी शून्य का व्यवहार नहीं किया।*

सन् १८८९ ई० में एच० वी० हिल्प्रेट ने प्राचीन निप्पुर के पुरातात्त्विक खनन कार्य के समय पहाड़े की कुछ सूचियां ढूंढ़ निकालीं। ये सूचियां विभिन्न राशियों के गुणन, भाग, वर्ग या वर्गमूल के निर्णय के लिए प्राचीन बेबीलोनी गणित-पुस्तिकाएं हैं। प्रत्येक शिक्षार्थी या व्यवसायी को शीघ्र गिनती करने या हिसाब लगाने के लिए इन सूचियों या पहाड़ों को कंठस्थ करना पड़ता था।

बेबीलोनी अंकगणित का यह पूरा ब्यौरा नहीं है। लेकिन जो कुछ कहा गया है, वह यह समझने के लिए यथेष्ट है कि ४००० वर्ष पहले बेबीलोन-निवासी अकगणित में कितने उन्नत थे।

बीजगणित : प्राध्यापक वेल ने बीजगणित में बेबीलोन की देन को और भी मौलिक बताया है। प्राक्-प्रतीक बीजगणित-काल में (बेबीलोनियों के प्रायः दो हजार वर्ष बाद प्रख्यात ग्रीक बीजगणितज्ञ डायोफैंटस ने बीजगणित में प्रतीकों के व्यवहार की चेष्टा की) बेबीलोन वासियों को हम एकघात, द्विघात तथा त्रिघात समीकरणों का समाधान करते हुए पाते हैं। सह-समीकरण के समाधान के कुछ दृष्टांत भी मिलते हैं। समीकरणों की समाधान-पद्धति का कोई नमूना नहीं मिला है; संभवतः ये समाधान अति-गोपनीय तथ्य समझे जाते थे। ये समीकरण सभी क्षेत्रों में विशेष प्रकार के हैं, अर्थात् अज्ञात राशि को छोड़कर शेष सभी संख्या-राशि हैं। विभिन्न राशियों (Quantities) के गुणन, भाग, वर्ग, वर्गमूल आदि की जिन तालिकाओं का

* Florian Cajori, "A History of Mathematics", 1926, p. 25

उल्लेख किया गया है, मुख्यतः उन्हीं तालिकाओं के सहारे समीकरणों के समाधान तय किए जाते थे। किसी साधारण नियम या पद्धति का या तो आविष्कार नहीं हुआ, या हुआ हो तो किसी ने उसे लिखकर प्रकाशित नहीं किया। आंकिक समाधान के निर्णय में वे विशेष दक्ष थे, इसका प्रमाण निम्नलिखित समीकरण के समाधान में विद्यमान है :

$$xy = 600;\ (ax+by)^2 + cx + dy = e$$

a,b,c,d तथा e के स्थान पर ५५ विभिन्न संख्याओं के प्रयोग-द्वारा इस समीकरण के समाधान की चेष्टा दिखाई पड़ती है। दूसरा द्विघात समीकरण है। वेबीलोन-निवासी को यही जानकारी थी कि द्विघात समीकरण का केवल एक ही मूल होता है।

उसमें अपरिमेय संख्या (Irrational Number) के विषय में एक प्रकार के अस्पष्ट ज्ञान का आभास मिलता है। वर्गमूल-तालिका की रचना के उद्देश्य से विभिन्न राशियों के वर्गमूलों का निर्णय करते हुए उन्होंने देखा होगा कि किसी-किसी राशि का वर्गमूल पूर्ण संख्या नहीं होता, बल्कि पूर्ण संख्या के सन्निकट कोई स्थूल (approximate) संख्या होता है। अपरिमेय राशि का सन्निकट वर्गमूल निकालने के लिए वेबीलोनी जिस नियम का प्रयोग करते थे, वह है—

$$(a^2+b^2)^{\frac{1}{2}} = a + \frac{b^2}{2a}$$

दो हजार वर्ष बाद अलेक्जेंड्रिया के हीरो ने इसी नियम का प्रयोग किया था। अपरिमेय राशि २ के वर्गमूल ($\sqrt{2}$) के लिए वेबीलोनी लिपि में हमें मिलता है—१ – २५; यह दशमलव के दो स्थान तक शुद्ध है।

वैज्ञानिक गवेषणा के अनेक क्षेत्रों में ग्रीक लोग वेबीलोनियों के विशेष रूप से ऋणी हैं; परंतु आश्चर्य की बात यह है कि वेबीलोनी बीजगणित को और उन्नत करना तो दूर रहा, डायोफैंटस के पहले ग्रीकों में बीजगणित की प्राथमिक चर्चा भी नहीं दिखाई देती। गणित के एक और विभाग ज्यामिति की, ग्रीक प्रतिभा के स्पर्श से चरम उन्नति हुई थी, लेकिन बीजगणित और अंकगणित में ग्रीकों ने अपनी किशोरावस्था कभी पार ही नहीं की। इसका कारण है, संख्या के संबध में ग्रीकों की दुर्ज्ञेय निर्बलता। निरालंब, अमूर्त संख्या के राज्य से ग्रीक बराबर कतराते रहे। एकमात्र पाइथागोरस तथा

उनका संप्रदाय इसके विराट व्यतिक्रम स्वरूप थे। परंतु ग्रीक विज्ञान में पाइथागोरस का प्रभाव सामान्य और क्षणिक था।

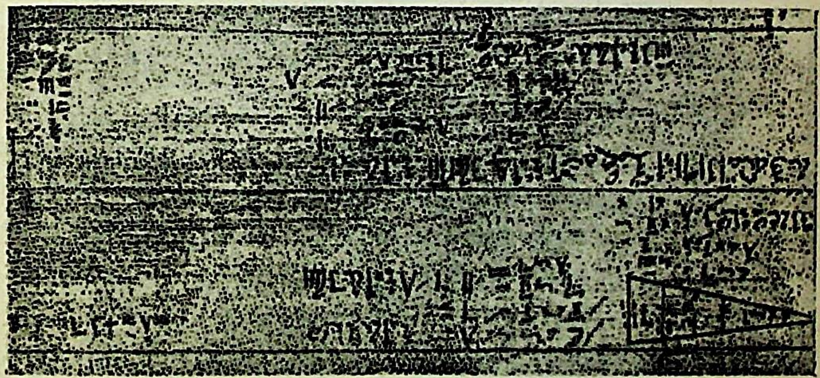
वेबीलोनी ज्यामिति, अंकगणित और बीजगणित-जैसी समृद्ध नहीं है। फिर भी उनका ज्यामितिक ज्ञान उपेक्षणाय नहीं है। वृत्त संबंधी उनका ज्ञान बहुत उन्नत था। व्यासार्द्ध के समान ज्या भी वृत्त के केंद्र पर ६०° का कोण बताना है और मोटे तौर पर यह ज्या वृत्त के भीतर अंकित सम-षड्भुज की भुजा के समान है, इस प्रकार की टिप्पणियाँ कुछ लिपियों में मिलती हैं। वृत्त के भीतर सम-षड्भुज अंकित करने के कुछ दृष्टांत भी मौजूद हैं। वृत्त की परिधि और उसके व्यास के अनुपात, अर्थात π का मान वेबीलोनियों ने ३ निर्धारित किया था। किसी त्रिभुज की तीन भुजाओं की लंबाइयां ३,४ और ५ होने पर वह समकोण त्रिभुज बनता है, यह जानकारी उन्हें थी। इस तथ्य से कुछ लोगों ने यह अनुमान लगाया है कि पाइथागोरस के साध्य से उनका परिचय होना आश्चर्य की बात नहीं होगी। परंतु यह निरा अनुमान ही है।

मिस्र

जोसेफ्स का कहना है कि मिस्रियों ने अब्राहम से अंकगणित सीखा। अब्राहम ही पहले-पहल कैल्डिया से ज्योतिष के साथ गणित भी मिस्र ले आए और ग्रीकों ने बाद में मिस्रियों से गणित विद्या प्राप्त की। मिस्र-निवासियों ने गणित विद्या कैसे प्राप्त की, इसका आदि इतिहास जो भी हो, परंतु यह सत्य है कि वे ही ग्रीकों के मुख्य शिक्षक थे और ग्रीस निवासियों ने अकपट हृदय और मुक्त कंठ से इस ऋण को स्वीकार किया। केवल यही नहीं, प्रायः सभी प्राचीन ग्रीक लेखक, श्रद्धावश, एक स्वर से यह प्रचार कर गए हैं कि मिस्री ही गणित के जन्मदाता थे। फ़ीड्रस (Phoedrus) नामक अपनी पुस्तक में प्लेटो लिख गए हैं—मिस्र के नॉयक्रेटिस नामक नगर में एक विख्यात वृद्ध देवता का निवास था। उस देवता का नाम है थॉयेट्। आइबिस नाम के पक्षी को वे पवित्र मानते थे। इसी देवता ने अंकगणित, ज्यामिति, ज्योतिष, द्यूत क्रीड़ा आदि विद्याओं का आविष्कार किया था। परंतु उनका सर्वश्रेष्ठ आविष्कार था अक्षरों का व्यवहार। यह मूलतः स्तुति-वाक्य है। इसकी ऐतिहासिक सत्यता की जाँच करने का प्रयास निरर्थक होगा। फिर भी हिरोडोटस्, अरस्तू, डियोडोरस्, डियोजेनिस, लेटियस, आयांब्लिकस-जैसे प्रख्यात प्राचीन लेखकों ने, इस मत का समर्थन करते

हुएं कि ज्यामिति विद्या का उद्भव मिस्र में हुआ, जो अभिमत प्रकट किया, वह अनेकांश में ग्रहणयोग्य है। हिरोडोटस् ने लिखा है कि मिस्र के राजागण जमीन के चतुष्कोण टुकड़ों का अपनी प्रजा में समान बंटवारा कर देते थे। उस जमीन पर दिए जानेवाले वार्षिक राजस्व का परिमाण भी वे निर्धारित कर देते थे। किसी प्रजा की जमीन बाढ़ के कारण नदी में डूब जाने पर उसे राजा को इसकी सूचना देनी पड़नी थी। राजा, सूचना मिलने पर, यह माप-जोखकर कि नदी ने कितनी जमीन ग्रास कर ली है, राजस्व का उचित परिमाण निर्धारित करने के लिए स्थापत्य-विशारदों को भेजते थे। इस प्रकार उस देश में ज्यामिति का प्रथम उद्भव हुआ, जो बाद में वहाँ से हैलोस पहुँचा। यह उस प्राचीन काल के एक अन्यतम श्रेष्ठ इतिहासकार ने लिखा है।

आह्मेस पपीरस : परंतु प्राचीन मिस्र-निवासियों का गणित-ज्ञान किस प्रकार का था, इसका वास्तविक परिचय प्राप्त करने के लिए पुरातात्विक खोजों पर निर्भर करना ही हमारे लिए उचित होगा। विख्यात 'आह्मेस पपीरस' जो ब्रिटिश संग्रहालय में संरक्षित राइंड संग्रहों में से

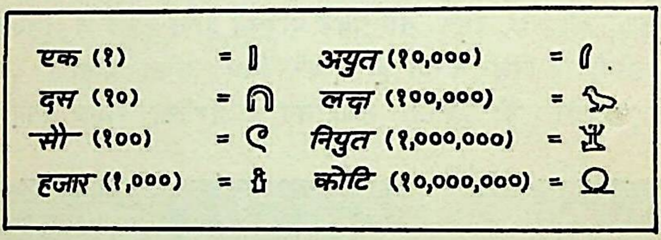


चित्र—३८ : राइंड पपीरस का एक अंश। मूल संपूर्ण पपीरस १८ फुट लंबा अरौ १३ इंच चौड़ा है। इसकी रचना हेरेटिक लिपि में की गई थी और इसे पढ़ने की विधि दाहिने से बाएँ तथा ऊपर से नीचे है।

एक है, प्राचीन मिस्रियों की गणितीय प्रतिभा का अचूक निदर्शन है। सन् १८७० में आइसेन्लोर ने इस पपीरस का मर्मोद्घाटन किया। इस ग्रंथ का संकलन आह्मेस नामक किसी पुरोहित ने अनुमानतः ईसा के जन्म से १६५० वर्ष पहले किया। यह स्वयं आह्मेस की रचना नहीं है।

उनके काल से कई सौ वर्ष या एक हजार वर्ष (मिस्टर बर्च के मतानुसार ई० पू० ३४०० वर्ष) पहले किसी और मिस्री पुरोहित-द्वारा रचित ग्रंथ की यह प्रतिलिपि मात्र है। शापोलिओं, यंग आदि पंडितों की चेष्टा से हेरोग्लिफी लिपि का रहस्य उद्घाटित होने के बाद मिस्री अंक-विन्यास संबंधी अनेक तथ्यों की जानकारी मिली है। वर्तमानकालीन मॅस्को पपीरस के अनुवाद के परिणामस्वरूप मिस्री ज्यामिति की कुछ और विशेषताओं का पता चला है। इन प्रामाणिक लिपियों से प्राचीन मिस्र के गणित-ज्ञान के विषय में जो जानकारी मिली है, उसका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

अंकगणित : मिस्री अंक-विन्यास दशमलव पद्धति के अनुसार है। एक, दस, सौ आदि संख्या को निर्देशित करने के लिए चित्र ३९ में दिए गए प्रतीकों का व्यवहार होता था।

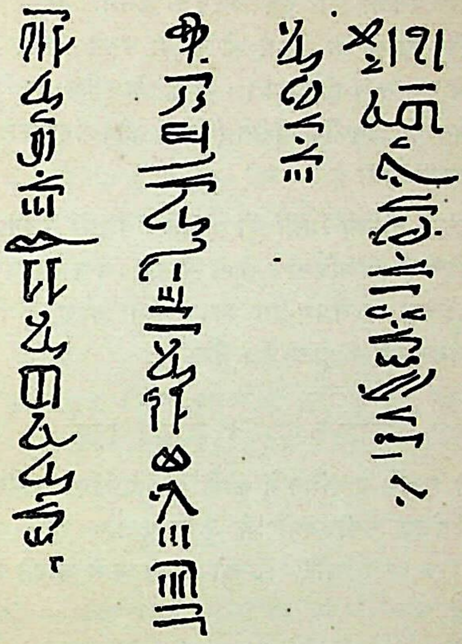


चित्र—३९ : हेरोग्लिफी अंक-विन्यास पद्धति।

ये प्रतीक अर्थ बोधक हैं—१ है खड़ी लाठी, १० हजार उंगली, १ लाख पक्षी, १० लाख आश्चर्यचकित मनुष्य आदि। अंतर्वर्ती संख्याओं की रचना में योग की धारणा प्रयुक्त होती दीख पड़ती है। उदाहरण के लिए २३ के लिए लिखा गया है ∩ ∩ | | | (१० दो और १ तीन बार)

इतनी बड़ी संख्याओं के प्रतीकों के व्यवहार के नमूनों से जान पड़ता है कि मिस्री बहुत बड़ी संख्याओं की भी कल्पना अनायास कर सकते थे। हेरोग्लिफी लिपि में अनेक बड़ी संख्याओं का उल्लेख है। उदाहरणस्वरूप किसी राजा ने, युद्ध में विजयी होकर १ लाख २० हजार बंदी, ४ लाख बैल और १४ लाख २२ हजार बकरियां प्राप्त की थीं। यह विवरण सत्य हो तो यह उस युग के एक विशाल साम्राज्य पर विजय प्राप्त करने की घटना है। इसके अतिरिक्त कोई १५ लाख बकरियों की गिनती करना, आधुनिक काल में भी एक बहुत बड़ी बात है। हो सकता है कि ये संख्याएँ लिपिकारों या

कवियों की निरी कल्पनाएँ मात्र हों। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि आदिम असभ्य जातियाँ इतनी बड़ी संख्याओं की बात सोच भी नहीं सकती थीं।



चित्र—४० : राइंड पपीरस के नाम-पत्र का एक अंश।

मिस्री लोग जोड़, बाकी, गुणा और भाग, इन चारों नियमों से परिचित थे। गुणन पद्धति में कुछ विशेषता दिखाई पड़ती है। ५ के तीन गुना से हम समझते हैं ५ को ३ बार लिखकर उसका जोड़। मिस्री गुणन के ठीक इस अर्थ को नहीं समझते थे अथवा हम इस समय जिस पद्धति से गुणनफल निकालते हैं, ठीक उसी तरह वे गुणन नहीं करते थे। गुण्य और गुणक को क्रमानुसार दुगुना करके और गुण्य की पंक्तियों को जोड़कर फल निकाला जाता था। कुछ उदाहरणों से इस पद्धति को समझाना सहज होगा। मान लीजिए (१) ४० को १५ से और (२) ३७ को १८ से गुणा करना है :

गुणक	गुण्य	गुणक	गुण्य
१	४०	१	३७
२	८०	२	७४
४	१६०	४	१४८
८	३२०	८	२९६
		१६	५९२
(१) उत्तर—६००		(२) उत्तर— ६६६	

गुणक और गुण्य के दो स्तंभों में पहले गुणक के स्तंभ में १ और गुण्य के स्तंभ में प्रदत्त संख्या (उपरोक्त उदाहरण में ४० और ३७) लिखनी होगी। तदनंतर दोनों स्तंभों की संख्याओं को क्रमशः दुगुना करते जाना होगा जब तक कि गुणक के स्तंभ की दो या उससे अधिक संख्याओं का जोड़ प्रदत्त गुणक के समान न हो जाय। गुणक के स्तंभ की जिन संख्याओं का जोड़ गुणक बनता है, उनकी विपरीत (सामने की) संख्याओं के योग से इच्छित गुणनफल प्राप्त होता है।

आह्मेस पपीरस में विविध भिन्नों को एकाधिक भिन्नों में विश्लेषित करने का प्रयास दिखाई देता है। अधिकांश क्षेत्रों में मूल भिन्न का लव (numerator) २ है और इसका विश्लेषण इस प्रकार किया जाता है कि विश्लिष्ट भिन्नों में से प्रत्येक का लव १ होता है। जैसे—

$$\frac{२}{९७} = \frac{१}{५६} + \frac{१}{६७९} + \frac{१}{७७६}$$

अवश्य ही इस प्रकार के गणित में कोई दिमागी करतब नहीं है।

बीजगणित से संबद्ध समीकरणों के कुछ दृष्टांत दिए जा रहे हैं। किसी वस्तु के २/३, १/२ और १/७ को उस द्रव्य से जोड़ने पर ३३ बनता है। वस्तु कितनी है ?

हमारी अंक-विंन्यास पद्धति से, अज्ञात राशि को x मानकर, समीकरण का रूप होता है—

$$\frac{2x}{3} + \frac{x}{2} + \frac{x}{7} + x = 33$$

पपीरस में प्रदत्त अज्ञात राशि है—

$$१४ + \frac{१}{४} + \frac{१}{९७} + \frac{१}{५६} + \frac{१}{६७९} + \frac{१}{७७६} + \frac{१}{१९४} + \frac{१}{३८८}$$

सब कुछ भिन्नों में प्रकाशित करने की अकारण चेष्टा मिस्रियों में देखी जाता है। तनिक लक्ष्य करने पर देखा जा सकता है कि पहले भिन्न के विश्लेषण का जो नमूना दिया गया है, उसमें से अनेक भिन्नों को आलोच्य समीकरण के समाधान में स्थान मिला है।

कुछ ऐसे प्रश्नों के दृष्टांत उल्लेखनीय हैं, जिनमें समानांतर और गुणोत्तर श्रेणियों (Arithmatic and Geometric progressions) के व्यवहार की आवश्यकता पड़ती है। आह्मेस के एक प्रश्न में ७, ४९, ३४३, २४०१ तथा १६८०७ इन संख्याओं का उल्लेख है और इन संख्याओं के साथ

क्रमानुसार एक मनुष्य, एक बिल्ली, एक चूहा, जौ की एक बाली, और जौ के दानों के चित्र अंकित हैं। बहुत दिनों तक इस प्रकार की पाँच संख्याओं और उनके साथ प्रथम दृष्टि में असंलग्न चित्रों को अंकित करने का रहस्य उद्घाटित नहीं हो पाया। आह्मेस की इस पहेली का समाधान आविष्कृत किया श्री केंटर ने। उन्होंने बताया कि यह गुणोत्तर श्रेणी का एक दृष्टांत है और चित्रों तथा संख्याओं का तात्पर्य इस प्रकार है : ७ व्यक्तियों में से प्रत्येक के पास ७ बिल्लियां हैं, प्रत्येक बिल्ली ७ चूहे पकड़ती है, प्रत्येक चूहा जौ की ७ बालियाँ खाता है और प्रत्येक बाली में जौ के ७ दाने हैं। संख्याएँ क्या हैं और उनका कुल जोड़ क्या है? अर्थात् ७+४९+३४३+२४०१+१६८०७=१९६०७

ज्यामिति : प्राचीन मिस्रवासियों के अंकगणित तथा बीजगणित संबंधी ज्ञान के दृष्टांत हमें बहुत अधिक आकर्षित नहीं करते। यह बेबीलोनियों के तत्संबंधी ज्ञान की तुलना में निस्संदेह बहुत कम है। परंतु मिस्र की ज्यामिति वास्तव में बेबीलोनी ज्यामिति से कहीं अधिक उन्नत थी। उन्होंने त्रिभुज, वृत्त, चतुर्भुज और बहुभुज क्षेत्रों के क्षेत्रफल, सिलिंडर, पिरामिड के आयतन सही निकाले, हमें इसका पता लगता है। त्रिभुज का क्षेत्रफल निकालने के लिए १/२ (भूमि) × (उच्चता) के नियम का प्रयोग किया गया है। वृत्त के क्षेत्रफल के निर्णय से मिस्रियों ने π का जो मान निर्धारित किया, वह बेबीलोनियों-द्वारा निर्धारित मान (३) की अपेक्षा, सही मान के कहीं अधिक निकट है। आह्मेस के पपीरस में लिखित निम्नांकित प्रश्न ध्यान देने योग्य है :

"९ खेत (Khet) व्यास की एक वृत्ताकार भूमि का क्षेत्रफल निकालने की विधि। क्षेत्रफल कितना है?

व्यास से उसका १/९ भाग, अर्थात् १ पहले निकाल दो। बाकी बचा ८। अब ८ से ८ का गुणनफल निकालो। उत्तर होगा ६४। यही भूमि का क्षेत्रफल है......"*

वृत्त का व्यास यदि a मान लिया जाय तो उपरोक्त पद्धति के अनुसार वृत्त का क्षेत्रफल निकालने का नियम होगा—

$$S = \left(a - \frac{a}{9}\right)^2$$

* Man Makes Himself के रचयिता डाक्टर वी० गार्डन चाइल्ड-द्वारा उद्धृत आह्मेस पपीरस के एक अंश के अंग्रेजी अनुवाद का भाषांतर।

अतः π का मान हुआ ३·१६ * π का वास्तविक मान है ३·१४१६।

बेबीलोनी लोग पिरामिड के आकार के बर्तनों में अनाज भरकर रखते थे। अनाज के परिमाण का निर्णय करने के लिए बर्तन का आयतन मापना आवश्यक है। ऊपर की ओर से कटे हुए इस तरह के पिरामिड अथवा फ्रस्टम (Frustum of a pyramid) का आयतन अथवा घन (V) बेबीलोनी इस प्रकार निकालते थे :—

$$V = h\left[\frac{(a+b)^2}{2} + \frac{(a-b)^2}{2}\right]$$

इसमें h= उच्चता; a = तल-भूमि की लंबाई; b = ऊपर की भूमि की लंबाई है। अनाज मापने के लिए यह नियम यथेष्ट होने पर भी इससे फ्रस्टम का ठीक आयतन नहीं प्राप्त किया जा सकता। अभियंता या वास्तु-शिल्पी को पिरामिड या फ्रस्टम का निर्माण करना हो तो उन्हें और त्रुटिहीन तरीके से आगे बढ़ना होगा। वहाँ तनिक-सी भूल भी भयावह हो सकती है। स्थापत्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मिस्रियों ने सही नियम का आविष्कार भी कर लिया था। मस्को पपीरस में फ्रस्टम का आयतन निकालने के लिए यही नियम मिलता है :—

$$V = \frac{h}{3}(a^2 + ab + b^2)$$

इस पपीरस में दिए गए एक प्रश्न को नमूने के तौर पर दिया जा रहा है।

'ऊपर का अंश काटा गया है, इस प्रकार के एक पिरामिड (फ्रस्टम) का आयतन निकालना होगा।

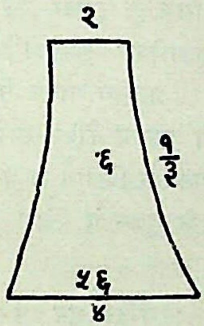
'तुम्हें कहा जाता है कि इस कटे हुए पिरामिड की ऊँचाई ६ क्यूबिट (Cubit), नीचे की भूमि की लंबाई ४ क्यूबिट और ऊपर की भूमि की लंबाई २ क्यूबिट है।

---

* $\pi\left(\frac{a}{2}\right)^2 = \left(a - \frac{a}{9}\right)^2$; $\pi = \frac{4}{a^2}a^2\left(\frac{8}{9}\right)^2$

$$= \left(\frac{16}{9}\right)^2$$
$$= 3{\cdot}16$$

'४ का वर्ग निकालो; उत्तर १६ ।
'४ को दुगुना करो; उत्तर ८ ।
'२ का वर्ग निकालो; उत्तर ४ ।
'१६ के साथ ८ और फिर उसके साथ ४ जोड़ो; जोड़ २८ ।
'६ का १/३ निकालो; फल २।२८ को दुगुना करो; उत्तर ५६ ।
'देखो, यह है ५६ । उत्तर तुम्हें मिल गया है।'*



चित्र—४१ : पिरामिड का फ्रस्टम (मस्को पपीरस में प्रदत्त चित्र पर अवलंबित)

मिस्रियों ने इस सूत्र का आविष्कार किस प्रकार किया, इसका कोई पता नहीं है, और पता लगना संभव भी नहीं है। निश्चय ही किसी विशुद्ध गणितीय पद्धति से उन्होंने इस सूत्र को आविष्कृत नहीं किया, क्योंकि इसके लिए जिस प्रकार का गणितीय ज्ञान आवश्यक है, वह उस युग में संभव नहीं था। यह सूत्र, कलन (Calculus) की सहायता से, विशुद्ध गणितीय पद्धति द्वारा, १८ वीं शती के अंतिम भाग में प्रमाणित हुआ था। यहाँ तक कि १७ वीं शती में तथाकथित अविभाज्य पद्धति (Method of indivisibles) के सहारे कैवालिएरी भी इस सूत्र को पूर्णतः प्रमाणित नहीं कर पाए थे। पिरामिड निर्माण की दीर्घ अभिज्ञता के कारण, अंधेरे में टटोलते-टटोलते किसी प्रकार के तात्विक प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुए ही, उन्होंने इस निर्भूल सूत्र का आविष्कार, आज से लगभग ४ हजार वर्ष पहले कर लिया था। कुछ इतिहासकार इस प्रकार के प्रायोगिक (Empirical) आविष्कार को महत्व नहीं देना चाहते। लेकिन यह ठीक नहीं है। विज्ञान की प्रगति में प्रयोगवाद का बहुत मूल्य है; विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में अब भी इससे काम लेने का बड़ी संभावनाएँ हैं। इसीलिए, मस्को पपीरस में वर्णित फ्रस्टम के सूत्र के संबंध में, प्राध्यापक वेल का यह कथन ठीक ही है कि—"इस प्रकार की प्रक्रिया के प्रायोगिक आविष्कार अथवा इसकी मौखिक समानता भी

* 'Man makes Himself' ग्रंथ में दिए गए अंग्रेजी अनुवाद का भाषांतर।

असामान्य गणितीय अंतर्दृष्टि का प्रमाण है।" (Development of Mathematics, p. 41)

भारत : वैदिक युग

सिंधु घाटी-सभ्यता की चर्चा में, प्रसंगतः मोहंजोदड़ो तथा हड़प्पा में प्राप्त बाट और मापनी के परीक्षण-द्वारा प्राचीन भारतीय गणना-पद्धति के संबंध में जो सामान्य तथ्य मिले हैं, उनका उल्लेख किया जा चुका है। मोहंजोदड़ो और हड़प्पा के पुरातात्विक निदर्शनों के आधार पर उससे अधिक कुछ कहना संभव नहीं है। प्राचीन भारत में ज्ञान-विज्ञान की चर्चा का परिचय प्राप्त करने के लिए हमें अमूल्य वैदिक साहित्य पर ही दृष्टि केंद्रित करनी पड़ती है। पृथ्वी में सभ्यता के विकास के प्रथम युग में वैदिक ऋषियों ने साहित्य, विज्ञान और दर्शन के सृजन में जिस अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया, वह अतुलनीय है।

वैदिक युग की प्राचीनता : वैदिक युग में भारत के वैज्ञानिक कार्य-कलापों को लिपिबद्ध करने के पहले, उस युग की प्राचीनता तथा संहिता, ब्राह्मण, वेदांग, उपनिषद् आदि ग्रंथों के रचना-काल के विषय में कुछ चर्चा आवश्यक है। इसका कारण यह है कि जहाँ कुछ पाश्चात्य पंडित भारतीय सभ्यता की प्राचीनता स्वीकार करने में कुंठा का अनुभव करते हैं और इसलिए वैदिक काल को क्रमशः ईसाई संवत के निकटतर लाने के लिए व्यग्र हैं, वहाँ अनेक भारतीय पंडितों ने हमारी सभ्यता और इतिहास-परंपरा की महान प्राचीनता सिद्ध करने के उद्देश्य से वैदिक युग को दूर अतीत में ढकेल-कर ऐतिहासिक अवास्तविकता और असंभाव्यता का सृजन किया है। फल-स्वरूप अनेक पंडितों की रचनाओं में, वैदिक युग के प्रारंभ के प्रसंग में ई० पू० १००० से लेकर ई० पू० ४००० वर्ष तक के बीच अनगिनत तिथियों का उल्लेख मिलता है। यहाँ तक कि कुछ लोग, नक्षत्र-संस्थापन के ज्योतिष-शास्त्रीय विचार के आधार पर ऋग्वेद का रचना-काल ई० पू० ६००० वर्ष मानते हैं। आधुनिक पुरातत्वविदों के अनुसार वह समय मध्य तथा निकट पूर्व में सर्वत्र नव-पाषाण काल का युग था; पृथ्वी में उस समय कहीं भी कृषि-सभ्यता का आविर्भाव नहीं हुआ था और सबसे बड़ी बात यह है कि ई० पू० ३५०० वर्ष के पहले आक्षरिक लिपि के आविष्कार का कोई पुरा-तात्विक प्रमाण अब तक नहीं प्राप्त हुआ है।

विज्ञान के इतिहास के संबंध में सन् १९५० ई० में दिल्ली में एक दक्षिण एशियाई गोष्ठी हुई थी। उस गोष्ठी में डॉक्टर रमेशचंद्र मजुमदार ने वैदिक युग तथा प्राचीन भारत के काल के विषय में उपर्युक्त मतभेदों तथा असंगतियों के प्रति दृष्टि आकर्षित की थी। उस गोष्ठी में पढ़े गए अपने निबंध* में तथा विशद रूप में प्रकाशित अपने ग्रंथ The Vedic Age में, वैदिक युग की प्राचीनता तथा वेद, वेदांग, उपनिषद आदि ग्रंथों के रचनाकाल के विषय में उन्होंने जो मत व्यक्त किया है, उसके अनुसार वैदिक सभ्यता का काल ई० पू० २५०० और ई० पू० १००० के बीच मानना ही सब दृष्टियों से युक्तिसंगत है।

यह था वैदिक युग का पहला क्रम। दूसरे क्रम का काल ई० पू० १००० से सन् ५०० ई० तक है। प्राचीनतम वेद, ऋक्-संहिता का रचना काल अनुमानतः ई० पू० १००० वर्ष है; इस वेद के किसी-किसी अंश की रचना संभवतः इसके कुछ सौ वर्ष पहले हुई होगी। इसलिए अधिकांश इतिहासकारों का अब यह मत है कि ऋक्-संहिता की रचना लगभग ई० पू० १५०० वर्ष से आरंभ हुई होगी और ई० पू० १००० वर्ष के कुछ पहले उसे वर्तमान आकार प्राप्त हुआ होगा। अन्यान्य संहिताएँ तथा ब्राह्मण साहित्य ई० पू० १००० के परवर्ती काल की रचनाएँ हैं (यद्यपि डॉक्टर विभूति भूषण दत्त और श्री अवधेश नारायण सिंह ने 'हिंदू गणित-शास्त्र' के इतिहास (History of Hindu Mathematics) में तैत्तिरीय संहिता का रचना-काल ई० पू० ३००० और ब्राह्मण साहित्य का काल ई० पू० २००० वर्ष बताया है)। साम, यजु, अथर्व आदि परवर्ती काल की संहिताओं और ब्राह्मण साहित्य की रचना संभवतः ई० पू० नवीं और आठवीं शतियों में हुई थी। यह असंभव नहीं कि ऋक् संहिता की भाँति इसके कुछ अंशों की रचना उपर्युक्त समय के कुछ पहले, यहाँ तक कि ऋक् संहिता के काल में ही हुई हो। उपनिषदों का काल-निर्णय करना बहुत कठिन है, क्योंकि इनमें जिन तथ्यों और तत्वों की चर्चा की गई है, उनकी प्राचीनताओं में बहुत भिन्नता है। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उपनिषदों के प्राचीनतम अंश बौद्ध-युग के पहले के, संभवतः ईसापूर्व सातवीं या आठवीं शती के, हैं। उपनिषद-रचना का अंतिम काल ईसापूर्व तीसरी या चौथी शती माना जा सकता है। प्राचीन

---

* R. C. Majumdar, "Scientific Achievements of the Ancient Hindus : Chronological and Sociological Background."—दक्षिण एशियाई विज्ञान की इतिहास संबंधी गोष्ठी, १९५०, में पठित निबंध।

भारतीय विज्ञान की समालोचना के लिए वेदांग ज्योतिष बहुत महत्वपूर्ण है। इसका संकलन सूत्रयुग (ई० पू० ६००-२००) में हुआ था। डॉक्टर दत्त तथा सिंह ने ई० पू० १२०० का उल्लेख कर, वेदांग ज्योतिष की प्राचीनता की ओर जो संकेत किया है, डॉक्टर रमेशचंद्र मजुमदार-जैसे प्रमुख इतिहासकारों के मतानुसार वह समर्थन-योग्य नहीं। स्मृति और पुराणों की रचना ईसाई संवत् के प्रारंभ में हुई थी।

महाभारत के रचना-काल के संबंध में बहुत अनिश्चय और मतभेद है। महाभारत में वर्णित घटनाएँ, भारत-युद्ध या कुरुक्षेत्र का युद्ध संभवतः ई० पू० १५०० और ई० पू० १००० के बीच हुआ। कई सौ वर्ष तक इस वृत्तांत की मौखिक रूप से चर्चा और व्याख्या होते-होते, ई० पू० चौथी शती के लगभग ग्रंथ के रूप में इसका लिखा जाना आरंभ हुआ, और यह मान लेने के यथेष्ट कारण हैं कि इस महाकाव्य को इसके वर्तमान आकार तक पहुँचने में ईसवी तीसरी या चौथी शती तक का समय लग गया। कुछ दिनों पहले तक कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र के संबंध में पंडितों की यह धारणा थी कि इसकी रचना का काल ई० पू० चौथी शती का अंतिम भाग है; अब यह जान पड़ता है कि इसके कम-से-कम दो या चार सौ वर्ष बाद इस विख्यात ग्रंथ की रचना हुई।

प्राचीन भारत के ज्ञान-विज्ञान और प्रामाणिक ग्रंथों की तिथि के संबंध में अनिश्चितता तथा परस्पर विरोधी अनेक दावों के कारण इस विषय में तथ्याभिज्ञ इतिहासकार-मंडली के अंतिम अभिमत का उल्लेख किया गया है। प्राचीन भारत में विज्ञान-साधना की चर्चा के प्रारंभ में प्रामाणिक ग्रंथों आदि के रचना-काल के विषय में ठीक धारणा होना अत्यावश्यक है।

संख्या तथा गणना-पद्धति : गणित का अर्थ गणना-विद्या है। वैदिक ऋषि गणित से साधारणतया ज्योतिष समझते थे; ज्यामिति या रेखागणित (क्षेत्र-गणित) कल्प सूत्र के अंतर्गत था। वैदिक साहित्य में एकाधिक स्थान में हमें इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि गणित सब प्रकार की विद्याओं में श्रेष्ठ विद्या है। वेदांग ज्योतिष के अनुसार गणित का स्थान सब से ऊँचा है, वेदोक्त सभी विद्याओं में यह शीर्षस्थानीय है। वेदांग ज्योतिष में एक जगह है :—

"यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदांगशास्त्राणां गणितं मूर्द्धनि स्थितम्"

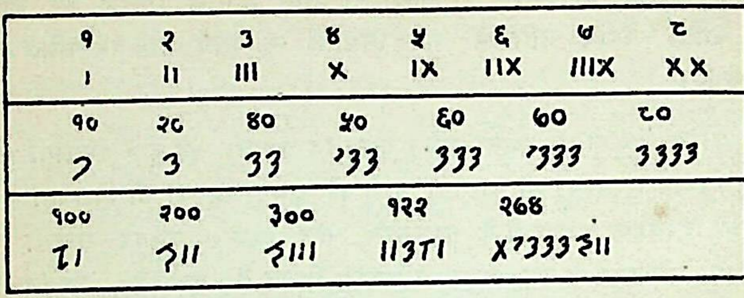
—वेदांग ज्योतिष, ४।

अर्थात् मयूर के मस्तक की शिखा की भाँति, सर्प के मस्तक की मणि की भाँति, वेदांग नाम से सब विज्ञानों के शीर्ष भाग पर गणित का स्थान है।

वैदिक हिंदुओं की गणना-पद्धति दशमलव प्रणाली की है। मिस्रियों की तरह विराट संख्याओं की कल्पना करने की क्षमता हिंदुओं की विशेषता है। हिंदुओं ने विराट संख्याओं के नामकरण तक किए। यजुर्वेद संहिता में विभिन्न संख्याओं के इस प्रकार नामकरण मिलते हैं : एक (१), दश (१०), शत (१००), सहस्र (१,०००), अयुत (१०,०००), नियुत (१००,०००), प्रयुत (१,०००,०००), अर्बुद (१०,०००,०००),न्यर्बुद (१००,०००,०००) समुद्र (१,०००,०००,०००), मध्य (१०,०००,०००,०००), अंत (१००,०००,०००,०००) तथा परार्ध (१,०००,०००,०००,०००)।

इस प्रकार विराट संख्याओं का विभिन्न नामकरण और किसी प्राचीन जाति के इतिहास में नहीं मिलता। ग्रीक गणित में मिरियड या १०,००० से अधिक किसी संख्या का नाम नहीं मिलता। अक्षरों की सहायता से संख्या प्रकाशित करने की दुर्बलता के कारण, बड़ी संख्या बराबर ही ग्रीकों की कल्पना के अतीत रही। साधारण व्यवहार में अवश्य ही हजार से बड़ी संख्या के प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए अयुत, नियुत, प्रयुत आदि के व्यवहार के स्थान पर शत या सहस्र का अवलंबन कर बृहत्तर संख्याओं को प्रकट करने की एक और प्रकार की रीति भी दिखाई पड़ती है। उदाहरण के तौर पर पंचाशत् सहस्र (५०,०००) द्वासप्तति सहस्राणि (७२,०००) इत्यादि।

हमने '१०' के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि घात (Power) की कुछ विशेष संख्याओं के नाम दिए हैं। इनके बीच की संख्याओं को निर्देशित करने के लिए, जोड़, बाकी दोनों धारणाओं का व्यवहार हो सकता है। 'एकादश' (१० + १), 'सप्तविंशति' (२० + ७) इत्यादि नामकरणों में जोड़ और 'एकोन-विंशति' (२० – १) 'एकोन – त्रिंशत्' (३० – १) इत्यादि क्षेत्रों में बाकी का व्यवहार हुआ है। 'ऊनविंशति' या 'ऊनविंश', एकोन-विंशति' शब्द का अपभ्रंश है।

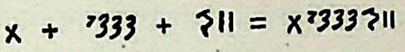


चित्र—४२ : खरोष्ठी संख्या-लिपि

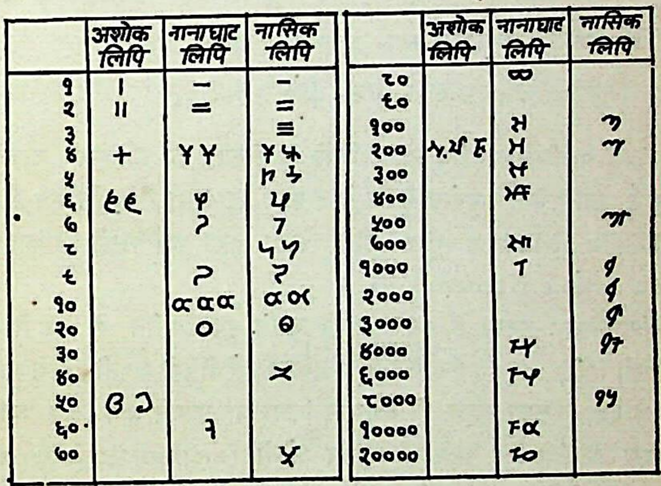
अनुमान किया जाता है कि मोहंजोदड़ो में प्राप्त मुहरों तथा अन्यान्य लिपियों में संख्या लिखने के जो नमूने मिले हैं, वे नितांत प्राथमिक चेष्टाएँ थीं। एक या एकाधिक खड़ी लकीरों की सहायता से संख्या का निर्देश किया जाता था। २०, ३०, ४० आदि बड़ी संख्याओं के लिए विशेष चिह्नों का व्यवहार होता था या नहीं, इसका पता नहीं लगता। मोहंजोदड़ो लिपि का पाठोद्धार अभी तक संभव नहीं हो सका है। भारत में व्यवहृत, इसके बाद की जिन संख्यालिपियों के नमूने मिलते हैं, वे हैं खरोष्ठी और ब्राह्मी। अशोक की शिलालिपियों में इन दोनों संख्या-लिपियों के बहुतेरे नमूने मिले हैं।

प्राचीन गांधार देश (आधुनिक पूर्वी अफगानिस्तान तथा उत्तर-पंजाब) में खरोष्ठी लिपि प्रचलित थी। अशोक की शिलालिपियों में उसका जो नमूना मिलता है, उसमें शक, पार्थियन तथा कुशाणों के काल में बहुत उन्नति हुई दिखाई देती है। उस समय की उन्नत खरोष्ठी संख्या-लिपि का एक नमूना चित्र ४२ में दिया गया है। इस लिपि की उल्लेखनीय विशेषता ४ की संख्या लिखने में है। पहले इस लिपि में ४ लिखा जाता था एक के बाद एक चार खड़ी लकीरों की सहायता से (IIII), उसके बाद फिर एक पूर्णतः नए प्रतीक का आविर्भाव हुआ। इसका ब्राह्मी ४ के '+' से विशेष सादृश्य है। ९ संख्या का कोई नमूना नहीं मिला है। डाक्टर दत्त तथा सिंह का अनुमान है कि यह संभवतः लिखा जाता था IXX। लेकिन, फिर दस लिखने के लिए एक भिन्न प्रतीक की आवश्यकता क्यों पड़ी और X तथा। इन दोनों प्रतीकों के व्यवहार-द्वारा ·II X X के रूप में यह क्यों नहीं लिखा गया, इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। खरोष्ठी संख्या यौगिक नियम का अवलंबन कर आगे बढ़ी थी। ऊपर के चित्र की अंतिम संख्या का दृष्टांत

लीजिए। २७४ का अर्थ है : ४ ७० २०० (दाहिने से बाएँ लिखे जाने पर, क्योंकि खरोष्ठी लिपि के लिखने की यही रीति है।) अतः



खरोष्ठी विदेशी लिपि है। भारत में इसके प्रचलित होने का काल अज्ञात है। कुछ लोगों का अनुमान है कि फारस नरेश दरायूस (अथवा दारयवौष) (ई० पू० ५२२-४८६) की पंजाब-विजय के बाद इस देश में खरोष्ठी का प्रचलन हुआ।



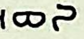
चित्र—४३ : ब्राह्मी संख्या-लिपि।

खरोष्ठी लिपि के पास ही हमें ब्राह्मी लिपि का व्यवहार दिखाई पड़ता है। भारत के विभिन्न स्थानों से विभिन्न कालों की ब्राह्मी संख्यालिपियों के जिन नमूनों का पता चला है, उनमें कोई समता नहीं दिखाई देती और उसकी आशा करना भी असंगत है। समय के व्यवधान और भौगोलिक पृथकता के कारण इस लिपि में अनेक विभिन्नताएँ उत्पन्न हुईं। ई० पू० तीसरी या चौथी शती की अशोक की शिलालिपि में, मध्य भारत में, पूना से ७५ मील दूर नानाघाट पहाड़ की एक गुहा के भीतर (ई० पू० दूसरी शती) और महाराष्ट्र प्रदेश के नासिक जिले में इसी प्रकार की अन्य एक गुहा में (प्रथम और दूसरी शती ई०) ब्राह्मी संख्यालिपि के कुछ नमूने मिलते हैं।

ब्राह्मी लिपि, खरोष्ठी के विपरीत, बाएँ से दाहिने लिखी जाती थी। प्राचीनतम खरोष्ठी तथा सेमेटिक संख्यालिपियों में हम केवल १, १०,

२० तथा १०० के लिए पृथक प्रतीकों का व्यवहार पाते हैं। ब्राह्मी में १ तथा ४ से लेकर ९ तथा १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १००, २००, १०००, २००० आदि प्रत्येक संख्या के लिए भिन्न-भिन्न प्रतीकों का व्यवहार होता था। १०, २०, १००, २०० आदि संख्याओं के प्रतीकों के व्यवहार के दृष्टांत से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि शून्य के व्यवहार और दशमलव स्थानिक अंक-लेखन पद्धति का तब तक आविष्कार नहीं हुआ था।

खरोष्ठी की भांति ब्राह्मी में भी मध्यवर्ती संख्याओं को प्रकट करने के लिए जोड़ के नियम का व्यवहार होता देखा जाता है। जैसे, उपर्युक्त सूची में नानाघाट-लिपि के अनुसार,

२८९ = २०० + ८० + ९ = 

जिन्हें प्राचीन भारतीय संख्या-लिपि के विकास का इतिहास जानने का आग्रह है, उनसे मेरा अनुरोध है कि वे डाक्टर दत्त तथा सिंह लिखित History of Hindu Mathematics और स्मिथ तथा कार्पिन्स्की लिखित The Hindu Arabic Numerals पढ़ें।

अंकगणित : संख्या के संबंध में जो जाति सुदूर अतीत में इतनी अग्रसर हो सकी थी, वह अंकगणित के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी विशेषता का परिचय देगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। हम यहां कुछ उदाहरण दे रहे हैं। पहले समानांतर श्रेणी (arithmatic progression) की बात ले लीजिए। तैत्तिरीय संहिता के कुछ स्थानों में कविताओं के रूप में दी गई निम्नलिखित श्रेणियों का उल्लेख मिलता है * :—

१, ३, ५,...............१९, २९, ३९...९९

२, ४, ६...............२०

४, ८, १२............ २०

५, १०, १५.........१००

१९, २०, ३०.........१००

समानांतर प्रगतियों को सम और विषम, इन दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता था। २५ वें ब्राह्मण में एक गुणोत्तर प्रगति (geometric progression) का दृष्टांत है :—

* The Cultural Heritage of India, Vol 3; रामकृष्ण शतवार्षिकी कमेटी-द्वारा प्रकाशित डाक्टर विभूति भूषण दत्त का निबंध, 'Vedic Mathematics' देखिए।

२४, ४८, ९६, १९२...४९१५२, ९८३०४, १९६६०८, ३९३२१६

श्रौत सूत्र में इस प्रगति का पुनः उल्लेख हुआ है।

समानांतर या गुणोत्तर प्रगति के योगफल-निर्णय की पद्धति वैदिक हिंदू जानते थे। शतपथ ब्राह्मण में समानांतर प्रगति के योगफल-निर्णय का एक दृष्टांत है [३ × (२४ + २८ + ३२ + ...७ राशियों तक) = ७५६]। किसी वर्ग संख्या को किस प्रकार समानांतर प्रगति में रूपांतरित किया जाता है, इसका उल्लेख बौधायन ने किया है।

सहज भिन्नों के जोड़, बाकी और गुणा, भाग से वैदिक हिंदू परिचित थे। शुल्व सूत्र में लिपिबद्ध भिन्न संबंधी गणित के कुछ नमूनों में इसका प्रमाण मिलता है।

$$७\frac{१}{२} \div \frac{१}{२५} = १८७\frac{१}{२};$$

$$\left(२\frac{१}{७}\right)^{२} + \left(\frac{१}{२} + \frac{१}{१२}\right)\left(१ - \frac{१}{३}\right) = ७\frac{१}{२};$$

$$\sqrt{७\frac{१}{९}} = २\frac{२}{३};$$

$$७\frac{१}{२} \div \frac{१}{१५} \text{ का } \frac{१}{२} = २२५।$$

ये दृष्टांत आधुनिक गणित-पद्धति से ही लिखे गए हैं। ऊपर दिए गए दृष्टांतों में से तीसरे में यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें वर्गमूल का ज्ञान था। वर्गमूल के निर्णय में और अपरिमेय (Irrational) राशियों के व्यवहार में वैदिक हिंदू, निस्संदेह, तत्कालीन अन्य जातियों की तुलना में अग्रणी थे। बौधायन, आपस्तंब, कात्यायन-जैसे प्रमुख वैदिक ऋषियों के शुल्वसूत्र में $\sqrt{२}$, $\sqrt{३}$ आदि अपरिमेय राशियों के वर्गमूल निर्भूल रूप से निकालने की चेष्टा दिखाई पड़ती है। ज्यामितीय पद्धति से वर्गक्षेत्र के विभिन्न प्रकार के विभाजन द्वारा निर्णीत $\sqrt{२}$ और $\sqrt{३}$ अपरिमेय राशियों के सन्निकट मान होते हैं :—

(दशमलव भिन्न में निकाले जाने पर)

$$\sqrt{२} = १ + \frac{१}{३} + \frac{१}{३\cdot४} - \frac{१}{३\cdot४\cdot३\cdot४} = १\cdot४१४२१$$

$$\sqrt{३} = १ + \frac{२}{३} + \frac{१}{३\cdot५} - \frac{१}{३\cdot५\cdot५२} - १\cdot७३४६२$$

बीजगणित : वेदी का निर्माण वैदिक यज्ञानुष्ठान का एक अपरिहार्य अंग था। वेदी-निर्माण से न केवल हिंदू ज्यामिति की उत्पत्ति हुई, बल्कि बीजगणित के प्राथमिक विकास को भी इसी से प्रेरणा मिली। वेदी संबंधी ज्यामितीय समस्या से उत्पन्न एकघात और द्विघात समीकरण तथा निर्णेय और अनिर्णेय सह-समीकरण के समाधान के विषय में वैदिक हिंदुओं ने विशेष दक्षता का परिचय दिया है। इन समीकरणों का ज्यामितीय पद्धति से समाधान किया जाता था। शुल्व सूत्र तथा वाख्शाली पांडुलिपि में एक-घात, द्विघात तथा युगपत् समीकरणों के समाधान के अनेक दृष्टांत हैं। एक-घात समीकरण का एक दृष्टांत दिया जा रहा है :—प्रथम राशि अज्ञात है, दूसरी राशि पहली की दुगुनी और तीसरी राशि दूसरी की तीनगुनी है, चौथी राशि तीसरी की चारगुना है; यदि चारों राशियों का जोड़ १३२ हो तो प्रथम अज्ञात राशि क्या है ? आधुनिक पद्धति से अज्ञात राशि को x मान-कर, समीकरण इस प्रकार लिखा जायगा :—

$$x + 2x + 6x + 24x = 132 ।$$

वेदी के क्षेत्र संबंधी परिवर्तन में किस प्रकार विभिन्न घातों की समी-करण-समस्याओं की उत्पत्ति होती है, उनके कुछ दृष्टांत दे रहा हूँ। मान लें कि किसी वर्गक्षेत्र को (भुजा $= a$) एक आयताकार क्षेत्र में रूपांतरित करना है, जिसकी एक भुजा b है; इस क्षेत्र की दूसरी भुजा x क्या है ? अर्थात् $b\,x = a^2$, इस एकघात समीकरण का समाधान करना होगा।

वैदिक यज्ञानुष्ठान में प्राय: 'महावेदी' का उल्लेख मिलता है। यह महावेदी वास्तव में एक समलंब (Trapezium) है, जिसकी दो समानांतर भुजाओं की लंबाई २४ और ३० है और ऊँचाई ३६ है। यदि समानांतर इन दोनों भुजाओं तथा ऊँचाई को समान अनुपात से या x गुना बढ़ाने पर समलंब

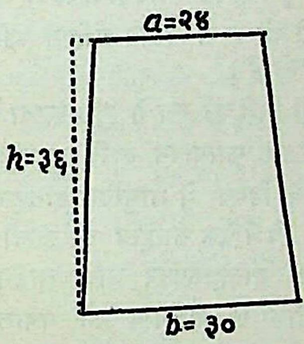
के क्षेत्रफल में m वृद्धि होती है तो x और m का संपर्क कैसा है ? अर्थात् दिखाना यह होगा कि

$$36x \times \frac{(24x+30x)}{2} = 36\frac{(24+30)}{2} + m$$

इस समीकरण का और सरल रूप होगा

$$972x^2 = 972 + m$$

यह द्विघात समीकरण है। शतपथ ब्राह्मण में m के कुछ विशेष मान लेकर इस प्रकार के द्विघात समीकरण का समाधान किया गया है।



चित्र—४४ : सम द्विभुज समलंब

ज्यामिति : उपर्युक्त चर्चा में हिंदुओं के ज्यामिति संबंधी ज्ञान का परिचय मिलता है। समलंब का क्षेत्रफल $h(a+b)/2$ है, यह जानकारी न रहने पर इस प्रकार के समीकरण पर पहुँचना असंभव है। वैदिक युग में ज्यामिति का नाम था 'शुल्व'। शुल्वकारों ने ऋजुरेखीय क्षेत्र की रचना, क्षेत्रफल और आयतन के निर्णय और वृत्त को वर्ग में परिणत करने (squaring the circle) में विशेष दक्षता का परिचय दिया था। शुल्वशास्त्र में वैदिक हिंदुओं की पारदर्शिता से प्रभावित होकर और बौधायन, आपस्तंब जैसे विद्वान शुल्वकारों की उक्तियों का विश्लेषण करके अनेक विशिष्ट इतिहासकारों ने यह धारणा बना ली है कि तथाकथित पाइथागोरस के साध्य के आविष्कर्ता हिंदू थे। साध्य यह है कि किसी समानकोणीय त्रिभुज के कर्ण पर अंकित वर्गक्षेत्रों का क्षेत्रफल उसकी अन्य दो भुजाओं पर अंकित वर्गक्षेत्रों के क्षेत्रफल के समान है। आपस्तंब, बौधायन, कात्यायन आदि प्रख्यात शुल्वकारों ने इस साध्य का वर्णन इस प्रकार किया है : "किसी आयत क्षेत्र का विकर्ण, जो वर्गक्षेत्र उत्पन्न करता है, उसका क्षेत्रफल आयत क्षेत्र की दोनों भुजाओं

पर उत्पन्न वर्ग क्षेत्रों के सम्मिलित क्षेत्रफल के समान है।" हैंकेल, जुंग (Junge) जैसे प्रमुख पाश्चात्य पंडितों का मत है कि पाइथागोरस के नाम से जो साध्य प्रचलित है, वे उसके प्रथम आविष्कारक नहीं थे। सर टॉमस हीथ ने इस साध्य के आविष्कार के संबंध में ग्रीस, मिस्र, भारत तथा चीन के दावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म समीक्षा करके बताया है कि पाइथागोरस इस साध्य के आविष्कर्ता हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं; बल्कि उनका यह अभिमत है कि भारत ने स्वतंत्र रूप से इस साध्य का आविष्कार किया, इसकी प्रबल संभावना है। बौधायन का काल ई० पू० ८०० वर्ष मानकर डाक्टर विभूति भूषण दत्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पाइथागोरस के बहुत पहले ही हिंदुओं को इस साध्य की जानकारी थी। तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में इस साध्य के प्रयोग भी मिलते हैं।

परंतु इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना बहुत कठिन है। कारण यह कि बौधायन, आपस्तंब, कात्यायन आदि का काल अनिश्चित है। ब्राह्मण साहित्य के रचनाकाल के विषय में आधुनिक इतिहासकारों के मत की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। वे वैदिक साहित्य की इतनी प्राचीनता स्वीकार नहीं करते। विज्ञान के प्रसिद्ध इतिहासकार जार्ज सार्टन ने इस आविष्कार के संबंध में भारतीय दावे के औचित्य की समालोचना करते हुए मत प्रकट किया है—"नीचे जिन लेखकों के नाम दिए गए हैं, उनमें से कुछ (उदाहरणार्थ जी० मील्हो, १९१०) का यह दावा है कि पाइथागोरी ज्यामिति को संभवतः हिंदू नमूनों से आंशिक प्रेरणा मिली। उनका तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि आपस्तंब की रचना की अतीव प्राचीनता एक प्रमाणित तथ्य है, परंतु ऐसा है नहीं। शुल्व सूत्रों (जीवा के नियमों) की तिथियाँ इतनी अनिश्चित हैं कि भूमिका के इस भाग में मैं उनकी चर्चा नहीं कर सकता......यह बहुत संभव है कि शुल्वसूत्रों की तिथि ई० पू० ५०० के बाद और ईसाई संवत् के पहले हो।"*

G. Sarton, Introduction to the History of Science, vol 1, p. 74) (मूल अंग्रेजी उद्धरण का हिंदी रूपांतर)

* हिंदू बौधायन, (ईसा पूर्व ८००) जिनके शुल्व में इस प्रमेय (theorem) की व्यापक प्रतिज्ञा (general enunciation) मिलती है, पाइथागोरस से अत्यंत प्राचीन था। इसके प्रयोग के दृष्टांत बौधायन श्रौत और शतपथ ब्राह्मण में मिलते हैं। (ई० पू० २०००) इन्हें तैत्तिरीय तथा अन्य संहिताओं के समान ही प्राचीन मान लिए जाने के यथेष्ट प्रमाण हैं। (ई० पू० ३०००) "Vedic Mathematics", Cultural Heritage of India, p 385,

इस काल का निश्चित निर्णय न होने तक, यह प्रश्न कि वैज्ञानिक आविष्कार पहले कहाँ हुआ, बराबर तर्क-वितर्क का विषय बना रहेगा।

चीन

च्युचांग सुआन-शू : वेबीलोन-मिस्र या भारत की तरह चीन की गणित-गवेषणा भी बहुत प्राचीन है। च्युचांग सुआन-शू (chiu-chang Suan-shu) अथवा '९ खंडों में अंकगणित' चीन देश का प्राचीनतम गणित-ग्रंथ है। ईसापूर्व दूसरी शती में च्यांग सांग (मृत्यु ई० पू० १५२) नामक एक गणितज्ञ ने इस अंकगणित का व्यापक संस्कार किया। च्युचांग सुआन-शू का यही संस्करण अभी तक सुरक्षित है। मूल ग्रंथ की रचना किसने की और कब इसकी रचना हुई, इसका कोई निश्चित पता नहीं चलता। चीनी लेखकों का खयाल है कि ई० पू० २७००-२६०० के बीच इस ग्रंथ की रचना हुई होगी।

चीन के प्राचीन गणित-ज्ञान की जानकारी के लिए च्युचांग सुआन-शू निस्संदेह एक मूल्यवान ग्रंथ है। इसके नौ खंडों में क्रमानुसार निम्नांकित विषयों की चर्चा की गई है—(१) क्षेत्र ज्यामिति, भिन्न, (२) त्रैराशिक नियम (Rule of Three) संबंधी विविध प्रश्न, (३) साझेदारी, (४) वर्गमूल तथा घनमूल का निर्णय, (५) घन-ज्यामिति, (६) मिश्र प्रक्रिया, (७) लाभ-हानि का अंक, (८) एकाधिक अज्ञात राशि समन्वित एक घात समीकरण, (९) पाइथागोरीय साध्य।*

क्षेत्र-ज्यामिति की चर्चा के सिलसिले में त्रिभुज, समलंब, वृत्त तथा वृत्तांश के क्षेत्रफल निकालने के नियम दिए हुए हैं। उदाहरण के रूप में,

त्रिभुज का क्षेत्र = $\frac{1}{2}ah$; भूमि = a; ऊँचाई = h;

समलंब का क्षेत्र = $\frac{1}{2}(a_1 + a_2)h$; a_1, a_2) = समानांतर भुजद्वय; h = ऊँचाई;

वृत्त का क्षेत्र = $\frac{1}{4}cd$
या = $\frac{3}{4}d^2$
या = $\frac{1}{12}c^2$ } c = परिधि, d = व्यास

वृत्तांश का क्षेत्रफल = $\frac{1}{2}(ch + h^2)$;
c = ज्या; h = ऊँचाई।

---

* G. Sarton, Introduction to the History of Science, vol I. p. 183.

तनिक ध्यान देने से ही पता चल जाता है कि चीनी लोग π का मूल्य ३ मानकर वृत्त के क्षेत्रफल का निर्णय करते थे। घन-ज्यामिति में त्रिपार्श्व, वेलन, पिरामिड, शंकु, कीलक आदि घनों के आयतन-निर्णय के नियमों की चर्चा की गई है।

च्यु चांग में आलोचित विविध प्रश्नों का एक नमूना दिया जाता है। १० फुट ऊँचे बांस का ऊपरी हिस्सा टूटकर, उस बांस के मूल से ३ फुट की दूरी पर भूमि स्पर्श करे तो बांस कितने ऊपर से टूटा है। उच्चता का मान x मान लिया जाय तो उत्तर इस प्रकार दिया गया है :

$$x=\frac{10}{2}-\frac{3^2}{2\times10} \quad *$$

भारतीय गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त ने (जन्म ईस्वी ५९८) इस प्रकार के अनेक प्रश्नों की चर्चा की।

एक और प्रश्न में कहा गया है कि किसी वर्गाकार शहर की चारों सीमाओं के ठीक मध्य में एक-एक तोरण है। उत्तर सीमा के तोरण से २० गज उत्तर एक वृक्ष है। दक्षिण तोरण से १४ गज दक्षिण एक स्थान से और फिर वहां से १७७५ गज दूर चलकर जहां पहुँचा जाता है, वहाँ से वृक्ष दिखाई पड़ता है। उस वर्गीकृत नगर की भुजा की लंबाई क्या है ? समीकरण का रूप इस प्रकार है :—

$$x^2+(20+14)x-(2\times10\times1775)=0 \quad **$$

हम देख सकते हैं कि उस समय के चीनी गणितज्ञ द्विघात समीकरण से परिचित थे। धनात्मक और ऋणात्मक संख्याओं का भी वे व्यवहार करते थे।

सान-त्जू सूआन-चिंग : च्यांग सांग के बाद के उल्लेखनीय चीनी गणितज्ञ थे सानत्जू। वे ईस्वी प्रथम शती के अंतिम भाग में जीवित थे और 'सान-त्जू सूआन चिंग' अर्थात् 'सान-त्जू का गणित' नामक ग्रंथ की उन्होंने रचना की थी। तीन खंडों में लिखित यह ग्रंथ 'च्यु-च्यांग' से कहीं अधिक प्रणालीबद्ध है। आलोच्य विषयों में अनिर्णेय समीकरण, संख्या, तोल तथा माप-पद्धति उल्लेखनीय हैं। एक खंड में पदार्थ के घनत्व के विषय में चर्चा की गई है।

* F. Cajori, 'A History of Mathematics,' Macmillan, 1926, p. 72.

** Cajori, loc cit.

उनके बाद के चीनी गणितज्ञों की चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी। ग्रीकों के आविर्भाव से पहले वेबीलोनियों, मिस्रियों तथा वैदिक हिंदुओं के समकालीन चीनियों का गणित-ज्ञान किस प्रकार का था, इस विषय में दो-एक बात कहने की मैंने चेष्टा की है। यह जानने का एकमात्र निर्भरयोग्य सूत्र है च्युचांग सुआन-शू। परंतु च्यांग स्यांग के संस्करण में, ग्रंथ के प्राचीनतम अंशों को कहाँ तक समुचित रूप से संरक्षित रखा गया है, यह कहना कठिन है। उसमें, इसके बाद के काल के उन्नततर ज्ञान प्रक्षिप्त नहीं हैं, यह कौन कह सकता है?

ज्योतिर्विद्या का आदि इतिहास

हम कह चुके हैं कि प्राचीन काल में पृथ्वी में सर्वत्र गणित-चर्चा को मुख्यतः ज्योतिष से प्रेरणा मिली। पुनः इस ज्योतिष का उद्भव कृषि-निर्भर अर्थ-नीति से हुआ। प्राचीन सुमेर तथा मेसोपोटामिया की समृद्धि का अन्यतम कारण था गेहूँ, जौ आदि अनाजों की खेती और इस खेती की उन्नति के लिए, ताइग्रिस-युफ्रेतिस की घाटी में, नदियों से नहर निकालकर, नियमित सिंचाई की व्यवस्था। इस प्रकार की आवर्ती चेष्टा के लिए समय का हिसाब रखना अत्यावश्यक है। कब ऋतु-परिवर्त्तन हो रहा है, कब पुराना वर्ष समाप्त होकर नया आरंभ होगा, यदि इसकी जानकारी न हो, तो कृषि-निर्भर अर्थनीति की सफलता की आशा बहुत क्षीण हो जाती है। प्राथमिक ज्योतिर्विद्या के आविर्भाव के लिए यह अत्यंत अनुकूल अवस्था थी।

दिन, महीना और वर्ष : समय निर्धारण के लिए दिन और रात का परिवर्तन, पहले से ही एक अति निर्भरयोग्य मापदंड समझा गया था। सूर्योदय और सूर्यास्त ने ही पहले-पहल काल की गति के संबंध में मनुष्य को सचेत किया। जब इससे अधिक लंबे समय के मापदंड या इकाई की जरूरत पड़ी, तब चंद्रकला की नियमित घट-बढ़ पर उसकी दृष्टि गई। धीरे-धीरे चंद्रकला के आवर्त्तन के संबंध में मनुष्य की एक निश्चित धारणा बनी। एक अमावस्या से दूसरी अमावस्या तक पहुँचने में सूर्य का तीस बार उदयास्त होता है, यह जानकारी संभवतः वर्षों के दीर्घ पर्यवेक्षण का फल है। चंद्र के पर्याय-काल का निश्चय हो जाने के बाद ऋतु-परिवर्तन का हिसाब रखना बहुत सहज हो गया एक शीतकाल बीत जाने पर दूसरा शीतकाल आने तक कितनी बार सूर्य का उदयास्त होता है, यह हिसाब रखना अधिक सरल है। इसी प्रकार धीरे-धीरे

प्राचीन कृषि-निर्भर जातियों में सब से पहले दिन, महीना और वर्ष की धारणा उत्पन्न हुई।

बेबीलोनी जो पंचांग ई० पू० २००० वर्ष से भी पहले से व्यवहार करते आए थे, उसमें ३० दिन का एक महीना और १२ महीने या ३६० दिन का एक वर्ष निर्धारित किया गया था। हम अब यह जानते हैं कि पृथ्वी-द्वारा सूर्य की परिक्रमा के कारण ऋतु-परिवर्तन घटित होता है। इस परिक्रमा का आवर्तन काल ३६० नहीं, बल्कि ३६५. २४२२ दिन है। चंद्र के पर्याय-काल के अनुसार वर्ष का हिसाब रखना हो तो कुछ ही वर्षों बाद यह देखा जायगा कि ऋतुओं के आविर्भाव के समय अनियमित रूप से आगे-पीछे हो रहे हैं; ३६० दिन के वर्ष के घेरे में उन्हें डाल रखना असंभव हो रहा है। तंग करने-वाली इस असुविधा से, बेबीलोनी अति प्राचीनकाल से ही अवगत थे। सौर मास के साथ चांद्र मास की असंगति को दूर करने के लिए उन्होंने कुछ वर्षों के अंतर पर एक-एक मलमास की योजना का कौशल निकाला; अर्थात् बीच-बीच में १३ महीने के वर्ष की विधि आयोजित की गई। किस वर्ष में मलमास की योजना होगी, यह स्वयं राजा, राजपुरोहितों के परामर्श से, निर्धारित करते थे।

पर्यवेक्षण की उन्नति के साथ बेबीलोनी निश्चित रूप से यह निर्णय करने में समर्थ हुए कि चांद्र मास में ठीक कितने दिन होते हैं। ई० पू० ५०० में नबरियान्नू ने और ई० पू० ३८३ में किदिन्नू ने चांद्रमास का जो हिसाब लगाया, उसका आधुनिक हिसाब से आश्चर्यजनक मेल है।

नबरियान्नू (अनुमानतः ई० पू० ५००)	—२९·५३०६१४ दिन
किदिन्नू (अनुमानतः ई० पू० ३८३)	—२९·५३०५९४ दिन
आधुनिक हिसाब	—२९·५३०५९६ दिन

राशि चक्र : सूर्य और चंद्र की जो दैनिक गति दीख पड़ती है, आकाश के स्थिर नक्षत्रों के अनुपात में उनकी एक और प्रकार की गति है, बेबीलोनी नक्षत्र-दर्शकों ने इस सत्य का आविष्कार किया था। साधारण दृष्टि से देखने पर ऐसा जान पड़ता है कि सूर्य, चंद्र तथा अन्य ग्रह, आकाश में एक विशेष मार्ग पर, कोई द्रुत गति से और कोई धीमी गति से, पृथ्वी का परिक्रमण कर रहे हैं। इस परिक्रमण-मार्ग पर जो तारामंडल अवस्थित हैं, उन्हें चिह्नित करके

तथा उनको विभिन्न नाम देकर बेबीलोनी ज्योतिर्विदों ने एक राशि-चक्र की परिकल्पना की थी। सूर्य प्रतिवर्ष में एक बार संपूर्ण राशि-चक्र के चारों ओर घूमकर लौटता है, इसे बारह समान भागों में विभाजित करने पर हर महीने राशि चक्र में सूर्य की प्रगति निश्चित हो जाती है। एक-एक भाग के प्रधान नक्षत्र या तारामंडल के सादृश्य की कल्पना करके, किसी भाग का नाम वृष, किसी का कर्कट, किसी का वृश्चिक आदि रखा गया। ये नितांत काल्पनिक नाम (समय के साथ) लोगों के मन में ऐसे जम गए कि राशि-चक्र के तारामंडलों के वे पुराने नाम आज भी चले आ रहे हैं। किसी-किसी स्थान में जीव-जंतुओं के बदले उस देश के पौराणिक वीरों या देव-देवियों के नाम पर तारामंडलों के नामकरण किए गए। इस प्रकार का नामकरण भी ज्योतिर्विद्या की अति प्राचीनता का एक और प्रमाण है।

सप्ताह तथा वार : सप्ताह और वार बेबीलोनियों का एक और उल्लेखनीय आविष्कार है। उन्होंने सप्ताह के आविष्कार के पहले महीने के संभवतः ६ भाग किए थे। एक भाग ५ दिन का था। बाद को उन्होंने ७ दिन का सप्ताह मानकर महीने को मोटे तौर पर ४ भागों में विभाजित किया। यह निश्चित है कि सात ग्रहों के आविष्कार से ही उनके दिमाग में सप्ताह की धारणा उत्पन्न हुई। सप्ताह का प्रत्येक दिन एक-एक देवता के नाम पर रखा गया था। देवता एक-न-एक ग्रह थे। जिस प्रकार सप्ताह के सात दिनों के नामकरण किए गए थे और जिस प्रकार उनके आवर्तन काल निर्धारित किए गए थे, वह एक दिलचस्प बात है। ग्रहों तथा ग्रहाधिपति बेबीलोनी देवताओं के ये नाम हैं—

	ग्रह—शनि	बृहस्पति	मंगल
	१	२	३
बेबीलोनी देवता—	निनिब	मार्दुक	नेर्गाल
	(महामारी)	(राजा)	(युद्ध)
रवि	शुक्र	बुध	चंद्र
४	५	६	७
शामाश	इश्तार	नाबू	सिन
(न्याय)	(प्रेम)	(लेखन)	(कृषि)

पृथ्वी से ग्रहों की दूरी के अनुसार (जैसा कि उन्हें जान पड़ा) ग्रहों को विपरीत दिशा से सजाया गया है।

बेबीलोनियों ने दिन को २४ घंटों में विभाजित किया था। उपर्युक्त देवता बारी-बारी से हर घंटे पर दृष्टि रखते थे। दिवारंभ के प्रथम घंटे में जिस देवता के पहरा देने की बात है, उसी के नाम पर दिन को उत्सर्ग किया जाता था। उदाहरण के तौर पर शनिवार के पहले घंटे के पहरेदार थे शनिग्रह या निनिब देवता (१), दूसरे घंटे का भार था बृहस्पति (२) पर, उसके बाद के घंटे का दायित्व मंगल (३) पर था, इत्यादि।

घंटा—	१	२	३	४	५	६	७।	८	९	१०	११	१२	१३	१४।
पहरेदार देवता—	१	२	३	४	५	६	७।	१	२	३	४	५	६	७।
घंटा—	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१।							
पहरेदार देवता—	१	२	३	४	५	६	७।							
घंटा—	२२	२३	२४	२५।										
पहरेदार देवता—	१	२	३	४।										

ऊपर के हिसाब में आप देखेंगे कि शनिवार के अंतिम घंटे का भार पड़ा है मंगल ग्रह पर। इसलिए अगले दिन के पहले घंटे का दायित्व रवि का है। अतः अगला दिन रविवार है। इस तरह हिसाब लगाने पर क्रमानुसार वारों के नाम मिल जायँगे।*

पंचांग रचना में वार का कोई ज्योतिषीय महत्त्व नहीं है। लेकिन समय के साथ मानव जीवन में यह ऐसा जुड़ गया है कि वर्ष और मास की तरह काल-निर्णय के संबंध में इसे भी एक बड़ा मापदंड समझा जाता है। आधुनिक अति उन्नत ज्योतिष-ज्ञान के आधार पर बहुत सरल तथा विज्ञान-सम्मत पंचांग की रचना संभव होने पर भी वार संबंधी अंधविश्वास इस दिशा में एक प्रधान बाधा है।

ग्रह-गति : ग्रहों की गति संबंधी प्रेक्षणों को बेबीलोनी नक्षत्र-दर्शकों ने बिना किसी त्रुटि के लिपिबद्ध किया था। उनके जमाने में बिल्कुल ठीक समय

* M. N. Saha, "The Reform of the Indian Calendar" (a pamphlet), Indian Science News Association; 1952, p. 18.

मालूम करने का कोई यंत्र नहीं था । जलघड़ी और सूर्यघड़ी का व्यवहार वेबीलोनी जानते थे, लेकिन इन घड़ियों की सहायता से दिन के एक क्षुद्र अंश का निश्चित हिसाब लगाना बहुत ही कठिन काम था । इसकी अपेक्षा, ग्रहों की गति तथा उस गति की बहुविध विचित्रता के विषय में उन्होंने जिन तथ्यों का आविष्कार किया, वे आश्चर्यजनक रूप से त्रुटिहीन प्रेक्षण के परिचायक हैं । शुक्र ग्रह ८ वर्ष में पांच वार ठीक एक ही स्थान पर दिखाई देता है, इस तथ्य का आविष्कार वेबीलोनी नक्षत्र-दर्शकों ने ईसा के जन्म के प्रायः दो हजार वर्ष पहले किया था । चांद्रमास ठीक कितने दिनों का होता है, इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है । इस प्रकार के उनके दो और महत्त्वपूर्ण ज्योतिषीय आविष्कार हैं—ग्रहण से पहले उसका काल-निर्णय और विषुव-अयन (Procesion of the equinoxes) ।

सूर्यग्रहण और चंद्रचक्र (Saros) : हम जानते हैं कि सूर्य और पृथ्वी के बीच चाँद के आ जाने से सूर्य पर सामयिक आवरण पड़ जाता है और इससे सूर्य-ग्रहण होता है । सूर्य, चंद्र और पृथ्वी का परिक्रमण यदि एक ही समतल (Plane) पर से होता तो हर महीने अमावस्या पर सूर्य-ग्रहण हुआ करता । परंतु ऐसा नहीं होता, क्योंकि पृथ्वी और चंद्र के परिक्रमण-मार्ग एक ही समतल पर अवस्थित नहीं हैं । वेबीलोनियों ने आविष्कार किया कि हर ६५८५ वें दिन या १८ वर्ष ११⅓ दिन के व्यवधान पर सूर्यग्रहण हुआ करता है । सूर्यग्रहण के इस आवर्तन-चक्र का नाम 'सारोनिक चक्र' (Saronic cycle) या संक्षेप में चंद्र चक्र (Saros) है । सारोनिक चक्र के आविष्कार के परिणामस्वरूप वेबीलोनी ज्योतिर्विद् सूर्यग्रहण के संबंध में भविष्यवाणी कर सकते थे । ग्रीकों ने वेबीलोनियों से यह पद्धति सीखी और संभवतः इसी पद्धति के सहारे प्रसिद्ध ग्रीक वैज्ञानिक थालेस सूर्यग्रहण की भविष्यवाणी कर सकते थे । १८ जुलाई १८६० ई०; २९ जुलाई १८७८ ई० और ९ अगस्त १८९६ ई० में जो सूर्यग्रहण हुए, वे सारोनिक चक्र के आधुनिक दृष्टांत हैं ।

विषुव-अयन : विषुवायन (Procession of the equinoxes) के आविष्कार के साथ यद्यपि ग्रीक ज्योतिर्विद हिपार्कस (ई० पू० १९०-१२०) का नाम घनिष्ठ रूप से संबद्ध किया जाता है, परंतु इसके कोई २०० वर्ष पहले वेबीलोनी ज्योतिर्विद किदिन्नू ने यह महत्त्वपूर्ण आविष्कार किया था । लगातार कई हजार वर्ष तक नक्षत्रों के अवलोकन के परिणामों की समीक्षा

करते हुए किदिन्नू ने लक्ष्य किया कि अंतरिक्ष में नक्षत्रों के अवस्थान, प्रत्येक क्षेत्र में, परंतु समान रूप से, बदल गए हैं। इससे उन्हें प्रत्यय हुआ कि दोनों गोलार्द्धों में विषुवायन क्रमिकरूप से हटते जा रहे हैं। हिपार्कस, किदिन्नू के आविष्कार की बात जानते थे या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन वेबीलोनी नक्षत्र-तालिका की परीक्षा करते समय, उन्होंने भी इस सत्य की उपलब्धि की थी, यह एक तरह से सुनिश्चित है। हिपार्कस तथा कोपर्निकस की ज्योतिषीय गवेषणा के प्रसंग में विषुवायन की फिर एक बार चर्चा की जायगी।

त्रुटिहीन पर्यवेक्षण के अतिरिक्त, इस प्रकार के ज्योतिष-ज्ञान का एक और मुख्य कारण यह है कि वेबीलोनी नक्षत्र-दर्शक अपने ज्योतिषीय प्रेक्षण, परम निष्ठा के साथ और सिलसिलेवार लिपिवद्ध करते गए थे। ई० पू० ७४७ में नवोनसोर के राजत्वकाल से ई० पू० १०० वर्ष तक लगातार प्रेक्षण तथा उन प्रेक्षणों के सारणी के आकार में लिपिवद्ध किए जाने के एक दृष्टांत की खोज इतिहासकारों ने की है। ई० पू० ३०० वर्ष से भी पहले के, लगातार किए गए कुछ ज्योतिषीय प्रेक्षणों की मृण्मय लिपियाँ सुमेर के एक मंदिर में मिली हैं। हाम्मूराबी (ई० पू० २०००) के एक अनुशासन से पता चलता है कि वेबीलोन के राजा लोग ही ज्योतिषीय कार्यकलाप के प्रधान पृष्ठपोषक थे। ज्योतिर्विद और नक्षत्र-दर्शक राजा के आदेश से नियुक्त होते थे। उनके काम थे नियमित रूप से ग्रह-नक्षत्रों के अवस्थान और गति का निरीक्षण करते जाना, मास, वर्ष तथा ऋतु आदि के आविर्भाव की बातों से राजा को अवगत कराना और पंचांग-रचना तथा संस्कार-साधन के कामों में राजा की सहायता करना। अनेक क्षेत्रों में राजा स्वयं ही राज्य के सर्वोच्च पुरोहित और ज्योतिर्विद थे।

ब्रह्मांड परिकल्पना : वेबीलोन निवासी ब्रह्मांड की परिकल्पना में, अपने उन्नत प्रेक्षण के अनुपात में विशेष कुशलता का परिचय नहीं दे पाए। उनकी यह धारणा थी कि पृथ्वी किसी बंद संदूक की तरह है; इस बक्स के मध्य में पृथ्वी का भूभाग है, इस भूभाग के केंद्र से एक विशाल पहाड़ ऊपर को उठा है, युफ्रेतीस नदी इसी पहाड़ से निकली है। यह भूभाग चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है। इस समुद्र से परे स्वर्गीय पर्वतमाला आकाश

को धारण किए हुए है।* कुछ बेबीलोनी ज्योतिर्विदों को पृथ्वी के गोलाकार रूप की कल्पना करते हुए भी देखा जाता है।

कल्पनाशील ग्रीकों ने बेबीलोनी ज्योतिष की परिकल्पना की दरिद्रता को दूर किया। ज्योतिषीय परिकल्पना के रचना-कार्य में ज्यामिति तथा गणित का प्रयोग करके उन्होंने ब्रह्मांड तथा नक्षत्र-जगत के चित्रांकन का जो प्रयास किया, उसकी तुलना बेबीलोनी अथवा ग्रीक-पूर्व किसी भी जाति के ज्योतिष में नहीं मिलती। परंतु प्रेक्षण-ज्योतिष में ग्रीक दुर्बल थे। ग्रीकों के वैज्ञानिक गवेषणा के दीर्घ इतिहास में लगातार तथा एकनिष्ठ रूप से ज्योतिषीय प्रेक्षण के दृष्टांत प्रायः नहीं के बराबर हैं। एशिया माइनर के तट पर आयोनी (Ionian) ग्रीकों को पहले-पहल बेबीलोनी प्रेक्षणों की जानकारी मिली। लेकिन फारस (ईरान) के आक्रमण के परिणामस्वरूप, एशिया से भगाए जाने पर, ग्रीकों की यह सुविधा नष्ट हो गई। प्राध्यापक एंटनी पैनकोएक ने दिखायी है कि सिकंदर की दिग्विजय के बाद पश्चिम-एशिया तथा मध्यपूर्व पुनः ग्रीकों के अधीन होने पर, ग्रीक ज्योतिर्विदों को बेबीलोन के ज्योतिषीय प्रेक्षणों से लाभ उठाने का अवसर प्राप्त हुआ। बेबीलोनी प्रेक्षणों का व्यवहार कर सकने के कारण ही हिपार्कस, टॉलेमी जैसे परवर्ती प्रमुख ग्रीक ज्योतिर्विदों को भू-केंद्रीय परिकल्पना की रचना में अभूतपूर्व सफलता मिली।**

मिस्र

ज्योतिषीय गवेषणा में प्राचीन मिस्र, बेबीलोन की भाँति प्रगतिशील भले ही न रहा हो, परंतु ज्योतिषीय पर्यवेक्षण तथा पंचांग-रचना-संबंधी उसका इतिहास भी बहुत प्राचीन है। मिस्र निवासियों ने चांद्रमास के आधार पर वर्ष का हिसाब ई० पू० ४२३६ से रखना शुरू किया। चांद्र वर्ष से वर्ष-निर्णय की असुविधा से वे बेबीलोन निवासियों की अपेक्षा अधिक पहले से परिचित थे। नीलनदी की नियमित बाढ़ से ही इस असंगति का पता चल गया था। इस असंगति की जानकारी होने पर भी बहुत दिनों तक मिस्र में पंचांग-संस्कार की कोई चेष्टा नहीं हुई। संभवतः पुरोहितों और राजाओं के रूढ़ि-जनित

* G. Maspero, "The Dawn of Civilization," 1910.

**प्राध्यापक ऐंटनी पैनकोएक ने रायल एस्ट्रानोमिकल सोसायटी के जार्ज डार्विन भाषण में यह मत व्यक्त किया। इस भाषण के सारांश के लिए Nature, Vol 16, April 9, 19 2, p 656 देखिए।

विरोध के कारण यह संभव नहीं हो सका। हम देखते हैं कि मिस्री पंचांग में सौर वर्ष का प्रचलन लगभग ई० पू० २००० वर्ष से आरंभ हुआ। नीलनदी में पहली बाढ़ जून के महीने में आती है। मिस्रवासियों ने देखा कि ठीक इसी समय आकाश में साक्टिस (Soktis) नक्षत्र का आविर्भाव होता है। इस नक्षत्र का ग्रीक नाम सिरिअस (Sirius) और भारतीय नाम लुब्धक है। उन्होंने नक्षत्र के आविर्भाव से ही वर्ष का हिसाब लगाना शुरू किया। इस सुधार के बाद मिस्री सौर वर्ष तो ३६५ दिन का निर्धारित हुआ, परंतु ३० दिन का एक महीना और १२ महीनों का एक वर्ष, यह हिसाब भी कायम रहा। बाकी ५ दिन किसी महीने में न जोड़कर, वर्ष के अंत में जोड़ा जाने लगा। इस अतिरिक्त पाँच दिन का नाम पड़ा 'एपागोमेना' (Epagomena)। विविध मिस्र देव-देवियों की पूजा-अर्चना और उत्सव आदि के लिए ये पाँच दिन उत्सर्ग किए गए। *

'सोथिक' काल-चक्र : फिर भी कुछ त्रुटि रह गई। वास्तविक सौर वर्ष से यह चौथाई अथवा २४२२ दिन कम है। प्रतिवर्ष १।४ दिन की कमी होने के कारण, १४६१ वर्षों में पूरे एक वर्ष का व्यवधान हो जाता है अर्थात् लुब्धक नक्षत्र के आविर्भाव का दिन, थोड़ा-थोड़ा पिछड़ता जायगा और १४६१ वर्ष के बाद फिर वह वर्ष के पहले दिन दीख पड़ेगा। इस अवधि का नाम सोथिक काल-चक्र (Sothic cycle) है। इस काल-चक्र का मिस्रियों ने आविष्कार किया; परंतु इस असंगति को दूर करने के लिए उन्होंने फिर १४६१ वर्ष तक प्रतीक्षा नहीं की। उन्होंने हर ४ वर्ष के बाद, वर्ष के अंत में ५ दिन के बजाय ६ दिन जोड़ना शुरू किया और इस प्रकार वर्ष के साथ ऋतु का अथवा नीलनदी की बाढ़ का सामंजस्य बनाए रखा। इसका अर्थ यह है कि आधुनिक 'लीप ईयर' का आविष्कारक मिस्र है। यह कहना अनावश्यक है कि मिस्री पंचांग सरल और विज्ञान-सम्मत है। प्राचीन काल में प्रायः सभी जातियों ने इस पंचांग की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली थी। फारस-नरेश दरायुस ने ई० पू० ५२० में इस पंचांग को अपने राज्य में प्रचलित किया। इसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके कॉप्ट, आर्मेनी आदि जातियाँ आज भी इस पंचांग का व्यवहार कर रही हैं। राशि-चक्र और आकाश में विभिन्न ताराओं तथा तारामंडलों से मिस्रवासी परिचित थे; नक्षत्र-मानचित्र-रचना में वे पारदर्शी थे। ध्रुवतारा के चारों ओर के नक्षत्रों

* M. N. Saha. "The Reform of the Indian Calendar", Science and Culture, Vol. 18, No 2, August, 1952.

का उन्होंने बड़े ध्यान से अध्ययन किया था। ध्रुव तारा से वास्तविक उत्तर दिशा का निर्णय करके मिस्र-निवासी मंदिर-स्थापना या पिरामिड-निर्माण के काम में अग्रसर होते थे। संभवतः ध्रुव तारा की सहायता से याम्योत्तर (meridian) का निर्णय करके, पिरामिड की भुजा, उसकी समानांतर रेखा पर संस्थापित होती थी। बृहत्तम पिरामिड की भुजा से याम्योत्तर-रेखा का कोणीय अंतर केवल २′ ३०″ है।

ब्रह्मांड-परिकल्पना : मिस्री और बेबीलोनी ब्रह्मांड-परिकल्पनाएँ बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। पृथ्वी एक लंबे बक्से की भाँति है; भूपृष्ठ बिलकुल समतल न होकर कुछ-कुछ कटोरे की तरह है। मिस्र इस पृथ्वी के मध्यस्थल पर अवस्थित है। एक विशाल नदी ने इस भू-भाग को चारों ओर से घेर रखा है। इस नदी में एक नाव सूर्य को लेकर घूमती रहती है। नीलनदी इस विशाल नदी की एक छोटी-सी शाखा मात्र है। बक्स के चारों कोनों पर चार पहाड़ आकाश को धारण किए हुए हैं।* बेबीलोनी परिकल्पना से इसका अंतर नाममात्र का है। जो कुछ है, उसका कारण यह है कि इस पर मिस्र की भौगोलिक विशेषताओं की छाप पड़ी है।

भारत

कृषि के लिए मास, ऋतु, वर्ष आदि का हिसाब रखने की आवश्यकता का अनुभव, अन्य प्राचीन सभ्य जातियों की भाँति, वैदिक युग के भारतीयों ने भी किया था। परंतु इस देश में कृषि की तुलना में यज्ञादि धर्मानुष्ठान ज्योतिष-विज्ञान के विकास में कहीं अधिक सहायक हुए। हम यह जानते हैं कि वैदिक हिंदू विभिन्न ऋतुओं पर, कभी-कभी वर्ष भर ही, नाना धर्मानुष्ठानों का पालन करते थे। इन क्रियाओं के लिए पंचांग की रचना अनिवार्य है। वैदिक युग के मध्यकाल में जब ब्राह्मणादि ग्रंथों की रचना हुई थी, भारत में ज्योतिर्विद्या का विशेष उत्कर्ष हुआ। ब्राह्मण ग्रंथों के युग में ज्योतिष की गिनती एक स्वतंत्र विद्या के रूप में होने लगी थी। ब्राह्मण साहित्य में ज्योतिष को 'नक्षत्र-विद्या' और ज्योतिर्विद को 'नक्षत्र-दर्श' अथवा 'गणक' कहा गया है। बेबीलोनियों ने भी अपने ज्योतिर्विदों को नक्षत्र-दर्शक (Star gazer) का नाम दिया था।

---

* Maspero, loc. cit.

मास, वर्ष : प्रारंभ में वैदिक हिंदू ३० दिन का महीना और १२ महीने या ३६० दिन का वर्ष मानकर पंचांग बनाते थे। १३ मास के वर्ष के भी अनेक दृष्टांत मिलते हैं। यह तेरहवाँ महीना मलमास है। चांद्र और सौर वर्षों के बीच संगति स्थापित करने का यह एक कौशल मात्र था। चांद्र मास और सौर मास, दोनों के नामों का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है; जैसे—

चांद्र मास	सौरमास	ऋतु
फाल्गुन	तपस्	
चैत्र	तपस्य	शीत
वैशाख	मधु	
ज्येष्ठ	माधव	वसंत
आषाढ़	शुक्र	
श्रावण	शुचि	ग्रीष्म
भाद्र	नभस्	
आश्विन	नभस्य	वर्षा
कार्तिक	इष	
अग्रहायण	उर्ज	शरत्
पौष	सहस	
माघ	सहस्य	हेमंत

साधारणतया चांद्र मास का ही व्यवहार होता था। मास का आरंभ पूर्णिमा (किन्हीं क्षेत्रों में अमावस्या) से होता था। जिस पूर्णिमा के दिन चंद्र का अवस्थान पूर्वा-फाल्गुनी नक्षत्र में होता था, वह वर्ष का अंतिम दिन माना गया। इस समय सूर्य का अवस्थान मकर संक्रांति में होता है। अगले दिन से वर्ष का पहला महीना फाल्गुन शुरू होता है। कभी-कभी, पूर्वा-फाल्गुनी नक्षत्र में पूर्णिमा पर वर्ष समाप्त करने की आवश्यकता के चलते तेरह महीने का वर्ष करना पड़ता था। वर्ष के दो भाग थे। सूर्य का अवस्थान मकर-संक्रांति से हटकर कर्कट-संक्रांति में होने तक प्रथम भाग था, जिसका नाम उत्तरायण रखा गया; और फिर कर्कट-संक्रांति से चलकर मकर-संक्रांति पर लौटने तक दूसरा भाग था, जिसका नाम दक्षिणायन रखा गया। कुछ पंडितों के

मतानुसार (जैकूबी) कर्कट-संक्रांति से ही वैदिक वर्षारंभ होता था।* शतपथ तथा कौशीतकी ब्राह्मणों में विषुव-विंदु, उत्तरायण और दक्षिणायन का उल्लेख मिलता है और इन ग्रंथों में उनकी चर्चा भी की गई है।

वैदिक हिंदू नियमित रूप से मकर-संक्रांति (Winter Solstice), कर्कट-संक्रांति (Summer Solstice), विषुव विंदुद्वय (Two Equinoctial Points), महाविषुव तथा जल विषुव आदि का प्रेक्षण करते थे।

हिंदुओं का राशि-चक्र : मास और वर्ष संबंधी ज्ञान की जो बात ऊपर कही गई, उससे पता चलता है कि वैदिक हिंदू राशि-चक्र से परिचित थे। ऋग्वेद के एक स्तोत्र में आकाश मार्ग पर सूर्य की दृश्य गति की तुलना १२ अक्षियुक्त पहिए से की गई है। एक अन्य स्तोत्र में, इस पहिए के ३६० दाँत हैं, इस प्रकार का उल्लेख भी मिलता है। टीकाकार सायण के मतानुसार, पहिए की १२ अक्षियां राशि-चक्र के १२ प्रतीकों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। ब्राह्मण साहित्य के द्वादश आदित्य, रवि-मार्ग या क्रांति वृत्त (ecliptic) के द्वादश भागों अथवा द्वादश राशियों को ही निर्देशित करते हैं।

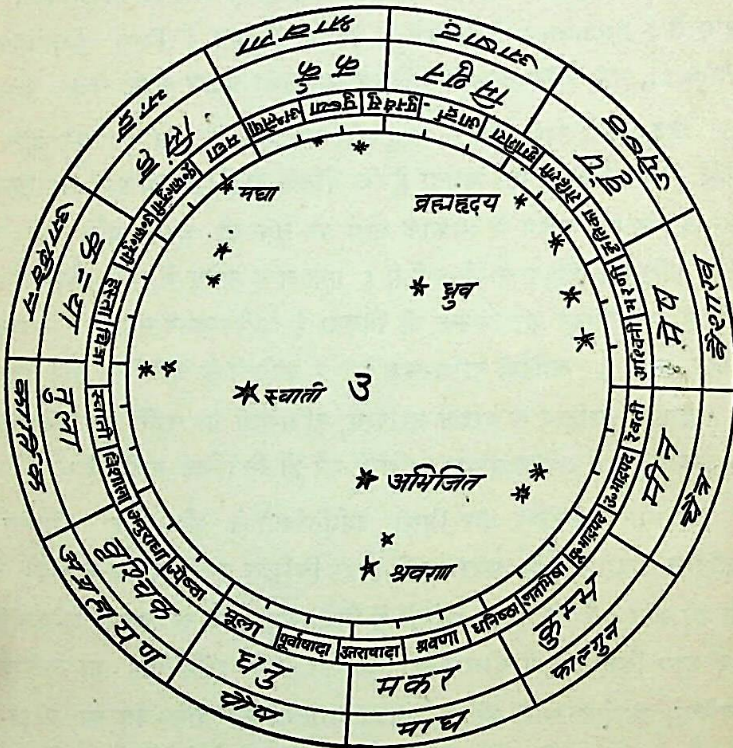
प्राचीन वेबीलोनी और मिस्री ज्योतिर्विदों ने भी दृश्य रविमार्ग को विशिष्ट ताराओं तथा तारामंडलों द्वारा चिह्नित करके, राशि-चक्र की रचना की थी और वर्ष को बारह महीनों में विभाजित करने के लिए राशि-चक्र के भी १२ भाग किए थे। प्राचीन चीनी ज्योतिष में भी राशि-चक्र का उल्लेख है। इसलिए प्राचीन काल की सभी सभ्य जातियों को राशि-चक्र का थोड़ा-बहुत ज्ञान था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि वेबीलोनी ही राशि-चक्र के आविष्कारक थे। परंतु इस आविष्कार में अगुआ कौन था, इसका निर्णय करना बहुत कठिन है। सूर्य-सिद्धांत के अंग्रेजी अनुवादक श्री ई० बर्गेस का कहना है कि राशि-चक्र के विषय में प्राचीन भारतीयों का ज्ञान किसी अन्य प्राचीन जाति की अपेक्षा किसी अंश में भी कम नहीं था, बल्कि अगुआ का प्रश्न उठाया ही जाय तो, अन्य जातियों से कम-से-कम कई सौ वर्ष पहले भारतीयों ने राशि-चक्र के संबंध में यथेष्ट ज्ञानार्जन किया था, इसकी

---

* Kripa Shankar Shukla, 'Chronology of Hindu Achievements in Astronomy,' (Symposium in History of Science in South Asia, New Delhi, 1950).

संभावना, संतोषजनक प्रमाण का अभाव होने पर भी, बहुत ही प्रबल है।*

सूर्य की प्रतीयमान गति का अनुसरण करने के लिए राशि-चक्र और उसके १२ विभागों की कल्पना की गई थी; उसी प्रकार चंद्र की प्रतीयमान गति



चित्र : ४५

* The use of this division and the present names of the signs can be proved to have existed in India at as early a period as in any other country; and their is evidence less clear and satisfactory, it is true, yet of such a character as to create a high degree of probability that this division was known to the Hindus centuries before any traces can be found in existence among any other people.''—E. Burgess, 'Surya Siddhanta,'—

(English translation)

निर्धारित करने के लिए भी ज्योतिर्विदों को अति प्राचीन काल से ही राशिचक्र तथा क्रांतिवृत्त का शरणापन्न होते देखा जाता है। खगोल (Celestial Sphere) में सूर्य और चंद्र का परिक्रमण-मार्ग प्रायः एक ही वृत्त है; इसलिए क्रांतिवृत्त, अर्थात् राशिचक्र के अंतर्गत नक्षत्रों की सहायता से चंद्र की गति का निर्णय सहज ही किया जा सकता है। चीनियों ने २८ नक्षत्रों की सहायता से राशि-चक्र को २८ भागों में विभक्त किया था; वैदिक हिंदुओं ने २७ उज्ज्वल नक्षत्रों की सहायता से इसे २७ भागों में बांटा। क्रमानुसार ये २७ नक्षत्र हैं—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्या, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तरा-फाल्गुनी, हस्ता, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूला, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवणा, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपद, उत्तर-भाद्रपद, रेवती। राशि और नक्षत्रों-द्वारा राशिचक्र को क्रम से १२ तथा २७ भागों में विभाजित करके, हिंदू ज्योतिर्विद किस प्रकार आकाश में रवि तथा चंद्र-मार्गों को चिह्नित करते थे, यह चित्र ४५ से बहुत सरलता के साथ समझा जा सकता है।

उपर्युक्त नक्षत्रों का नामकरण वैदिक युग में ही हो गया था। मघा और फाल्गुनी का ऋग्वेद में उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता में २७ नक्षत्रों का उल्लेख मिलता है और परवर्ती ज्योतिष-ग्रंथों में उन्हीं नामो का उल्लेख किया गया है। चंद्र-चक्र को निर्देशित करने के लिए अभिजित् नक्षत्र का उल्लेख मिलता है। चंद्र-चक्र का काल और ठीक तौर पर चिह्नित करने के लिए इस नक्षत्र की अवतारणा की गई थी।

हिंदुओं ने बेबीलोनी या चीनी नक्षत्र-दर्शकों की भाँति, आकाश में प्रत्येक नक्षत्र का अध्ययन करके उनके ब्यौरों का विवरण लिपिबद्ध करने की चेष्टा नहीं की। खगोल में क्रांति-वृत्त-मार्ग पर और इसके निकट के उत्तर तथा दक्षिण में दिखाई पड़नेवाले जो उज्ज्वल नक्षत्र हैं, उनके प्रति एवं साथ ही उत्तर दिग्दर्शी ध्रुव नक्षत्र तथा आसपास के नक्षत्रों के प्रति हिंदू ज्योति-र्विद युग-युग से बड़ी सतर्क दृष्टि रखते आए हैं। आकाश में सूर्य, चंद्र अथवा बुध, शुक्र, मंगल, वृहस्पति, शनि आदि ग्रहों में से प्रत्येक की गति मोटे तौर पर रवि-मार्ग का ही अनुसरण करती है। इसलिए रविमार्ग के अंतर्गत नक्षत्रों के अवस्थान का ज्ञान एक बार भलीभांति हो जाने पर सूर्य,

चंद्र तथा ग्रहों की गति के अवलोकन में कोई असुविधा नहीं होती। हिंदू ज्योतिष के प्रधान लक्ष्य थे काल-निर्णय, पंचांग-रचना और ग्रह-नक्षत्रों के समावेश से मनुष्य की भाग्य-गणना। राशि-चक्र संबंधी गवेषणा तथा प्रेक्षण की सहायता से हिंदू ज्योतिर्विदों तथा ज्योतिषियों ने इन दोनों विषयों में विशेष सफलता प्राप्त की थी।*

---

* "The Hindus, unlike the ancient Chinese, had not the ambition of making a catalogue of all the stars which were visible to them. They had a more important object in view, namely, the study of the motions of the sun, the moon and the planets and other astronomical phenomena, primarily for the purpose of computing time and of constructing and perfecting their calendars....and they accordingly confined their attention to those stars which lay in the moon's path, immediately North or South of the Ecliptic-stars which are liable to be occultated by the moon of which might occasionally be in conjunction with it and with the planets."

"By thus confining attention to the stellar spaces in the vicinity of the Ecliptic, their system was rendered in the main, independent of the use of astronomical instruments and dependant mostly on calculation for the accuracy of their observations."—

("हिंदुओं की, चीनियों के विपरीत, सभी दृश्यमान नक्षत्रों को सूची बनाने की उच्चाभिलाषा नहीं थी। उनके सामने एक और महत्वपूर्ण लक्ष्य था, यथा, सूर्य, चंद्र और ग्रहों को गतियों तथा अन्य ज्योतिषीय घटनाओं का अध्ययन, जिसका मुख्य उद्देश्य था काल-गणना और पंचांगों का निर्माण, अतः उन्होंने केवल उन्हीं नक्षत्रों पर ध्यान निबद्ध किया, जो चंद्र के परिक्रमा-पथ में, क्रांतिवृत्तीय नक्षत्रों के, जो चद्र द्वारा ग्रसित हो सकते हैं, ठीक उत्तर या दक्षिण पड़ते हैं अथवा जो चंद्र और ग्रहों के साथ एकत्र समाविष्ट हो सकते हैं।"

"इस प्रकार, क्रांतिवृत्त के सन्निकट, तारकीय अंतरिक्ष पर ध्यान केंद्रित करने के कारण, उनकी प्रणाली, उनके प्रेक्षणों के बिल्कुल ठीक होने के संबंध में, मुख्यतः ज्योतिषीय औजारों पर निर्भर न होकर अधिकांशतः गणना पर निर्भर थी।")

W. Brennand, 'Hindu Astronomy', Chas, Straker and Sons, London. 1896.

नक्षत्रों के स्थान से हिंदुओं ने किस प्रकार महीनों का नामकरण किया था, यह उपर्युक्त राशि-चक्र से स्पष्ट हो जायगा। हम कह चुके हैं कि वैदिक युग में पूर्णिमा के अगले दिन से चांद्रमास का आरंभ माना जाता था; जिस नक्षत्र में साधारणतया पूर्णिमा का अंत होता है, उसी के नाम पर मास का नाम रखा गया। जैसे विशाखा नक्षत्र में पूर्णिमांत होने पर जो महीना शुरू होता है, वह है वैशाख; कृत्तिका नक्षत्र में पूर्णिमांत होने से उसका नाम होगा कार्तिक इत्यादि। परवर्ती काल में चांद्रमास के बदले सौर मास के प्रचलित होने पर विभिन्न राशियों में सूर्य के प्रवेश के साथ नया मास गिना जाने लगा, लेकिन चांद्रमास के नामों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हम जानते हैं कि पूर्णिमा के समय सूर्य, राशि-चक्र में, चंद्र की ठीक विपरीत दिशा में होता है। इसलिए विशाखा नक्षत्र में जब पूर्णिमा का उदय हो रहा हो, सूर्य उस समय मेषराशि में प्रवेश करने को तैयार होता है। इसलिए कृत्तिका नक्षत्र में पूर्णिमांत के समय सूर्य का अवस्थान तुला राशि में होता है। यही कारण है कि जिस नक्षत्र से पहले चांद्रमास का नामकरण हुआ था, राशि-चक्र में उस नक्षत्र की विपरीत दिशा में वह मास दिखाया गया है।

ग्रह संबंधी ज्ञान :—ऋग्वेदीय काल से ही भारतीय ७ ग्रहों से अवगत थे। इनमें से कुछ के भारतीय नाम ऋग्वेद के काल से ही चले आ रहे हैं, जैसे मंगल, बृहस्पति और शुक्र। ऋग्वेद में उल्लिखित अश्व की ३४ पसलियाँ और ३४ नक्षत्रों की व्याख्या के प्रसंग में लुडविक और जिमा का अनुमान है कि इनसे सूर्य, चंद्र आदि ७ ग्रहों और २७ नक्षत्रों का अर्थबोध होता है। चंद्र की अपनी कोई द्युति नहीं है, सूर्यालोक से ही वह दीप्तिमान है, यह ज़ानकारी संभवतः वैदिक युग में थी; कम-से-कम चंद्रकला से सूर्य के एकाधिक संपर्क का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में पृथ्वी का वर्णन एक 'परिमंडल' के रूप में किया गया है, इससे बहुतों का विचार है कि वैदिक हिंदुओं को यह ज्ञान था कि पृथ्वी का रूप गोलक जैसा है। लुडविक, तारकेश्वर भट्टाचार्य, एकेंद्रनाथ घोष आदि वैदिक शास्त्रज्ञ पंडितों का अभिमत है कि प्राचीन हिंदुओं नें पृथ्वी की दैनिक तथा वार्षिक गतियों का अनुमान कर लिया था।*

---

* Ekendra Nath Ghosh, "Studies in Rigvedic Deities—Astronomical and Meteorological," Journal of the Asiatic Society of Bengal, 1932.

वेदांग ज्योतिष : वैदिक युग के अंतिम भाग में रचित वेदांग ज्योतिष (ई० पू० ६०० और ई० पू० २०० के बीच) प्राचीन हिंदुओं का ज्योतिष-ज्ञान संबंधी एक अति मूल्यवान ग्रंथ है। यह ग्रंथ वैदिक युग का एक पंचांग-विशेष है। वेदांग-ज्योतिष के काल में हिंदुओं ने ३६० दिन के वर्ष के स्थान पर ३६६ दिन की वर्ष-गणना शुरू कर दी थी। इसमें एक पंचवर्षीय चांद्र-सौर क्रम-काल का उल्लेख है। इस काल में कितने लौकिक (Civil), नाक्षत्र और सौर दिन होते हैं, कितनी चांद्रयुति होती है और कितनी बार सूर्य और चंद्र की पूरी परिक्रमा होती है, इसका हिसाब इस प्रकार दिया गया है—

लौकिक दिन (Civil days)	१८३०
नाक्षत्र दिन (Sideral days)	१८३५
चांद्रयुति (Synodic month)	६२
सौर दिन (Solar days)	१८००
सूर्य का पूर्ण परिक्रमण (Sun's Revolution)	५
चंद्र का पूर्ण परिक्रमण (Moon's Revolution)	६७

इस हिसाब से हम देखते हैं कि एक वर्ष में ३६६ दिन (१८३०/५) और एक चांद्रयुति मास में २९+१६/३१ दिन (१८३०/६२) होते हैं। वेदांग ज्योतिष के काल में शीत और ग्रीष्मकालीन विषुव-बिंदुओं पर अश्लेषा और धनिष्ठा नक्षत्रों का अवस्थान होता था, यह उल्लेख मिलता है। तत्कालीन हिंदुओं का ग्रह संबंधी ज्ञान भी बहुत उन्नत था। ग्रह और नक्षत्र एक ही प्रकार के ज्योतिष्क नहीं हैं, यह ज्ञान भी उन्हें था। परंतु ग्रहों के क्रम-काल या ग्रह-वर्ष संबंधी तथ्य तब तक आविष्कृत नहीं हुए थे।

विषुव-अयन : वैदिक ज्योतिर्विदों को विषुवायन का कोई ज्ञान था या नहीं, इस विषय में अनेक कल्पनाएँ की गई हैं और अनेक विवाद हैं। विज्ञान के इतिहास में बेबीलोनी किदिन्नू और ग्रीक हिपार्कस को स्वतंत्र रूप से इस महत्वपूर्ण ज्योतिषीय तथ्य के आविष्कार का श्रेय प्राप्त है। इस तथ्य के संबंध में इन दोनों वैज्ञानिकों के लिए जो बात कही जा सकती है, उसका इतना स्पष्ट उल्लेख वैदिक साहित्य या किसी ग्रंथ में नहीं मिलता। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया है कि पुनर्वसु नक्षत्र में जिस दिन से सूर्यदेव अदिति विश्राम करते हैं, उस दिन से यज्ञादि शुरू करने का उत्कृष्ट समय है। यह कहना अनावश्यक है कि यह दिन महाविषुव की ओर ही संकेत

करता है। परवर्तीकाल में महाविषुव क्रमशः मृगशिरा, रोहिणी और कृत्तिका नक्षत्रों की ओर हटता गया है।

वैदिक उपाख्यान में एक कहानी है कि महाविषुव के अधिष्ठाता देवता प्रजापति ने एक बार अपनी कन्या रोहिणी का पीछा किया था और इस प्रकार के अवैध आचरण के लिए उन्हें देवताओं की निंदा का पात्र बनना पड़ा था। कुछ लोगों का कहना है कि रूपक के तौर पर लिखे जाने पर भी, इसका यह अर्थ निकलता है कि हिंदुओं को विषुवायन का ज्ञान था। परंतु रूपक रूपक ही है, उसके सहारे किसी जाति की वैज्ञानिक प्रगति का विचार करना ऐतिहासिक वास्तविकता के विरुद्ध है।

चीन

ई० पू० ३००० के कुछ बाद से ही चीन में ज्योतिषीय अध्ययन के प्रमाण हमें मिलते हैं। लगभग ई० पू० २९५० में चीनियों ने आकाश में नक्षत्रों की गतिविधियों को समझने की सुविधा के लिए एक गोले का निर्माण किया। इसके बाद ६०० वर्ष के बीच और गोलों के निर्माण के दृष्टांत प्राप्त हुए हैं। यही नहीं, सम्राट हुआंग ति ने ई० पू० २६५० में ज्योतिषीय प्रेक्षण के लिए एक विराट वेधशाला बनवाई थी। इस वेधशाला में राज-ज्योतिषी सूर्य, चंद्र तथा ग्रहों की गति का नियमित रूप से अध्ययन करते थे और उन्हें लिपिबद्ध करते थे। बिना किसी भूल-त्रुटि के पंचांग की रचना, इस वेधशाला का मुख्य कार्य था। निस्संदेह ये घटनाएँ चीनी ज्योतिष की प्राचीनता प्रमाणित करती हैं।

मास, वर्ष : मिस्र, बेबीलोन और भारत की तरह चीन में भी संभवतः आरंभ में ३० दिन का मास और ३६० दिन का वर्ष निर्धारित हुआ था। चीनी इतिहास के एक प्राचीन विवरण में यह पाया जाता है कि अनुमानतः ई० पू० २३६० में सम्राट याओ ने विषुव विंदु और विषुवायन विंदु के निर्भूल निर्णय का निर्देश राज-ज्योतिषियों को दिया था। इसके कई वर्ष बाद, ज्योतिविंदों ने, आकाश में वर्ष के किस समय पर किन नक्षत्रों के अवलोकन-द्वारा विषुव विंदु और विषुवायन विंदु में सूर्य के अवस्थान का निश्चय हो सकता है, इसकी व्याख्या करते हुए सम्राट को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट की तिथि सही हो तो यह मानना पड़ेगा कि आज से कोई ४ हजार ३ सौ वर्ष पहले विषुव-वृत्त में सूर्य का परिक्रमण, इस वृत्त के ऊपर या निकट नक्षत्रों संबंधी ज्ञान, यह तथ्य कि नक्षत्र दिन में भी आकाश में वर्तमान रहते हैं,

परंतु सूर्य के उज्ज्वल आलोक के कारण वे दीख नहीं पड़ते इत्यादि अनेक ज्योतिपीय तथ्यों से चीनी ज्योतिर्विद घनिष्ठ रूप से अवगत थे। उनके ज्योतिषज्ञान का एक और प्रमाण यह है कि सम्राट याओ के राजत्वकाल से ही चीनियों ने ३६५¼ दिन में वर्ष की गणना शुरू की। इस सिलसिले में, वृत्त को ३६० के बदले ३६५ भाग अथवा डिग्रियों में विभक्त करने की अति प्राचीन चीनी पद्धति विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

चीनी दीर्घ वर्ष : ३६५ दिन का वर्ष निर्धारित होने के थोड़े दिनों वाद चीनियों ने दीर्घ-वर्ष का आविष्कार किया। १९ वर्षों में (३६५¼ का वर्ष) एक दीर्घवर्ष और एक दीर्घ-वर्ष में २३५ चांद्रयुतियां होती हैं। अतः एक चांद्रयुति में २९·५३ दिन होते हैं। ग्रीक ज्योतिप में इस दीर्घ-वर्ष का नाम मेटन-चक्र (Meton Cycle) है। उनकी और आधुनिक काल तक अनेक यूरोपीय इतिहासकारों की यही धारणा थी कि मेटन (ई० पू० ४३३) ने ही प्रथम इस चक्र का आविष्कार किया। अब हम देखते हैं कि मेटन से कोई डेढ़ हजार वर्ष पहले चीनियों ने इस चक्र के संबंध में चर्चा की थी। इस चक्र से चांद्रयुति का जो हिसाब मिलता है, वह भी विशेष तौर पर ध्यान देने योग्य है। हम पहले ही बता चुके हैं कि बेबीलोन में किदिन्नू ने लगभग ई० पू० ५०० में चांद्र संयुति का काल सही-सही निकाला। भारतीय वेदांग ज्योतिप में चांद्रयुति का हिसाब है, लेकिन वर्ष ३६६ दिन का गिना जाने के कारण यह चीनी या बेबीलोनी हिसाब की तरह उतना निर्दोष नहीं है। यदि चीनी तथ्य में कोई भूल न हो तो ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी में, ज्योतिपीय अवलोकन और वर्ष के हिसाब अर्थात् पंचांग-रचना में चीनियों ने जिस कृतित्व का परिचय दिया था, उस प्रकार के कृतित्व का दावा और कोई देश नहीं कर सकता।

ग्रह-ज्ञान : ग्रहावलोकन संबंधी चीन का इतिहास भी बहुत प्राचीन है। सम्राट चौन-सू (Chaun Hsu—ई० पू० २५१३ से ई० पू० २४३६) के शासन काल में एक बार बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति और शनि ग्रहों का योग घटित हुआ था, ऐसा उल्लेख मिलता है। पांच ग्रहों का योग बहुत विरल है। आधुनिक ज्योतिपीय गणना से यह जानकारी मिलती है कि ई० पू० २४४६ में

२८ फरवरी को आकाश में उपर्युक्त पांचों ग्रहों के एक साथ देखे जाने का योग था और ई० पू० २४४९ में २९ फरवरी वास्तव में इस प्रकार के एक योग की तिथि थी। इसलिए चीन के इतिहास में लिखित इस योग की बातें सही भी हो सकती हैं।

परंतु सभी क्षेत्रों में ऐसे कथनों को सत्य मान लेना चाहिए, ऐसी बात नहीं है। ई० पू० २१५९ में, सूर्यग्रहण की घोषणा पहले से न कर सकने के अपराध के लिए राज ज्योतिषी ही और हो को प्राणदंड दिया गया था, चीन में इस प्रकार की एक ऐतिहासिक कहानी प्रचलित है। इससे यह अनुमान किया जाना स्वाभाविक है कि ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के अंतिम भाग में चीनी ज्योतिर्विदों को ग्रहण के निर्णय का कौशल मालूम था। परंतु ग्रहण की तिथि का निश्चय करने के लिए जिस प्रकार का उन्नत ज्योतिष-ज्ञान आवश्यक है, वह ज्ञान चीनियों को अथवा अन्य किसी जाति को इतने प्राचीन काल में था, यह संभव नहीं जान पड़ता। वेबीलोन में 'सारोस' काल-चक्र का आविष्कार इससे बहुत बाद की घटना है। चीन में प्रचलित इस कहानी के पीछे सत्य शायद इतना ही है कि पंचांग-रचना में अवहेलनाजनित किसी भूल के लिए ज्योतिषियों को दंड का भागी होना पड़ा था।

धूमकेतु (पुच्छल) तारा : क्रांति वृत्त (ecliptic) का टेढ़ापन, अर्थात् क्रांति वृत्त और विषुव वृत्त के बीच के कोण की माप चीनी ज्योतिर्विदों ने बहुत शुद्ध रूप से निकाल ली थी (इसमें और वास्तविक कोण में कुछ मिनटों का ही अंतर है)। उन्होंने धूमकेतु का प्रेक्षण अनुमानतः ई० पू० ६११ में आरंभ किया। जिन धूमकेतुओं के दीर्घ अवधि तक घूमने-फिरने के बाद सूर्य के पास फिर लौट आने की बात थी, वे वास्तव में लौटेंगे या नहीं, इसकी जांच के लिए आधुनिक ज्योतिर्विदों ने अनेक अवसरों पर प्राचीन चीनी अध्ययनों का सहारा लिया और इससे उन्हें सफलता भी मिली। हैली का धूमकेतु इसका एक उदाहरण है। इस धूमकेतु का काल-चक्र ७६ वर्ष है। ई० पू० २४० में और ४६७ ई० में आकाश में इसका आविर्भाव होना था। इन समयों में चीन की ज्योतिषीय सूची में जिस धूमकेतु का उल्लेख है, वह हैली का धूमकेतु ही है, यह निश्चित है। धूमकेतु का पुच्छ सूर्य की विपरीत दिशा में रहता है। चीनी विवरण में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

नूतन नक्षत्र अथवा नोवा : चीनी ज्योतिषीय सूची में नए नक्षत्र या नोवा का नाम 'को-सिंग' (K'o hsing) या अतिथि तारा है। धूमकेतु और अतिथि तारा के प्रभेद के विषय में कहा गया है कि आकाश में धूमकेतु की गति है, लेकिन अतिथि तारे की उस प्रकार की कोई गति नहीं है। पहले-पहल प्रकट होने के बाद अतिथि तारा की चमक किस प्रकार धीरे-धीरे घटती जाती है, इसका विशद विवरण चीनी ज्योतिर्विद लिपिबद्ध कर गए हैं।

नक्षत्रों के अध्ययन में चीनियों ने विशेष उत्साह का परिचय दिया है। उन्होंने आकाश में दिखाई पड़नेवाले सभी ताराओं को कुल २८४ तारामंडलों में विभाजित किया। प्रत्येक मंडल ५ ताराओं का था। चंद्र की परिक्रमा निर्देशित करने के उद्देश्य से क्रांति वृत्त को उन्होंने २८ भागों में विभक्त किया था। इसका उल्लेख भारतीय ज्योतिष की चर्चा के प्रसंग में पहले ही किया जा चुका है।

चीनियों ने प्राचीन काल में ज्योतिषीय प्रेक्षण में विशेष दक्षता का परिचय दिया था, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन वह काल कितना प्राचीन है? पीटर डॉयेग ने अपने ज्योतिष शास्त्र के इतिहास में जो अभिमत व्यक्त किया है, उसका मर्म इस प्रकार है—पुराकालीन चीन के अधिकांश ज्योतिष-संबंधी आविष्कार ई० पू० ४०० के पहले हुए; कुछ आविष्कार ई० पू० ८०० के पहले भी हुए होंगे। यह भी निश्चित है कि चीन में ईसा के जन्म से १५०० वर्ष पहले भी ज्योतिष की चर्चा थी। वृत्त को ३६५$\frac{1}{4}$ भाग में विभाजित करने की घटना, अर्थात् ३६५$\frac{1}{4}$ दिन के वर्ष की गणना ई० पू० ३५० के पहले घटित नहीं हुई; क्रांतिबिंदु और विषुव-बिंदु का निर्णय-काल ई० पू० ४०० है। सूर्य-ग्रहण का काल-निर्णय ग्रहण से पहले करने का ज्ञान, चीनियों ने ईसा संवत् के प्रारंभ में प्राप्त किया, इत्यादि। प्राचीन चीनी विज्ञान के इतिहास के विषय में पाश्चात्य देशों में जो खोजें हुई और हो रही हैं, उसी के आधार पर डॉयेग ने यह मत प्रकट किया है।

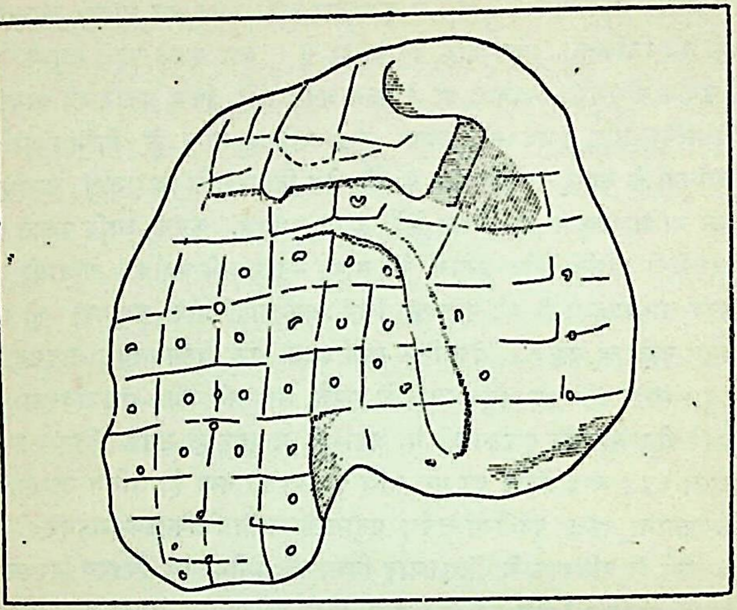
चिकित्सा-विद्या का आदि इतिहास

रोग मनुष्य का सदा साथी रहा है। पृथ्वी पर आविर्भाव के बाद से ही, रोगी की चिकित्सा की समस्या उसके लिए चिंता, परेशानी और हताशा का कारण रहा है। अपने शरीर को जानने और देह के विकार के नाना लक्षणों और कारणों को समझने के लिए उसे कई लाख वर्ष नितांत निरुपाय होकर प्रतीक्षा करनी पड़ी है। शरीर को पूर्णतः रोगमुक्त करना आज भी अनेकांश में मनुष्य के लिए असाध्य है।

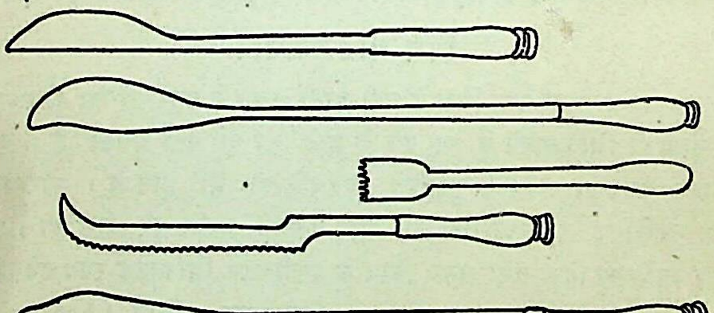
शरीर और रोग के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त कर बाहरी उपायों से रोगी की चिकित्सा बहुत बाद की घटना है। क्या इसके पहले मनुष्य रोगी के संबंध में पूर्णतः निश्चेष्ट था? उस अवस्था में किस प्रकार की व्यवस्था स्वाभाविक और संभव थी, इसका कुछ परिचय आज के विभिन्न आदिम निवासियों के व्यवहार में मिलता है, जो रोग निवारण के लिए जादू, सम्मोहन-विद्या या झाड़-फूँक का आश्रय लेते हैं या ताबीज, कवच आदि पहनते हैं। विज्ञान की उन्नति और प्रसार के साथ, मनुष्य की बहुविध चेष्टाओं और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अब जादू और जादूगरों की कोई जरूरत नहीं रह गई है। वैज्ञानिक स्वयं आज एक विस्मयजनक जादूगर है। परंतु सभ्यता के प्रथम अंकुर उगने के पहले, ज्ञान की अति शैशवावस्था में, उसकी पीड़ाओं और दुर्घटनाओं में, अनभिज्ञ जादूगर ही उसके लिए एकमात्र भरोसा था। जादू विद्या का युग आज समाप्त हो गया है, लेकिन उसका भी एक जमाना था। पृथ्वी में सर्वत्र मनुष्य के आदि चिकित्सक जादूगर ही रहे हैं। रोग के प्रतिकार के लिए जादू विद्या के प्रयोग का विवरण निश्चय ही हमारा आलोच्य विषय नहीं है। जादू विद्या के व्यापक प्रभाव और प्रतिष्ठा के बीच, धीरे-धीरे वास्तविक चिकित्सा विज्ञान के उद्‌भव और विभिन्न देशों में उसके विकास का इतिहास जानने के लिए ही हम अधिक उत्सुक हैं।

मिस्र और बेबीलोन

मेसोपोटामिया तथा मिस्र के नदी-घाटी अंचल में नगर-सभ्यता की स्थापना के साथ ही चिकित्सकों के एक दल के होने का हमें पता चलता है। अधिकांशतः नगर या राज्य के पुरोहित ही चिकित्सक भी होते थे। पारमार्थिक और शारीरिक स्वास्थ्य-रक्षा का भार एक ही व्यक्ति पर न्यस्त था। इसके मुख्य व्यतिक्रम मिस्र तथा समग्र विश्व के प्राचीनतम चिकित्सक स्वयं इमेनहोटेप थे। वे थे राजा जोसेर (Zoser, के अधीनस्थ एक स्थपति (Architect)। परवर्तीकाल में उनके गुणमुग्ध देशवासियों ने उनकी चिकित्सा की ख्याति का स्मरण कर उन्हें मिस्र का चिकित्सा-देवता बना दिया था। मिस्र में तीसरे राजवंश के शासन-काल से चिकित्सा संबंधी ग्रंथों की रचना का उल्लेख मिलता है और ईसापूर्व २००० के लगभग रचित इस प्रकार के कुछ पपीरस अब भी संरक्षित हैं। बेबीलोन में ई० पू० १००० से अधिक पुराना चिकित्सा संबंधी किसी मिट्टी के चिह्नांकित पट्ट का आविष्कार नहीं हुआ था। विज्ञान की दृष्टि से भी प्राचीन मिस्रियों की तुलना में बेबीलोनियों का ज्ञान बहुत कम था।



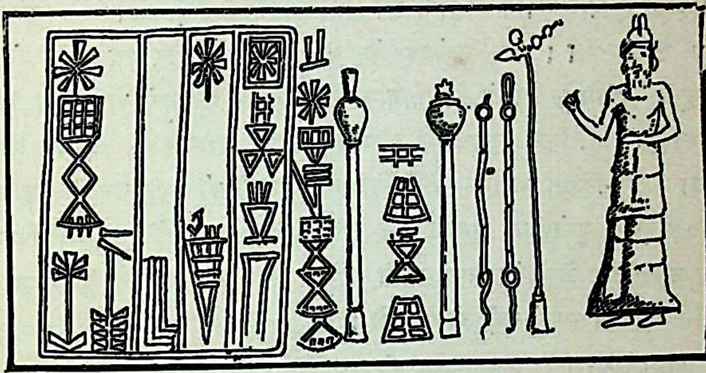
चित्र -४६ : प्राचीन बेबीलोन में शिक्षाकार्य में व्यवहृत मिट्टी से तैयार भेड़ का जिगर।



चित्र—४७ : पुरातात्विक खोज के सिलसिले में निनेवे में प्राप्त शल्योपचार के लिए उपयोगी विभिन्न यंत्र; इन यंत्रों में दो तरह की छुरियाँ, एक आरा और एक वसूली देखी जा सकती है। येना के अध्यापक मेयर स्टाइनेग ने प्राचीन मेसोपोटामिया की सभ्यता के निदर्शनस्वरूप इन यंत्रों का संग्रह किया है।

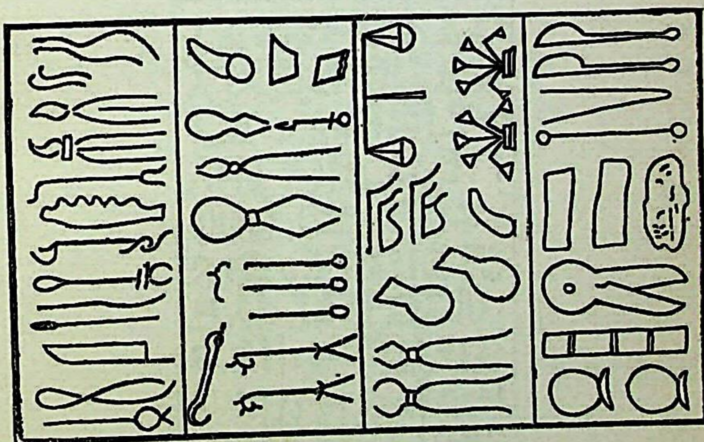
मिस्र या बेबीलोन में प्राप्त प्राचीन चिकित्सा-ग्रंथों में विशेष रूप से रोगी की चिकित्सा का वृत्तांतमात्र पृथक् रूप से लिपिबद्ध किया गया है। ये सही

माने में चिकित्सा-विद्या के ग्रंथ नहीं कहे जा सकते। केवल शरीर-रचना-विज्ञान के विषय में लिखित कोई पपीरस या मृत्तिका-पट्ट अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। शरीर-रचना के संबंध में प्राचीन मिस्रियों का ज्ञान अवश्य ही बहुत



चित्र—४८ : बेबीलोनी शल्य-चिकित्सक की मुहर (अनुमानतः ई० पू० २३००)

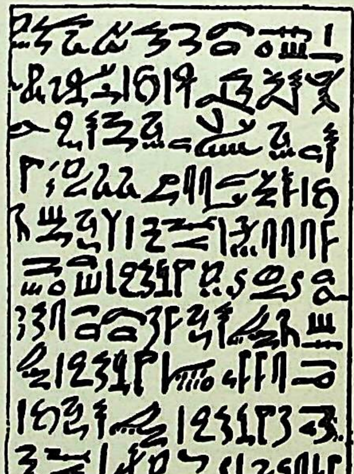
उन्नत रहा होगा; क्योंकि शवदेह को 'ममी' (Mummy) बनाकर संरक्षित रखने की व्यवस्था, वहाँ बहुत प्राचीन काल में ही कर ली गई थी।



चित्र —४९ : मिस्र में कोम् ऑबोस् मंदिर की दीवार पर खुदवाए गए शल्य-चिकित्सा के ये यंत्र आज भी देखे जा सकते हैं। सप्तम टालेमी ने ई० पू० १८१-१४६) में इस मंदिर का निर्माण करवाया था। जिस समय अलेग्जेंड्रिया का बोलबाला था, उस समय मिस्र में शल्य-चिकित्सा के लिए किस प्रकार के अस्त्रों का व्यवहार होता था, यह उसका एक नमूना है।

रोग और औषधियों के संबंध में मिस्री अधिक दूर तक अग्रसर हो पाए थे, इसमें संदेह है। उनमें यह व्यापक धारणा थी कि भूत, प्रेत, दानव आदि शरीरहीन जीवों के मानव-देह में आश्रय लेने के कारण ही रोग उत्पन्न होता है। इसलिए जादू आदि के द्वारा इन भूतों को भगाना ही रोग के उपचार का मुख्य उपाय था। इस उद्देश्य से गंदी, अखाद्य और अद्‌भुत चीजों का व्यवहार औषधि के रूप में किया जाता था। मानव शरीर में रोग किस प्रकार उत्पन्न होता है, किन वस्तुओं में औषधि के गुण विद्यमान हैं, इनका निर्णय करना शरीर-क्रिया, रसायन आदि विभिन्न विज्ञानों की प्रभूत उन्नति हुए बिना संभव नहीं। यूरोपीय पुनर्जागरण (Renaissance) के पहले चिकित्सक लोग वास्तविक विज्ञान-सम्मत पद्धति से रोग और औषधियों के गुणावगुण का निर्णय करने में समर्थ नहीं हो पाए थे।

शल्य विद्या : शल्य विद्या की बात भिन्न है। चोट लगना, कट जाना, आदि बाहरी कारणों से घटित शरीर तथा शरीर के अंग-प्रत्यंगों की विकृति का उपचार करना शल्यचिकित्सक का काम है। अस्त्राघात से किसी का शरीर



चित्र—५० : एबेर्स् पपीरस का एक अंश। एड्विन स्मिथ पपीरस की तरह यह भी शल्यचिकित्सा-संबंधी एक प्राचीन मिस्री पपीरस है। इस समय यह लाइपजिग विश्वविद्यालय के संग्रहालय में सुरक्षित है।

कटकुट गया या गिरकर किसी की हड्डी टूट गई, ये अलौकिक घटनाएँ नहीं हैं। इनका कारण समझने के लिए भूतप्रेत या जादू की अवतारणा अनावश्यक

है। इसलिए हम शल्यचिकित्सकों को पहले से ही पूर्णतः वास्तविक अभिज्ञता के आधार पर चिकित्सा करते हुए पाते हैं। अति प्राचीन काल से ही शल्य विद्या की गिनती श्रेष्ठ व्यावहारिक विद्याओं में की जाने लगी थी। हांमूराबी के शासन में शल्य चिकित्सकों के लिए पारिश्रमिक की व्यवस्था थी।* चीरफाड़ में असफल होने पर उन्हें दंड का भागी होना पड़ता था।

एड्विन स्मिथ पपीरस : प्राचीन मेसोपोटामिया का शल्यचिकित्सा-संबंधी मृत्तिका-पट्ट अभी तक नहीं मिला है। परंतु मिस्र में एड्विन स्मिथ पपीरस नामक शल्यचिकित्सा का एक विख्यात ग्रंथ प्राप्त हुआ है। इसके अंग्रेजी अनुवादक टी० एच० ब्रिस्टेड का विचार है कि एड्विन पपीरस का रचनाकाल ई० पू० २५०० अर्थात् पिरामिड का युग है। यह शल्यविद्या का कोई क्रमबद्ध ग्रंथ नहीं है; चिकित्सक ने जब, जैसे रोगी की चिकित्सा की या शल्यक्रिया की, उसे तभी दिनचर्या की भाँति लिख डाला। परंतु घावों और आघातों का एक प्रकार का श्रेणीकरण किया गया है। प्रत्येक घाव का पहले विवरण दिया गया है, फिर यह किस प्रकार का घाव है, इस विषय में कुछ टीका की गई है। अंत में चिकित्सा और शल्योपचार-विधि बताई गई है। इस विवरण के संबंध में एक उल्लेखयोग्य बात यह है कि १४ आघातों के संबंध में कहा गया है कि ये असाध्य रोग हैं, इनकी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। इन १४ विशेष प्रकार के लाइलाज आघातों तथा जख्मों के वर्णन के संबंध में ग्रंथकार ने विशेष सावधानी बरती है। शल्योपचार में असफलता के फलस्वरूप दंडभोग करना पड़ेगा, संभवतः यह विधि लागू होने के कारण, इस सतर्कता की आवश्यकता थी। हांमुराबी के शासनाधीन इस प्रकार के कानून का उल्लेख किया जा चुका है। मिस्र में इस प्रकार का कोई नियम था या नहीं, इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं है। ब्रेस्टेड ने इस पपीरस का वर्णन, 'प्रकृति-विज्ञान संबंधी अध्ययन के प्रथम लिपिबद्ध दृष्टांत' के रूप में किया है (The earliest known recorded group of observations in Natural Science)। एड्विन पपीरस में लिखित कुछ आघातों का विवरण और चिकित्सा-विधि नीचे दी जा रही है।

'मस्तक की करोटि (Skull) के नीचे चर्माघात संबंधी विधान। किसी व्यक्ति की करोटि, चोट लगने से, चूर-चूर हो गई है, तुम्हें उसकी परीक्षा

* २ से १० शेकेल (Shekel) तक; एक लोहार का वार्षिक वेतन था ८ शेकेल—V. Gordon Childe, 'Man makes himself', p, 25.

करनी होगी। पिघले तांबे पर तरंगित जो सिकुड़न दिखाई पड़ती है, यदि चूर्ण करोटि के नीचे तुम्हें उस प्रकार की सिकुड़न दिखाई पड़े, अथवा शिशु के सिर का नरम तालू जिस प्रकार उँगली के स्पर्श से स्पंदित होता है, उस प्रकार के स्पंदन का अनुभव, चोट के स्थान पर उँगली रखने से तुम्हें न हों तो इसका अर्थ है कि ऐसा रोगी चिकित्सा के योग्य नहीं है।'*

एक और उदाहरण।

'तुम्हें किसी व्यक्ति की, चोट से टूटी हुई, नाक की परीक्षा करनी है। नासिकारंध्र के टूटे स्थान का स्पर्श करो; उँगली से किंचित हिलाने पर यदि उक्त स्थान से फट-फट आवाज निकले और साथ ही नासिकारंध्र-मार्ग से और उसी ओर के कान से लहू निकले, यदि यह देखो कि रोगी को मुँह खोलने में कष्ट हो रहा है और वह बोल नहीं पा रहा है, तो उस रोगी के संबंध में कहोगे कि नासिकारंध्र टूटकर चूर-चूर हो गया है, इस रोग की चिकित्सा असंभव है।'

कोई साढ़े चार हजार वर्ष पहले लिखित एड्विन पपीरस में प्राचीन मिस्रियों के शल्यविद्या संबंधी जिस ज्ञान का परिचय मिलता है, वह विशेष रूप से कृतित्वपूर्ण है। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि उसके बाद दो हजार वर्ष के बीच मिस्र-निवासियों में उससे उच्चतर ज्ञान का कोई दृष्टांत नहीं मिलता। परवर्ती चिकित्सक केवल इन प्राचीन ग्रंथों को कंठस्थ करके ही संतुष्ट होते रहे, उन्होंने उसकी उन्नति की कोई चेष्टा नहीं की। दूर अतीत में मिस्र में ज्ञान का आकस्मिक विकास जितना विस्मयजनक है, उसकी गतिहीनता उससे भी अधिक निराशाजनक है।

भारत : वैदिक युग

भारतीय चिकित्साशास्त्र की महान प्राचीनता के कुछ प्रमाण पुरातात्विकों ने मोहंजोदड़ो और हड़प्पा के खंडहरों से प्राप्त किए हैं, यह उल्लेख पहले किया जा चुका है। सिंधु-सभ्यता-काल में भारतीय चिकित्सा-पद्धति और विभिन्न रोगों के लिए औषधियों के प्रयोग के संबंध में पुरातात्विक खोजों से कोई विशेष जानकारी अभी तक नहीं मिल पाई है, यह सही है; लेकिन मोहंजोदड़ो तथा हड़प्पा के स्थपतियों की नगर-परियोजना में जन-स्वास्थ्य के प्रति जो जागरूकता दिखाई पड़ती है, उससे यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि

* T. H. Breasted, "The Edwin Smith Surgical Papyrus," Chicago, 1930, Vol 1 में उल्लिखित कुछ दृष्टांतों का हिंदी अनुवाद।

सिंधु-सभ्यता के रचयिता स्वास्थ्य के विषय में विशेष रूप से सचेत थे। ऐसी स्वास्थ्य-सचेत जाति ने सुचिकित्सा का उद्भावन भी किया होगा, यह अनुमान अवश्य ही युक्ति-संगत है।

अथर्ववेद में चिकित्सा, भेषज तथा शरीर-रचना संबंधी ज्ञान

सिंधु सभ्यता का अंत होने पर इस देश में जिन आर्य हिंदुओं ने वैदिक सभ्यता की बुनियाद डाली थी, उनके चिकित्सा संबंधी ज्ञान के विषय में इस प्रकार का कोई संशय नहीं है। अथर्ववेद में शरीर-रचना का स्पष्ट ज्ञान मिलता है। बाद में चिकित्सा विद्या को अथर्ववेद से अलग करके आयुर्वेद या पंचमवेद रचित हुआ। प्राचीनतम वैदिक हिंदुओं के चिकित्सा-ज्ञान को जानने के लिए अथर्ववेद या उसका आनुषंगिक आयुर्वेद ही उत्कृष्ट हैं, परंतु इस विद्या की चर्चा या उल्लेख अन्य वैदिक साहित्यों में भी थोड़ा-बहुत मिलता है। आयुर्वेदोक्त रोग के त्रिदोषवाद का प्रथम उल्लेख ऋक्-संहिता में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में नरकंकाल की अस्थियों की संख्या तथा परिचय का यथार्थ वर्णन किया गया है। परंतु चिकित्सा-शास्त्र तथा शरीर-रचना संबंधी सुसंबद्ध चर्चा अंशतः अथर्ववेद और पूर्णतः आयुर्वेद में ही मिलती है। इसलिए इन दोनों ग्रंथों में वर्णित शरीर-रचना तथा चिकित्सा संबंधी ज्ञान का थोड़ा-बहुत परिचय देना ही यथेष्ट होगा।

अथर्ववेद के विभिन्न मंत्रों तथा स्तोत्रों में शरीर-रचना, भेषजविद्या, चिकित्सा आदि विषयों का उल्लेख है। इस वेद के दसवें खंड में मनुष्य-सृष्टि के संबंध में एक स्तोत्र है। कहा जाता है कि इस स्तोत्र के रचयिता नरमेध-यज्ञ के प्रवर्तक वैदिक ऋषि नारायण थे। ऋषि नारायण आयुर्वेदोक्त कुछ प्राचीनतम औषधियों की निर्माण-प्रणाली के आविष्कर्ता थे।* रूडॉल्फ होएर्नले ने दिखाया है कि इस स्तोत्र में मानव-देह की जिन विभिन्न अस्थियों का उल्लेख तथा वर्णन है, अथर्ववेद से बहुत बाद में आत्रेय, चरक और सुश्रुत-द्वारा प्रचलित हिंदू शरीर-रचनाशास्त्र में उल्लिखित अस्थि-संस्थानों से उनकी बहुत समानता है। नीचे दी गई सूची पर दृष्टि डालने से यह समानता स्पष्ट हो जाती है। शल्यविद्या, अनेक संक्रामक व्याधियों की चिकित्सा, स्त्री-रोग, औषधि के रूप में भेषज के व्यवहार, यहाँ तक कि गौ आदि पशुओं के भी कुछ रोगों का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।

---

* A. F. Rudolf Hoernle—"Studies in the Medicine of Ancient India," Part 1, Oxford Clarendon Press, 1907, p 109-114.

अथर्ववेद	आत्रेय-चरक	सुश्रुत
पार्शणि	पार्शणि	पार्शणि
गुल्फ	गुल्फ तथा मणिक	गुल्फ
अंगुलि	अंगुलि (नख सहित)	अंगुलि
उच्लख	शलाका	तल
प्रतिष्ठा	अधिष्ठान	कूर्च
अष्टीवत् या जानु	जानु या कपालिका	जानु
जंघा	जंघा	जंघा
श्रोणि	श्रोणिफलक, भगसहित	श्रोणि
ऊरु	ऊरु-नलक या वाहु-नलक	ऊरु
उरस	उरस	उरस
ग्रीवा	जत्रु (अथवा ग्रीवा)	कंठनाड़ी (अथवा जत्रु या ग्रीवा)
स्तन	पार्श्वक, स्थालक, अर्बुद-सहित	पार्श्व
स्कंध	ग्रीवा	ग्रीवा
पृष्टि	पृष्ठास्थि	पृष्ठ
अंस	अक्षक (अथवा अंस)	अक्षक (अथवा अंस)
ललाट, ककाटिका	नासिका-गंडकूट-ललाट	नासा, गंड, अक्षिकोष, कर्ण
कपाल	कपाल, शंखसहित	कपाल, शंखसहित

ज्वर या तक्मन नाम के एक प्रकार के रोग का जो विवरण है, उससे आधुनिक मलेरिया ज्वर की अत्यधिक समानता से जान पड़ता है कि प्राचीन हिंदू चिकित्सक इस रोग के संबंध में जानते थे। तक्मन के अतिरिक्त आस्राव (अतिसार या पेट की व्याधि), कासिका (खांसी), बलास या यक्ष्मा, जलोदर

अपचित् (जख्म), विद्रध (फोड़ा), किलास (कुष्ठ, चर्म रोग), शीर्षक्ति (सिर दर्द), विशल्यक (स्नायु वेदना), अलजी (चक्षु रोग), विलोहित (रक्त स्राव), अपस्मार, ग्राहि (भूत चढ़ना), अक्षत (व्रण या अर्बुद) आदि बहुविध रोगों का उल्लेख मिलता है। कोई-कोई रोग वंशानुगत होते हैं, अथर्ववेद-कालीन ऋषि इस बात से अवगत थे। इन रोगों को 'क्षेत्रीय' कहा जाता था।

अथर्ववेद में त्रिधातु का आभास है। सायणाचार्य का विचार है कि अथर्ववेदोक्त शुष्क, सिक्त और संचारी, इन तीनों शब्दों से परवर्तीकाल की त्रिधातु, वायु, पित्त और कफ का ही अर्थबोध होता है। परंतु शुष्क, सिक्त और संचारी-जैसी विकृतियों के कारण ही रोगों की उत्पत्ति होती है, यह मत हर क्षेत्र में स्वीकृत नहीं किया गया है। साधारणतः अथर्ववेद में यही मत प्रचारित किया गया है कि विभिन्न जातियों के भूतवर्ग के आक्रमण से ही शरीर व्याधिग्रस्त होता है। इन भूत और पिशाचजातीय प्राणियों में यातुवान, किमीदिन, अमीवा, रक्ष, अत्रिन, कण्व, दयाविन्, अलिंस, वत्सक, पलाल, शर्क, कोक, मलिम्लुच, पलीजक, वव्रीवासस, अश्रौष, प्रमालिन आदि प्रधान हैं। कभी-कभी देवगण भी मानव-देह में आश्रय ग्रहण करके नाना रोगों की सृष्टि करते हैं, जैसे जलोदर का कारण स्वयं वरुण देव हैं। इसलिए शरीर को रोगमुक्त करने के लिए इन आक्रमणकारी भूत-पिशाचों और देवताओं को विताड़ित करना आवश्यक है। इस उद्देश्य से अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार के शांति-स्वस्त्ययन, मंत्रपाठ और कवच धारण की विशेष व्यवस्था के वर्णन मिलते हैं।

अथर्ववेद में रोग-निवारण के लिए मंत्र और कवचादि की व्यवस्था की बहुतायत होते हुए भी अनेक प्रकार के भेषजों के अलौकिक गुणों का वर्णन भी विभिन्न स्थानों में किया गया है। उद्भिद और भेषज की क्षमता से संबद्ध विवरणों से जान पड़ता है कि अथर्ववेद के काल में जड़ी-बूटियों की सहायता से जो लोग रोगों की चिकित्सा करते थे, उन्हें भिषक् कहा जाता था। इस प्रकार के सैकड़ों भिषकों और हजारों भेषजों का उल्लेख हमें अथर्ववेद में मिलता है—शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रम् उत वीरुधः-अथर्व, २।९।३

लगता है कि अथर्ववेद के जमाने में मंत्रवादियों और भेषजवादियों में विरोध था। समय के साथ शेषोक्त दल ने ही प्रधानता प्राप्त की। मानव

शरीर और उद्‌भिद के विषय में ज्ञान की क्रमिक वृद्धि के साथ मंत्रवादियों का प्रभाव भा धीरे-धीरे घटता गया। कौशिक सूत्र में अनेक वनस्पतियों के नाम मिलते हैं, जैसे—पलाश, कांपिल, वरण, जंगिर, अर्जुन, वेतस, शमी, शमका, दर्भ, दूर्वायव, तिल, इंगिड़ तैल, वीरिण, ऊषीर, क्षदिर, त्रपुस, मुंज, क्रिमुक, नितत्नी, जीवी, अलाका, लाक्षा, विस, हरिद्रा, पिप्पली, अलाबु, खलतुल, करीर, दिग्रू, विभीतक, शामीविब, शीर्णपर्णा, प्रियंगु, हरीतकी, पूतिका इत्यादि। जख्म के स्थान पर जलौका के प्रयोग और सांप काटने के स्थान को आग से जलाने की विधि कौशिक सूत्र में बताई गई है। युद्ध में अंग-प्रत्यंग कटकर अलग हो जाने पर, धातु या काठ के बने कृत्रिम अंगों के व्यवहार का उल्लेख है। ऋग्वेद के अश्विनीकुमार ने विष्पला के कटे हुए पैर में लोहे का पैर जोड़ दिया था। उन्होंने ऋजाश्व, परावृज, कण्व और कक्षिवत का अंधापन दूर किया, अनेक वंध्या नारियों को संतानवती वनाया। इन कहानियों की ऐतिहासिक बुनियाद जो भी हो, परंतु वैदिक युग में चिकित्सा के विषय में, प्राचीन आर्य ऋषियों की शिक्षा तथा लेखनियों में व्यावहारिक और विज्ञानसम्मत ज्ञान का पूर्ण प्रकाश दिखाई पड़ता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

आयुर्वेद : अथर्ववेद में लिखित शरीर-क्रिया विज्ञान को प्रसारित करके आयुर्वेद की रचना हुई। वास्तव में आयुर्वेद (आयुर्विद्या) अथर्ववेद की ही शाखाविशेष है। सुश्रुत का कहना है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का ही अंग है और एक हजार अध्यायों तथा एक लाख श्लोकों में इसकी रचना ब्रह्मा ने की थी। वृद्ध वाग्भट ने आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद बताया है। साथ ही अनेक विद्वानों के अनुसार आयुर्वेद एक स्वतंत्र वेद है। चरक और डल्लण इसी मत के समर्थक हैं। डल्लण के मतानुसार एक लाख श्लोक समन्वित आयुर्वेद केवल ६ हजार मंत्रों में समाप्त अथर्वेद का अंगमात्र नहीं हो सकता। फिर भी अथर्ववेद से आयुर्वेद का बहुत साम्य और घनिष्ठ संबंध उपेक्षायोग्य नहीं है। दोनों का यह विशेष योग बहुत प्राचीन काल से रहा है।

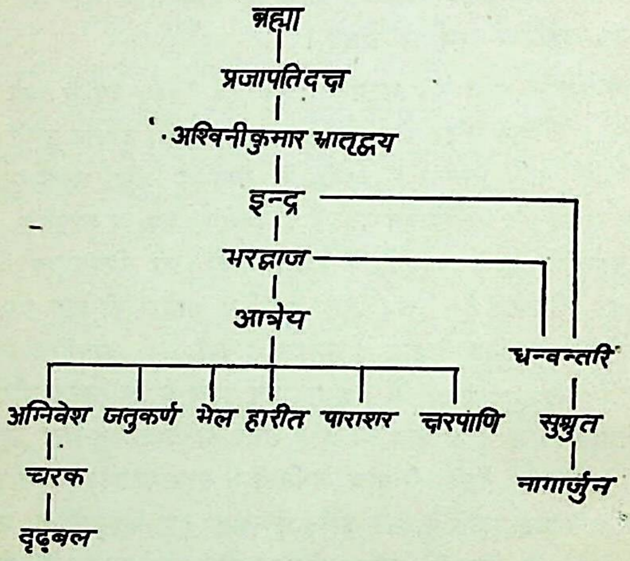
आयुर्वेद में आलोच्य विषयों की चर्चा ८ भागों में की गई है : (१) कायतंत्र (साधारण चिकित्सा विद्या), (२) शल्यतंत्र (शल्य विद्या और धातृ विद्या), (३) शालाक्यतंत्र (आँख, कान, नाक और गले की चिकित्सा); (४) भूतविद्या (मनोविकार, वाचालता आदि रोगों की चर्चा और

चिकित्सा), (५) कौमारभृत्य (शिशु-चिकित्सा), (६) अगदतंत्र (विष और विष-क्रिया आदि की चर्चा), (७) रसायनतंत्र (रसायन और बुढ़ापे में स्वास्थ्यरक्षा-विधि), और (८) वाजीकरणतंत्र (कामसंबंधी पुनर्यौवन प्रदान का प्रसंग)। इस प्रसंग में यह जान लेना चाहिए कि रसायन शब्द की उत्पत्ति अथर्ववेदोक्त 'आयष्याणि' शब्द से हुई है। 'आयष्याणि' का अर्थ है दीर्घ जीवन तथा स्वास्थ्य-लाभ का उपाय।

इतने प्राचीन काल में (अनुमानतः ई० पू० १००० वर्ष से पहले) समग्र शरीर-क्रिया के इतने सुंदर और व्यवस्थित अध्ययन का दृष्टांत पृथ्वी में और किसी देश में नहीं मिलता। तथ्यों के समावेश और अध्ययन-पद्धति में वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि प्रतिबिंबित हुई है। विशेष रूप से कायतंत्र, कौमार-भृत्य, अगदतंत्र आदि आयुर्वेद के कुछ विभागों की विषयवस्तु वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित है। जब हम वैज्ञानिक आधार की बात करते हैं, तो हमारा आशय आधुनिक विज्ञान के आधार से नहीं है। आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य (Perspective) में ३ हजार वर्ष पहले के चिकित्सक और शरीर-क्रिया-विज्ञान-विशारद के ज्ञान की जाँच करने की चेष्टा असंगत है। उस काल में विभिन्न देशों की सभ्य जातियों में साधारणतया ज्ञान-विज्ञान की जो उन्नति दिखाई पड़ती है, उसे दृष्टि में रखते हुए आयुर्वेदोक्त ज्ञान का विचार करने से, उसकी अनुपम श्रेष्ठता और प्राचीन भारतीय वैद्यों तथा भिषगों की चामत्कारिक प्रतिभा स्वयं ही प्रकाश में आ जाती है।

आयुर्वेद का इतिहास : आयुर्वेद की प्रथम रचना किसने अथवा किन लोगों ने की, इसका कोई विश्वसनीय इतिहास नहीं है। संभवतः अनेक सुचिकित्सकों तथा शरीर-विदों की अनेक शताब्दियों की अभिज्ञता ने धीरे-धीरे इस शास्त्र का रूप ग्रहण किया। ईसापूर्व छठी शती के लगभग हमें आत्रेय और सुश्रुत का साक्षात्कार मिलता है। ये दोनों चिकित्सक ऐति-हासिक व्यक्ति हैं। उनके पहले के जिन चिकित्सकों और शरीर-विद्याविदों के नाम मिलते हैं, जैसे दक्ष, इंद्र, भरद्वाज, भृगु, धन्वंतरि, उनका वास्तविक अस्तित्व, विश्वसनीय ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में, प्रमाणित करना बहुत कठिन है। इस संबंध में प्रचलित विभिन्न किंवदंतियों के अतिरिक्त और कुछ कहना संभव नहीं। चरक संहिता में लिखित इस प्रकार की एक किंव-दंती के अनुसार ब्रह्मा ने शरीर-क्रिया का ज्ञान पहले-पहल दक्ष को दिया, दक्ष से यह शिक्षा पाई दोनों अश्विनीकुमार भाइयों ने। इंद्र ने अश्विनी-

कुमारों से यह ज्ञान प्राप्त कर अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज पर इसे प्रकट किया। अंत में आत्रेय ने भरद्वाज से यह ब्रह्मविद्या सीखी। आत्रेय के ६ योग्य शिष्य, अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पराशर, हारीत और क्षरपाणि हिंदू चिकित्सा-शास्त्र के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। अग्निवेश चरक के



गुरु थे। एक और किंवदंती के अनुसार काशिराज धन्वंतरि ने यह विद्या इंद्र (अथवा उनके शिष्य भरद्वाज) से प्राप्त की और बाद में अपने प्रिय शिष्य सुश्रुत को सिखाई। जो लोग भारतीय चिकित्सा-विद्या के उद्‌भव के संबंध में प्रचलित नाना किंवदंतियाँ तथा वैदिक साहित्य में उल्लिखित अनेकानेक ऋषियों तथा देव-वैद्यों की कथा जानने के इच्छुक हों, वे डॉक्टर गिरींद्रनाथ मुखोपाध्याय लिखित 'हिस्ट्री ऑफ इंडियन मेडिसिन' भाग १-२ (कलकत्ता विश्वविद्यालय-द्वारा प्रकाशित) पढ़ सकते हैं।

आत्रेय और सुश्रुत के काल से ही वास्तव में भारतीय चिकित्सा-विज्ञान के इतिहास का प्रारंभ होता है। इसका यह अर्थ है कि इस समय से मोटे तौर पर यह बताया जा सकता है कि किस भारतीय शरीर-वैज्ञानिक ने कब, किन ग्रंथों की रचना की और चिकित्सा-शास्त्र तथा शरीरक्रिया-विज्ञान के विकास में किसकी कितनी देन है। आत्रेय और सुश्रुत से प्रख्यात भारतीय चिकित्सकों की जो परंपरा शुरू होती है, उसमें के लोग, विस्मृत कथा-कहानी के युग के मनुष्य नहीं है; विभिन्न ऐतिहासिक घटना-प्रवाहों के बीच उन्हें

पहचानने में कोई असुविधा नहीं होती। इसलिए इतिहास की दृष्टि से आत्रेय और सुश्रुत को भारतीय चिकित्सा-विज्ञान का जन्मदाता मान लेने का यथेष्ट कारण है।

आत्रेय (अनुमानतः ई० पू० ६००)

आत्रेय अत्रि ऋषि के पुत्र थे। उनका पूरा नाम है आत्रेय पुनर्वसु। पूरा नाम इसलिए कहा गया कि वैदिक तथा बौद्ध युगों में आत्रेय नाम के एकाधिक चिकित्सकों के नाम मिलते हैं। बौद्ध जातकों के आधार पर होएर्नले ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आत्रेय संभवतः तक्षशिला के प्रख्यात विश्वविद्यालय में चिकित्सा-विज्ञान के अध्यापक थे। ईसापूर्व छठी शती में या उससे कुछ पहले वे जीवित थे। उन्होंने चिकित्सा संबंधी अनेक ग्रंथों की रचना की; उनमें आत्रेय संहिता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पाँच खंडों में यह ग्रंथ लिखा गया है। अनेक प्रकार की व्याधियाँ, वस्तु-गुण, भेषज, चिकित्सा-विधान आदि इस ग्रंथ के मुख्य आलोच्य विषय हैं। उनके शिष्यों ने आत्रेय-चिकित्सा-पद्धति की विशद चर्चा की है। अग्निवेश-द्वारा रचित अग्निवेश-तंत्र के आधार पर ही चरक और दृढ़बल ने चरक-संहिता की रचना की। भेल और हारीत संहिता भी अति मूल्यवान प्राचीन चिकित्सा-ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों से भी आत्रेय की चिकित्सा-पद्धति का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है।

सुश्रुत

सुश्रुत ऋषि विश्वामित्र के पुत्र थे। काशिराज दिवोदास या धन्वंतरि से उन्होंने चिकित्साशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की, इस प्रकार की लोकोक्ति है। संभवतः काशी विश्वविद्यालय में उन्होंने अध्ययन और अध्यापन किया होगा। आत्रेय मुख्यतः चिकित्सा-विज्ञान या काय-तंत्र में पारदर्शी थे; सुश्रुत थे शल्य विद्या-विशारद। सुश्रुत का काल वैदिक युग का मध्यभाग या अंतिम भाग था। सुश्रुत ने आत्रेय का उल्लेख किया है; शतपथ ब्राह्मण में सुश्रुत के मतवादों की समालोचना है। इसलिए वे आत्रेय के परवर्तीकाल के और ब्राह्मणादि साहित्य के रचना-काल के पूर्ववर्ती काल के अथवा समसामयिक थे। होएर्नले का खयाल है कि सुश्रुत का जन्म ई० पू० छठी शती में हुआ था; वे आत्रेय के परवर्ती काल के, संभवतः अग्निवेश के समसामयिक थे।

आत्रेय-संहिता की तरह सुश्रुत-संहिता में मौलिक विशुद्धता सुरक्षित नहीं रह सकी। संभवतः सुश्रुत के शिष्यों औपधेनव, औरभ्र और पुष्कलावत ने

तथा और भी बाद में नागार्जुन ने मूल ग्रंथ में परिवर्तन और संशोधन किया होगा। जो भी हो, प्राचीन काल से ही इस ग्रंथ को सारे विश्व में ख्याति मिलती रही है और इसका प्रमाण है भारत के बाहर विभिन्न देशों में तथा विभिन्न भाषाओं में इसका अनुवाद होना। अरबी भाषा में इसका अनुवाद आठवीं शती के अंत में हुआ। इब्न आबिल सैबियाल ने "किताब-इ-सुस्रूद" नाम से इसका उल्लेख किया है। अल् राजी सुश्रुत संहिता को शल्यविद्या का प्रामाणिक ग्रंथ मानते थे। १९ वीं शती में लैटिन, जर्मन, अंग्रेजी आदि यूरोपीय भाषाओं में सुश्रुत का अनुवाद हुआ।

जीवक कोमारभच्च

सुश्रुत के बाद, बुद्ध के समसामयिक (ई० पू० ५६३-४८६) मगधाधिपति बिंबिसार के राजवैद्य जीवक कोमारभच्च का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जीवक का जन्म राजगृह में हुआ। चिकित्सा-शास्त्र में पारदर्शिता प्राप्त करने के लिए उन्होंने आयुर्वेद-शिक्षा के पीठस्थान दूर तक्षशिला में ७ वर्ष बिताए। वे आत्रेय के शिष्य थे। पुनर्वसु आत्रेय को छोड़कर, भिक्षु आत्रेय और कृष्णात्रेय, इन दोनों आत्रेयों के होने का भी पता चलता है। जीवक किस आत्रेय के शिष्य थे, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है।

समग्र आयुर्विज्ञान में जीवक का ज्ञान कितना गहरा और व्यापक था, इस विषय में जातक की एक कहानी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। उनकी शिक्षा समाप्त होने पर तक्षशिला के एक विख्यात आचार्य ने जीवक तथा अन्य शिष्यों में से प्रत्येक को एक खुदाई का यंत्र देकर यह अनुसंधान करने का आदेश दिया कि तक्षशिला के चतुर्दिक एक योजन के भीतर कोई ऐसा उद्भिद या लता है या नहीं, जिसमें कोई गुण नहीं है। अन्य शिष्यों में से हर एक ने एकाधिक उद्भिद संग्रह करके गुरु को बताया कि भेषज के रूप में ये निर्गुण हैं। बहुत बाद में जीवक खाली हाथ लौटे। उन्हें कोई ऐसा उद्भिद नहीं दीख पड़ा, जो भेषज के रूप में पूर्णतः गुण-रहित हो। आचार्य ने समझ लिया कि उद्भिद के गुणावगुण के संबंध में जीवक को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया है।

आत्रेय-द्वारा प्रवर्तित चिकित्सा-पद्धति में काय-चिकित्सा को ही मुख्य स्थान मिला है। परंतु जीवक शल्य चिकित्सा में भी असाधारण रूप से कुशल थे। उनके संबंध में प्रचलित कहानियों से पता चलता है कि उन्होंने कई क्षेत्रों में करोटि काटकर जख्मी स्थान से कृमि निकाले और इस प्रकार

रोगियों के सिरदर्द के उपचार किए। राजगृह में एक धनी व्यक्ति की पत्नी का पेट चीरकर अँतड़ियां बाहर निकाल लीं और उनमें से जो उलझ गई थीं, उन्हें सुलझाकर फिर यथास्थान रख दिया। जीवक की इस प्रकार की आश्चर्यजनक शल्य-चिकित्सा संबंधी अनेक कहानियाँ हैं। बुद्ध को उन्होंने कई बार दुरारोग्य व्याधि से मुक्त किया। कठिन व्याधि से पीड़ित होने पर राजा बिंबिसार भी उनकी चिकित्सा से अच्छे हो गए।

चिकित्सा में जीवक की ख्याति सारे भारत में फैल गई थी। वैशाली, वाराणसी, साकेत, यहाँ तक कि दूर उज्जयिनी से भी रोगी उनके पास चिकित्सा के लिए मगध आते थे। चिकित्सा के लिए वे मोटी रकम लेते थे। कहा जाता है कि कभी-कभी उनकी दक्षिणा १६ हजार कार्षापण भी ठहराई गई।

शिशु-चिकित्सा में जीवक अपने समय में अद्वितीय थे। काश्यप-संहिता नामक एक विराट चिकित्सा-ग्रंथ की उन्होंने रचना की। इसके ९ अध्याय हैं—(१) सूत्रस्थान, (२) निदानस्थान, (३) विमानस्थान, (४) शारीर-स्थान, (५) इंद्रियस्थान, (६) चिकित्सास्थान, (७) सिद्धिस्थान, (८) कल्प-स्थान, और (९) खिलस्थान।

चरक

आत्रेय-रचित चिकित्साशास्त्र का प्रचार मुख्यतः चरक ने किया। उन्होंने चरक-संहिता की रचना की, जो प्रधानतः अग्निवेश-तंत्र का परिवर्धित और संशोधित संस्करण है। यह संशोधन उन्होंने अकेले नहीं किया। दृढ़बल नाम के एक और प्राचीन हिंदू चिकित्सक ने अग्निवेश-तंत्र के बाद के अध्यायों को सुधारा। जो भी हो, चरक आत्रेय और अग्निवेश के बाद हुए थे। प्राचीन बौद्ध ग्रंथ त्रिपिटक में हम पाते हैं कि चरक ईस्वी प्रथम शती में कनिष्क के शासनकाल में राजवैद्य थे। परंतु कनिष्क के शासनकाल के विषय में बड़ा मतभेद है। ई० पू० प्रथम तथा द्वितीय शतियों के बीच ठीक कब उन्होंने शासन किया, यह निश्चित रूप से निर्धारित नहीं हो सका है। यह भी एक संदेह का विषय है कि त्रिपिटक में उल्लिखित चरक और चरक-संहिता के रचयिता चरक एक ही व्यक्ति हैं या नहीं। गिरींद्रनाथ मुखोपाध्याय ने दिखाया है कि पाणिनि (ई० पू० पांचवीं शती) और पतंजलि (ई० पू० दूसरी शती) ने चरक संहिता का उल्लेख किया है।* इसलिए ई० पू०

* Girindra Nath Mukhopadhyaya, The Surgical Instruments of the Hindus, Calcutta University. 1913. p. 7.

६०० और ईस्वी सन् २०० के बीच, अर्थात् इस ८०० वर्ष की अवधि में, किसी समय, संभवतः कश्मीर में चरक का जन्म हुआ था। प्राचीन भारतीय ग्रंथों तथा ग्रंथकारों की तिथिसंबंधी यह अनिश्चितता हमें परेशानी में डाल देती है। इस कारण, इन तिथियों के निश्चय न होने तक, भारत के वैज्ञानिक कार्य-कलापों के विचार-विश्लेषण में विशेष सतर्कता बरतने की आवश्यकता है, पाश्चात्य पंडित हमें बारबार इसकी याद दिलाते रहते हैं।

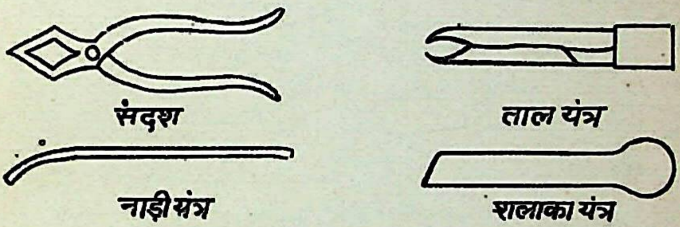
सुश्रुत-चरक की शल्य-विद्या तथा चिकित्सा संबंधी कुछ बातें

यह तो हुई प्राचीन भारतीय चिकित्सकों तथा शरीर-विज्ञान-विदों की बात। अब, शल्य-विद्या तथा चिकित्सा के संबंध में प्राचीन भारत में किस प्रकार का ज्ञान था, सुश्रुत और चरक से उसका कुछ परिचय देना आवश्यक है।

शल्य-विद्या : अथर्ववेद तथा आयुर्वेद में शल्य तंत्र का उल्लेख और चर्चा है। सुश्रुत के काल में इस विद्या में अभूतपूर्व उन्नति हुई। सुश्रुत शल्य-चिकित्सक थे, इसलिए अपनी संहिता में उन्होंने शल्य विद्या को ही अध्ययन का प्रमुख विषय बनाया है।

शल्य चिकित्सा की प्रारंभिक बात है नानाविध आवश्यक यंत्रादि का व्यवहार। प्रायः १२१ विभिन्न यंत्रों का सुश्रुत में उल्लेख है। यंत्रों की दो मुख्य श्रेणियाँ हैं—(१) यंत्र, और (२) शस्त्र। यंत्रों की नोक कुंद हैं और शस्त्रों की नोक तेज धारवाली हैं। यंत्रों की संख्या लगभग १०१ है और इनकी ६ किस्में हैं (१) स्वस्तिक—संडसी, चिमटी आदि; (२) संदंश—चिमटी, संडसी; (३) ताल—यह भी एक प्रकार की संडसी या चिमटी है; (४) नाडी—कैथेटर (Catheter) विभिन्न आकारों तथा चौड़ाइयों की नलिकाएँ; (५) शलाका—शलाका, दंड आदि; और (६) उपयंत्र—उपर्युक्त यंत्रों के आनुषंगिक यंत्र। तीक्ष्णधार वाले शस्त्र २० प्रकार के हैं—(१) मंडलाग्र—गोल छुरी; (२) करपत्र—आरी, जो देखने में हाथ की तरह है; (३) वृद्धिपत्र— उस्तरा; (४) नखशस्त्र—नाखून की भांति शस्त्र; (५) मुद्रिका—उंगली की भांति छुरी; (६) उत्पलपत्र—कमल के पत्ते की भांति छुरी (७) अर्द्धधार— छोटी छुरी, जिसकी धार एक तरफ है; (८) सूची—सुई; (९) कुशपत्र—छुरी का फल (घास की तरह); (१०) आतीमुख—आती पक्षी की चोंच-जैसी छुरी; (११) शबरीमुख—शबरी पक्षी की चोंच की तरह की कैंची;

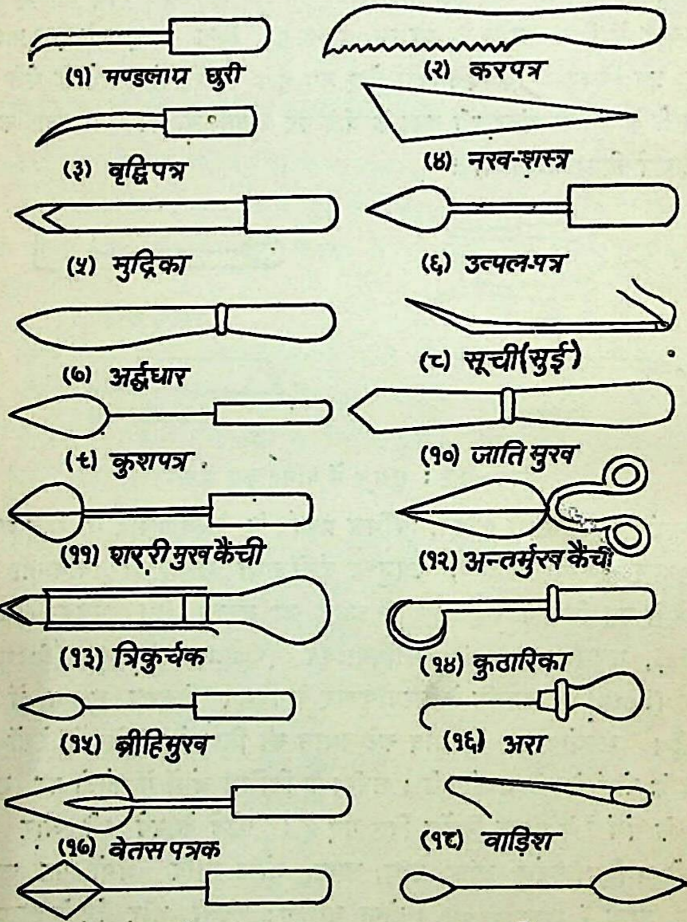
(१२) अंतर्मुख--कैंची; (१३) त्रिकूर्चक—तीन सुईवाला शस्त्रविशेष; (१४) कुठारिका—छोटी कुल्हाड़ी; (१५) व्रीहिमुख—सूची शलाका (trocar); (१६) अरा; (१७) वेतस पत्रक; (१८) वाड़िश—काँटा; (१९) दंतशंकु—दांत उखाड़नेवाला यंत्र; (२०) एषणि—घाव की गहराई जाँचने के लिए नुकीली सलाई। चित्र में कुछ यंत्रों और शस्त्रों के नमूने दिए जा रहे हैं। शल्योपचार में किस प्रकार के यंत्र या शस्त्र का किस तरह व्यवहार करना चाहिए, इस विषय में विशद निर्देश दिए गए हैं। छात्रों को चमड़े के थैले पर या मछली के पेट के अंदर की हवा के थैले पर शल्यक्रिया का अभ्यास करने का परामर्श दिया जाता था।



चित्र—५१ : सुश्रुत में वर्णित कुछ यंत्र।

अत्यंत जटिल तथा कठिन, विभिन्न प्रकार के शल्योपचार में हिंदू शल्यविद् कुशल और पारदर्शी थे, उपयुक्त यंत्रों तथा शस्त्रों की विविधता और बाहुल्य से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है। भगंदर (anal fistula), गलसुआ (tonsil), मोतियाबिंद (Cataract), भ्रूण (foetus), हर्निया (hernia) इत्यादि के शल्योपचार के विशद विवरण सुश्रुत में दिए हुए हैं। शल्योपचार के बाद कटे स्थान की सिलाई उद्भिद के रेशों और पशुओं के रोएं से की जाती थी। शरीर के विभिन्न अंगों में फोड़ों पर शल्यक्रिया के संबंध में स्पष्ट निर्देश दिए गए हैं। फोड़े के गढे की ओर छुरी चलानी चाहिए, परंतु आंख, गला, अधर, ओष्ठ आदि अंगों पर शल्योपचार आड़ा (transverse) होना चाहिए; हथेली और पैर के तलुए पर वृत्ताकार, इत्यादि। शल्यक्रिया के बाद जख्म या घाव गरम पानी से धोना, उसमें कपड़े के टुकड़े डालना, पुलटिश पट्टी बाँधना आदि के संबंध में विशद निर्देशों को पढ़कर लगेगा कि यह मानों कोई आधुनिक शल्यविद्या का ग्रंथ है। एक अलग अध्याय में यह विवरण है कि हड्डी टूटने, हट जाने या उसमें दरार पड़ने पर क्या व्यवस्था की जानी चाहिए।

रिनोप्लास्टी : रिनोप्लास्टी (rhinoplasty) या नव नासिका-निर्माण विद्या का प्रथम आविष्कार भारत में ही हुआ और साथ ही प्लास्टिक शल्य-कर्म (plastic surgery) का आविष्कार भी। मनुसंहिता में व्यभिचार के दंडस्वरूप अपराधी की नाक-कान काटने का निर्देश था। कैस्टिग्लिओनी ने

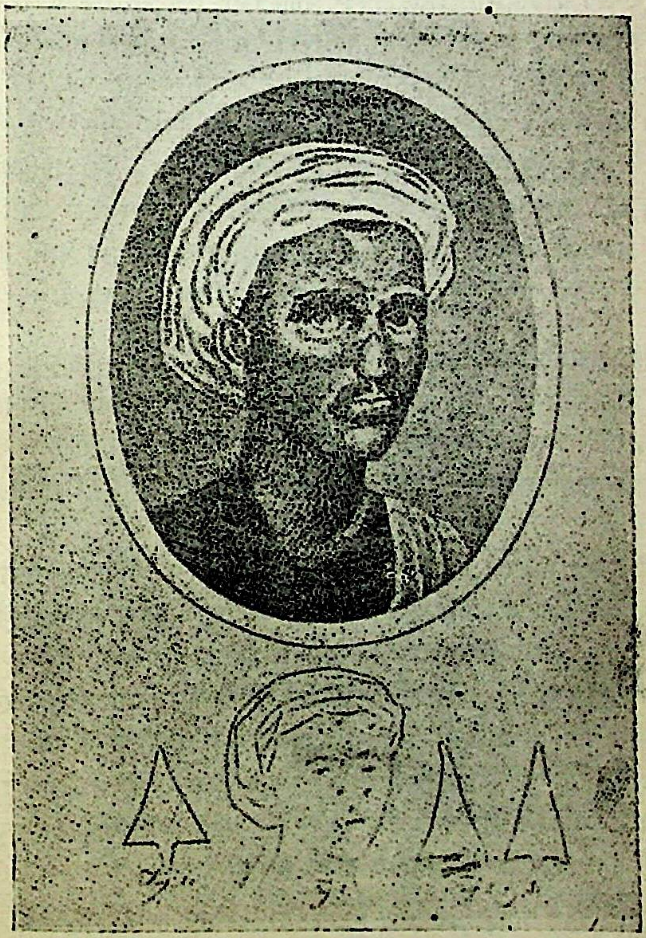


चित्र—५२ : सुश्रुत में वर्णित शस्त्र

दिखाया है कि अपराधी के संबंध में इस प्रकार की दंड-व्यवस्था, भारत में रिनोप्लास्टी के सर्वप्रथम आविष्कार का प्रधान कारण थी।* नवनासिका-

* Arturo Castiglioni, "A Short History of Medicine," Alfred A. knopf, Inc. 1947, p. 93

निर्माण के संबंध में सुश्रुत के परामर्श के अनुसार पहले किसी पेड़ की पत्ती को नाक के कटे हुए हिस्से के बराबर काटकर गले से उसी माप की चमड़ी या ऊतक (tissue) काट लेना होगा। फिर उस ऊतक को सावधानी से नाक के कटे हिस्से पर बैठाकर सिलाई कर देने से यह धीरे-धीरे शरीर के साथ जुड़ जायगा। सांस लेने की सुविधा के लिए नई नाक के अंदर दो नलियाँ डालने की भी व्यवस्था थी। इसी प्रकार गले के ऊपरी भाग से कुछ



चित्र—५३ : रिनोप्लास्टी अथवा नवनासिका-निर्माण-प्रणाली
(Gentleman's Magazine, Calcutta, Oct., 1794)

मांस काटकर, कटे कान के स्थान पर नया कान तैयार किया जाता था। भारत से धीरे-धीरे अन्य देशों में रिनोप्लास्टी का प्रचलन हुआ। बर्लिन के डाक्टर हिर्शबेर्ग ने इस विषय में कहा है—यूरोप में संपूर्ण प्लास्टिक शल्यकर्म ने अपनी नई उड़ान तब भरी, जब हमें भारतीय कारीगरों के इन कुशल उपायों की जानकारी मिली। संवेदनशील चमड़ी की महीन परतों का स्थानांतरण भी पूर्णतः भारतीय प्रक्रिया है।*

यूरोपीय पंडित और इतिहासकार बहुत दिनों तक बड़े गर्व के साथ कहा करते थे कि भारत में ज्ञान-विज्ञान की चर्चा इस देश से ग्रीकों का संपर्क होने के बाद से शुरू हुई। विज्ञान-सम्मत रूप से चिकित्सा-विद्या की चर्चा और अभ्यास का श्रेय वे बराबर ग्रीक हिपोक्रेटिस् तथा उनके शिष्यों को ही देते आए हैं। अब पाश्चात्य पंडितगण ही यह स्वीकार करते हैं कि हिपोक्रेटिस् के बहुत पहले भारतीय चिकित्सकों ने शल्य-विद्या में विस्मयजनक उन्नति की थी। शल्यकर्म के कठिन क्षेत्रों में जो पारदर्शिता उनमें पाई जाती है, वह हिपोक्रेटिस् तथा उनके शिष्यवर्ग की कल्पना के बाहर की बात थी।

केस्टिग्लिओनी ने लिखा है—"हमें इस बात का प्रमाण मिलता है कि हिपोक्रेटिस् से पहले भारत में शल्यकर्म का प्रचलन था। वास्तविकता यह है कि भारतीय चिकित्सा-पुस्तकों में ऐसी शल्यक्रियाओं, उदाहरण के रूप में भगंदर की शल्यक्रिया, का विवरण है, जिनका नाम भी हिपोक्रेटिस् के लेखों में नहीं है।"†

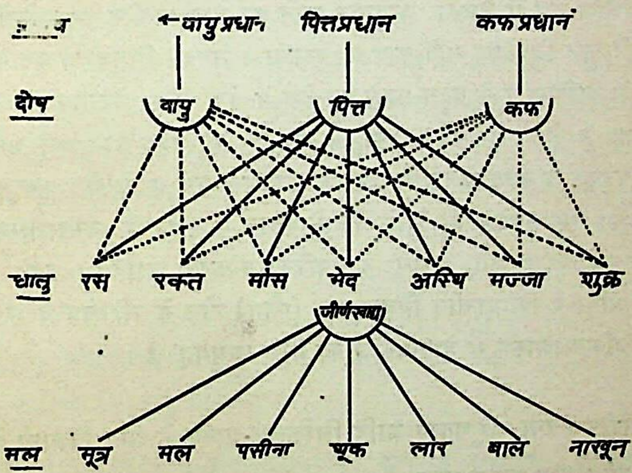
वैदिक युग में शल्य-विद्या का आदर था और शल्य चिकित्सक समाज में सम्मानित और श्रद्धेय व्यक्ति होते थे। परवर्ती ब्राह्मण-युग में अनेक कुसंस्कार फैल जाने पर, शल्य-चिकित्सा की गिनती, क्रमशः हीन और घृणित व्यवसायों में होने लगी। शिक्षित ब्राह्मणों-द्वारा इसकी अवज्ञा और परित्याग किए जाने पर शल्य-विद्या को अशिक्षित हीन संप्रदायों में आश्रय मिला। बौद्धों का अहिंसा धर्म भी शल्य-विद्या की प्रगति के प्रतिकूल साबित हुआ। बौद्ध युग में चिकित्सा-शास्त्र के अन्य विभागों में बहुत उन्नति हुई, परंतु शल्य-विद्या की द्रुत अवनति का प्रतिरोध संभव नहीं हो सका।

---

* Bhagvat Singhjee, "A Short History of Aryan Medical Science," Macmillan & Co. 1896, p. 178.

† Castigleoni, loc. cit. p. 90.

त्रिदोषवाद और चिकित्सा-पद्धति : वैदिक चिकित्सा-पद्धति एक विशिष्ट मतवाद पर प्रतिष्ठित है; केवल अनुमान से उसकी उत्पत्ति नहीं हुई। इस मतवाद का नाम है त्रिदोषवाद। हम पहले देख चुके हैं कि ऋग्वेद और अथर्ववेद में इसका आभास मिलता है। वायु, पित्त और कफ, इन तीन प्रकार के दोषों में समता होने पर ही स्वास्थ्य बना रहता है। किसी कारण से इस समता में वाधा पड़ने पर रोग का आविर्भाव होता है। नाभि से पदतल तक के देहांश में वायु का अवस्थान है, नाभि से हृत्पिंड तक पित्त और हृत्पिंड से मस्तक तक के अंश पर कफ की प्रभुता है। ये तीन दोष देह की परिचालना करते हैं और इनमें विभिन्नता के कारण ही हमें विभिन्न आकृतियों, प्रकृतियों और व्यक्तित्वों के लोग दिखाई पड़ते हैं। शरीर रस (पचाया हुआ खाद्य), रक्त, मांस, मेद (चर्बी), अस्थि, मज्जा और शुक्र, इन सात धातुओं-द्वारा गठित है। ये सातों धातु वायु, पित्त और कफ-द्वारा प्रभावित हैं।



चित्र—५४ : आयुर्वेदोक्त त्रिदोषवाद

रस या पचाए हुए खाद्य से अनेक प्रकार के मल निकलते है—जैसे मल, पसीना, बाल, नाखून इत्यादि।

आयुर्वेद के मतानुसार केवल दोष, धातु और मल के विचार-द्वारा ही स्वास्थ्य और व्याधि का कारण-निर्णय करना संभव है और इसी विचार से चिकित्सा की व्यवस्था करनी होगी। दोष, धातु और मल का पारस्परिक संपर्क चित्र में दिखाया गया है।

व्याधियां दो प्रकार की हैं—शारीरिक और मानसिक। व्याधि के कारण भी दो प्रकार के हैं—(१) अंतर्निहित और (२) आगतुंक या बाहर से आए हुए। 'पूर्वरूप' या प्राथमिक लक्षण 'लिंगौ' या रोग के आविर्भाव के बाद के लक्षण-समूह और 'उपचय' या रोगी पर खाद्य और औषधि की क्रिया के विश्लेषण-द्वारा व्याधि का स्वरूप जानना होगा। रोग के लक्षणों में ज्वर को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। ज्वर के अनेक भेद हैं। त्रिदोष की साधारण विकृति से उत्पन्न सात प्रकार के ज्वर और चोट तथा जख्म से उत्पन्न एक प्रकार के ज्वर का उल्लेख किया गया है। वायु, पित्त और कफ, इन तीनों दोषों की विकृति से उत्पन्न ज्वर घातक और असाध्य होता है। क्षयरोग का वर्णन राजरोग के नाम से किया गया है। चेचक आदि संक्रामक रोगों का ज्ञान भी उस समय था, क्योंकि चेचक के दानों का स्पष्ट विवरण मिलता है। इन दोनों से निकलनेवाले रस से टीका तैयार करने तथा चेचक-निरोधक के रूप में उसका व्यवहार करने का ज्ञान प्राचीन भारतीयों को था या नहीं, यह निःसंशय नहीं कहा जा सकता। भगवत सिंहजी ने बताया है कि जेनर के आविष्कार के बहुत पहले इस देश में भेड़ तथा गोपालकों के एक वर्ग में चेचक के टीकों का प्रचलन था।* संभवतः यह बहुत बाद का आविष्कार था। मच्छर के साथ मलेरिया ज्वर का उल्लेख सुश्रुत में है। सुश्रुत में इस प्रकार का एक उपदेश भी है कि किसी स्थान में चूहे की अस्वाभाविक मृत्यु देखकर अविलंब उस स्थान का परित्याग करना चाहिए। इससे अनुमान किया जाता है कि प्राचीन हिंदू ताऊन (प्लेग) रोग से परिचित थे।† प्राचीन हिंदू-चिकित्साशास्त्र में डायबिटीज का नाम 'मधुमेह' है।

शरीर-रचना, भ्रूणतत्व आदि चिकित्सा-शास्त्र के अन्य विभागों के ज्ञान में आयुर्वेद और सुश्रुत समृद्ध हैं। इन बातों के उल्लेख-द्वारा हम अपने वक्तव्य को और अधिक लंबा नहीं करना चाहते। जो कुछ कहा जा चुका है, उससे यह सहज ही देखा जा सकता है कि प्राचीन भारतीयों का चिकित्सा-संबंधी ज्ञान कितना उन्नत था। मानव-शरीर और उसके विकारों को समझने की

---

* Bhagvat Singhjee, "A Short History of Aryan Medical Science," p. 179.

† Castiglioni, loc. cit, p. 89.

चेष्टा में वैदिक हिंदू, आज से ३ हजार वर्ष पहले जिस प्रकार की विज्ञान-सम्मत पद्धति से अग्रसर हुए थे, उसका उदाहरण पृथ्वी के बहुत कम देशों में देखा जाता है।

चीन

अब हम भारत से चलें दूर पूर्व में महाचीन की ओर। चीनी सभ्यता की प्राचीनता से यह आशा करना स्वाभाविक है कि उस देश में बहुत प्राचीन काल से ही चिकित्सा-विद्या की चर्चा हुई होगी। चीनी लोकोक्ति के अनुसार उस देश में चिकित्सा-विद्या के प्रवर्तक थे सम्राट शेन नुंग। शेन नुंग का शासन-काल अनुमानतः ई० पू० २७०० था। अपने राज्य में कृषि का प्रथम प्रवर्तन भी उन्होंने ही किया। उन्होंने परीक्षण-द्वारा प्रायः एक सौ भेषजों के गुणावगुणों का पता लगाया था।

नेइ चिंग :—चिकित्सा-शास्त्र के प्राचीनतम चीनी ग्रंथ का नाम है 'नेइ-चिंग (Nei-Ching) या चिकित्सा-शास्त्र। इसके रचयिता थे सम्राट हुआंग-ति (ई० पू० २६९८-२५९९)। हुआंग-ति का यह काल-निरूपण सही हो तो 'नेइचिंग' केवल चीन नहीं, बल्कि समग्र पृथ्वी का प्राचीनतम चिकित्सा-ग्रंथ है। परंतु इस ग्रंथ की प्राचीनता के संबंध में संदेह है। आधुनिक चीनी विशेषज्ञों का खयाल है कि यह ग्रंथ अपने वर्तमान आकार में ई० पू० तीसरी शती के पहले लिपिबद्ध नहीं हुआ। पुरातनपंथी चीनी चिकित्सकों में से कोई-कोई अब भी 'नेइ-चिंग' के विधान के अनुसार रोगियों की चिकित्सा करते हैं। इस ग्रंथ के दो भाग हैं—(१) सु-वेन (Su-Wen)—यह चिकित्सा संबंधी साधारण अध्ययन है, और (२) लिंग-शु (Ling shu)—इसका आलोच्य विषय है शरीर-रचना।

चीनी चिकित्सा की दार्शनिक बुनियाद: 'यांग-इन' मतवाद : प्राचीन चीनी चिकित्सा-विद्या चीनी दर्शन के सांचे में ही ढली हुई है। इस दर्शन में ब्रह्मांड और मनुष्य का अविभेद्य संपर्क है। मनुष्य विराट ब्रह्मांड का ही एक लघु रूप है। ब्रह्मांड लकड़ी, आग, मिट्टी, धातु और पानी, इन पांच तत्त्वों से बना है। इन्हीं पांच तत्वों से मानव-शरीर का भी गठन हुआ है। चीनी दर्शन में पांच एक अति पवित्र, आश्चर्यजनक गुण-संपन्न, अलौकिक संख्या है। पांच धातु, पांच इंद्रिय, पांच किस्म के रंग, पांच प्रकार के स्वाद आदि इस संख्या की विशेषता के कुछ नमूने हैं। चीनी सृष्टि-रहस्य तथा चिकित्साविद्या का

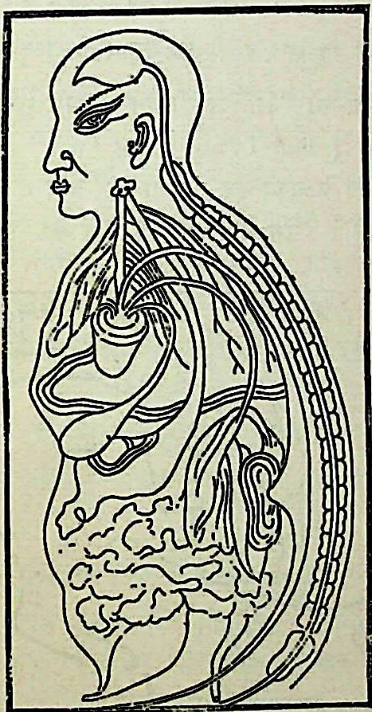
एक और महत्वपूर्ण विषय है स्त्री-पुरुष-संपर्क। स्त्री और पुरुष दो विपरीत-धर्मी गुण हैं; पहले का नाम है यांग (yang) और दूसरे का इन् (yin)। दोनों के संयोग से विश्व-ब्रह्मांड और जीव-शरीर की सृष्टि हुई है। आकाश, सूर्य, प्रकाश, बल, कठिनता, ताप, शुष्कता आदि पुरुषधर्मी हैं; पृथ्वी, चंद्र, अंधकार, दुर्बलता, भाप, ठंडक आदि स्त्रीधर्मी हैं। 'यांग' और 'इन्' की समता से विश्व में सुव्यवस्था बनी रहती है और शरीर स्वस्थ रहता है; यह समता नष्ट होने पर, बाहरी जगत में जिस प्रकार अशांति और विप्लव की सृष्टि होती है, उसी प्रकार शरीर रोग-ग्रस्त हो जाता है। नदी में ज्वार-भाटे की तरह, संगीत में उत्थान-पतन की भांति 'यांग' और 'इन्' मानव-देह में सदा तरंगित होते रहते हैं। इस तरंगित प्रवाह का गतिरोध होने से शरीर की विकलता और व्याधि का प्रतिरोध नहीं किया जा सकता। चीनी शरीर-रचना-शास्त्र के अनुसार शरीर को पुष्ट करने का काम मुख्यतः पांच अंग करते हैं। ये पांच अंग हैं—हृत्, फेफड़ा, यकृत्, तिल्ली और जठर। इन पांच अंगों के साथ पाँच अंतरांग (viscera) संयुक्त हैं—जैसे, अंतड़ी, मलाशय, पित्ताशय (gall bladder), मूत्राशय (bladder) और अग्न्याशय (Pancreas)। पांच प्रकार की धातुओं, रंग और ऋतुओं में से एक-एक के साथ एक-एक अभ्यंतरांग का संबंध है। अंगों और अभ्यंतरांगों में घनिष्ठ संबंध है। अंगों में हृदय श्रेष्ठ है। यकृत् और अग्न्याशय क्रमानुसार हृदय की जननी और पुत्र हैं। जठर के साथ हृत् (हृदय) का शत्रु-संबंध है, इत्यादि।

रक्त-परिवहन : एक प्रकार के रक्त-परिवहन (blood circulation) का उल्लेख मिलता है। 'यांग' रक्त-परिवहन की परिचालना करती है; प्रति घंटा ५० बार रक्त-परिवहन होता रहता है। इस प्रकार के उल्लेख से कुछ लोगों की यह धारणा है कि हार्वी के बहुत पहले, हो सकता है कि २ हजार वर्ष पहले, चीनी चिकित्सा-वैज्ञानिकों ने ही सर्वप्रथम रक्त-परिवहन का आविष्कार किया होगा।* 'यांग' और 'इन्' के अद्भुत समन्वय से जहाँ जड़

* दूसरी ओर ऐसा लगता है कि 'नेइ चिंग' (nei ching) भी रक्त-परिवहन-जैसे एक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय (concept) के निकट पहुँच चुका था। जैसा कि वोंग-द्वारा उद्धृत वाक्यों में देखा जा सकता है—'हृदय शरीर के समस्त रक्त को नियंत्रित करता है। रक्त-धारा निरंतर एक चक्र में प्रवाहित होती रहती है और कभी रुकती नहीं।' Castiglioni, loc. cit. p. 192.

और चेतन जगत में सर्वत्र तरंगित अनंत प्रवाह की कल्पना की गई थी, वहां मानव-शरीर के अंदर रक्त-परिवहन की कल्पना करना भी कठिन बात नहीं थी। लेकिन इसे हार्वी के आविष्कार का पूर्वाभास बताना कहां तक उचित है, इस विषय में संदेह की गुंजाइश है।

नाड़ी परीक्षा : नाड़ी-स्पंदन के अनुभव से रोगी की व्याधि का रूप-निर्णय किया जाता था। हम देखते हैं कि चीनी चिकित्साशास्त्र में अतिजटिल नाड़ी-विद्या का उद्भव हुआ था। इस विद्या के अनुसार समग्र शरीर की तुलना बहुत से तारोंवाले वाद्ययंत्र से की जाती थी। शरीर की प्रत्येक नाड़ी मानो वाद्ययंत्र का एक-एक तार है। जिस प्रकार तार को झंकार-



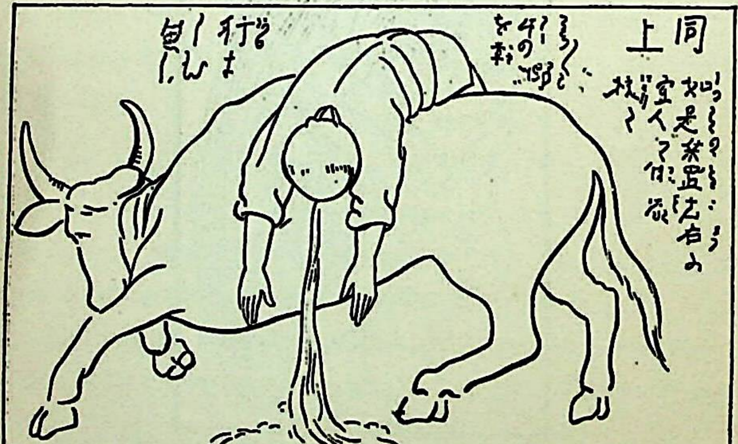
चित्र – ५५ : रक्त-परिवहन के विषय में चीनी धारणा का चित्र-रूप।

कर यह पता लगाया जाता है कि वाद्ययंत्र के तार ठीक बंधे हैं या नहीं, उसी तरह नाना प्रकार से और सावधानी के साथ नाड़ी दबाकर देह-यंत्र की स्वस्थता या अस्वस्थता का निर्णय किया जाता था। प्रायः दो सौ विभिन्न

नाड़ियों के विवरण और व्याख्याएँ चीनी चिकित्साशास्त्र में मिलती हैं। इनमें से कम-से-कम से कम २६ नाड़ियाँ मृत्यु-निर्देशक हैं। इस प्रकार की चिकित्सा-विधि में रोगी की नाड़ी-परीक्षा करने में ही चिकित्सक को कई घंटे लग जाते थे। यहाँ यह कह देना चाहिए कि प्राचीन चीनी चिकित्सक रोगी तथा उसके परिवार के इतिहास पर कोई महत्त्व आरोपित नहीं करते थे।

रोगों में चेचक और उपदंश का उल्लेख बहुत प्राचीन काल में मिलता है। चीन में चेचक प्रायः प्रबल महामारी के रूप में फैलता था। चेचक के प्रतिरोध के लिए टीके लगाने की व्यवस्था वहां प्रचलित थी, लेकिन संभवतः यह चीनी आविष्कार नहीं था। चेचक के दानों से निकलनेवाले पदार्थ का संग्रह करके, उसे सुखाकर, उसके चूर का इस्तेमाल सुंघनी के तौर पर किया जाता था। उपदंश रोग के तीन स्तरों का उल्लेख है; यहां तक कि प्राचीन चीनी चिकित्सकों का यह खयाल था कि यह रोग आनुवंशिक है।

मेटीरिया मेडिका को चीनियों की देन अत्यंत सराहनीय है। अधुना 'पेन् शाओ कांग मू' (Pen-Ts'ao kang Mu) नामक जो मेटीरिया मेडिका चीनी चिकित्सकों का प्रामाणिक ग्रंथ है, उसका रचना-काल ईस्वी १६ वीं शती है। इस मेटीरिया मेडिका का रचनाकार्य सम्राट शेन



चित्र—५६ : जल में डूबनेवाले व्यक्ति की चिकित्सा (जापानी चित्र से)।

नुंग के काल में आरंभ हुआ और समय के साथ बहुत-से चिकित्सकों की अभिज्ञता-द्वारा धीरे-धीरे पुष्ट होकर इसे वर्तमान आकार प्राप्त हुआ।

यह विशाल ग्रंथ ५२ खंडों में संपूर्ण हुआ है। इसमें २ हजार भेषजों तथा औपधियों का गुणावगुण-सहित वर्णन लिपिबद्ध है। यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि इसमें रक्त-क्षीणता के लिए लोहा, चर्मरोग के लिए संखिया और उपदंश के लिए पारा-सेवन का परामर्श दिया गया है।

चीन में इस समय शल्य-विद्या की भी बड़ी उन्नति हुई थी। हुआ तो नामक एक शल्य-चिकित्सक का पता चलता है। भारत की तरह चीन में भी शल्य-विद्या की अवनति हुई थी। टँग राजवंश (ई० ६१९-९०७) के बाद चीन में शल्य-विद्या की चर्चा कदाचित् ही सुनी जाती है। अभिज्ञ चिकित्सक-संप्रदाय-द्वारा उपेक्षित होने पर इसकी प्रगति रुक गई।

प्राचीन विज्ञान का अवसान तथा उसके कारण

ईसा के जन्म से लगभग ३ हजार वर्ष पहले, पृथ्वी की कुछ विशिष्ट प्रकार की नदी-घाटियों में, नव पाषाणकालीन क्रांति से लाभ उठाने के कारण, जिस नगर-सभ्यता की उत्पत्ति हुई, उसके आश्रय में विज्ञान ने जो उन्नति की, उसका सामान्य परिचय देने की मैंने चेष्टा की है। प्राचीन बेबीलोन, मिस्र, भारत और चीन में से प्रत्येक ने अपनी-अपनी विशिष्टता को कायम रखते हुए गणित, ज्योतिष तथा चिकित्सा-विद्या में विशेष कृतित्व का परिचय दिया है। उनके विभिन्न मौलिक आविष्कारों का महत्व भी कम नहीं है। लेखन-कला, दशमलव, षाष्ठिक पद्धति के अनुसार गणना, पंचांग-रचना तथा शल्य-विद्या का आविष्कार और उन्नति न होने तक ज्ञान-विज्ञान की प्रारंभिक प्रगति भी संभव नहीं है। इन आविष्कारों के माध्यम से प्राचीन बेबीलोन, मिस्र, भारत और चीन ने विज्ञान की बुनियाद डाली, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार की बुनियाद डाले जाने के बाद वास्तविक भवन-निर्माण का काम भी बेबीलोन, मिस्र, भारत और चीन में आरंभ हो जाना चाहिए था। परंतु आश्चर्य की बात यह है कि प्राथमिक बुनियाद डालने का काम शुरू होते न होते प्राचीन जातियों की सृजन-प्रतिभा रहस्यजनक रूप से अंतर्हित हो गई। ज्ञान-विज्ञान के स्वतःस्फूर्त विकास में गतिरोध उत्पन्न हो गया। उस समय अनेक तथ्यों तथा अभिज्ञताओं का संग्रह अवश्य हुआ, परंतु उन तथ्यों तथा अभिज्ञताओं के परीक्षण-द्वारा प्रकृति तथा वस्तु-जगत के संबंध में नए तत्वों तथा सत्यों की खोज करना उनके लिए संभव नहीं हो सका।

पहले प्राचीन मनीषी जिन सत्यों या सत्य-समूहों का संधान कर गए थे, उन्हें निर्दोष चरम सत्य मानकर और उनके लेखों या ग्रंथों की प्रतिलिपियां बार-बार करके, परवर्ती काल के लोगों के मन में यह धारणा बनी कि यही ज्ञान-विज्ञान का वास्तविक अनुशीलन था। मिस्र में जिस समय एड्विन स्मिथ पपीरस लिखा गया था, उसके बाद दो हजार वर्ष के बीच उस देश में शल्य-विद्या का कोई और श्रेष्ठ ग्रंथ नहीं लिखा गया।

आह्मेस पपीरस उसके बहुत पहले लिखे गए एक गणित-ग्रंथ की प्रतिलिपि मात्र है। बेबीलोनी नक्षत्र-प्रेक्षक हजारों नक्षत्रों का अवलोकन करके ढेरों तथ्य लिपिबद्ध कर गए हैं, परंतु उन तथ्यों के गोरखधंधे से निकलकर विश्व के विकास-रहस्य का उद्‌घाटन नहीं कर सके, तथापि उन्हीं के बहुमूल्य प्रेक्षणों का अवलंबन करके ग्रीकों ने परवर्ती काल में ज्योतिष के क्षेत्र में क्रांति ला दी। इस प्रकार की स्थितिशील अवस्था विचारों की दरिद्रता और अक्षमता की ही परिचायक है। इससे जान पड़ता है कि प्राचीन लोग या तो स्वभाव से कल्पनाशील नहीं थे, या विशेष प्रकार की कुछ प्रतिकूल अवस्थाओं के दबाव में पूर्वनिर्धारित मार्ग पर अनेक दिनों तक चलने के अभ्यासवश उन्होंने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में स्वतंत्र विचार और कल्पना की आवश्यकता का बोध खो दिया था।

ज्ञान-विज्ञान की यह स्थिरता और जड़ता जिस प्रकार बेबीलोन और मिस्र में देखी जाती है, वैसी अवस्था भारत और चीन में नहीं थी। वैदिक युग का अंत होने पर ब्राह्मण-काल में कुसंस्कारों की अधिकता के कारण भारत में विज्ञान की प्रगति में सामयिक रूप से बाधा अवश्य पड़ी, परंतु बौद्ध युग के उदय के साथ विज्ञान के क्षेत्र में पुनः उन्नति होने लगी। चीन में 'हान्' और 'चिन्' राजवंशों के बाद 'सुई', 'टैंग' 'सुंग' आदि राजवंशों के शासन-काल में वैज्ञानिक गवेषणा पूरे उद्यम के साथ चलती रही। प्राचीन भारत तथा चीन की वैज्ञानिक गवेषणाओं की यह विशेषता थी कि उनका अन्य देशों से विज्ञान-संबंधी आदान-प्रदान होता रहने पर भी उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी-अपनी विशेषता बनाए रखी। बारहवीं या तेरहवीं ईस्वी शती के पहले तक इन दोनों देशों में, ज्ञान-चर्चा के क्षेत्र में अनेक उत्थान-पतन होने पर भी, उसकी प्रगति किसी भी समय बिल्कुल रुकी नहीं रही। परंतु मिस्र के ईसा-पूर्व प्रथम सहस्राब्दी में प्रवेश करने पर, वहाँ वैज्ञानिक क्रिया-कलाप का कोई दृष्टांत नहीं मिलता। ग्रीकों के अभ्युत्थान के बाद बेबीलोनियों के वैज्ञानिक

क्रिया-कलाप क्रमशः क्षीण होते जाने पर भी, असीरिया, फारस तथा मेसीडोनी ग्रीकों के प्रधानता-काल में, वहां विज्ञान-चर्चा की थोड़ी-बहुत उन्नति होती दीख पड़ती है। प्राचीन वेबीलोनी या मेसोपोटामियाई विज्ञान का अस्तित्व ईस्वी प्रथम शती के प्रारंभ में पूर्णतः लुप्त हो गया।

सभ्यता तथा ज्ञान-विज्ञान की प्रथम बुनियाद डालने का अविस्मरणीय श्रेय प्राप्त करने पर भी प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया जो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ गया, उसके कारण ध्यान देने योग्य हैं। गॉर्डन चाइल्ड,[1] पार्टिंगटन,[2] फेरिंगटन[3] जैसे विख्यात पंडितों का यह मत है कि उनके पिछड़ जाने के मुख्य कारण हैं, व्यावहारिक विज्ञान की अवनति और समाज में श्रेणी-विभाजन के फलस्वरूप किसान आदि श्रमजीवी श्रेणियों का दास बन जाना। नवपाषाण युग के अंतिम दो हजार वर्षों में अर्थात् ई० पू० ५००० और ई० पू० ३००० के बीच व्यावहारिक विज्ञान की जो उन्नति हमें देखने को मिलती है, उसकी तुलना में, मानव सभ्यता के प्रथम २००० वर्षों में अर्थात् ई० पू० २६०० से लेकर ई० पू० ६०० तक व्यावहारिक विज्ञान की जो उन्नति हुई, वह नगण्य है। मिट्टी की बनी वस्तुएँ, धातु का आविष्कार, कृत्रिम उपायों से सिंचाई-व्यवस्था तथा नदी-नियंत्रण, पहिए का आविष्कार, पाल-लगी नौकाएँ, हल, कृषि कार्य में बैल आदि पशुओं का व्यवहार, ईंट से पक्के मकानों का निर्माण, लेखन का आविष्कार, एक तरह के प्राथमिक पंचांग की रचना तथा संख्या-लेखन पद्धति नव पाषाण युग के अंतिम काल के मुख्य आविष्कार हैं। उपर्युक्त प्रत्येक आविष्कार महत्त्वपूर्ण है और प्राथमिक सभ्यता के निर्माण के लिए अपरिहार्य है। जब इन आविष्कारों के सहारे नील नद तथा युफ्रेतिस-ताइग्रिस की घाटियों में सभ्यता की बुनियाद की वास्तविक प्रतिष्ठा हुई, बड़े-बड़े नगरों और जनपदों का निर्माण हुआ और मनुष्य को अभाव के बदले प्रचुरता का प्रथम आस्वादन मिला, उस समय विज्ञान की और अधिक उन्नति हुई होगी, यह विचार स्वाभाविक है। लेकिन जो कुछ हुआ, वह इतिहास के दुर्बोध्य नियमों के ठीक विपरीत घटित हुआ। सभ्यता के प्रथम दो हजार वर्षों में नव पाषाण युग के आविष्कारों के मुकाबले चार-पांच से अधिक आविष्कारों का नाम लेना कठिन है।

---

1. Man Makes Himself
2. Origin and Development of Applied Chemistry.
3. Greek Science.

गॉर्डन चाइल्ड ने सभ्यता के इस काल के केवल चार वैज्ञानिक आवि-ष्कारों का उल्लेख किया है। ये हैं—(१) दशमलव संख्या-लेखन-पद्धति (ई०पू० २०००); (२) खनिज लोहे से, सरलता के साथ, शुद्ध लोहा बनाने की पद्धति (ई० पू० १४००); (३) वर्णमाला-लिपि (ई० पू० १३००) और (४) नगर तथा जनपद में जल संभरणोपयोगी जल-प्रणाली की व्यवस्था (ई० पू० ७००)। इनमें से, उन्नत और सभ्य जातियों के केवल दो आविष्कार हैं। दशमलव पद्धति का व्यवहार मिस्र, भारत और बेबीलोन में प्रायः एक ही समय हो रहा था। राजधानी में पीने के पानी की व्यवस्था के लिए असीरिया के राजा सेन्नाचेरिब ने सबसे पहले नहर-निर्माण कराया था। नई दो की आविष्कारक दो ऐसी नई जातियाँ थीं, जिन्होंने अभी-अभी नव-पाषाण-युग के स्तर से, सभ्यता के स्तर में प्रवेश किया था। पिछड़े हित्तियों ने लोहा निकालने के कौशल का आविष्कार और प्रचलन किया; आक्षरिक लिपि का उद्भावन किया फिनिशयन व्यवसायियों ने, जो हाल ही में सभ्य-जगत् में प्रविष्ट हुए थे। इसलिए सभ्य मेसोपोटामिया तथा मिस्र में विज्ञान की द्रुत उन्नति के सभी उपकरण मौजूद होते हुए भी वह उन्नति संभव नहीं हो पाई। गॉर्डन चाइल्ड ने लिखा है—

'इन बातों को सामने रखते हुए मिस्र, बेबीलोन तथा सांस्कृतिक रूप में उनके अधीन निकटस्थ देशों की कृतियाँ, मानव-प्रगति के दृष्टिकोण से निराशाजनक प्रतीत होती हैं। इस दूसरी क्रांति के पहले और बाद में हुई प्रगतियों की तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह क्रांति, द्रुततर प्रगति के किसी नए युग की सूचना नहीं देती, बल्कि उसने, पहले हुई प्रगति को अपने शिखर पर पहुँचाकर उसे वहीं अवरुद्ध कर रखा। फिर भी उस क्रांति ने इन पूर्वी समाजों को अभूतपूर्व साधनों तथा ज्ञान के संग्रह और संचार की नई शक्ति से सुसज्जित कर दिया था।"　　　　(हिंदी अनुवाद)

समाज में श्रेणी-विभाजन होने के कारण ही, व्यावहारिक विज्ञान की और साधारणतया ज्ञान-विज्ञान की गति बहुत धीमी हो गई। समाज दो मुख्य श्रेणियों में बंट गया (१) नृपतिवर्ग, पुरोहित वर्ग और नाना प्रकार से शासन कार्य में लिप्त व्यक्तियों-द्वारा गठित उच्च श्रेणी, तथा (२) किसान, विभिन्न हुनरवाले कुशल कारीगर और मजदूर-पेशा लोगों की मिली-जुली निम्न श्रेणी। प्रथम श्रेणी की संख्या बहुत कम थी, किंतु राज्य के ऐश्वर्य

एवं अवशिष्ट संपत्ति का दायित्व उन्हीं के अधिकार में था। नव-पाषाण युग के छोटे-छोटे ग्रामों से जब बृहद् जनपदों का गठन संभव हुआ और खाद्योत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप जनसंख्या के एक बड़े अंश के लिए और शिल्प, व्यवसाय तथा अन्य रचनात्मक कार्यों के लिए जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा सुलभ हुआ, तभी से इस जटिल व्यवस्था की परिचालना के लिए—जैसे, सभी लोगों में शिल्प-जात वस्तुओं के बाँटे जाने के लिए—अनेक नियम-कानूनों, विधि-निषेधों, न्याय और अनुशासन, अर्थात् एक शब्द में 'शासन' तथा अधिकार की आवश्यकता आ पड़ी। संभवतः प्रथम समाज-व्यवस्थापकों का यही स्वप्न था कि इस प्रकार का शासन तथा अधिकार, सुनियमित और सुनियंत्रित उत्पादन और वितरण-कार्य में सहायता करके, जन साधारण के जीवन-मान को और उन्नत करेंगे। परंतु वास्तव में नव-पाषाण-कालीन संस्कृति से समाजवाद का उद्भव नहीं हुआ; उद्भव हुआ एकाधिपत्य या डिक्टेटरशाही का। अबाध एकाधिपत्य के फलस्वरूप जहाँ समाज के एक सिरे पर ऐश्वर्य पर ऐश्वर्य का ढेर लगने लगा, वहाँ दूसरे सिरे पर जमा होने लगा अभाव और दरिद्रता। इस अवस्था में श्रमिक केवल संपत्तिहीन और दरिद्र ही नहीं हुआ, अपितु स्वतंत्र रूप से काम करने के अवसर से भी वंचित हुआ और धीरे-धीरे शासकवर्ग के पास अपने को पूर्णतः बेच देने के लिए उसे बाध्य होना पड़ा। नव-पाषाण युग में मनुष्य दरिद्र अवश्य था, परंतु दास नहीं था। सभ्यता-स्थापना के प्रथमार्ध में हम देखते हैं कि मनुष्यों के एक वर्ग ने अपना सब कुछ खोकर जीवन-धारण के लिए दास-वृत्ति का अवलंबन किया। समाज में जिस श्रेणी-विभाजन की चर्चा की गई, वह कोई कल्पना की बात नहीं है। मिस्र के पिरामिडों की तुलना, पिरामिड-काल के दरिद्रों के समाधि-स्थानों से की जाय तो, इस कथन की सचाई प्रमाणित हो जायगी। किसी के काम न आनेवाली, अर्थहीन, गगनस्पर्शी ये विराट कब्रें, प्रजा तथा दासों पर मिस्र-सम्राटों की निर्विघ्न, निर्मम और लज्जाहीन क्षमता का दंभ ही घोषित करती हैं। संपत्ति-हीन हजारों बिके हुए दासों ने, जीवन-धारण के अनिवार्य प्रयोजन से, परिचालकों तथा ठेकेदारों के हाथों निस्सीम दुर्दशा, लांछना तथा यंत्रणा सहकर भी, दिन के बाद दिन अमानुषिक परिश्रम करके, चींटियों की तरह तिल-तिल कर इन पिरामिडों का निर्माण केवल क्षमतावानों के एक विचार को रूप देने के लिए, उनके नश्वर अस्तित्व को काल के ग्रास से बचाए रखने के उद्देश्य से किया। श्री बेल ने पिरामिड के विषय में गलत नहीं कहा है कि यह, 'मनुष्य के पार्थिव शासकों के अजेय

उद्यम के प्रति और परिश्रम करनेवालों की न टूटनेवाली पीठों के प्रति एक और काल-विजयी स्मारक है।'[1]

मोहंजोदड़ो तथा हड़प्पा के धनी सेठों के भवनों के पड़ोस में दरिद्र श्रमिकों की तंग झोपड़ियाँ भी श्रेणीगत आर्थिक विषमता के प्रखर स्वरूप पर ही प्रकाश डालती हैं।

किसान, मजदूर और कारीगर इस तरह बिक जायँ तो वे नए व्यावहारिक आविष्कारों की प्रयोजनीयता का बोध और प्रेरणा भी खो देते हैं। ये किसान और कारीगर ही नवपाषाण युग के विभिन्न आविष्कारों के मूल में थे। अपना परिश्रम घटाने के उद्देश्य से और अपनी पूर्वार्जित विद्या के सहारे स्वतंत्र रूप से परीक्षण करते हुए उन्होंने अनेक पद्धतियाँ और तकनीक आविष्कार किए। संभवतः इस प्रकार के आविष्कारों के लिए उन्हें समाज से सम्मान और श्रद्धा भी प्राप्त हुई। एकतंत्र शासन में यह स्थिति नहीं रही। जिस सम्राट की आज्ञा पर अनगिनत क्रीतदास सदा कठोर श्रम करने को तैयार हों, उससे श्रम-लाघवकारी यंत्र या तकनीक के आविष्कार के विषय में उत्साह अथवा सहायता प्राप्त करने की आशा व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार के आविष्कार का जहाँ कोई मूल्य न हो, या इस प्रकार की चेष्टा से अवस्था की उन्नति की कोई आशा न हो, वहाँ कारीगर की निजी प्रतिभा, अवश्य ही, अपने आप लुप्त हो जायगी। इस निजी प्रतिभा का स्रोत वास्तव में सूख गया था। व्यावहारिक विज्ञान की अवनति उसका अंतिम प्रमाण है।

उनमें से, लिपि के व्यवहार में अभिज्ञ मध्यम वर्ग के लेखक-संप्रदाय की अवस्था कुछ अच्छी अवश्य थी। शासन-कार्य में लिपिक अपरिहार्य है। राजस्व वसूल करने, राज्य तथा धर्म-संस्था के आय-व्यय का हिसाब रखने और बहुविध राजकीय कार्यों तथा व्यवसाय-वाणिज्य के लिए लिपिकों की विशेष मांग होने के कारण वे स्वतः उच्च श्रेणी में शामिल हो गए। लिपि-व्यवहार के प्रथम युग में, जो इस दुरूह विद्या में दक्ष थे वे, बुद्धि और ज्ञान में भी निस्संदेह समाज की सभी श्रेणियों में अग्रणी थे। शासक श्रेणी से घनिष्ठ संबंध होने और उनके अपने स्वार्थ के फलस्वरूप लिपिक-संप्रदाय और किसान कारीगर श्रेणी के बीच व्यवधान पड़ गया। मेसोपोटामिया, मिस्र, भारत तथा चीन में लिपिकों-द्वारा रचित गणित, ज्योतिष और चिकित्सा-विद्या संबंधी मिट्टी के चिह्नित पट, पपीरस, पुस्तकादि के आविष्कार हुए हैं,

1. E. T. Bell, "The Development of Mathematics," p. 40.

परंतु मृत्शिल्प के विषय में कुम्हारों, धातुविद्या के विषय में ताम्रकारों या पशुपालन के विषय में किसानों की व्यावहारिक अभिज्ञता संबंधी कोई लिपि कदाचित् ही आविष्कृत हुई है। कारीगरी विद्या के व्यापक अनादर का यह एक और दृष्टांत है। इस अनादर और अवज्ञा के लिए दोषी केवल प्राचीन लोग ही नहीं हैं। यूरोप में भी नव जागरण के पहले कारीगरी विद्या को प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हुई। जॉर्ज एग्रिकोला (ई० १४९४-१५५५), विरिंगुच्चिओ-जैसे प्रमुख इटालीय व्यावहारिक वैज्ञानिकों की चेष्टा से जब कारीगरी विद्या का समादर होने लगा, उसके बाद ही विज्ञान की वास्तविक और सर्वतोमुखी उन्नति संभव हो सकी।

इसलिए, लिपि के आविष्कार के बाद, ज्ञान-विज्ञान में केवल गणित, ज्योतिष और चिकित्सा-विद्या तथा साहित्य में केवल नृपतिवर्ग के युद्ध-विग्रह, वीरता और षडयंत्रों की कहानियों की ही चर्चा होती थी, यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। संभवतः इन लिपिकों में से ही शक्तिशाली पुरोहित-संप्रदाय का उदय हुआ होगा। प्राचीन समाज-व्यवस्था में राजाओं के बाद ही पुरोहित-संप्रदाय का स्थान था। कहीं-कहीं, जैसे भारत तथा बेबीलोन में, पुरोहित वर्ग ही सभी क्षेत्रों में वास्तविक शासनाधिकारी होता था। पुरोहित न केवल ज्ञान-विज्ञान के धारक, वाहक और पोषक होते थे, अपितु कुसंस्कार-सपन्न, अज्ञान और दरिद्र जनसाधारण को वश में रखने और आज्ञाकारी बनाए रखने का भार और कर्तव्य भी उन्हीं पर होता था। बुद्धिमान पुरोहित-संप्रदाय को यह समझने में देर नहीं लगी कि पौराणिक कहानियाँ, जादू, ज्योतिष तथा बहुविध कुसंस्कारों के वातावरण की सृष्टि-द्वारा जनता के अज्ञता-जनित स्वाभाविक अंधविश्वास को चिरस्थायी बनाना ही, विशाल-संख्यक, पिछड़े हुए जन-साधारण को नियंत्रित और वशीभूत करने का सबसे बड़ा हथियार है। यह कहना अनावश्यक है कि इस हथियार का प्रयोग उन्होंने बड़ी सफलता के साथ किया। इस प्राचीन कौशल-द्वारा मनुष्य को बार-बार पशु के स्तर पर गिराए जाने और भेड़ों की तरह उन्हें परिचालित करने के अनगिनत दृष्टांतों से इतिहास के पन्ने रंगे पड़े हैं। क्या आज भी उस घृणित कौशल के प्रयोग का अवसान हुआ है?

जिस समाज में मनुष्य को मानवेतर बनाकर शासन करने की रीति है, वहाँ निजीपन का कोई स्थान नहीं। पिछड़ापन ही उस समय का धर्म बन जाता है। आविष्कार और विचारधारा का परिवर्तन वहाँ अनभीप्सित ही.

नहीं, बल्कि घोर आशंका के कारण होते हैं। पूर्व निर्धारित, चिर प्रचलित मार्ग का अनुसरण करना ही उस समय मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य बन जाता है। प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया में इस अवस्था की उत्पत्ति हुई थी। अंधकारयुगीन यूरोप में इसी अवस्था की पुनरावृत्ति होती दीख पड़ती है। भारत और चीन भी इसी दुर्भाग्य के शिकार हुए।

ग्रीक और अलेग्ज़ेंड्रियाई विज्ञान

चौथा अध्याय

ग्रीक विज्ञान की विशेषता

ईसापूर्व सातवीं और छठी शती से भूमध्य सागर की पूर्वदिशा में, ईजियन सागर के चिओस्, कॉस, सामोस, क्रीट आदि द्वीपों तथा माइलेटस, इफिसॉस आदि सागर-तटवर्ती स्थानों और ग्रीस के मूल भूखंड में, एक संपूर्ण नई जाति की परिचालना में, ज्ञान-विज्ञान का आकस्मिक और विस्मयजनक विकास, विज्ञान के इतिहास की एक सुविदित घटना है। यह नई जाति ग्रीक जाति थी और उसकी चेष्टा से जिस सजीव और प्राणमय विज्ञान का नए रूप में जन्म हुआ, वही ग्रीक विज्ञान है। ग्रीक जाति की राजनीतिक महत्ता का इतिहास बहुत संक्षिप्त है, परंतु सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान और दर्शन के क्षेत्रों में उन्होंने जिस विचारधारा और दृष्टिकोण को जन्म दिया और प्रचलित किया, उससे भूमध्यसागरीय अंचल तथा मध्यप्राच्य में हर प्रकार की मानसिक क्रिया को नौ सौ वर्षों तक प्रेरणा मिलती रही। रोम-साम्राज्य के पतन के बाद इस सभ्यता और संस्कृति के अवसान के साथ ही ग्रीक ज्ञान-विज्ञान का दीप भी बुझ गया। ईस्वी ८ वीं, ९ वीं और १० वीं शतियों में ग्रीस-प्रदर्शित मार्ग पर चलकर और ग्रीक ग्रंथादि का अवलंबन लेकर अरब जाति ने ज्ञान-विज्ञान में आश्चर्यजनक उन्नति की। पुनः अरबों के पदचिह्नों का अनुसरण कर, उसी ग्रीक विज्ञान के अवलंबन-द्वारा, लैटिन यूरोपीय जातियाँ १३ वीं शती से, धीरे-धीरे, आधुनिक विज्ञान की नींव डालने में सचेष्ट हुईं। इसलिए यूरोपीय इतिहासकारों का यह मत कि ग्रीकों ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कोई ढाई हजार वर्ष पहले, जिस आदर्श और नई विचार-धारा को प्रवर्तित किया था, उसी से आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति हुई, अतिरंजित भले ही लगे, परंतु उसे पूरी तरह अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

ग्रीकों के पहले प्राचीन बेबीलोनी, मिस्री और भारतीय जातियाँ कम-से-कम दो हजार वर्ष तक ज्ञान-विज्ञान की चर्चा करती आई थीं। ग्रीकों को ज्ञान-विज्ञान की चर्चा प्रारंभ करने की जरूरत नहीं पड़ी। प्राचीन ग्रीक

लेखकों ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि प्राचीन जातियों की सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान-भंडार से पूरा लाभ उठाने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ था। एशिया माइनर तथा ईजियन सागर के विभिन्न टापुओं के ग्रीक उपनिवेशों में, एक के बाद एक मिस्री, बेबीलोनी, फिनिशियन और संभवतः भारतीय विज्ञान की विभिन्न धाराओं के सम्मिलित होने से, जिस उर्वर क्षेत्र की रचना हुई थी, वहाँ ग्रीक प्रतिभा के स्पर्श से ज्ञान-विज्ञान का शिशु-पौधा देखते ही देखते मुकुलित हो उठा।

ग्रीक विज्ञान की मुख्य विशेषता यह है कि प्रकृति के रहस्यपूर्ण व्यवहार तथा उसके नियमों के स्वरूप को समझने की एक स्पष्ट और सचेत चेष्टा हमें उसमें दिखाई पड़ती है। प्रकृति के व्यवहार संबंधी कुछ छिट-फुट तथा असंलग्न तथ्यों का आविष्कार ही यथेष्ट नहीं है, बल्कि इस व्यवहार के पीछे जो नियम और कार्य-कारण संबंध, हमारी आँखों की ओट काम करते हैं, उनका रहस्य जान लेना ही वैज्ञानिक साधना का चरम लक्ष्य है, वैज्ञानिक गवेषणा में इस आदर्श का प्रचार ग्रीकों ने ही पहले-पहल किया। ग्रीकों के बहुत पहले से लोग तराजू-बटखरा की सहायता से चीजें तौला करते थे। लेकिन वजन के इस तरीके के पीछे कौन-सा नियम काम करता है, मिस्री और बेबीलोनी पंडितों ने इसको समझने की आवश्यकता का कभी अनुभव नहीं किया। ग्रीकों के काल में भी वस्तुओं की तौल उसी तरीके से होती थी, लेकिन आर्किमीडिस ने कहा कि तराजू के आलंब (Fulcrum) के दोनों ओर समान दूरी पर समान वजन लटकाने से ही साम्य स्थापित होगा; अथवा आलंब के दोनों ओर, असमान दूरी पर असमान वजन की वस्तुओं को पलड़ों पर रखा जाय, तो साम्य स्थापित करने के लिए अधिक भारी वस्तु को आलंब से कम दूरी पर रखना होगा और दोनों वस्तुओं की दूरियों का अनुपात उनके वजनों का प्रतिलोम अनुपात (Inverse by proportional) होगा। बेबीलोनी और मिस्री अपनी दैनिक अभिज्ञता से निश्चय ही इस नियम की जानकारी अस्पष्ट रूप से रखते थे, परंतु स्वतंत्र रूप से इसे समझने की चेष्टा उन्होंने नहीं की। ग्रीकों को इसी चेष्टा में आनंद मिलता था और इस उद्देश्य से किए गए सारे श्रम को वे सार्थक समझते थे। व्यावहारिक अभिज्ञता और वैज्ञानिक तत्त्व-ज्ञान में यही अंतर है और इसी के कारण बेबीलोनी या मिस्री विज्ञान व्यावहारिक अभिज्ञता की सीमा कभी पार नहीं कर सका। ग्रीक प्रारंभ से ही तात्विक वैज्ञानिक थे।

जमीन की नाप-जोख के लिए एक प्रकार की ज्यामिति अपरिहार्य है। सरल और टेढ़ी रेखाओं के समन्वय से त्रिभुज, चतुर्भुज, बहुभुज, वृत्त आदि अनेक प्रकार के चित्र बनते हैं। प्राचीन लोग इस प्रकार के नाना आरेखों से परिचित थे। आवश्यकतानुसार कुछ चित्रों के नियमों के आविष्कार में उन्होंने कृतित्व का परिचय भी दिया। परंतु ग्रीकों की तरह रेखाओं के करतबों के विषय में वे कभी मतवाले नहीं बन बैठे। ग्रीकों ने पिरामिडों की रचना नहीं की और न जिग्गूराटों की। तथापि निष्प्रयोजन रेखाओं के जादू ने उन्हें सम्मोहित कर दिया था। आरेखों में उन्हें अंतहीन समस्या का संधान मिला या फिर उन्होंने काल्पनिक समस्याओं की सृष्टि की और इन समस्याओं के समाधान के लिए एक-एक साधक के संपूर्ण जीवन की साधना की आवश्यकता पड़ी। इसी साधना से ज्यामिति का उद्भव हुआ।

यह सही है कि ज्योतिष में ग्रीकों ने वेबीलोनियों की भांति अध्ययन-प्राप्त तथ्यों का पहाड़ नहीं खड़ा किया, लेकिन ज्योतिषीय परिकल्पना-द्वारा ब्रह्मांड के नियमों तथा व्यवस्था को समझने की चेष्टा में वे अगुआ थे। बेबीलोनियों के त्रुटिहीन प्रेक्षण (Observation) और ब्रह्मांड के विषय में उनकी अद्भुत परिकल्पना, दोनों को यदि पास-पास रखा जाय, तो उनकी विचार-शक्ति की दयनीय दरिद्रता स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है। इसके विपरीत, वेबीलोनी प्रेक्षणों के सहारे, आयोनी (Ionian) ग्रीक दार्शनिकों ने प्रारंभ से ही ब्रह्मांड की परिकल्पना में जिस कुशलता का परिचय दिया, वह अतुलनीय है। प्रकृति को समग्र रूप से देखने और समझने, और प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या स्वाभाविक अभिज्ञता के आधार पर करने की, विज्ञान के इतिहास में यह प्रथम चेष्टा थी। संभवत: ग्रीक विज्ञान की इस विशेषता का स्मरण करके ही इतिहासकारों का एक दल, ग्रीकों के काल से ही विज्ञान का इतिहास आरंभ करने के पक्ष में है।

ग्रीक विज्ञान की यह विशेषता वास्तव में विस्मयकर है। सभ्य जाति के रूप में ग्रीकों के आविर्भाव के प्रारंभिक इतिहास की भाँति, उनकी मननशीलता की यह विशेषता भी रहस्यावृत है। १९ वीं शती के अंतिम भाग तक ग्रीकों के आदि इतिहास या प्रागितिहास के विषय में उन तथ्यों से अधिक, जिनका उल्लेख हिरोडोटस (ई० पू० ४८४-४२५) की रचनाओं या होमर-हेसियड के पौराणिक उपाख्यानों में किया गया है, और किसी बात की जानकारी नहीं थी। वर्तमान शती के प्रथम भाग में स्लिमैन और आर्थर इवांस-

जैसे प्रसिद्ध पुरातात्विकों की गवेषणा से यह जानकारी मिलती है कि कांस्य-युग में प्रायः समग्र ईजियन अंचल में एक अति-उन्नत सभ्यता का विकास हुआ था। क्रीट में नोसस् नामक स्थान में, सर आर्थर इवांस ने जिन प्रागैतिहासिक खंडहरों के आविष्कार किए हैं, उनसे यह पता चलता है कि क्रीट इस सभ्यता का अग्रदूत और आदि केंद्र था। क्रीटीय सभ्यता के विकास में मिस्र का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। क्रीट से कांस्य-सभ्यता धीरे-धीरे ग्रीस के मूल भूखंड में फैल गई थी, यह मिसिन के पुरातात्विक खंडहरों के परीक्षण-द्वारा प्रमाणित हो चुका है। नोसस् तथा मिसिन की प्रागैतिहासिक सभ्यता और परवर्ती काल की ग्रीक सभ्यता के बीच अनेक प्रकार के मेल देखकर पंडितों का यह अनुमान है कि ईजियन अंचल की प्रागैतिहासिक कांस्य-सभ्यता से ग्रीक सभ्यता का उद्‌भव हुआ था। मिसिन में आगामेम्‌नन् के राजभवन और ट्रॉय के निकट हिसार्लिक में ट्रोजन युद्ध के पुरातात्विक खंडहरों से अब यह पता चला है कि होमर के महाकाव्य का आधार एक अति प्राचीन ऐतिहासिक कहानी है। संभवतः कांस्य-युग का अंत होने पर, ई० पू० १४५० के लगभग समग्र ईजियन अंचल के आदिम निवासियों से एक बिलकुल नई जाति का भयानक और व्यापक संघर्ष हुआ था। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप नोसस, मिसिन आदि संपन्न जनपद बिलकुल विध्वस्त हो गए थे। यह नवागत विजयी जाति लोहे का व्यवहार जानती थी। होमर के महाकाव्य में इस विजयी जाति का नाम है एकियन। प्रसिद्ध पुरातात्विक सर विलियम रिजवे तथा नृतत्व-विद् डाक्टर हैडन के मतानुसार होमर के एकियन उत्तर से, संभवतः डैन्यूब नदी की घाटी से आए थे; इस जाति के लोग लंबे कद के, सुदर्शन और गौर-केश थे। कांस्य-व्यवहार करनेवाले नोसस और मिसिन के निवासी एकियन जाति के लोगों के लोहे के हथियारों के सामने टिक नहीं पाए।

उत्तर से आनेवाली, लोहे का व्यवहार करनेवाली डोरियन नाम की एक और जाति के लोगों ने एकियनों को पराजित करके ग्रीस तथा ईजियन प्रदेश में आधिपत्य-विस्तार किया। संभवतः कई जातियों ने, प्रागैतिहासिक काल के विभिन्न समयों में आकर समग्र ईजियन प्रदेश को विक्षुब्ध और आंदोलित किया होगा। संभवतः कांस्य युग के स्थानीय निवासियों और उत्तर-पूर्व आदि विभिन्न दिशाओं से आई हुई डोरियन, एकियन, एडलियन आदि अनेक विचित्र जातियों के सम्मिश्रण से ग्रीक सभ्यता की उत्पत्ति हुई होगी। इसलिए ग्रीक जाति एक मिस्र जाति है, ग्रीक सभ्यता उस मिस्र जाति की स्वाभाविक

संस्कार-मुक्त, प्रबल चेष्टाओं का प्रकाश स्वरूप है। ई० पू० नवीं शती में होमर ने जिस विजयी ग्रीक जाति के समाज और जीवन का चित्र (संभवतः यह चित्र होमर से २०० वर्ष पहले के समाज का चित्र था) अंकित किया, उसमें हमें एक हर्ष-विह्वल, सौंदर्यानुरागी, कर्मठ, संभवतः कुछ दांभिक और उच्छृंखल जाति का परिचय मिलता है।

"....एक ऐसी जाति का चित्र, जो विश्वास करने के अयोग्य, डींग मारने-वाली और संभवतः इंद्रियानुरागी थी, परंतु जिसमें सौंदर्यानुभूति थी, जिसे आनंदमय जीवन में पूर्ण विश्वास था और जिसमें उदार प्रेम की अतिशयता थी– ये ऐसे गुण थे, जो एक हिम्मती, कर्मठ, उदार-हृदय, विजय-मंडित जन-समुदाय की ओर संकेत करते हैं: एक असाधारण बुद्धि-दीप्त जन समुदाय, का चित्र, जो महान् सौंदर्य-विभूषित एक ऐसे देश में प्रस्थापित हुआ था, जहाँ हल्के लाल रंग का समुद्र सारे विश्व का वाणिज्य और ज्ञान उसके द्वार पर लाया था।"*

इलियड और ऑडिसी में, ग्रीक सभ्यता के प्रथम चरण में, ज्योतिष, चिकित्सा-विद्या तथा विभिन्न व्यावहारिक विद्याओं का जो उल्लेख मिलता है, उससे इस विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता कि ग्रीक लोग इन विद्याओं में बेबीलोन, मिस्र, भारत आदि प्राचीन सभ्य जातियों से बहुत पीछे थे। बेशक इन दोनों महाकाव्यों में कुछ नक्षत्रों के नाम, चिकित्सा और शल्य-विद्या का उल्लेख, शरीर के अंग-प्रत्यंगों के प्रायः १५०. विभिन्न नाम आदि मिलते हैं। धातु-शिल्पी, बढ़ई, कुम्हार, चर्मकार आदि कारीगरों और सूत कातना और बुनना तथा सोना, चाँदी, लोहा, सीसा, ईस्पात, पीतल आदि धातुओं के प्रयोग के भी उल्लेख हैं। परंतु इमसे, प्रायोगिक विद्या तथा ज्ञान-विज्ञान में, मिस्र या बेबीलोन की तुलना में पिछड़े हुए देश का चित्र ही हमें प्राप्त होता है। जिस बात के लिए ये महाकाव्य अतुलनीय हैं, वह इनका मानवता का स्वर है। एक कल्पनाशील तरुण जाति के मानस की इनमें सहज अभिव्यक्ति हुई है। ग्रीक दृष्टिकोण तथा ज्ञान-विज्ञान की विशेषता, मानवता और कल्पना शक्ति, उनके प्राचीनतम काव्य-ग्रंथों में ही मूर्त है। इलियड की प्रधान मौलिकता यह है कि इस काव्य के नायक-नायिका घटना-प्रवाह के असहाय खिलौने नहीं हैं, बल्कि उन्होंने ही घटना-प्रवाह को मोड़ा है। कवि की कल्पना में वे सदा भाग्य के खिलौने नहीं हैं; कभी-कभी वे स्वयं

* Sir William Cecil Dampier, 'A History of Science', Cambridge, 1948; p. 11

ही अपने भाग्य-विधाता भी हैं। इसी से एकिलिस अपने भाग्यान्वेषण के लिए निकल पड़ा था। सम्मान-ख्याति-हीन दीर्घ जीवन के मुकाबले गौरवमय अल्पावधि-जीवन भी श्रेयस्कर है, यही उसका आदर्श था। अंधे भाग्य के स्थान पर पुरुषार्थ में विश्वास स्थापित करने के लिए महाकवि का निर्देश, मानों शेक्सपियर के इन वाक्यों की ही प्रतिध्वनि है :—

"मनुष्य किसी समय स्वयं अपने भाग्य का विधाता होता है। प्रिय ब्रूटस, हम छोटी हैसियतवाले हैं, इसके लिए दोषी हमारे नक्षत्र नहीं, बल्कि हम स्वयं हैं।" (जूलिस सीज़र, हिंदी अनुवाद)।

जादू और फलित ज्योतिष-द्वारा नियंत्रित, किसी भाग्यवादी बेबीलोनी या मिस्री कवि के लिए इस प्रकार का विचार अकल्पनीय है। सर्व-शक्ति-संपन्न पुरोहित और नृपतिवर्ग-द्वारा अनुशासित जिस समाज में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और वैयक्तिक अधिकार के मार्ग में पग-पग पर बाधाएँ हों, वहाँ भाग्य के विरुद्ध चलने की बात निरर्थक है। ग्रीकों के भी देव-देवियाँ और मंदिर थे, परंतु ये देव-देवियाँ अतिमानव मात्र थे, जिनमें मनुष्यों की ही भाँति, गुण और अवगुण दोनों थे। उनकी सृष्टि हुई मनुष्यों की सहायता के लिए, मनुष्य के सुख में वे सुखी और दुःख में दुखी होते थे। इस प्रकार के देव-देवियों की कल्पना में मनुष्य के व्यक्तित्व को संकुचित करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

होमर की मानवता की वाणी परवर्ती युग के चारण कवियों की रचनाओं में बार-बार प्रतिध्वनित हुई है। आर्किलोकस, सैफो, एलक्युस-जैसे प्रमुख कवियों के गीति-काव्यों और चारण-गाथाओं में मनुष्य के बहुविध कार्यकलाप और उनकी वीरता तथा आशा-आकांक्षा नाना प्रकारों से रूपायित हुई है। यह देवस्तुति नहीं, मानव-वंदना है। मनुष्य को महान रूप में देखने के प्रयास से ही ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान में ही मनुष्य की श्रेष्ठता है। "दिन के प्रकाश से चारों दिशाओं को प्रकाशमान करो। हमें देखने दो। यदि हमारा विनाश ही तुम्हारी इच्छा हो तो प्रकाश में ही हमें विनष्ट करो।" युद्धक्षेत्र जब अचानक कोहरे से घिर गया तो वीरश्रेष्ठ एजेक्स ने इन्हीं शब्दों में जिउस से प्रार्थना की थी। हमारा अंत हो तो अंधकार में नहीं, आलोक में, अज्ञान में नहीं, बल्कि ज्ञान की प्रखर दीप्ति में हो। इसी आलोक के संधान में ग्रीक वैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने अभियान किया। फैरिंगटन ने लिखा है—

"होमर ने मानवता की सृष्टि की और उस मानवता से विज्ञान की

उत्पत्ति हुई। शैशवावस्था में जिस जाति पर देव-देवियों के उत्पीड़न का दुःस्वप्न सवार हो गया था, होमर ने इलियड के माध्यम से उसे उस दुःस्वप्न के पंजों से छुड़ाया। उन्होंने मनुष्य को अपनी ओर ताकना और अपने को किसी हद तक अपने भविष्य के नियामक के रूप में देखना सिखाया। ज्ञान ही क्षमता का उद्गम है, इस सत्य की उपलब्धि करके मनुष्य आत्म-विश्वास का बल लेकर, कुछ शतियों तक ज्ञान के मार्ग पर बढ़ता रहा। परंतु लोलक (Pendulum) का कांटा जब उलटी दिशा को मुड़ा, मनुष्य जब अपनी ही सृष्ट मूर्ति के आगे सिर नवाने लगा और उससे भी अधिक घातक, जब उसने अपने ही लिखित ग्रंथों को स्वयं ईश्वर की वाणी मानना सीखा, तब मानवता का अंत हुआ और साथ ही विज्ञान का।"*

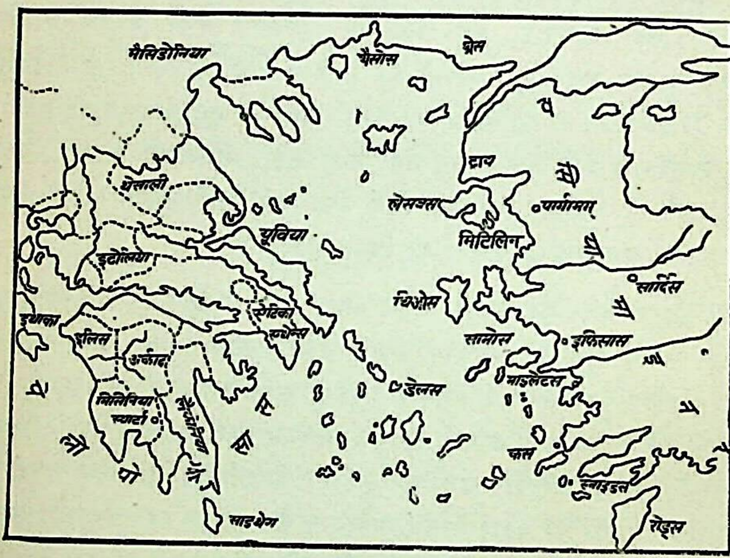
फैरिंगटन की यह उक्ति केवल ग्रीक विज्ञान के लिए ही सही नहीं है, विभिन्न सभ्यताओं में ज्ञान-विज्ञान के उत्थान-पतन का यह एक मुख्य कारण है। इटालीय पुनर्जागरण के समय चित्रकारों, स्थपतियों और साहित्यिकों की चेष्टा से इस मानवता के आदर्श की पुनः प्रतिष्ठा होने पर ही यूरोप में फिर से ज्ञान-विज्ञान की जोरदार चर्चा शुरू हुई। पिछली शती में उस महाद्वीप में समाज-सुधारकों की चेष्टा में उसी मानवता का आह्वान ध्वनित हुआ; उस आह्वान पर ज्ञान-विज्ञान की धारा पुनः वेगवती हुई।

माइलेशियाई तथा आयोनी दार्शनिक :
ज्योतिष, गणित, भूगोल, प्रकृति-दर्शन और वस्तु-संघटन संबंधी मतवाद

इलियड और आॅडिसी का युग ग्रीक सभ्यता की तैयारी का युग है। इस युग का अवसान होने पर ईसापूर्व छठी शती में, ऊपरी दृष्टि से नितांत आकस्मिक रूप में, हम ग्रीक मनीषा का अपूर्व विकास देख पाते हैं। इस विकास का क्षेत्र पश्चिमी एशिया-माइनर का समुद्र-तटवर्ती ग्रीक उपनिवेश आयोनिया था और उसका गुरुत्व केंद्र था आयोनिया का विख्यात नगर माइलेटस्। छठीं शती में माइलेटस् केवल आयोनिया का ही नहीं, अपितु समग्र ग्रीक-जगत् का सर्वश्रेष्ठ वाणिज्य-केंद्र और संभवतः सब से बड़ा नगर (आनुमानिक जनसंख्या—१००००) था। इस नगर के नमूने पर कम से कम ६० छोटे-बड़े जनपद पश्चिमी एशिया के समुद्र-तट पर गठित हुए थे। जमीन के रास्ते मैसोपोटामिया से, और जलमार्ग से मिस्र के साथ

* Benjamin Farrington, 'Science in Antiquity', p. 37-8.

प्राचीन माइलेटस् का वाणिज्य-संपर्क इतिहास प्रसिद्ध है। वाणिज्य-संपर्क के माध्यम से वस्तुओं के विनिमय के साथ ही विचार-विनिमय भी पर्याप्त मात्रा में हुआ था। इसी योग-सूत्र से ग्रीक वैज्ञानिकों और दार्शनिकों को वेबीलोनी



चित्र—५७ :

ज्योतिष और मिस्री ज्यामिति तथा चिकित्सा-विद्या से परिचित होने का अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। ऐसी स्थिति में ग्रीक जगत् में माइलेटस् का, ज्ञान-विज्ञान के आदि पीठस्थान के रूप में प्रकट होना स्वाभाविक ही था। तीन प्राचीनतम दार्शनिकों, थालेस्, एनाक्सिमैंडर और ऐनाक्सिमेनेस का जन्म माइलेटस् में ही हुआ, यह भी कोई आकस्मिक बात नहीं थी।

थालेस् (ई॰ पू॰ ६२४-५४७)

होमर-हैसियड युग के पौराणिक तथा काल्पनिक आख्यानों और लोकोक्तियों से ऊपर उठकर, स्वतंत्र वैज्ञानिक विचारधारा का प्रवर्तन करनेवाले, माइलेटस् के थालेस्, व्यवसायी, राजनीतिज्ञ, गणितज्ञ, ज्योतिर्विद, वास्तुकलाविद् और दार्शनिक, सभी एक साथ थे। थालेस् उस समय के सात परम ज्ञानियों में से अन्यतम माने जाते थे। उनकी असामान्य, बहुमुखी प्रतिभा के स्पर्श से विचार-जगत् में एक नए दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। विश्व के विभिन्न रहस्यों के पीछे प्राकृतिक नियम और व्यवस्था काम करती है और साधारण ज्ञान तथा

बुद्धि-युक्त विचार की सहायता से उन रहस्यों का समाधान संभव है, इस धारणा को केंद्रित करके ही माइलेशियाई दर्शन का उद्भव हुआ।

हिरोडोटस के अनुसार थालेस् की माता ग्रीक और पुरखे फिनिशियन थे। दर्शन, गणित, ज्योतिष आदि ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में जिस प्रकार उनके अगाध पांडित्य का परिचय मिलता है,उसी प्रकार उनकी व्यावहारिक बुद्धि के संबंध में भी अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ प्रचलित हैं। किसी वर्ष जलवायु की गति लक्ष्य करके उन्होंने समझ लिया कि उस वर्ष जैतून की फसल अच्छी होगी। इसके पहले के कुछ वर्षों में जैतून की फसल अच्छी नहीं हुई थी, इसलिए जैतून से तेल निकालनेवाले यंत्रों की मांग बहुत घट गई थी और किराया भी घट गया था। इसका पूरा सुयोग लेकर, थालेस् ने, माइलेटस् और चिओस के तेल निकालनेवाले सारे यंत्रों को, बहुत कम दरों में किराए पर ले लिया। बाद में जब जैतून की अच्छी फसल हुई और तेल यंत्रों की मांग अप्रत्याशित रूप से बढ़ गई, तब उन्होंने ऊँची दरों पर यंत्रों को किराए पर देकर अत्यधिक लाभ प्राप्त किया।

इतिहासकारों का खयाल है कि थालेस् ने ई० पू० ५८५ में २८ मई को (कुछ लोगों के अनुसार ई० पू० ६१० में) होनेवाले पूर्ण सूर्यग्रहण की भविष्यवाणी की थी। ग्रहण के पहले उसके काल-निर्णय की इस दक्षता पर ही, अनेकांश में थालेस् की वैज्ञानिक ख्याति प्रतिष्ठित है। सूर्य, चंद्र और पृथ्वी के स्वरूप तथा ज्योतिष संबंधी अनेक गूढ़ तथ्यों की जानकारी न होने पर ग्रहण के विषय में इस प्रकार की भविष्यवाणी संभव नहीं है। थालेस की भविष्यवाणी के विषय में अनेक वाद-विवाद हैं। मार्टिन-जैसे कुछ इतिहासकारों का यह मत है कि सूर्यग्रहण की भविष्यवाणी करने के लिए लंबन (parallax) आदि अनेक ज्योतिषीय विषयों का जिस प्रकार का ज्ञान आवश्यक है, उस प्रकार का ज्ञान थालेस् का था, यह विश्वास करनेयोग्य नहीं जान पड़ता।* यहाँ तक कि उनके ३०० वर्ष बाद, प्रख्यात ज्योतिर्विद हिपार्कस की भी लंबन-संबंधी धारणा बहुत स्पष्ट नहीं थी। इसके अतिरिक्त, यह भविष्यवाणी यदि वास्तव में वैज्ञानिक आधार पर की गई होती तो थालेस् के बाद होनेवाले आयोनी ज्योतिर्विदों ने निश्चय ही इस प्रकार की और भविष्यवाणियां की होतीं, परंतु ऐसा कोई दृष्टांत नहीं मिलता।

* Revue Archeologique, 1864; p. 181.

फ्रेंच ग्रंथ 'Pour l'histoire de la Science hellene' (ग्रीक-विज्ञान का इतिहास) के रचयिता टैनरी का मत है कि थालेस्-द्वारा सूर्यग्रहण की भविष्यवाणी की बात ऐतिहासिक सत्य है। थालेस् के समसामयिक, जेनोफोन और हिरोडोटस, दोनों ही ने थालेस् की सूर्यग्रहण संबंधी भविष्यवाणी का उल्लेख किया है। मिड्स् और लिडियनों के आत्मघाती युद्ध के वर्णन-प्रसंग में हिरोडोटस ने लिखा है—"६ वर्ष लगातार उनमें युद्ध चलने के बाद ७ वें वर्ष जब दोनों पक्ष पुनः युद्धार्थ सम्मिलित हुए तो अकस्मात् एक दिन दिन में ही रात हो गई। अब बात यह है कि इस प्रकार दिन में ही अकस्मात् रात हो जाने के विषय में माइलेटस् के थालेस् ने अपने आयोनी देशवासियों के सामने, बहुत पहले ही भविष्यवाणी की थी और उन्होंने यह भी बताया था कि यह घटना इसी वर्ष घटित होगी।"*

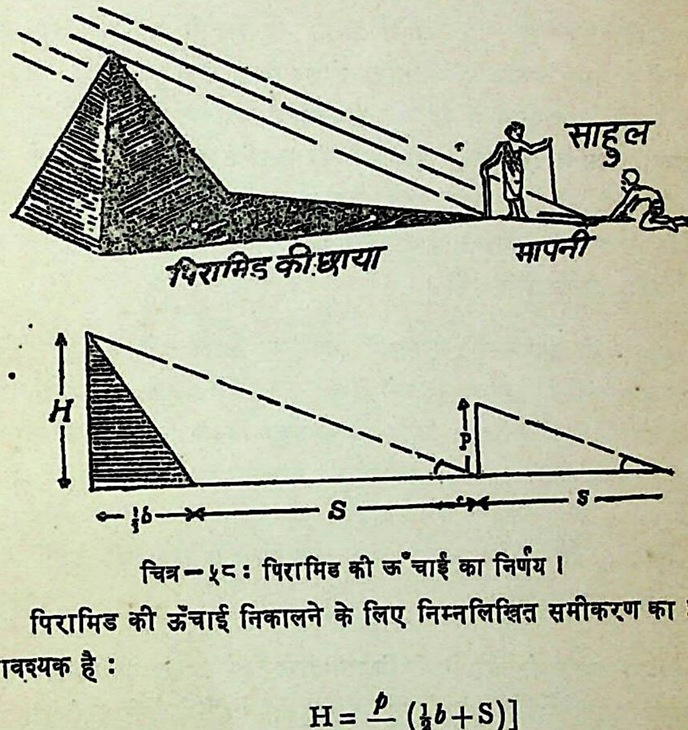
संभवतः थालेस् को सूर्यग्रहण के कारण की जानकारी थी और उन्होंने यह बताया होगा कि मोटे तौर पर एक अवधि के भीतर सूर्यग्रहण की पुनरावृत्ति संभव है। उनसे बहुत पहले बेलीलोनी ज्योतिर्विद, चांद्र-चक्र-काल की सहायता से, सूर्यग्रहण का काल-निर्णय करना जानते थे, यह बात हम पहले ही बता चुके हैं। थालेस् बेबीलोनी और मिस्री विज्ञान से विशिष रूप से प्रभावित थे। संभवतः चांद्र-चक्र से वे अवगत थे और उसी के सहारे उन्होंने यह भविष्यवाणी की होगी।

ज्यामिति में थालेस के विशेष कृतित्व और मौलिकता का परिचय मिलता है। वृत्त का व्यास उसे दो समान भागों में विभाजित करता है, समबाहु त्रिभुज के आधारस्थ दोनों कोण समान होते हैं, दो सरल रेखाएँ जब एक दूसरे को काटती हैं तो दोनों विपरीत कोण समान होते हैं, त्रिभुज के आधार और उसके दोनों सिरों के कोणों की जानकारी हो तो त्रिभुज को पूर्ण रूप से जाना जा सकता है, आदि प्रतिपाद्यों से वे परिचित थे। ज्यामिति की सहायता से वे पिरामिड की ऊँचाई मापते थे। तेज धूप में एक लाठी की छाया से पिरामिड की छाया की तुलना-द्वारा यह ऊँचाई मापी जाती थी। प्लुटार्क की एक रचना से पता चलता है कि किसी पिरामिड की ऊँचाई का निर्णय करते समय मिस्र-नरेश आमाशिस स्वयं उपस्थित थे और थालेस की इस दक्षता से वे विशेष आश्चर्यान्वित और प्रसन्न हुए।

---

* Sir Thomas Heath—'Aristarchus of Samos', Oxford, 1913; p. 15.

H = पिरामिड की ऊँचाई; *b* = पिरामिड का आधार; S = पिरामिड की छाया की लंबाई; *h* = लाठी की ऊँचाई; *s* = लाठी की छाया की लंबाई।



चित्र—५८ : पिरामिड की ऊँचाई का निर्णय।

पिरामिड की ऊँचाई निकालने के लिए निम्नलिखित समीकरण का प्रयोग आवश्यक है :

$$H = \frac{p}{s}\left(\tfrac{1}{2}b + S)\right]$$

इस प्रकार की नापजोख में ज्यामिति के समानुपात नियम (proportionality) का सहारा लेना पड़ता है। इससे लगता है कि थालेस् यह नियम जानते थे। कुछ लोगों का कहना है कि ठीक ऐसा समय चुनकर जब कि खड़ी लाठी और उसकी छाया की लंबाई बराबर होती है, उन्होंने पिरामिड की ऊँचाई मापी होगी, क्योंकि ऐसी अवस्था में पिरामिड की छाया की लंबाई उसकी ऊँचाई के बराबर होगी। प्रोक्लस ने लिखा है कि समुद्र-अवस्थित जहाज की दूरी भी थालेस् निकाल सकते थे। समानुपात नियम की जानकारी के बिना इस प्रकार की दूरी का निर्णय करना संभव नहीं है।

विश्व और पदार्थ के विषय में थालेस् की विचारधारा का अनोखापन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने देखा कि पानी हवा से मिट्टी में पहुँचता

है और वहाँ से वनस्पति और जीव-शरीर में संचरित होकर पुनः हवा में मिल जाता है। इसके अलावा वनस्पति और जीवों का अधिकांश खाद्य जलीय है। इससे उन्हें जल-केंद्रित एक ऐसे जगत् का संधान मिला, जो जल के भिन्न-भिन्न रूपों में बदलते हुए, जिस मूल रूप से उसका आरंभ हुआ था, घूम-फिर-कर उसी रूप पर लौट जाता है। यह जल ही जब दृश्य और अदृश्य वस्तुओं में नाना प्रकार से रूपांतरित होकर विश्व के संतुलन की रक्षा कर रहा है, तो विश्व-सृजन में यह जल ही मौलिक उपादान है, इसमें संदेह का अवकाश कहां? इस जल से ही पृथ्वी की उत्पत्ति हुई, इसी जल में पृथ्वी तैर रही है और [संभवतः इसी जल में उसका विलय भी होगा। यह है थालेस् का दर्शन। उनके बाद आयोनी दार्शनिक ऐनाक्सिमांडर ने इसका और भी विस्तार और उन्नति की।

थालेस् की ब्रह्मांड-परिकल्पना में ईश्वर का स्थान नहीं है। पृथ्वी और ब्रह्मांड की उत्पत्ति प्राकृतिक नियमों से हुई है। जिस युग में सभी विद्याओं का अधिकारी, पुरोहित वर्ग, ईश्वर को छोड़कर विश्व-सृजन की कल्पना नहीं कर पाता था, जिस युग का यह साधारण विश्वास था कि ईश्वरीय प्रेरणा या अनुग्रह के बिना किसी नए मतवाद या धारणा की उत्पत्ति असंभव है, उस युग में ईश्वर को अलग रखकर ब्रह्मांड-परिकल्पना की उनकी चेष्टा वास्तव में अभूतपूर्व थी।

थालेस् बेबीलोनी और मिस्री विज्ञान-द्वारा विशेष रूप से प्रभावित थे। उस समय आयोनिया के निकट कस नामक द्वीप में बेबीलोनी पुरोहित और पंडित आया-जाया करते थे। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि इस स्थान में किसी पुरोहित ने एक शिक्षा-केंद्र की स्थापना की थी। कुछ लोगों का अनुमान है कि उसी पुरोहित से थालेस् को बेबीलोनी शास्त्र और विज्ञान के अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त उन दिनों लीडिया, असीरियाई और बेबीलोनी शिक्षा-संस्कृति का विशिष्ट और श्रेष्ठ केंद्र था। लीडिया की इतिहास-प्रसिद्ध राजधानी सार्दिस में अनुसंधानेच्छु आयोनी ग्रीक जाया-आया करते थे और इस प्रकार के योग-सूत्र से थालेस् तथा आयोनी पंडितों में से बहुतों ने बेबीलोनी ज्ञान-विज्ञान चर्चा से प्रचुर लाभ उठाया, यह विचार बहुत स्वाभाविक है।*

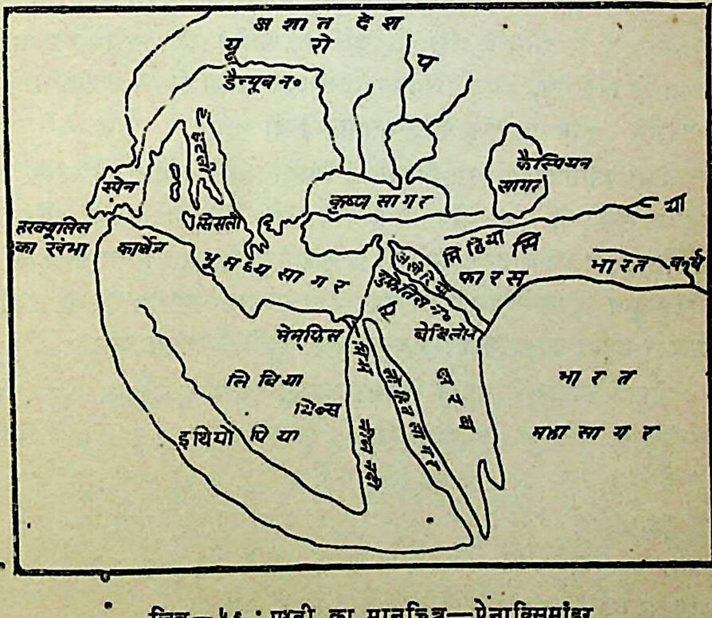
* Gomperz, Griechische Denker. p. 421.

थालेस् ने मिस्र-भ्रमण भी किया था। उनकी ज्यामिति, मिस्री ज्यामिति और भूमि की नाप-जोख संबंधी व्यावहारिक ज्ञान पर प्रतिष्ठित थी। परंतु थालेस् की ज्यामिति मिस्री ज्यामिति का अनुकरण मात्र नहीं है। उन्होंने एक नई निगमनिक ज्यामिति (deductive geometry) का सृजन किया था। इसी ज्यामिति के प्रयोग-द्वारा परवर्ती काल की वैज्ञानिक गवेषणा तीव्र प्रगति कर सकी थी।

ऐनाक्सिमांडर (ई० पू० ६१०-५४५)

थालेस् ने जिस वैज्ञानिक गवेषणा और विचारधारा का प्रवर्तन किया, उनके समसामयिक तथा विशिष्ट मित्र ऐनाक्सिमांडर ने उसका और विकास किया। विचारों की मौलिकता में ऐनाक्सिमांडर थालेस् से भी आगे थे। कुछ लोगों का मत है कि ग्रीक और पाश्चात्य दर्शन के प्रथम स्रष्टा वे ही थे। थिओफ्रेस्टस् ने उनकी जीवनी और दर्शन की समालोचना के प्रसंग में उनकी असाधारण मननशीलता, विश्लेषण-क्षमता और बहुमुखी प्रतिभा का उल्लेख किया है। भूगोल, ज्योतिष, ज्यामिति, सृष्टितत्व आदि नाना विषयों में हमें उनके एक निजी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

ऐनाक्सिमांडर ने ही पहले-पहल सारी पृथ्वी का एक संपूर्ण मानचित्र



चित्र—१९ : पृथ्वी का मानचित्र—ऐनाक्सिमांडर

अंकित किया। उनके पहले, मिस्री भी मानचित्र भली-भाँति खींच सकते थे, परंतु उनके मानचित्रों में मिस्र के कुछ जिलों के सिवा पृथ्वी के और किसी स्थान या देश का उल्लेख नहीं होता था। ऐनाक्सिमांडर ने अपने मानचित्र में समग्र पृथ्वी की सीमाएँ निर्धारित कीं। उन्होंने दिखाया कि पृथ्वी एक महासागर-द्वारा वृत्ताकार में घिरी हुई है। नाविक, पर्यटक, परिव्राजक आदि विभिन्न व्यक्तियों के मुँह से सुनकर पृथ्वी के प्रसार के संबंध में उनकी जो धारणा बनी, उसे ही उन्होंने अपने मानचित्र में रूपायित किया। बहुत दिनों तक नाविक और पर्यटक समुदाय में इस मानचित्र की विशेष ख्याति थी।

पृथ्वी और ब्रह्मांड के विषय में ऐनाक्सिमांडर का मतवाद ध्यान देने योग्य है। उनका कहना था कि पृथ्वी ब्रह्मांड के केंद्र में अवस्थित है। नक्षत्र, ध्रुव-तारा के चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं। पृथ्वी का आकार चपटा और कीपाकार है और यह आकाश में हवा के सहारे टंगी हुई है। इसके अतिरिक्त पृथ्वी महासागर से घिरी हुई है। गुंबज या गोल छत की तरह आकाश वास्तव में एक गोलार्द्ध विशेष है इत्यादि।

कुछ लोगों की धारणा है कि समय-निर्णय के लिए ऐनाक्सिमांडर ने शंकु (gnomon) का आविष्कार किया था। परंतु यह सही नहीं है। उनके बहुत पहले वेबीलोन और मिस्र में शंकु के व्यवहार का पता चलता है। हो सकता है कि ग्रीस में शंकु का व्यवहार उन्होंने ही पहले-पहल प्रचलित किया हो। समय, ऋतु-परिवर्तन, उत्तरायण तथा विषुव के निर्णय के लिए स्पार्टा में उन्होंने एक शंकु की स्थापना की थी।

ऐनाक्सिमांडर का क्रम-विकास में विश्वास था। इस विषय में उनकी यह धारणा थी कि जीव के तीन क्रम होते हैं—जन्म, जीवन और मृत्यु। प्राणिमात्र का प्रथम जन्म सूर्यताप से सुखाई हुई, तरल शिला से हुआ था; और मनुष्य का जन्म मछली के अंदर से हुआ था। क्रम-विकास के प्रारंभिक काल में मनुष्य का आकार भी बहुत कुछ मछली के समान था।

ऐनाक्सिमांडर ने अपनी दीर्घकालव्यापी वैज्ञानिक गवेषणा और अध्ययन का प्रतिफल About Nature (प्रकृति के बारे में) नामक ग्रंथ में लिपिबद्ध किया था। प्राय: ६४ वर्ष की आयु में वे इस ग्रंथ की रचना में प्रवृत्त हुए। यह दुर्भाग्य की बात है कि उनके मूल ग्रंथ का कहीं पता नहीं है। इस रचना के कुछ अंशों और इधर-उधर बिखरे हुए कुछ वाक्यों का पता परवर्तीकाल में बहुत खोज-ढूँढ़ के बाद प्राप्त हुआ था।

ऐनाक्सिमांडर की मृत्यु के बाद धीरे धीरे माइलेशियाई विज्ञान की अवनति होने लगी। माइलेटस् के एक और उल्लेखनीय वैज्ञानिक ऐनाक्सिमेनेस ने इस विज्ञान के प्रभाव को कुछ दिनों तक बनाए रखा। परंतु धीरे-धीरे विज्ञान की जगह दर्शन की अधिकाधिक चर्चा होने लगी।

ऐनाक्सिमेनेस् (ई० पू० ५८५-५२८)

ऐनाक्सिमेनेस् माइलेटस् के तीसरे विख्यात दार्शनिक थे। वैज्ञानिक और दार्शनिक खोज में उन्होंने थालेस् और ऐनाक्सिमांडर के पदचिह्नों का अनुसरण किया। उन्होंने माइलेशियाई दर्शन् के इस मूल सिद्धांत को, कि जड़ जगत् और ब्रह्मांड का गठन एक विशेष उपादान से हुआ है, स्वीकार करते हुए यह विचार प्रस्तुत किया कि यह मूल उपादान जल नहीं, वायु है। यह वायु, कम दबाव होने से, फैलकर आग का रूप ग्रहण करती है और जमकर पहले जल और फिर मिट्टी में बदल जाती है। ज्योतिष के संबंध में उनका मूल सिद्धांत यह था कि पृथ्वी, सूर्य, चंद्र तथा अन्य ग्रह-नक्षत्र वायु-समुद्र में तैरते रहते हैं; सूर्य, चंद्र और नक्षत्र अग्नि के एक-एक चक्के हैं; सूर्य, पेड़ के पत्ते की तरह चिपटा है। सूर्य आपेक्षिक रूप से निकट होने के कारण, उसके उत्ताप का अनुभव होता है, और नक्षत्र दूर होने के कारण, उनकी गर्मी का अनुभव नहीं होता। उन्होंने यह भी बताया कि नक्षत्र, स्फटिक के समान स्वच्छ एक विराट गोले पर कील-जैसे जड़े हुए हैं; वे कभी पृथ्वी के नीचे नहीं आते और न घूमते-फिरते हैं। सूर्य इस लिए अदृश्य होता है कि वह पृथ्वी के ऊपर क्षितिज-स्थित पर्वतमाला के पीछे, हमारी आँखों से ओझल होकर छिप जाता है।

ऐनाक्सिमेनेस् के मतवाद की विशेषता यह है कि पहले तो यह दिखाया गया है कि स्थिर नक्षत्रों और सूर्य, चंद्र तथा अन्य ग्रहों में विभेद है। इस ओर भी इंगित किया गया है कि सूर्य और चंद्र की अपेक्षा नक्षत्रों की दूरी कहीं अधिक है। ऐनाक्सिमांडर का विश्वास था कि पृथ्वी से सबसे अधिक दूरी पर सूर्य है; उससे निकट चंद्र है और सब से निकट तारे हैं। ऐनाक्सिमेनेस् की स्फटिक-स्वच्छ गोलों की धारणा भी मौलिक है। उनके कोई २०० वर्ष बाद युडॉक्सस् ने इस प्रकार गोले की धारणा की अवतारण की थी। टैनरी ने लिखा है—'ऐनाक्सिमेनेस् की प्रणाली की एकमात्र विशिष्टता, जिसे चिरस्थायी विजय मिलनी थी, यह धारणा है कि नक्षत्र-गण स्फटिक

के समान स्वच्छ एक गोले पर ऐसे जड़े हुए हैं, मानो यह गोला कोई सुदृढ़ ढांचा है ।*

कुछ लोगों का मत है कि ऐनाक्सिमेनेस् की यह धारणा थी कि चांद की अपनी कोई ज्योति नहीं है । यह सूर्य के आलोक से ही प्रकाशित है । युडिमस-लिखित History of Astronomy (ज्योतिष का इतिहास) में इस तथ्य के आविष्कार के सिलसिले में ऐनाक्सिमेनेस् के नाम का उल्लेख मिलता है । अन्य इतिहासकारों का यह मत है कि इस आविष्कार का श्रेय वास्तव में ऐनाक्सिगोरस को मिलना चाहिए । इस विषय में हम बाद में विशद रूप से चर्चा करेंगे ।

चंद्र और सूर्यग्रहण के कारण-निर्णय के उद्देश्य से ऐनाक्सिमेनेस् ने इन दोनों ज्योतिष्कों के साथ अपारदर्शी एक वृहदाकार मृत्तिका-खंड की परिकल्पना की । इन मृत्तिका-खंडों की व्याख्या के संबंध में बड़ा मतभेद है । ये मृत्तिका-खंड क्या सूर्य अथवा चंद्र के साथ जुड़े हुए हैं, अथवा ये दोनों अपने मध्य कुछ दूरी रखते हुए चलते हैं ? यदि दूरी बनाए रखने की बात हो तो चंद्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहण की व्याख्या सहज हो जाती है । यदि ये मिट्टी के भग्नांश हमारी आंखों के सामने आकर सूर्य या चंद्र को अपनी ओट में कर लें तो ग्रहण हो जायगा । पाइथागोरीय-पद्धति के अनुयायी ऐनाक्सागोरस ने ग्रहण का कारण बताने के लिए इस प्रकार की अपारदर्शी वस्तु की अवतारणा की थी और लगता है कि इस प्रकार की धारणा के लिए वे ऐनाक्सिमेनेस् के ऋणी थे । पाइथागोरस की विश्वपरिकल्पना में विपरीत पृथ्वी की जो धारणा है, उससे भी इसका बहुत अंश में मेल है ।

पाइथागोरीय विज्ञान तथा वैज्ञानिक
पाइथागोरस (ई० पू० ५७२—४९७)

माइलेटस् के पास ही उत्तर-पश्चिम में सामोस् द्वीप है । विख्यात आयोनी ग्रीक दार्शनिक, गणितज्ञ और ज्योतिर्विद् पाइथागोरस का जन्म इसी द्वीप में हुआ था । थालेस् और युक्लिड की भांति उनके पूर्वज सभवतः फिनिशियन थे । पाइथागोरस का जन्मकाल अनिश्चित है । अनुमान है कि ई० पू० ५७२-७० में से किसी वर्ष में उनका जन्म हुआ होगा । उन्हें दीर्घायु प्राप्त हुई थी । किसी के मतानुसार ७५ वर्ष और किसी के मतानुसार ८० वर्ष की आयु में मेटापांटियस में उनका देहांत हुआ (४९७ ?) ।

* Tannery, 'Pour l'histoire de la Science hellene'; p. 154.

पाइथागोरस-भ्रातृमंडल : पाइथागोरस के जीवन की केवल एक तिथि के संबंध में निश्चय है। ई० पू० ५३० में वे सामोस छोड़कर दक्षिण इटली में डोरियनों के उपनिवेश क्रोटन को रवाना हुए और वहां उन्होंने एक गुप्त भ्रातृमंडल की स्थापना की। मंडल के सदस्यों को सादा, अनाडंबर, संन्यासी-जीवन बिताना पड़ता था और उनके लिए अपने कार्यों तथा अध्ययनों के परिणाम, मंडल से बाहर प्रकाशित करना सर्वथा निषिद्ध था। पाइथागोरस तथा उनके अनुयायियों का यह विश्वास था कि आत्मा सामयिक रूप से काया के पिंजरे में बंद हो जाती है और आत्मा को बारंबार बंदी दशा की प्राप्ति से छुटकारा दिलाने का एकमात्र उपाय स्वेच्छापूर्वक कठोर संन्यास-जीवन अपनाना है। इस भ्रातृमंडल ने समाज-सुधार के कार्यों में भी अपने को नियोजित किया था। व्यक्तिगत रूप से कठोरता का जीवन बिताकर समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाना और क्षमता-लोलुप दल के बदले वास्तविक ज्ञानी, गुणी और पंडित व्यक्तियों-द्वारा राज्य की परिचालना का आदर्श प्रचारित करना उनका मुख्य उद्देश्य था। इस प्रचार-कार्य के सिलसिले में भ्रातृ-मंडल को बहुविध राजनीतिक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। कहा जाता है कि ई० पू० ५०९ के लगभग एक उत्तेजित जनसमूह ने, जिसे भ्रातृ-मंडल के विरुद्ध उत्तेजित किया गया था, अनेक भ्राताओं की निर्मम हत्या की और उनके घरों में आग लगा दी। दल के नेता पाइथागोरस ने, टैरेंटम् भागकर किसी प्रकार अपनी जान बचाई। पाइथागोरस के जीवन-काल में ही मंडल के टूटने के लक्षण दीखने लगे थे, फिर भी ईसापूर्व चौथी शती के मध्य भाग तक मंडल के अंतिम अस्तित्व का पता चलता है।

पाइथागोरस को विद्यानुराग और ज्ञान-विज्ञान की चर्चा की प्रेरणा कहाँ मिली, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। संभवतः वे थालेस् के संपर्क में आए थे और ग्रीक ज्ञान-विज्ञान के प्रतिष्ठाता इस प्रख्यात दार्शनिक की शिक्षा तथा रचना-द्वारा प्रभावित हुए थे। इतिहासकारों का मत है कि थालेस् अपने संचित ग्रंथादि और ज्ञान-भंडार पाइथागोरस को सौंप गए थे और थालेस् के परामर्श से ही उन्होंने युवावस्था में दीर्घ काल तक मिस्र और बेबीलोन में ज्यामिति और ज्योतिष का अध्ययन किया था। उनके भारत-भ्रमण की बात भी शायद तथ्यहीन न हो। पाइथागोरस के दर्शन, धर्मतत्त्व और गणित में भारतीय विचार-धारा तथा विशिष्टता की छाप विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

पाइथागोरस ने अपनी दीर्घ गवेषणाओं के परिणामों और अपने विभिन्न मतवादों को लिपिबद्ध नहीं किया था। विज्ञान, दर्शन धर्मतत्त्व संबंधी उनकी गवेषणाओं और शिक्षा की चर्चा अनेक वर्षों तक उनके शिष्यों ने जारी रखी और उन्हें संशोधित और परिवर्धित भी किया। भ्रातृमंडल के कार्यकलापों को गुप्त रखे जाने की आवश्यकता के कारण, पाइथागोरस के छात्रों को मौखिक चर्चा की परंपरा का आश्रय लेना पड़ा। गवेषणा के परिणाम को लिखित रूप में प्रकाशित करने के अपराध में किसी-किसी शिष्य को दंड, यहाँ तक कि मृत्यदड भी भोगना पड़ा, ऐसा उल्लेख मिलता है। एक गोले के भीतर एक द्वादशफलक अंकित करने का कौशल प्रकाशित करने के अपराध में, कहते हैं, हिप्पासम् नामक एक छात्र को डुबोकर मार डाला गया था और उसे मंडल से वहिष्कृत कर दिया गया था। साक्रेटिस और डिमोक्रिटस के सम-सामयिक, थिव्स् के पाइथागोरी वैज्ञानिक, फिलोलाउस् (ई० पू० ५ वी शती) ने सबसे पहले भ्रातृमंडल की गवेषणा और मतवाद के संबंध में ग्रंथों की रचना की। फिलोलाउस् स्वयं भी ज्योतिर्विद थे और ब्रह्मांड संबंधी एक सुसंबद्ध परिकल्पना की उन्होंने रचना की थी। फिलोलाउस् की रचनाएँ ही, पाइथा-गोरस और उनके सहयोगियों तथा शिष्यों की गवेषणाओं की जानकारी पाने का एकमात्र सूत्र हैं। दुर्भाग्यवश उनकी मूल रचनाएँ बहुत दिनों से लापता हैं। युडिमस्, प्रोक्लस्-जैसे कुछ प्राचीन ग्रीक लेखकों की रचनाओं में उनके कुछ अंश सुरक्षित हैं। प्लेटो ने अपने ग्रंथ 'टीमियस' (Timaeus) में, अनेक स्थानों पर, फिलोलाउस् के मतवाद की समालोचना की है। इस प्रकार कितने ही हाथों घूमकर और नाना प्रकार से संशोधित और परिवर्धित होकर, जिसे पाइथागोरस के आविष्कार और सिद्धांत के रूप में स्वीकृति मिली, उसमें पाइथागोरस की निजी देन कितनी है और उसका कितना भाग शिष्यों की सम्मिलित साधनाओं का परिणाम है, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। इस पहेली ने अरस्तू (Aristotle) को भी विभ्रांत किया था, इसीलिए पाइथा-गोरस के दर्शन की समालोचना के प्रसंग में उन्होंने व्यक्ति विशेषों के नामों का उल्लेख न करके, बहुवचन में 'पाइथागोरस-पंथियों' शब्द का ही निरंतर प्रयोग किया है।

इन असुविधाओं के होते हुए भी पाइथागोरस के संबंध में जो कुछ जानकारी मिली है, उससे इस रहस्यमय वैज्ञानिक की अद्‌भुत प्रतिभा के विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता। इस प्रतिभा के स्पर्श से संख्यातत्व,

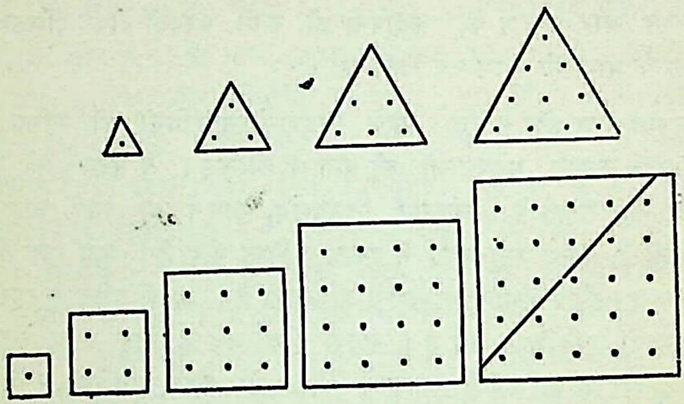
गणित, ज्यामिति, शब्द-विज्ञान, ज्योतिष और दर्शन को एक नई प्रेरणा मिली। विज्ञान के ये विभाग, व्यावहारिक-विद्या का स्तर पार करके, विशुद्ध बौद्धिक विषय बन गए। विशेष रूप से गणित में पाइथागोरस-पंथियों ने जिस ऊँचे मान और आदर्श की स्थापना की, उसने परवर्ती ग्रीक गणितज्ञों के गवेषणा के मार्ग को सुगम कर दिया था।

संख्या-तत्त्व और गणित : पहले पाइथागोरस-पंथियों की गणित और संख्या-तत्त्व संबंधी गवेषणाओं की बात ले लीजिए। वे संख्या को वस्तु-निरपेक्ष नहीं मानते थे। संख्याएँ निरवलंब, अमूर्त या कोई काल्पनिक चीज नहीं हैं, वल्कि वस्तु-जगत् से इनका घनिष्ठ योग है। यहां तक कि वे विभिन्न वास्तविक गुणावगुणों के भी अधिकारी हैं। ऊपरी दृष्टि से रहस्यमय पूर्णसंख्याओं के विभिन्न अर्थ हैं। संख्या १ का अर्थ है विंदु, २ का रेखा, ३ का क्षेत्र और ४ का अर्थ है अवकाश (Space)। इसके अतिरिक्त २ में स्त्री जातीय गुण विद्यमान है, ३ में पुरुष जाति का और ५ में विवाह का; क्योंकि २ (स्त्री जाति) + ३ (पुरुष) = ५ (विवाह)। ४ न्याय का प्रतीक है, क्योंकि यह संख्या दो समान गुणकों का गुणनफल है (२+२)। सम और विषम संख्याओं के साथ पाइथागोरस-पंथी दाहिना, बायां और असीम, ससीम आदि विभिन्न धारणाओं की अवतारणा करते थे।

संगीत की स्वर-लहरी उदारा, मुदारा, तारा (Octaves) के साथ संख्याओं के संबंध का निर्णय, पाइथागोरस तथा उनके शिष्यवर्ग का एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार है। तार-यंत्र में संचारित होनेवाले विभिन्न स्वरों का विभेद तार की लंबाई पर निर्भर हैं। उन्होंने दिखाया कि प्रथम, पंचम तथा अष्टम स्वर [यूरोपीय अष्टक (Octaves) का अंतिम स्वर] निकालने के लिए तारों की लंबाइयों का अनुपात हमेशा ६ : ४ : ३ होता है। संगीत और ध्वनि-विज्ञान में यह एक मौलिक आविष्कार है। संख्या की आश्चर्यजनक महिमा का भी यह एक दृष्टांत है।

पाइथागोरस-पंथियों ने ज्यामितीय धारणा की सहायता से भी संख्या के मर्मोद्धार की चेष्टा की थी। उन्होंने १, ३, ६, १०, १५ आदि संख्याओं को त्रिभुज संख्या का नाम दिया था, क्योंकि इन संख्याओंवाले विंदुओं के सहारे किसी भी समबाहु त्रिभुज को अंकित किया जा सकता है (चित्र—६०)। इसी प्रकार १, ४, ९, १६, २५ आदि वर्ग संख्याएँ हैं। किसी भी वर्ग संख्या के अंतर्भुक्त विंदुओं-द्वारा वर्ग की रचना संभव है। (चित्र—६०)

उन्होंने यह भी दिखाया कि किन्हीं दो क्रमिक त्रिभुज संख्याओं का योग होता है एक वर्ग-संख्या। चित्र—६० की निचली पंक्ति के पाँचवें आरेख को देखने से यह समझा जा सकता है।



चित्र - ६० : त्रिभुज संख्या और वर्ग के ज्यामितीय रूप

संख्या की इस प्रकार की मार्मिक और ज्यामितीय व्याख्या आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से पूर्णतः निष्फल और निरर्थक जान पड़ेगी। परंतु पाइथागोरसपंथियों के लिए संख्या का महत्त्व भिन्न प्रकार का था। उनका निश्चित विश्वास था कि संख्या-रहस्य के साथ प्रकृति, ब्रह्मांड तथा सृष्टि-रहस्य का घनिष्ठ संबंध है और प्रकृति तथा ब्रह्मांड को समझने के लिए संख्या-रहस्य का समाधान आवश्यक है। प्लेटो ने जिस प्रकार यह अनुभव किया कि मन ही सृष्टि के मूल में है और विश्व तथा प्रकृति का गठन इसी मन-द्वारा हुआ है, या डिमोक्रिटस-जैसे अणुवादी दार्शनिकों ने यह समझ लिया था कि अणु-परमाणु ही प्रकृति में एकमात्र सत्य हैं और विभिन्न रूप में उन्हीं की विचित्र लीला को हम अपनी वास्तविक अभिज्ञता में प्रत्यक्ष करते हैं, उसी प्रकार पाइथागोरस-पंथियों का यह विश्वास था कि जगत् संख्यामय है। असंख्य मोनाड (Monads) या लघुतम संख्याओं के समन्वय से विश्व-ब्रह्मांड रचित हुआ है, इसलिए संख्या के अंतर्निहित सत्य की उपलब्धि-द्वारा ही विश्व-रहस्य का भेद करना संभव होगा।

पाइथागोरस-पंथियों का, संख्याओं की खोज संबंधी एक और महत्त्वपूर्ण आविष्कार यह था कि २ का वर्गमूल (√२) एक अपरिमेय राशि है,

अर्थात् इस वर्गमूल (√२) को पूर्ण संख्या या भिन्न में प्रकाशित करना असंभव है। इसका प्रमाण बहुत सहज है। मान लीजिए कि √२ को भिन्न में प्रकाशित करना संभव है और इस भिन्न का लघुतम रूप है m/n; भिन्न का यह लघुतम रूप होने से m और n दोनों एक साथ सम संख्या (Even-number) नहीं हो सकते।

हम लिख सकते हैं :

$$2 = \frac{m^2}{n^2}; \; m^2 = 2n^2;$$

अर्थात् m एक सम संख्या है।

अब मान लें कि

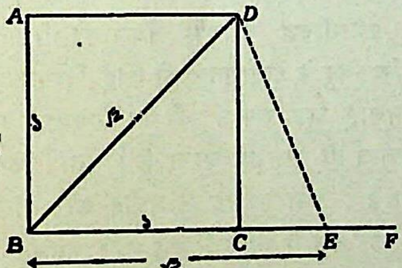
$$m = 2p; \;\; m^2 = 4p^2;$$

इसलिए $4p^2 = 2n^2$; $n^2 = 2p^2$;

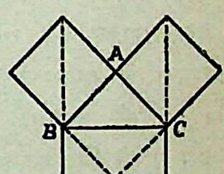
अतः n एक सम संख्या है।

परंतु हम पहले ही कह चुके हैं कि m और n दोनों सम संख्या नहीं हो सकते; इसलिए √२ को भिन्न में प्रकाशित करना संभव नहीं है। इस प्रकार पाइथागोरस-पंथियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि √२ एक अपरिमेय राशि है।

पाइथागोरस-पंथियों ने संख्या की ज्यामितीय व्याख्या की जो चेष्टा की थी, उसका उल्लेख किया जा चुका है। पाइथागोरी उपपाद्य के साथ इस



चित्र—६१



चित्र—६२

आविष्कार के तात्पर्य की जांच की प्रक्रिया में उन्हें बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा था। √२ का मान है १. ४१४२............। इस मान का अर्थ

यह है कि यह १.४ से बड़ा है लेकिन १.५ से छोटा है। दशमलव के दूसरे स्थान तक लिया जाय तो यह १·४१ से बड़ा है परंतु १·४२ से छोटा है, इत्यादि। ज्यामिति की सहायता से हम इस तथ्य को इस रूप में प्रकट कर सकते हैं: —

मान लीजिए, ABCD एक वर्ग है और BD विकर्ण। वर्ग की किसी भी भुजा की लंबाई १ हो तो विकर्ण की लंबाई होगी √२। विकर्ण BD को BF पर रखा जाय तो विकर्ण का D सिरा, BF पर E विंदु के निकट पड़ेगा; लेकिन ठीक किस विंदु पर ? मोटे तौर पर देखा जा तो BE की दूरी १·४ और १·५ के बीच होगी। और सही माप ली जाय तो BE की दूरी होनी चाहिए १·४१ और १·४२ के बीच। इससे भी सही माप ली जाय तो यह दूरी १·४१४ और १·४१५ के बीच होनी होगी। परंतु BE की चाहे जितनी सही माप करने की चेष्टा हम करें, प्रत्येक बार कुछ अंतर अवश्य रह जायगा, वह अंतर चाहे जितना सामान्य हो अर्थात् १·४ और १·५ के बीच अनगिनत विंदुओं का समावेश संभव है।

पाइथागोरसपंथियों-द्वारा, आरंभ से ही, पूर्ण-संख्या को विशेष महत्त्व देने की चर्चा पहले की जा चुकी है। उन्हें पूर्ण संख्या संबंधी अपनी धारणा से यह लगा कि रेखा-मात्र अंततः अत्यंत क्षुद्र परंतु ससीम आयतन के कुछ अंशों की समष्टि है। इन क्षुद्र अंशों को विंदु कहा जाय तो क्षुद्र होने पर भी, विंदु का एक निश्चित आयतन होगा। इस प्रकार के क्षुद्र ससीम विंदुओं या मोनाडों की सहायता से उन्होंने न केवल गणित-राज्य, बल्कि समग्र प्रकृति-राज्य की एक प्रणालीबद्ध व्याख्या तैयार की थी। परंतु उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि विंदु के क्षुद्रायतन की कोई निम्नतम सीमा नहीं है। इसकी कल्पना मनचाहे क्षुद्र रूप में की जा सकती है। इस विचार-क्रम से तो विंदु का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। तो फिर क्या ब्रह्मांड का विंदु-सिद्धांत मिथ्या है ? क्या ब्रह्मांड ही अलीक और माया है ? पाइथागोरस-पंथियों के पैरों के तले से मिट्टी खिसक गई; भयभीत होकर अपरिमेय राशि के आविष्कार की बात उन्होंने बहुत दिनों तक गुप्त रखी।

अपरिमेय राशि की ज्यामितीय व्याख्या में जिस असंगति की बात कही गई, उसका अवलंबन करके, एक और विख्यात ग्रीक गणितज्ञ जेनो (ई० पू० ४९५-४३५) ने एक आकर्षक उपमा तैयार की थी। गणित के इतिहास में

यह ऐकिलिस और कछुए की दौड़ के नाम से प्रसिद्ध है। दौड़ की इस प्रतियोगिता में कछुआ ऐकिलिस से १००० गज आगे है। क्या ऐकिलिस के लिए प्रतियोगिता में विजयी होना संभव है? जेनो ने बताया कि लंबाई के विषय में पाइथागोरी धारणा को स्वीकार किया जाय तो ऐकिलिस कभी कछुए को न पकड़ पाएगा। मान लीजिए कि जितने समय में ऐकिलिस ने १००० गज पार किया, उतने समय में कछुआ १०० गज बढ़ा। अतः कछुआ अब भी १०० गज आगे रहा। दूसरे दौर में ऐकिलिस १०० गज और पार करेगा, फिर भी कछुआ १० गज आगे होगा। इसी क्रम में ऐकिलिस १० गज और पार करेगा तो कछुआ १ गज आगे होगा। इस तरह, जितनी बार ऐकिलिस कछुए के पास पहुँचने का प्रयत्न करेगा, हर वार कछुआ कुछ न कुछ आगे रहेगा और ऐकिलिस, निरंतर प्रयत्न करते रहने पर भी, कछुए को पकड़ नहीं पाएगा।

ज्यामिति : संख्या-तत्व के वाद पाइथागोरियों की ज्यामितीय गवेषणा विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। रेखा, कोण, समतल आदि नाना मौलिक ज्यामितीय विषयों को उन्होंने ही पहले-पहल संज्ञा दी। उन्होंने ही त्रिभुज के विभिन्न गुणों के संबंध में प्रतिज्ञाएँ बनाईं। त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो समकोण के समान होते हैं, यह उन्हीं का आविष्कार है। समानांतर रेखाओं के संबंध में भी उन्होंने कुछ प्रतिज्ञाओं की रचना की थी। परंतु इन सभी आविष्कारों को पाइथागोरस के नाम से सुविदित समकोण त्रिभुज के उपपाद्य ने म्लान कर दिया।

युक्लिड ने अपनी ज्यामिति के ४७ वें उपपाद्य में पाइथागोरस के उपपाद्य का उल्लेख किया है। उपपाद्य यह है: किसी समकोण त्रिभुज के कर्ण पर अंकित वर्ग का क्षेत्रफल, बाकी दोनों भुजाओं पर अंकित वर्गद्वय के क्षेत्रफल के समान है। इसके साथ पाइथागोरस का नाम जुड़ा होने पर भी इसमें संदेह है कि वे ही इसके प्रथम आविष्कर्त्ता थे। प्राचीन बेबीलोनी, मिस्री भारतीय और चीनी भी संभवतः इस उपपाद्य की बात अस्पष्ट रूप से जानते थे। आपस्तंब, बौधायन, कात्यायन आदि वैदिक शुल्वकारों ने उपपाद्य का वर्णन इस प्रकार किया है—किसी आयत क्षेत्र का विकर्ण जो वर्गक्षेत्र उत्पन्न करता है उसका क्षेत्रफल, आयत क्षेत्र की दोनों भुजाओं पर उत्पन्न वर्गक्षेत्रों के सम्मिलित क्षेत्रफल के समान है। हैंकेल, युंग-जैसे प्रमुख पाश्चात्य पंडितों का मत है कि पाइथागोरस के नाम से प्रचलित उपपाद्य का प्रथम आविष्कार

पाइथागोरस ने नहीं किया। सर टॉमस हीथ ने इस आविष्कार के संबंध में विभिन्न जातियों के दावों की विस्तृत समालोचना करके दिखाया है कि पाइथागोरस को इस प्रस्ताव का आविष्कारक माने जाने का कोई कारण नहीं है; बल्कि उनके मत से इस बात की अधिक संभावना है कि इस उपपाद्य का आविष्कार भारत में स्वतंत्र और स्वाधीन रूप से हुआ होगा। जो भी हो, इस उपपाद्य के आरंभिक इतिहास का प्रश्न अभी तक अमीमांसित है।

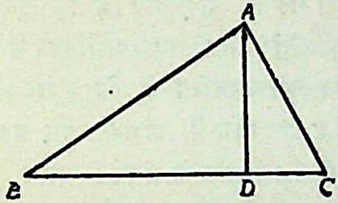
यूक्लिड की ज्यामिति में हमें जो प्रमाण मिलता है, वह पाइथागोरस का नहीं है। उसे परवर्ती गणितज्ञों ने खोज निकाला है। विशेष क्षेत्रों में, जैसे समद्विबाहु समकोण त्रिभुज के क्षेत्र में, इस उपपाद्य को सरल चित्रांकन की सहायता से प्रमाणित किया जा सकता है। ६२ संख्यक चित्र में A B C एक समद्विबाहु समकोण त्रिभुज है। तीनों भुजाओं पर अंकित वर्गों के विकर्णों को खींचकर जो छोटे-छोटे त्रिभुज दिखाए गए हैं, वे सभी समान क्षेत्र-वाले हैं। विकर्ण B C पर अंकित वर्ग में इस प्रकार के चार त्रिभुज हैं और अवशिष्ट दोनों वर्गों में दो-दो हैं। पाइथागोरस ने संभवतः इसी प्रकार के अंकन-द्वारा उपपाद्य की यथार्थता सिद्ध की होगी। हो सकता है कि वर्ग-संख्या संबंधी गवेषणा के सिलसिले में उन्होंने इस उपपाद्य का अभिप्राय ढूँढ़ निकाला हो। कुछ लोग कहते हैं कि मिस्त्रियों को तीन खूंटों पर ३,४,५ के अनुपात में सुतली घुमाकर समकोण त्रिभुज बनाते देख, पाइथागोरस के दिमाग में इस उपपाद्य की संभावना का विचार पहले-पहल उत्पन्न हुआ। जो भी हो, इस आविष्कार को उन्होंने बहुत महत्वपूर्ण समझा। एपोलोडोरस नामक एक कवि के वर्णन से यह पता चलता है कि इस आविष्कार को उपलक्ष्य बनाकर पाइथागोरस ने बड़े समारोह के साथ सांड़ के बलिदान का आयोजन किया था।

कहा जाता है कि पाइथागोरस ने इस समस्या का भी समाधान किया था कि यदि कोई आयत क्षेत्र (Rectangle) दिया जाय तो उसके क्षेत्रफल के समान एक वर्ग किस प्रकार आंका जा सकता है। वास्तविकता यह है कि ई० पू० ५ वीं शती में, ग्रीक वास्तुकला में आयत क्षेत्र के समान वर्गक्षेत्र की रचना के अनेक उल्लेख मिलते हैं। समकोण त्रिभुज के गुणधर्म से सहज ही इसे प्रमाणित किया जा सकता है।

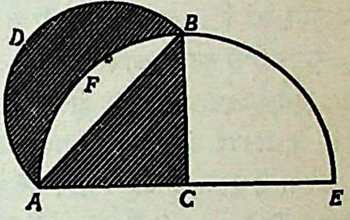
ABC त्रिभुज में A समकोण है (चित्र—६३)। AD लंब खींचने से ABC और ABD दोनों त्रिभुज समरूप होगे।

अर्थात्—

$$\frac{BC}{AB} = \frac{AB}{BD} \; ; \; AB^2 = BC \times BD$$



चित्र—६३



चित्र—६४

अतः, $AB \times AB$ वर्गक्षेत्र $BC \times BD$ आयत क्षेत्र के समान है। कहा नहीं जा सकता कि पाइथागोरस ने ठीक इसी प्रकार से समस्या का समाधान किया था या नहीं। किया हो, तो पूर्वोक्त उपपाद्य को भी उन्होंने इसी पद्धति से प्रमाणित किया होगा। कारण यह कि इस बात पर भी उनका ध्यान अवश्य गया होगा कि इस चित्र में (चित्र—६३) ABC, ABD और ACD, तीनों त्रिभुज समरूप हैं। समरूप त्रिभुजों की भुजाओं के पारस्परिक अनुपात से यह सहज ही दिखाया जा सकता है कि,

$$AB^2 = BC \times BD;$$

$$AC^2 = BC \times DC;$$

$$AB^2 + AC^2 = BC\,(BD + DC)$$

$$= BC^2$$

इस प्रसंग में ग्रीकों की एक और विख्यात ज्यामितीय समस्या की बात उल्लेखनीय है। यह है वृत्त का वर्गीकरण (Squaring the circle); अर्थात् दिए हुए किसी वृत्त के क्षेत्र के समान क्षेत्रफलवाले वर्ग की रचना करना। ग्रीक इस समस्या का समाधान असंभव मानते थे। यूक्लिडीय ज्यामिति से भी इस समस्या का समाधान संभव नहीं। परंतु चिओस् के हिपोक्रेटिस ने यह प्रमाणित किया था कि एक वृत्तांश के समान वर्ग-क्षेत्र की रचना किस

प्रकार की जा सकती है। चित्र ६४ में ABE एक अर्द्धवृत्त, ABC समकोण त्रिभुज और ADB एक दूसरा छोटा अर्द्धवृत्त है। हिप्पोक्रेटिस ने दिखाया कि वक्र-चंद्राकार वृत्तांश ADBF का क्षेत्रफल ABC त्रिभुज के क्षेत्रफल के समान है। कहा जाता है कि पाइथागोरस के अनुयायियों ने भी इसी प्रकार से समस्या का आंशिक समाधान किया था।

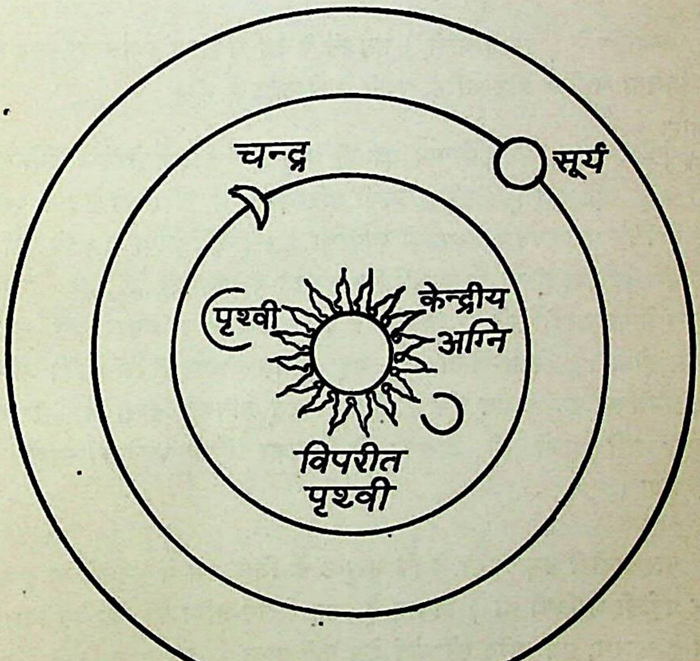
ज्योतिष : ज्योतिर्विद्या में भी पाइथागोरस तथा उनके शिष्यों की बहुत बड़ी देन है। पाइथागोरसपंथी इस मत के माननेवाले थे कि पृथ्वी, ग्रह तथा नक्षत्रों का आकार गोल हैं। ग्रीक वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों में से, सबसे पहले पाइथागोरियों ने ही इस तथ्य की उपलब्धि की कि पृथ्वी और नक्षत्रों के आकार गोल हैं। आकाश और ब्रह्मांड गोल हैं, संभवत: इस प्रकार की धारणा से ही उन्हें यह प्रतीति हुई होगी कि ब्रह्मांड के अंतर्गत नक्षत्र भी गोल हैं। विविध ज्यामितीय रेखाओं में वृत्त या गोल रेखा और ठोस वस्तुओं में गोलक ही सर्वापेक्षा सहज और सुंदर है, इस प्रकार की युक्ति से भी पृथ्वी तथा ग्रहों की गोलाकृति की धारणा उनके मन में उत्पन्न होना असंभव नहीं है। अनेक लोगों का कहना है कि चंद्र-ग्रहण के समय पृथ्वी पर चांद की जो गोल छाया पड़ती है, उसे लक्ष्य करके पाइथागोरसपंथी उपर्युक्त सिद्धांत पर पहुँचे थे। यह बात सही हो तो इस आविष्कार के वैज्ञानिक आधार के संबंध में कोई संदेह नहीं रह जाता।

पाइथागोरस-अनुयायी फिलोलाउस् और अग्निकेंद्रीय ब्रह्मांड की परिकल्पना

ज्योतिष में पाइथागोरियों की मुख्य देन है आकाश में पृथ्वी की गति की कल्पना। अग्नि को ब्रह्मांड का केंद्र मानकर, तथाकथित ग्नि-केंद्र ब्रह्मांड की परिकल्पना का प्रथम उद्‌भावन पाइथागोरियों ने ही किया। अनेक व्यक्ति इसे सूर्य-केंद्रीय परिकल्पना का ही एक अस्पष्ट संस्करण मानते हैं, परंतु यह बात ठीक नहीं है। इस विषय की चर्चा आगे की जायगी। साधारणतया पाइथागोरियों के नाम से चले आने पर भी इस ब्रह्मांड परिकल्पना के वास्तविक स्रष्टा फिलोलाउस् ही थे। पाइथागोरी-विज्ञान तथा दर्शन के प्रचारक और लिपिकार के रूप में फिलोलाउस् के नाम का उल्लेख पहले किया जा चुका है। परंतु वे पाइथागोरी-विज्ञान के सामान्य लिपिकार या टीका-

कारमात्र नहीं थे, वे स्वयं एक प्रतिभाशाली वैज्ञानिक थे। पाइथागोरी ब्रह्मांड परिकल्पना में उन्होंने अनेक मौलिक परिवर्तन किए। विट्रुवियस ने उनकी तुलना ऐरिस्टार्कस्, आर्किमीडिस, इराटोस्थेनिस्-जैसे प्राचीन मनीषियों से की है। फिलोलाउस्, साक्रेटिस् और डिमोक्रिटस् के समसामयिक और आयु में दोनों से बड़े थे। ई० पू० ५ वीं शती के अंतिम भाग में, थिव्स में उनके कर्म-व्यस्त जीवन का आभास मिलता है।

अरस्तू, सिम्प्लिसियस्, एटियस्, शियापैरेली-जैसे ग्रीक पंडित और लेखक, फिलोलाउस् की अग्निकेंद्रीय ब्रह्मांड-परिकल्पना का विवरण और



चित्र—६५ : फिलोलाउस् की अग्नि-केंद्रीय ब्रह्मांड-परिकल्पना

समालोचना लिख गए हैं। इन विवरणों से परिकल्पना के विषय में जो जानकारी मिलती है, वह संक्षेप में इस प्रकार है : ब्रह्मांड गोल और ससीम है। ब्रह्मांड की सीमा के बाहर असीम शून्यता है। इस शून्यता के कारण

ब्रह्मांड श्वास-प्रश्वास ले सकता है। ब्रह्मांड के केंद्र में एक विराट अग्निकुंड है। यह केंद्रीय अग्नि ही ब्रह्मांड का धारण, वहन और परिचालन करती है। यही प्राकृतिक शक्ति का स्रोत है। केंद्रीय अग्नि की सबसे निकट की कक्षा में विपरीत-पृथ्वी परिक्रमा करती है। परवर्ती कक्षाओं में क्रमानुसार पृथ्वी, चंद्र, सूर्य, पाँच ग्रह और अंतिम कक्षा में स्थिर तारे केंद्रीय अग्नि की नियमित परिक्रमा करते हैं (चित्र—६५)। अग्नि को ब्रह्मांड के केंद्र में रखने का कारण यह है कि केंद्र में योग्यतम वस्तु के लिए ही स्थान होना चाहिए और मृत्तिकामय पृथ्वी की तुलना में अग्नि कहीं अधिक योग्य है।

"क्योंकि वे (पाइथागोरी) समझते थे कि श्रेष्ठतम स्थान योग्यतम पात्र को मिलना चाहिए और अग्नि, पृथ्वी से श्रेष्ठतर है।"*

केंद्रीय-अग्नि और सूर्य क्या एक ही वस्तु हैं ? पाइथागोरस-पंथियों ने यह बात कहीं नहीं कही है, बल्कि उनकी परिकल्पना में अग्नि को केंद्र में रखकर सूर्य के लिए एक स्वतंत्र कक्षा की व्यवस्था है। यदि अग्नि के बदले सूर्य को केंद्र में रखा गया होता तो सूर्य-केंद्रीय ब्रह्मांड-परिकल्पना के प्रथम रचयिता के रूप में पाइथागोरियों को विज्ञान के इतिहास में अन्य प्रकार का सम्मान प्राप्त होता। किसी-किसी का यह खयाल अवश्य है कि केंद्रीय अग्नि से पाइथागोरियों का आशय सूर्य से ही था, परंतु प्रतिकूल आलोचना और धर्म-संबंधी जटिलताओं की आशंका से खुलकर ऐसा कहने का साहस उन्हें नहीं हुआ।

पाइथागोरी कहा करते थे कि भू-पृष्ठ के जिस अंश में मनुष्यों का (ग्रीक और पड़ोसी जातियों का) निवास है, वह केंद्रीय-अग्नि की विपरीत दिशा में होने के कारण, इस अग्नि को कोई देख नहीं पाता। परंतु नाविकों ने बहुत दिनों तक यह बात याद रखी और जब कभी वे भूमध्यसागर पार करके दक्षिण में दूर समुद्र की यात्रा करते तो उन्हें ध्यान आता कि अब केंद्रीय अग्निकुंड दिखाई पड़ेगा। दुर्गम समुद्र और विभिन्न अपरिचित देशों में अभियान के अवसर पर अनेक विस्मयजनक वस्तुएं उन्हें देखने को मिलीं, लेकिन उनके मुख से पाइथागोरी अग्निकुंड के दर्शन की कहानी कभी किसी ने नहीं सुनी।

* Aristotle, De Caelo, ii, 13, 293a; 18-b 30.

अब पाइथागोरियों की विपरीत पृथ्वी की कल्पना की आवश्यकता के विषय में एक प्रश्न उठ सकता है। कुछ लोगों का मत है कि ग्रहण की व्याख्या के उद्देश्य से अदृश्य और अपारदर्शी विपरीत पृथ्वी की कल्पना की आवश्यकता पड़ी। कुछ और लोगों का खयाल है कि संख्या-सामंजस्य बनाए रखने के उद्देश्य से ही पाइथागोरियों ने एक और अदृश्य ग्रह के अस्तित्व की कल्पना की। वे १० संख्या को संपूर्ण और त्रुटिहीन समझते थे। लेकिन पृथ्वी, सूर्य, चंद्र, ५ ग्रह और नक्षत्र-मंडल को मिलाकर कुल ९ की संख्या बनती है। सृष्टिकर्त्ता ने ब्रह्मांड-परिकल्पना में निश्चय ही इतनी बड़ी त्रुटि जानबूझकर नहीं रख छोड़ी। इसीलिए, दृष्टिगोचर न होने पर भी यह १०वाँ ग्रह विपरीत पृथ्वी है। विपरीत-पृथ्वी के विषय में पाइथागोरियों की युक्ति के संबंध में अरस्तू ने लिखा है :

'......उनकी (पाइथागोरियों की) यह धारणा थी कि संपूर्ण आकाश सामंजस्यपूर्ण और संख्यामय है।......उदाहरणार्थ, चूँकि वे १० की संख्या को परिपूर्ण मानते हैं, जिसमें संख्याओं की सपूर्ण प्रकृति समाई हुई है, उनका कहना है कि जो पदार्थपिंड आकाश में गतिमान हैं, उनकी संख्या भी १० है, लेकिन उनमें से केवल ९ ही दीख पड़ते हैं, अतः उन्होंने विपरीत पृथ्वी को १०वां मान लिया है।''*

पाइथागोरस-पंथियों की कल्पना केवल विपरीत-पृथ्वी तक ही सीमित नहीं थी। उन्होंने संगीत के स्वर की तुलना चंद्र, सूर्य, ग्रह तथा अन्य नक्षत्रों से की थी। संगीत की स्वर-लहरी में जिस प्रकार संख्या का अनुपात देखा जाता है, उसी प्रकार केंद्र से ग्रहों की दूरी भी एक विशेष आनुपातिक नियम के अधीन है। यहाँ तक कि ग्रहों तथा नक्षत्रों की अविराम आकाश-परिक्रमा के परिणामस्वरूप (उन्होंने इसे ग्रहों का नृत्य कहा है) संगीत और ध्वनि-झंकार की सृष्टि होती है। अत्यंत क्षीण और मृदु होने के कारण यह संगीत अनसुना रह जाता है।

पृथ्वी एक दिन में केंद्रीय अग्नि की परिक्रमा कर लेती है। उसका एक गोलार्द्ध, हर समय केंद्र की विपरीत दिशा में होने के कारण, परिक्रमा-काल के आधे समय तक सूर्यलोक प्राप्त करता है और बाकी आधे में नहीं। फिलोलाउस् ने इसी प्रकार से दिन और रात की व्याख्या की। एक बार केंद्र की परिक्रमा करने में चंद्र, सूर्य और ग्रहों को कितना समय लगता है, यह हिसाब

* Aristotle, 'Metaphysics', A. 5., 986 a 2. 12.

भी उन्होंने लगा लिया था। शियापैरेली ने फिलोलाउस्-द्वारा निर्धारित कालचक्र के साथ आधुनिक हिसाब की तुलना की है।*

ग्रहों के नाम	कालचक्र फिलोलाउस्	आधुनिक
शनि	१०७५२·७५ दिन	१०७५९·२२ दिन
वृहस्पति	४३०१·१० दिन	४३३२·५८ दिन
मंगल	६९३·७१ दिन	६८६·९८ दिन
शुक्र	३६४·५० दिन	३६५·२६ दिन
बुध	३६४·५० दिन	३६५·२६ दिन
सूर्य	३६४·५० दिन	३६५·२६ दिन
चंद्र	२९.५० दिन	२९·५३ दिन

फिलोलाउस् का यह खयाल था कि चंद्रमा पृथ्वी की तरह मिट्टी का बना है और यह भी कि चाँद पर वनस्पति और जीवों का निवास है और चंद्र-निवासी पृथ्वी के निवासियों की अपेक्षा कहीं अधिक सुंदर तथा बलशाली हैं।

विपरीत-पृथ्वी की कल्पना, ग्रहों के नृत्य और संगीत-सृष्टि के विषय में चाहे जितनी असंगति हो, परंतु पाइथागोरियों ने इस मत को अस्वीकार करके कि पृथ्वी ब्रह्मांड का केंद्र-स्थान है, और पृथ्वी की गति पर आस्था स्थापित करके, ज्योतिष में एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण तथा मनोभावना का परिचय दिया था। प्लेटो, अरस्तू, युडॉक्सस् तथा अन्य ग्रीक पंडितों के जोरदार भूकेंद्रीय मतवाद की चक्की के नीचे दबकर, पाइथागोरी परिकल्पना फिर कभी सिर नहीं उठा सकी और साधारण रूप से विद्वत्समाज का समर्थन इसने खो दिया। दो-एक ज्योतिर्विदों की रचनाओं में इसकी क्षीण प्रतिध्वनि थी, परंतु किसी कोने से उठकर वह कहीं विलीन हो गई। उदाहरणस्वरूप, सिसरो के लेखों से पता चलता है कि सायराक्युज के एक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक हिसेटॉस् का यह विचार था कि ब्रह्मांड में एकमात्र पृथ्वी ही गतिशील है; चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रादि निश्चल हैं—सब अपनी-अपनी जगह स्थिर हैं, केवल पृथ्वी अपनी कक्षा में चक्कर काटती हुई, आकाशमार्ग में निरंतर परिक्रमा करती है। हम उस गति को समझ नहीं पाते, इसलिए जान पड़ता है कि पृथ्वी के सिवा और सब कुछ गतिशील और भ्रमणरत है। हिसेटॉस् का उल्लेख कोपर्निकस ने भी किया है (विज्ञान का इतिहास, दूसरा खंड)।

* Aristarchus of Samos, p. 102.

पाइथागोरी भ्रातृमंडल तथा विद्यापीठ की तत्परता की समाप्ति की बात हम पहले ही कह चुके हैं। प्लेटो के समय तक पाइथागोरी विद्यापीठ में विज्ञान-चर्चा की सूचना मिलती है। डियोडोरस के अनुसार ई० पू० ३६६ में भी पाइथागोरी सक्रिय थे। अलेक्जेंडर के साम्राज्य-विस्तार और विचारजगत् में अरस्तू का अधिनायकत्व शुरू होने के बाद से पाइथागोरी विज्ञान और दर्शन की अवनति द्रुत गति से होने लगी।

पार्मेनिडिस् [जन्म ई० पू० ५१६ (?), ५४० (?)]

इलिएटिक दर्शन के मुख्य प्रचारक पार्मेनिडिस् वैज्ञानिक की अपेक्षा दार्शनिक के रूप में ही विशेष प्रसिद्ध हैं। विज्ञान के क्षेत्र में भी उनकी देन कम नहीं है। उस युग में दर्शन और विज्ञान इतने घनिष्ठ रूप में मिले-जुले थे कि एक को छोड़कर दूसरे का विचार असंभव था। इसीलिए हम देखते हैं कि वैज्ञानिकमात्र दार्शनिक थे और प्रत्येक दार्शनिक वैज्ञानिक भी था।

पार्मेनिडिस् के जन्म-वर्ष के विषय में अनेक मतभेद हैं। प्लेटो के एक लेख से पता चलता है कि एक बार पार्मेनिडिस् से सॉक्रेटिस की भेंट हुई थी और दोनों के बीच दर्शन संबंधी विचार-विनिमय हुआ था। उस समय सॉक्रेटिस की आयु थी १८-२० वर्ष और पार्मेनिडिस् की ६५। यह भेंट अनुमानतः ई० पू० ४५० में हुई। ऐसा हो तो पार्मेनिडिस् का जन्म या तो ई० पू० ५१४ में या ई० पू० ५१६ में हुआ। डिओजेनिस् लेर्टियस का मत है कि उनका जन्म ई० पू० ५४० में हुआ।

दक्षिण इटली के इलिया नामक स्थान में पार्मेनिडिस् ने दर्शनशास्त्र के अध्ययन और चर्चा के लिए एक विद्यालय की स्थापना की थी। यहाँ से, उन्होंने तथा उनके मतावलंबियों ने वस्तु-निरपेक्ष, विशुद्ध बुद्धि के जिस दर्शन की चर्चा और प्रचार आरंभ किया, वही परवर्ती काल के ग्रीक-दर्शन का मूल उपादान बना। प्लेटो और अरस्तू इस दर्शन से विशेष रूप से प्रभावित थे। पार्मेनिडिस् के दर्शन में इंद्रियानुभूत ब्रह्मांड का अस्तित्व और स्वरूप वास्तविक नहीं है। शाश्वत सत्य वह है, जिसकी उपलब्धि बुद्धि और विचार की सहायता से होती है; अन्य उपायों से प्राप्त ज्ञान इंद्रिय-विभ्रममात्र है। उनके दर्शन में सृष्टि असंभव है, क्योंकि 'कुछ नहीं' से 'कुछ' की उत्पत्ति बुद्धि के लिए कल्पनातीत है। दूसरी ओर विनाश भी असंभव है, क्योंकि 'कुछ', 'कुछ नहीं' में परिणत नहीं हो सकता। यहाँ तक कि परिवर्तन भी असंभव है, क्योंकि एक प्रकार के गुण से युक्त वस्तु का उद्भव भिन्न गुणसंपन्न अन्य प्रकार की

वस्तु से नहीं हो सकता। जिस प्रतीयमान परिवर्तन को हम देखते हैं अथवा लगता है कि हम देखते हैं, वह चेतना का भ्रममात्र है। इसलिए चेतना की सहायता से सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। अवचेतन मन में शुद्ध विचार के द्वारा वास्तविक सत्य को प्राप्त करना पड़ता है। संक्षेप में इसका तात्पर्य समझाने के लिए उन्होंने दो शब्दों का सहारा लिया—सत् (Being) और असत् (Not Being)। इंद्रियातीत अवचेतन मन का विचार है सत्, इंद्रियानुभूत चेतना-लब्ध वास्तविकता है असत्। यह कहना अनावश्यक है कि हिंदू दर्शन के मायावाद या अद्वैतवाद-विचारधारा से अनेकांश में इसका सादृश्य है।

ज्योतिष में पार्मेनिडिस् ने साधारण रूप से पाइथागोरी मतवाद को ही ग्रहण और प्रचारित किया। पाइथागोरस के भ्रातृमंडल से भी उनका घनिष्ठ संपर्क था। पाइथागोरस के एक अनुयायी, आमिनियस् डायोकाइटिस् के प्रति उनकी विशेष श्रद्धा थी। उनकी रचना में पृथ्वी के गोलाकार होने का उल्लेख देखकर थिओफ्रेस्टस्-जैसे परवर्ती काल के पंडितों की यह धारणा हुई कि इस तथ्य के आविष्कारक पार्मेनिडिस् ही थे। परंतु हम देख चुके हैं कि पाइथागोरस स्वयं इस धारणा के प्रवर्तक थे। पार्मेनिडिस् ने यह निर्धारित किया था कि शुकतारा और सांध्य तारा एक ही नक्षत्र हैं, पाइथागोरी भी इस तथ्य से अवगत थे। परंतु यह जानकारी पाइथागोरस से बहुत पहले ही कर ली गई थी। मिस्र और कैल्डिया के ज्योतिर्विदों ने इस तथ्य का प्रथम आविष्कार किया था।

भू-पृष्ठ पर मनुष्यों के बसने-योग्य प्रदेशों को पार्मेनिडिस् ने दो विपरीत प्रकृतिवाले अंचलों में विभाजित किया था। संभवतः इसी चेष्टा से प्राकृतिक भूगोल की रचना हुई।

ऐनाक्सागोरस (ई० पू० ५००-४२८)

प्रसिद्ध ग्रीक वैज्ञानिकों में से अन्यतम, ऐनाक्सागोरस को, मुख्यतः चंद्र-ग्रहण का कारण आविष्कार करने के लिए ख्याति मिली। ज्योतिष की साधना में उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था। किसी ने उनसे एक बार प्रश्न किया कि मनुष्य-जन्म का उद्देश्य क्या है? उन्होंने उत्तर दिया कि 'चंद्र, सूर्य तथा आकाश-संबंधी शोध करना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है।'

ऐनाक्सागोरस का जन्म ई० पू० ५०० में स्मर्ना के निकट क्लाजोमेने नामक स्थान में हुआ। पेरिक्लिस् के बुलाने पर वे एथेंस आए और इस

महानगरी में दर्शन तथा विज्ञान-संबंधी शोध और अध्यापन-कार्य करने लगे। पेरिक्लिस की अनुकूलता तथा सहायता से आरंभ में उन्हें एथेंस में विज्ञान-चर्चा-संबंधी जो सुविधाएँ मिली थीं, वे अधिक दिन तक नहीं रहीं। पेलोपोनेशियाई युद्ध शुरू होने पर पेरिक्लिस् का प्रभाव और लोकप्रियता घट गई और ऐनाक्सागोरस् को न केवल अपनी सुविधाओं से वंचित होना पड़ा, अपितु बहुत कष्ट उठाना और उत्पीड़न सहना पड़ा। कुसंस्कारग्रस्त एथेंसवासियों ने उनके निर्भीक ज्योतिषीय मतवाद को धर्म-विरोधी ठहराया। वे अपराधी ठहराए गए और पहले कैद किए गए, फिर एथेंस से निर्वासित कर दिए गए।

ऐनाक्सागोरस् के बारे में प्लूटार्क ने लिखा है—'क्योंकि ऐनाक्सागोरस्, जिन्होंने अन्य सभी लोगों की अपेक्षा सर्वाधिक साहस और स्पष्टता के साथ पहले-पहल चंद्रमा की दीप्ति और अंधकार की व्याख्या की थी, प्राचीन युग के नहीं थे, यहाँ तक कि उनका यह विवरण भी सार्वजनिक नहीं था, बल्कि तब तक केवल एक रहस्य था, जिसकी जानकारी थोड़े-से लोगों को ही थी और उन थोड़े लोगों ने भी बड़ी सतर्कता अथवा केवल विश्वास के बल पर ही उसे ग्रहण किया था। इसका कारण यह है कि उन दिनों भौतिक-विदों और नक्षत्र-प्रेक्षकों (जिस नाम से वे जनसाधारण में परिचित थे) को, लोग सहन नहीं करना चाहते थे, क्योंकि उनका खयाल था कि वे देवताओं को हेतु-रहित कारणों, अंध शक्तियों और आवश्यक गुणधर्मों में बाँटकर नष्ट कर देना चाहते हैं। इस प्रकार प्रोटागोरस् निर्वासित किए गए और ऐनाक्सागोरस् बंदी बनाए गए, जिन्हें पेरिक्लेस ने बाद में बड़ी कठिनाई से छुड़ाया।'

धर्म-विरुद्ध वैज्ञानिक मतवाद के पोषण और प्रचार के अपराध में उत्पीड़न और दंड-भोग का यही संभवतः पहला लिपिबद्ध दृष्टांत है। इस घटना के कुछ दिनों बाद, ई० पू० ३९९ में एथेंसवासियों ने सॉक्रेटिस को मृत्यु दंड दिया। हम देखते हैं कि विचार-स्वतंत्रता और धर्म तथा अंधविश्वास के बीच विरोध ई० पू० चौथी शती से ही शुरू हो गया था। घूम-फिरकर इस प्राचीन विरोध ने विभिन्न शतियों में प्रबल रूप धारण किया और विचार तथा गवेषणा की मौलिक स्वतंत्रता के संरक्षण में अनेक निर्भीक मनीषियों को यातनाएँ और अपमान सहन करने पड़े, यहां तक कि जीवन से भी हाथ धोना पड़ा।

चंद्रग्रहण की व्याख्या : हम देख चुके हैं कि ऐनाक्सिमेनेस् के काल से चंद्रग्रहण केसंबंध में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ और चर्चाएँ चल रही थीं तथा कितनी ही काल्पनिक व्याख्याएँ भी सामने आई थीं। ऐनाक्सागोरस पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों की इन व्याख्याओं से अवगत थे। उन पर ऐनाक्सिमेनेस् का प्रभाव बहुत स्पष्ट था। चंद्रमा के स्वरूप और चंद्रग्रहण के कारण के संबंध में लंबी छानबीन और विचार के परिणामस्वरूप वे जिस सिद्धांत पर पहुँचे, वह मोटे तौर पर इस प्रकार है :

चंद्रमा की अपनी कोई ज्योति नहीं है; यह सूर्य के प्रकाश का ही परावर्तन है। चंद्रमा के नीचे पृथ्वी या कभी-कभी अन्य वस्तु के आजाने पर हमारे दृष्टिपथ का अवरोध होने से ही चंद्रग्रहण होता है। ये वस्तुएँ अदृश्य हैं। नक्षत्रमंडल के नीचे इनकी स्थिति है और सूर्य तथा चंद्र के साथ ही ये घूमती रहती हैं। ऐनाक्सागोरस् ने यह भी कहा कि चंद्रमा सूर्य के मार्ग पर चलता है और सूर्य तथा चंद्र के बीच पृथ्वी के आ जाने से जो छाया बनती है, चंद्रमा उस छाया के भीतर पड़कर प्रति मास धीरे-धीरे अदृश्य हो जाता है। चंद्रकला की यह एक सहज व्याख्या है।

आकाश-गंगा के विषय में ऐनाक्सागोरस् का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रात को पृथ्वी की विपरीत दिशा में सूर्य के छिप जाने पर नक्षत्र-शोभित आकाश पर पृथ्वी की जो छाया पड़ती है, वही आकाश-गंगा है। वे सूर्य को पृथ्वी से छोटा समझते थे, इसीलिए आकाश-गंगा का इतना विस्तार है। इस छाया की सीमा के भीतर जो तारे हैं, सूर्यालोक उन्हें ज्योतिविहीन नहीं कर सकता, इसलिए वे रात को दिखाई पड़ते हैं। लेकिन आकाश-गंगा के बाहर जो तारे हैं, वे सूर्यालोक में दीप्तिहीन हो जाते हैं, इसलिए हम उन्हें नहीं देख पाते।

सरसरी दृष्टि से इस प्रकार की व्याख्या ठीक जान पड़ने पर भी इसमें बहुत-सी त्रुटियाँ हैं। यह मत स्वीकार किया जाय तो आकाश-गंगा विषुव-वृत्त पर जा मिलेगी, परंतु वास्तव में आकाश-गंगा और विषुव-वृत्त के बीच एक निर्दिष्ट कोणीय दूरी रहती है। आकाश-गंगा को पार करते समय हर बार चंद्रमा को अदृश्य हो जाना चाहिए, परंतु ऐसा होता नहीं है। अरस्तू ने पहली बार ऐनाक्सागोरस् की इस व्याख्या की असंगति और युक्ति-विरुद्धता पर प्रकाश डाला।

ब्रह्मांड की उत्पत्ति : ब्रह्मांड की उत्पत्ति के विषय में ऐनाक्सागोरस् की व्याख्या विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। सृष्टि के प्रारंभ में जड़ पदार्थों में कोई प्रकार-भेद नहीं था। समय बीतने के साथ इस जड़ के भीतर एक अति क्षुद्र आवर्त की सृष्टि हुई। क्रमशः यह आवर्त फैलकर इतना बढ़ गया और इतना प्रवल हो उठा कि ब्रह्मांड का सारा जड़ पदार्थ दो बहुत बड़े अंशों में विभक्त हो गया। एक अंश था गरम, हल्का, सूखा और फूला हुआ 'ईथर', और दूसरा अंश विपरीत गुणसंपन्न 'वायु'। फिर वायु ब्रह्मांड के केंद्र में फैल गई और उसे गरम ईथर ने घेर रखा। सृष्टि के अगले चरण में वायु से धीरे-धीरे विभिन्न स्तरों पर मेघ, जल, मिट्टी और पत्थर की उत्पत्ति हुई। उस समय पृथ्वी तेज गति से चक्कर काट रही थी। इस भीषण गतिवेग के घटने तक छोटे-बड़े अनगिनत पत्थर के टुकड़े पृथ्वी से छिटक पड़े और ऊपर, ईथर के संपर्क में आकर दीप्तिमान नक्षत्र बन गए। परवर्ती काल में सौर जगत् की उत्पत्ति के संबंध में कांट और लाप्लास ने जो विचार प्रस्तुत किए, उनसे ऐनाक्सागोरस् के इस मत की आश्चर्यजनक समानता है।

उल्लिखित युक्ति को और विस्तृत करके ऐनाक्सागोरस् ने ब्रह्मांड में एकाधिक पृथ्वियों के अस्तित्व की बात भी कही थी। हमारी इस पृथ्वी की तरह उन पृथ्वियों के भी अपने-अपने चंद्र, सूर्य और नक्षत्र हैं। वहाँ भी मानव, जीव और वनस्पति विद्यमान हैं और मनुष्य तथा जीवों के लिए खाद्य और निवास-स्थान की व्यवस्था है।* वर्तमान समय में अनेक ज्योतिर्विद, जिनमें सर जेम्स जीन्स प्रमुख हैं, एकाधिक सौर जगत् के अस्तित्व पर विश्वास रखते हैं।

एंपिडाक्लिस् (ई० पू० ४९४-४३४)

पाइथागोरी वैज्ञानिक संप्रदाय में अन्यतम, सिसली-निवासी दार्शनिक एंपिडॉक्लिस्, सृष्टि-रहस्य से कहीं अधिक वस्तु के स्वरूप और गठन-रहस्य के प्रति आकृष्ट हुए थे। मिट्टी, जल, हवा और आग, इन चार मूल उपादानों से पदार्थ गठित है, पाइथागोरस-पंथियों के इस मतवाद का उन्होंने विशेष रूप

---

* "मनुष्य तथा अन्य जीवनयुक्त प्राणियों की रचना हुई। वे मनुष्य भी हमारी ही तरह नगरों में रहते और खेत जोतते-बोते हैं। हमारे ही जैसे उनके भी चंद्र, सूर्य आदि हैं और उनकी पृथ्वी उनके लिए विभिन्न प्रकार की अनेक चीजें पैदा करती है, जिनमें सबश्रेष्ठ चीजों को वे इकट्ठा करते हैं और अपने घरों में जमा करते हैं और उन्हीं के उपयोग-द्वारा जीवन धारण करते हैं।"—बर्नेट, "अर्ली ग्रीक फिलासफी"

से प्रचार और प्रसार किया। इसके अतिरिक्त शरीर-रचना तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान के वे एक विशिष्ट ज्ञाता थे। गैलेन के मतानुसार, एंपिडॉक्लिस् आयोनी चिकित्सा-शास्त्र के प्रतिष्ठाता थे। प्रतिष्ठा और लोकप्रियता की दृष्टि से उनका चिकित्साशास्त्र कॉस और स्नाइडस के (हिपोक्रेटिक) चिकित्साशास्त्र के समकक्ष हो गया था। धर्मशास्त्र, अलंकारशास्त्र और राजनीति के प्रति भी उनका गहरा अनुराग था। अनेक व्यक्तियों का यह मत है कि एंपिडॉक्लिस् ही ग्रीक अलंकारशास्त्र के जन्मदाता थे।

वस्तु की गठन : माइलेशियाई दर्शन के अनुसार पृथ्वी और जड़ जगत् एक ही मूल उपादान से गठित है। इस मौलिक उपादान को किसी ने जल बताया है, किसी ने वायु कहा है और किसी ने अग्नि। एंपिडॉक्लिस् ने कहा कि जड़ जगत् एक नहीं, चार प्रकार के मूल उपादानों-द्वारा गठित है। ये मूल उपादान हैं—मिट्टी, जल, हवा और आग। चित्रकार जिस प्रकार चार मूल रंगों की सहायता से चित्रपट पर बहुविध रंगों का खेल दिखाता है, उसी प्रकार चार मूल-उपादानों के विभिन्न समन्वय से विभिन्न वस्तुओं की गठन होती है। ऐसा लगता है कि अग्नि की दाहक शक्ति की गलत व्याख्या के परिणामस्वरूप चार मौलिक उपादानों की प्रतीति होती है। जलनेवाले पदार्थ की गिनती पाइथागोरी जटिल और यौगिक पदार्थों में करते थे। उनकी यह धारणा थी कि जलनेवाला पदार्थ, दहन-क्रिया के समय अपने मूल उपादानों में विघटित हो जाता है। जैसे हाल में कटी लकड़ी के जलते समय आग निकलती है, धुँआ ऊपर उठकर हवा में मिल जाता है, लकड़ी के एक सिरे से पानी की बूँदें निकलती दीख पड़ती हैं और अंत में जो राख बच रहती है, उसमें मिट्टी के गुणावगुण विद्यमान हैं।

एंपिडॉक्लिस् ने यह भी कहा कि चार मौलिक पदार्थों के बीच आकर्षण-विकर्षण का एक प्रकार का बल काम करता है। इसके परिणामस्वरूप ये मौलिक पदार्थ विभिन्न परिमाणों में मिश्रित होकर वस्तुओं की सृष्टि करते हैं। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि जड़ और चेतन के विभेद में एंपिडॉक्लिस् का विश्वास नहीं था। अपने भौतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण उनकी यह धारणा बनी कि प्रेम का बंधन, घृणाजनित विच्छेद आदि जो भाव और व्यापार मनुष्यों में दिखाई पड़ते हैं, वे वस्तु के अंतर्निहित आकर्षण-विकर्षण की बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं।

मूल उपादानों की उत्पत्ति के विषय में एंपिडॉक्लिस् का कहना था कि विपरीतधर्मी दो प्रकार के गुणों के समन्वय से मिट्टी, जल, आग और हवा की उत्पत्ति हुई है। ये विपरीतधर्मी गुण हैं—ताप, शीतलता शुष्कता और नमी। उदाहरण के तौर पर दो विपरीतधर्मी गुणों, शीतलता और नमी, के समन्वय से जल की उत्पत्ति और ताप तथा शुष्कता के समन्वय से अग्नि की उत्पत्ति हुई है।

	शुष्कता	आर्द्रता
शीतलता	मिट्टी	जल
उष्णता	अग्नि	वायु

चार मौलिक उपादानों के सिद्धांत से एंपिडॉक्लिस् ने ब्रह्मांड-सृष्टि की एक नई परिकल्पना प्रस्तुत की। इसमें सृष्टि के आरंभ में जड़वस्तु थी जल, वायु, अग्नि और मृत्तिका का एक प्रकार का विशृंखल मिश्रण। इस मिश्रण से पहले वायु और बाद में अग्नि पृथक् हो गई। तदनंतर मृत्तिका पृथक् हुई और उससे निचुड़कर जल निकला। ब्रह्मांड-सृष्टि के अंतिम चरण में वायु से आकाश, अग्नि से सूर्य और मृत्तिका तथा जल से अन्य वस्तुओं का उद्भव हुआ।

पदार्थ विद्या : पदार्थ विद्या संबंधी उनके कुछ आविष्कार विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें प्रकाश की गति की उपलब्धि उल्लेखनीय है। एंपिडांक्लिस् ने यह मत व्यक्त किया कि प्रकाश में गति है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने में उसे एक निश्चित समय लगता है। अरस्तू ने 'डि सेन्सू'(De Sensu) नामक अपने ग्रंथ में आलोक की गति संबधी एंपिडॉक्लिस् के विचार के विषय में लिखा है :

'उदाहरणार्थ, एपिडॉक्लिस् का कहना है कि प्रकाश सूर्य से निकलकर, सीधे आंखों या दृष्टि-मार्ग तक पहुँचने के पहले मध्यवर्त्ती शून्य में पहुँचता है।

'डी ऐनिमा' (De Anima) में अरस्तू ने इस मत के संबंध में और स्पष्टता से विचार किया है :

'एपिडॉक्लिस् ने प्रकाश का चित्रण इस प्रकार किया है कि यह शून्य में गतिमान होता है और पृथ्वी तथा उसे परिवृत्त करनेवाली वस्तु के बीच एक निश्चित समय पर पहुँचता है।'

वायु के अस्तित्व और शून्यता से उसका भेद प्रमाणित करने के उद्देश्य से एपिडॉक्लिस् ने जल-घड़ी की सहायता से एक परीक्षण किया। जल-घड़ी में

एक नली होती है। नली की एक ओर छोटा छेद और दूसरी ओर अनेक छेदोंवाली एक चलनी होती है। पानी में डुबोकर उन्होंने नली को जल से पूरा भर दिया, इसके बाद चलनीवाला सिरा नीचे रखकर, और ऊपर के छेद पर उँगली दबाकर, उन्होंने नली को जल से ऊपर उठाया। तब देखा गया कि चलनी के छेदों से पानी नहीं निकल रहा है। इस परीक्षण से एंपिडॉक्लिस् ने यह निष्कर्ष निकाला कि वायु का अस्तित्व है, इसे स्पर्श किया जा सकता है और इसका दाब भी है। कोई पात्र जब तक वायुपूर्ण रहता है, पानी उसमें प्रवेश नहीं कर सकता, हवा निकलने पर ही जल उसके भीतर जा सकता है।

परीक्षण तथा परीक्षालब्ध तथ्य पर एंपिडॉक्लिस् का इस प्रकार महत्वारोपण, गौर करने की बात है। पाइथागोरस तथा पार्मेनिडिस्-जैसे वैज्ञानिकों और दार्शनिकों की शिक्षा के फलस्वरूप वस्तु-निरपेक्ष बुद्धिवादी दर्शन का प्रभाव क्रमशः बढ़ने लगा और साथ ही परीक्षण तथा अध्ययन की आवश्यकता का बोध धीरे-धीरे घटने लगा। भौतिकवादी एंपिडॉक्लिस् ने विज्ञान-साधना में परीक्षण और प्रेक्षण के महत्त्व को समझाने की चेष्टा की थी और इसके अनादर अथवा उपेक्षा के विरुद्ध चेतावनी दी थी। उनके बाद ल्युसिप्पस्, डिमोक्रिटस्-जैसे परमाणुवादियों और हिपोक्रेटिसपंथी चिंतकों ने वैज्ञानिक खोज के लिए परीक्षण की आवश्यकता के बोध को कुछ दिनों तक जगाए रखा, परंतु प्लेटो के आविर्भाव के बाद इस आदर्श का संरक्षण संभव नहीं रह सका।

आर्किटस्

पाइथागोरस तथा उनके सहयोगियों ने गणित और ज्योतिष संबंधी गवेषणा का जो उच्च मान स्थापित किया था, उसे बनाए रखकर आयोनी ग्रीकों में से जिन लोगों ने विज्ञान के इन विभागों को नई देन से समृद्ध किया, उनमें टैरेंटस् के आर्किटस्, स्नाइडस् के युडॉक्सस् तथा कैलिप्पस् और मैनेक्मस् के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

आर्किटस् ज्यामिति में विशेष पारदर्शी थे। दिए गए किसी घन आयतन के दुगुने आयतन के घन की रचना-पद्धति के आविष्कार के कारण उन्हें ख्याति प्राप्त हुई। आर्किटस् के बहुत पहले से यह 'डेलियन समस्या' के नाम से सुविदित थी। आर्किटस् के पूर्ववर्ती अनेक विख्यात गणितज्ञों ने इस समस्या के समाधान की चेष्टा की थी, परंतु सफल नहीं हो सके थे। 'डेलियन समस्या' के पीछे एक कहानी है। ई० पू० ४३० के लगभग एथेंस में भीषण महामारी

फैल गई थी। एथेंसवासी इस महामारी से मुक्ति पाने के लिए डेलस् के विख्यात एपोलो मंदिर में इकट्ठे हुए और प्रार्थना करने लगे। ऐसे समय एक आकाशवाणी हुई कि एथेंस के एपोलो-मंदिर की घनाकार वेदी का, उससे दुगुने आकार में निर्माण करने से महामारी दूर हो जायगी। लोगों ने एथेंस लौटकर वेदी की लंबाई, चौड़ाई और ऊंचाई को दुगुना करके नई वेदी तैयार की, परंतु महामारी दूर नहीं हुई। लोग फिर डेलस् के एपोलो मंदिर की शरण में गए। फिर यह आकाशवाणी सुनाई दी कि, 'मूर्खों, वेदी का आयतन दुगुना करने की जगह, तुमने उसे आठगुना कर दिया है, फिर महामारी जाय कैसे ?

आर्किटस् ने 'डेलस् की समस्या' का जो ज्यामितीय हल निकाला, वह कुछ जटिल है। ज्यामिति में यह दो माध्यानुपातियों का प्रश्न (The problem of two mean proportionals) नाम से विख्यात है। इस समस्या के समाधान में आर्किटस् की तीक्ष्ण बुद्धि और गहरे ज्यामितीय ज्ञान का परिचय मिलता है।

यंत्र-चालन में विज्ञान के प्रयोग के विषय में भी आर्किटस् ने अनेक गवेषणाएँ कीं। चलित यांत्रिक लट्टू, उड़ती हुई चिड़िया आदि की उन्होंने उद्भावना की। यंत्रों के संबंध में उनके इस उत्साह को अन्य पाइथागोरी अत्यंत निंदा और अवज्ञा की दृष्टि से देखते थे। उनका यह अभियोग था कि इस प्रकार की चेष्टाओं से विज्ञान को कारीगरी के स्तर पर उतारा जा रहा है और विज्ञान की प्रतिष्ठा की हानि हो रही है।

एक नाव-दुर्घटना में आर्किटस् की मृत्यु हुई। इसके बाद पाइथागोरियों ने यह प्रचार किया कि विज्ञान के विशुद्ध और उच्चादर्श से भ्रष्ट होने के दंडस्वरूप उनकी इस प्रकार अकाल मृत्यु हुई।

अणु-तत्त्व : ल्युसिप्पस् और डिमोक्रिटस्

ल्युसिप्पस् और डिमोक्रिटस् ग्रीक अणुतत्व के उद्भावक हैं। ल्युसिप्पस् की वैज्ञानिक रचना की कुछ पंक्तियाँ और डिमोक्रिटस् की रचना के कुछ अंश सुरक्षित हैं। उनकी वैज्ञानिक गवेषणा और मतवाद के विषय में जानकारी मुख्यतः अरस्तू, एपिक्युरस् और रोमन दार्शनिक लुक्रेटियस् के लेखों से मिलती है। एपिक्युरस् (ई० पू० ३४१-२७०) एथेंस में आणविक तत्व के अध्यापक थे; लुक्रेटियस् (ई० पू० ९८-५५) ने रोम में कविता के माध्यम से इस तत्व और दर्शन की व्याख्या की।

ल्युसिप्पस् संभवतः इलिया अथवा माइलेशिया के निवासी थे। आब्डेरा में उन्होंने एक शिक्षालय की स्थापना की। डिमोक्रिटस् के जन्म-स्थान तथा तिथि के विषय में इस प्रकार का अनिश्चय नहीं है। उनका जन्म आब्डेरा में ई० पू० ६४० में हुआ। दोनों ऐनाक्सागोरस् के समसामयिक थे। डिमोक्रिटस् ल्युसिप्पस् से कम उम्र वाले थे और उन्होंने उनसे दर्शन का अध्ययन किया था। दोनों के वैज्ञानिक और दार्शनिक मतवादों में इतना सादृश्य है कि अणु-सिद्धांत के उद्भावन में किसकी कितनी देन है, इसका निश्चय करना संभव नहीं हो सका है।

ग्रीक अणु-सिद्धांत की मूल बात यह है कि जड़जगत् अति क्षुद्र, अपरिवर्तनशील, असंख्य पदार्थ-कणों अथवा परमाणुओं-द्वारा गठित है। परमाणु अनंतकाल से विद्यमान हैं, उनकी न उत्पत्ति होती है और न विनाश। उनमें आकारिक पृथकता होने पर भी प्रत्येक परमाणु की प्रकृति और सारवस्तु एक है। बाहरी गुणसंबंधी जो भेद उनमें दिखाई पड़ता है, वह परमाणु के आकार, आयतन, अवस्थान और गति पर निर्भर है। लोहा, पत्थर आदि कठिन वस्तुओं के भीतर परमाणुओं का निरंतर स्पंदनमात्र होता है, परंतु वायु या अग्नि में वे स्वच्छंद विचरण कर सकते हैं और बीच-बीच में पारस्परिक टक्कर के परिणामस्वरूप प्रतिकर्षित होते हैं।

परमाणु अनंत महाशून्य में और चारों ओर बिना किसी लक्ष्य के भ्रमण करते रहते हैं। इस अवस्था में वे बीच-बीच में एक-दूसरे से टकराते रहते हैं और परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की जटिल गतियों और आवर्तों की सृष्टि होती है। इस आवर्त में समगुणसंपन्न परमाणु पदार्थ की सृष्टि करते हैं; इस प्रकार विभिन्न मौलिक पदार्थों के मिश्रण से वस्तु-समूह और अंत में ब्रह्मांड की उत्पत्ति हुई। इस तरह एकाधिक ब्रह्मांडों का उद्भव होना तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है। स्वाभाविक कारणों से ब्रह्मांड की वृद्धि, क्षय और विनाश होता है। केवल वे ब्रह्मांड ही अंत तक रहते हैं, जो अपने पर्यावरण की अवस्थाओं से सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं। तनिक ध्यान देने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सिद्धांत में लाप्लास् के नीहारिका-सिद्धांत और डार्विन के प्राकृतिक निर्वाचनवाद के आभास मौजूद हैं।

परमाणु-सिद्धांत के अनुसार, ब्रह्मांड और पृथ्वी की उत्पत्ति वस्तुओं की गठन तथा उनके विचित्र गुण और व्यवहार, एक सुसंबद्ध और सुव्यवस्थित, प्राकृतिक कार्य-कारण-नियम के अधीन हैं। ल्युसिप्पस् इस कार्य-कारणवाद के प्रथम

उद्‌घाटनकर्त्ता थे। उन्होंने कहा, बिना कारण कोई घटना नहीं होती और जो कुछ घटित होता है, उसके पीछे कारण और प्रयोजन विद्यमान होते हैं। इस मतवाद ने व्यक्तिनिष्ठ (subjective) अनुभूति और आवेग के आधार पर रचित सभी प्रकार की ब्रह्मांड-परिकल्पनाओं के मूल पर कुठाराघात किया।



चित्र—६६ : डिमोक्रिटस् (अठारहवीं शती में खोदा गया एक काल्पनिक चित्र)।

वस्तुओं के इंद्रिय-लब्ध बाहरी गुणों की स्थूल बुनियाद पर पृथ्वी तथा ब्रह्मांड का एक प्रकार का परिचय मिलता है। वह परिचय रूप-रस-गंधमय, सूर्य-चंद्रालोकोद्‌भासित उदार पृथ्वी का परिचय है। मानव-शिशुओं का क्रीड़ा-क्षेत्र, देवताओं के स्नेह का दान, यह पृथ्वी, मनुष्य की अनुभूति, आवेग तथा भले-बुरे-द्वारा गढ़ी हुई है। परमाणुवादियों ने पृथ्वी तथा ब्रह्मांड के इस प्रकार के परिचय को मिथ्या और अवास्तविक प्रमाणित करना चाहा। उनके मतानुसार कार्य-कारण नियम से उद्‌भूत यह ब्रह्मांड मनुष्य-निरपेक्ष और उसके

प्रति पूर्णतः उदासीन है। अंध अणु-परमाणुओं की गति, आवर्त्त और समन्वय के परिणामस्वरूप इस ब्रह्मांड की सृष्टि हुई है और यह समन्वय शिथिल होने पर उसका विनाश और लय हो जायगा। मानव या जीव के अस्तित्व-अनस्तित्व से उसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। ब्रह्मांड में परमाणु और शून्यता, केवल ये ही सत्य हैं। डिमोक्रिटस् कहा करते थे, "परिपाटी के अनुसार यहाँ कोई चीज मीठी है तो कोई कड़वी, कोई गर्म है तो कोई शीतल और परंपरागत रूढ़ि के अनुसार ही रंग भी हैं। परंतु वास्तव में यहाँ केवल परमाणु और शून्य ही है।"*

आधुनिक आणविक मतवाद तथा भौतिकवादी दर्शन से ल्युसिप्पस् और डिमोक्रिटस् की शिक्षा में समानता है। १८ वीं और १९ वीं शती में डाल्टन, आवोगेद्रो, कैनिजारो आदि वैज्ञानिकों ने जिस आणविक मतवाद की नींव डाली, उससे प्राचीन ग्रीक आणविक तत्व का मुख्य भेद यह है कि प्रथमोक्त वैज्ञानिकों का मतवाद पूर्णतः परीक्षण तथा पर्यवेक्षण पर आधारित है और शेषोक्त वैज्ञानिकों का मतवाद कल्पना और विशुद्ध तर्क-प्रसूत है। रासायनिक परीक्षण-लब्ध जो अमूल्य तथ्य डाल्टन के हाथ लगे थे, वे ल्युसिप्पस्, डिमोक्रिटस् के लिए अकल्पनीय थे। इसके अतिरिक्त यह बात भी ठीक नहीं है कि ल्युसिप्पस् और डिमोक्रिटस् ने इस प्रकार का एक महत्वपूर्ण मतवाद स्वतंत्र रूप से और केवल अंतर्दृष्टि के बल पर चलाया था। थालेस्, ऐनाक्सिमेनेस्, हेराक्लिटस्-जैसे पूर्ववर्ती माइलेशियाई और आयोनी दार्शनिकों की विचारधारा में यह मतवाद अंशतः प्रच्छन्न रूप में विद्यमान है। माइलेशियाई दार्शनिकों की यह धारणा थी कि पदार्थ केवल एक आदिम मौलिक उपादान-द्वारा गठित है। थालेस् के विचार से यह उपादान जल, ऐनाक्सिमेनेस् के अनुसार वायु और हेराक्लिटस् के मत से अग्नि है। जल का भाप बनना और गंध का फैलना देखकर हेराक्लिटस् ने एक अंतहीन अभिवाह (flux) की कल्पना की, यहाँ तक कि उन्होंने यह भी कहा कि इस अभिवाह में असंख्य अदृश्य, गतिशील कणिकाएँ हैं। पाइथागोरियों ने शून्य स्थान की परिकल्पना की थी और ब्रह्मांड को वे पूर्ण-संख्यामय समझते थे। पाइथागोरी शून्यता को बहुतों ने भ्रम से वायु कहा है। पार्मेनिडिस् ने जल-घड़ी के परीक्षण-द्वारा वायु का वास्तविक अस्तित्व प्रमाणित करके इस भ्रम का निराकरण किया। संभवतः इस प्रकार की विचारधारा के विश्लेषण से, बिना किसी लक्ष्य के शून्य में भ्रमित, अति क्षुद्र और अदृश्य पदार्थकणों की धारणा उत्पन्न हुई और 'इस प्रकार के कण

* Dampier, 'A History of Science' p 23.

ही वस्तुओं के प्राथमिक उपादान है, इस बात की प्रथम उपलब्धि ल्युसिप्पस् और डिमोक्रिटस् ने की।

वस्तुओं संबंधी परमाणुवाद अधिक दिन तक स्थायी नहीं रह सका। प्लेटो और अरस्तू की तीव्र विपरीत आलोचना के कारण इस मतवाद का अधिक विकास या प्रसार नहीं हो पाया और विद्वत्समाज में इसे उल्लेखनीय समर्थन नहीं मिल सका। पुनर्जागरण के समय, विशेषतः गैलिलियो के बाद से, इस मतवाद के प्रति वैज्ञानिकों की दृष्टि पुनः आकृष्ट हुई। प्लेटो और अरस्तू की आक्रमणात्मक आलोचना के कारण परमाणुवाद की अकाल मृत्यु न हुई होती तो रसायन और पदार्थविद्या की प्रगति में अधिक तेजी आती या नहीं, यह कौन कह सकता है?

ज्यामिति, गणित और ज्योतिष में हमें डिमोक्रिटस् की खोज-बीन का पता मिलता है। ज्यामिति और गणित में वे विशेष पारदर्शी थे। किसी पिरामिड या शंकु के आधार पर समान ऊँचाई के प्रिज्म या सिलिंडर का निर्माण किया जाय तो उस शंकु या पिरामिड का घन, प्रिज्म या सिलिंडर के घन का एक तिहाई भाग होगा—इस प्रकार का एक साध्य डिमोक्रिटस् ने प्रस्तुत किया था। इसका उल्लेख आर्किमीडिस् ने स्वयं किया है। युडॉक्सस् से पहले इस साध्य का विश्वसनीय प्रमाण किसी ने प्रस्तुत किया था, इसमें संदेह है। कहा जाता है कि डिमोक्रिटस् ने इसका एक प्रमाण प्रस्तुत किया था, परंतु आर्किमीडिस् के अनुसार वह पर्याप्त नहीं है।

ज्योतिष में डिमोक्रिटस् पूर्णतः एनाक्सागोरसपंथी थे। नक्षत्र प्रस्तर-खंड हैं, सूर्य प्रज्वलित प्रस्तर है, चंद्रमा में पहाड़, घाटी गुहाएँ आदि हैं, एक प्रकार के पृथ्वी के दूसरे गोलार्द्ध के नीचे सूर्य के अस्त होने पर, नक्षत्र मंडल पर पृथ्वी की जो छाया पड़ती है, वही आकाश-गंगा है, इत्यादि ऐनाक्सागोरस के विभिन्न ज्योतिषीय मतों तथा विचारों पर उन्हें विश्वास था।

ग्रीक चिकित्सा-विज्ञान को प्रारंभिक बातें : अलकमाओन, एंपिडॉक्लिस् और हिपोक्रेटिस्

ज्यामिति, गणित और ज्योतिष की भांति चिकित्सा-विज्ञान का इतिहास भी बहुत प्राचीन है। पृथ्वी पर मनुष्य के आविर्भाव के बाद से ही, शरीर के विकारों, रोगजनित यंत्रणा और जरा-मृत्यु के साथ उसका परिचय है। जैव धर्म की प्रेरणा से, व्याधिमुक्त होने की उसकी इच्छा स्वाभाविक है, परंतु विज्ञान के अन्य विभागों पर चिकित्सा-विज्ञान की नितांत निर्भरता के कारण

पदार्थ-विज्ञान, रसायन, वनस्पति तथा जीवविज्ञान का एक विशेष स्तर तक विकास न होने तक, चिकित्साविज्ञान की प्रारंभिक उन्नति भी संभव नहीं है। तथापि व्याधि आज जितनी पीड़ादायक है, प्रागैतिहासिक युग के मनुष्य के लिए भी उतनी ही पीड़ादायक थी। रोग की यंत्रणा में असहाय मनुष्य को देव-देवियों, मंत्र और जादू-विद्या की शरण लेने को मजबूर होना पड़ा। इसलिए चिकित्सा-विद्या में, झाड़-फूँक, मंत्र-तंत्र, याग-यज्ञ, जादूगरी, कवच और तावीज़ का प्राधान्य हमें दिखाई पड़ता है। ज्ञान-विज्ञान में पिछड़े हुए जन-समुदाय में आज भी इनकी यह प्रधानता कुछ अंशों में बनी हुई है।

फिर भी उन्हीं में से कुछ विचक्षण और बुद्धिमान् लोगों ने कतिपय साधारण रोगों की पुनरावृत्ति को देखकर, उनके लक्षणों को समझना और पहचानना सीखा और उन रोगों के उपचार के लिए विभिन्न वनस्पतियों के गुणों का उपयोग करने के थोड़े-बहुत उपाय ढूँढ़ निकाले। सैकड़ों वर्षों के इस प्रकार के अनुभव से धीरे-धीरे एक प्रकार का चिकित्साशास्त्र अपने-आप बनकर तैयार हो गया। प्राचीन सभ्यता के कुछ आदि केंद्रों में, जैसे बेबीलोन, मिस्र, भारत और चीन में, चिकित्साशास्त्र के अंकुरित होने के प्रथम दृष्टांत मिलते हैं। इस बात की चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

चिकित्सा में ग्रीकपूर्व जातियों का ग्रीकों पर ऋण

ज्यामिति, ज्योतिष और गणित की भांति चिकित्साविद्या भी ग्रीकों ने ग्रीक-पूर्व प्राचीन सभ्य जातियों से प्राप्त की। ई० पू० ६ठी शती से लेकर, दूसरी ईस्वी शती तक लगातार ८ सौ वर्ष ग्रीकों ने इस विद्या की चर्चा की और इसकी बहुत उन्नति भी की। यूरोपीय पंडितों का मत है कि ग्रीकों के पहले चिकित्सा-विद्या के अस्तित्व के दृष्टांत मिलने पर भी, विज्ञानसम्मत ढंग से इसकी चर्चा ग्रीकों के काल से ही आरंभ हुई और आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की नींव ग्रीकों ने ही डाली।* चिकित्सा-विज्ञान में ग्रीक देन की उत्कृष्टता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परंतु यह कहना कि इस विज्ञान की नींव डालने का सारा श्रेय ग्रीकों का ही है, ऐतिहासिक सत्य को झुठलाना है। कम से कम भारत और चीन में ग्रीकों के पहले और ग्रीक-प्राधान्य के काल में, विज्ञान-सम्मत उपाय से चिकित्साविद्या की बड़ी उन्नति हुई थी, यह हम देख चुके हैं। ग्रीक चिकित्साशास्त्र के जन्मदाता हिपोक्रेटिस् से बहुत पहले

* Charles Singer, 'A Short History of Medicine', Oxford; p. 1-2.

भारतीय चिकित्सकों ने शल्यविद्या में जो आश्चर्यजनक उन्नति की थी, उसे पाश्चात्य पंडितों में से बहुतेरे अब स्वीकार करते हैं।

ग्रीक चिकित्सा विद्या की इस ख्याति का प्रधान कारण यह है कि बाद में, विशेषतः १५वीं और १६वीं शती के बाद, यूरोप में जब इस विद्या की चर्चा नए सिरे से शुरू हुई, तो उसे मुख्यतः ग्रीक चिकित्सा का ही अवलंबन प्राप्त था। यूरोपीय मनीषियों को अरबों की मध्यस्थता से, इस चेष्टा के प्राथमिक उपकरण के रूप में ग्रीक चिकित्सा विद्या ही सुलभ हुई थी। यूरोप की भांति चीन और भारत में पुनर्जागरण का युग नहीं आया। इसलिए अपनी प्राचीन विद्या के आधार पर उसे और उन्नत करने की सुविधाएँ वे प्राप्त नहीं कर सके। यदि ऐसा हुआ होता, या यूरोपीय मनीषियों को ही ग्रीक चिकित्सा-विज्ञान के स्थान पर भारतीय या चीनी चिकित्साविज्ञान के ग्रंथ सुलभ होते, तो ग्रीक चिकित्साविज्ञान के विषय में आज तो कुछ कहा जाता है, वही बात यूरोपीय पंडित भारतीय या चीनी विज्ञान के विषय में कहते। प्राचीन काल की विभिन्न सभ्यताओं के आश्रय में स्वतंत्र रूप से ज्ञान-विज्ञान की जो उन्नति हुई थी, उसका निष्पक्ष विचार करने के लिए इस बात का स्मरण रखना नितांत आवश्यक है।

जो भी हो, अभी तो ग्रीक चिकित्साविद्या के उद्भव और क्रम-विकास का इतिहास ही हमारा आलोच्य विषय है। ई० पू० १००० तक भूमध्य सागर के तटवर्ती प्रदेशों में मिनोआन नामकी एक सभ्य जाति का निवास था। पुरातात्विक खोजों के परिणामस्वरूप, इस मिनोआन-सभ्यता के विषय में अनेक नए तथ्य संप्रति आविष्कृत हुए हैं और होमर के इलियड की भी एक नई ऐतिहासिक व्याख्या संभव हो सकी है। ट्राय पर घेरा डालने के विषय में पुरातात्विकों का खयाल है कि यह ग्रीकों-द्वारा मिनोआनियों के किसी सुदृढ़ और सुरक्षित गढ़ पर आक्रमण की घटना है। नवागत ग्रीक जाति में दो शाखाओं के प्राधान्य का परिचय मिलता है। इनमें से एक शाखा डोरिक ग्रीकों की थी, जो यूरोप के मूल भूखंड से आकर क्रीट, कॉस, स्नाइडस् आदि भूमध्यसागरीय टापुओं में बस गई, और दूसरी आयोनी ग्रीकों की थी, जिन्होंने एशिया माइनर के पश्चिमी समुद्र-तट पर बस्तियाँ स्थापित कीं। न केवल चिकित्साविद्या, बल्कि विज्ञान की अन्य शाखाओं में भी उन्नति करने का श्रेय इन दोनों ग्रीक शाखाओं को प्राप्त है। कॉस, स्नाइडस् और एशिया माइनर में ग्रीक चिकित्साविद्या का जो बीज पहले-पहल अंकुरित हुआ, वह बढ़ता-फैलता

गया और उसका समग्र ग्रीक जगत् पर और बाद में अन्य सभ्यताओं पर भी गहरा प्रभाव पड़ा।

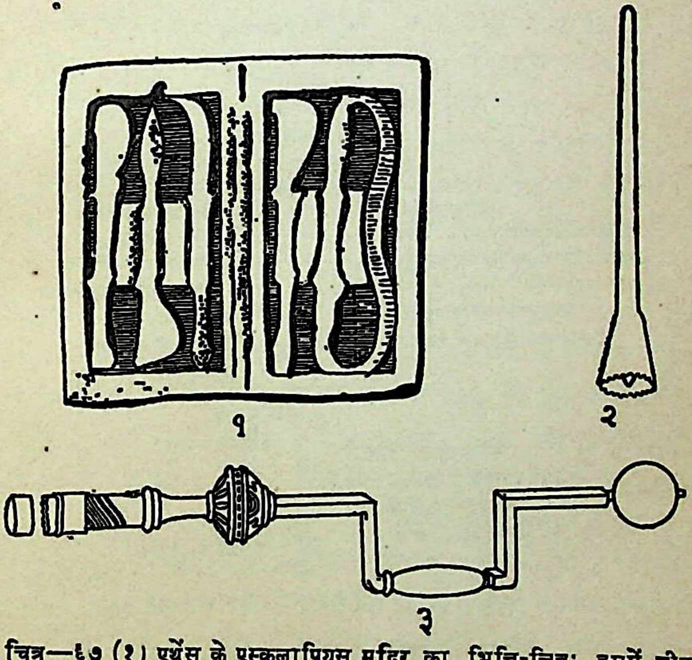
ग्रीकों ने मिनोआन जाति पर विजय प्राप्त की, परंतु अपनी चिकित्सा-विद्या के लिए वे मिनोआनी सभ्यता के बहुत ऋणी हैं। हमें यह जानकारी मिलती है कि इस विद्या की प्रथमावस्था में चिकित्सा का प्रतीक था सर्प। मिनोआनी धर्म में सर्प का एक विशेष स्थान था। उनमें साँप की पूजा प्रचलित थी और इसके अनेक प्रमाण पुरातात्विकों ने प्राप्त किए हैं। इसलिए ग्रीक चिकित्साविद्या के आरंभ में चिकित्सा के साथ साँप जिस तरह विभिन्न रूपों में जुड़ा हुआ पाया जाता है, वह ग्रीकों पर मिनोआनी सभ्यता के प्रभाव का ही द्योतक है। स्वास्थ्य-रक्षा के विषय में अनेक प्रकार के ज्ञान और धारणाएँ ग्रीकों ने मिनोआनियों से प्राप्त कीं। मिनोआनियों ने नगर की गंदगी और गंदे पानी के निकास की बहुत उत्तम व्यवस्था की थी।

ग्रीक सभ्यता पर असीरियाई और बेबीलोनी सभ्यताओं की भी स्पष्ट छाप है। इन दोनों सभ्यताओं से पश्चिमी एशिया माइनर के औपनिवेशिक आयोनी ग्रीकों का प्रथम संपर्क हुआ। ताइग्रिस और यूफ्रेतिस घाटी की सभ्य जातियों की पर्यवेक्षण-ख्याति इतिहास-प्रसिद्ध है। वर्षों तक परम धैर्य के साथ लगे रहकर, उन्होंने विभिन्न विषयों में, विशेषकर ज्योतिष और चिकित्सा-शास्त्र में, अनेक मूल्यवान तथ्यों का आविष्कार किया। पुरातात्विक खोजों के परिणामस्वरूप असीरिया तथा बेबीलोन-निवासियों-द्वारा शल्य-क्रिया के लिए उपयोगी विभिन्न यंत्रों के निर्माण की जानकारी मिली है। जीव-शरीर की भीतरी गठन के विषय में भी बेबीलोनियों ने काफी छान-बीन की। दो हजार वर्ष पुराना मिट्टी का एक ढाँचा मिला है, जो भेड़ के यकृत् की तरह निर्मित है। वर्तमान समय में यह ढाँचा ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित है। असीरिया और बेबीलोनिया की इस तरह की उन्नत चिकित्साविद्या ने स्वभावतः आयोनी ग्रीकों को प्रभावित किया। ग्रीकों ने जिस प्रकार उनसे वैज्ञानिक पद्धति और तथ्य आदि उपलब्ध किए, उसी प्रकार उनके धार्मिक विश्वासों और कुसंस्कारों की छूत से भी वे नहीं बच सके। ग्रीक विज्ञान में बेबीलोनी विज्ञान के साथ-साथ बेबीलोनी कुसंस्कारों को भी स्थान मिला है।

ग्रीक चिकित्सा-विद्या मिनोआनी और बेबीलोनी सभ्यता के अतिरिक्त मिस्री सभ्यता की भी ऋणी है। अनेक औषधियों और भेषजों का ज्ञान ग्रीकों ने मिस्रियों से सीखा। चिकित्सा संबंधी नीति-ज्ञान भी उन्होंने मिस्र से प्राप्त

किया। ग्रीक चिकित्साविद्या पर मिस्री चिकित्साविद्या के प्रभाव का एक और उल्लेखनीय प्रमाण यह है कि जिस प्रकार मिस्रियों ने इम्होटेप नामक चिकित्सक को देवता के आसन पर प्रतिष्ठित कर उनकी पूजा की व्यवस्था की थी, उसी प्रकार ग्रीक भी अपने पौराणिक चिकित्सक एस्कुलापियस् की पूजा देवता के रूप में करते थे। इम्होटेप् और एस्कुलापियस्, दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति थे और दोनों का देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित किया जाना, ग्रीकों पर मिस्री सभ्यता के प्रभाव का चिह्न है।

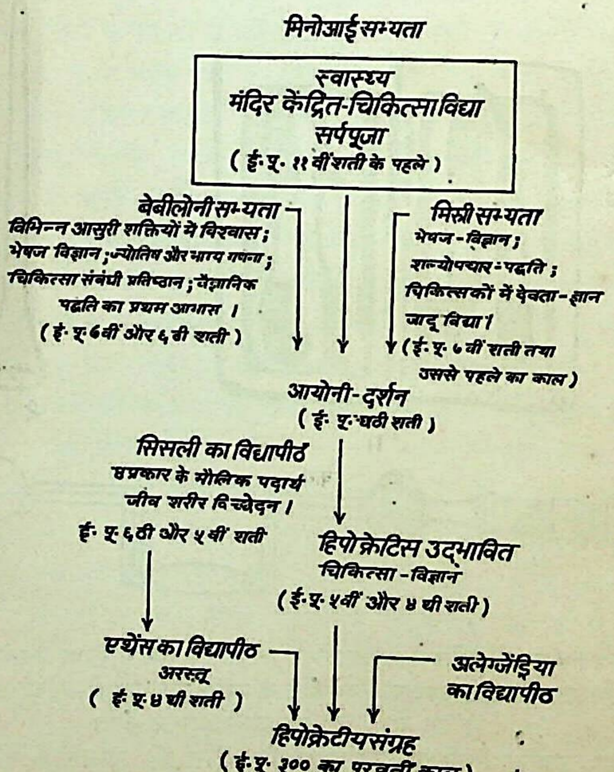
ग्रीक चिकित्साशास्त्र पर फारसी और भारतीय चिकित्साशास्त्र के थोड़े-बहुत प्रभाव का उल्लेख मिलता है। परंतु इस प्रभाव का रूप क्या था और परिमाण कितना था, इस विषय में निश्चयात्मक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। हिपोक्रेटिस् की वायु संबंधी एक पुस्तिका (Treatise on Winds) में हिंदू चिकित्साविद्या का कुछ आभास मिलता है।



चित्र—६७ (१) एथेंस के एस्कुलापियस मंदिर का भित्ति-चित्र; इसमें ग्रीककाल में व्यवहृत शल्यक्रिया के उपयोगी कुछ यंत्रों के नमूने खुदे हुए हैं। (२) एक साधारण ट्रिफिन यंत्र। (३) एक उन्नत ट्रिफिन यंत्र।

इस प्रकार मिनोआन, बेबीलोन तथा मिस्र की सभ्यताओं के संपर्क में आकर, एशिया माइनर के आयोनी ग्रीकों ने और भूमध्यसागरीय कॉस्,

स्नाइडस् आदि टापुओं के डोरिक ग्रीकों ने अपनी पूर्ववर्ती सभ्य जातियों के चिकित्सा संबंधी विविध तथ्य तथा अभिज्ञताएं प्राप्त कीं। इन बिखरे हुए तथ्यों, ज्ञान तथा अभिज्ञताओं को एक शृंखला में बाँधकर और सुसंबद्ध कर, एक स्वयं-संपूर्ण विद्या में रूपान्वित करने का श्रेय निस्संदेह ग्रीकों को प्राप्त है। ईसापूर्व ७ वीं शती के अंतिम भाग में क़ास् और स्नाइडस् में हम ग्रीकों को चिकित्सा संबंधी मामलों की, दर्शन और शास्त्र के रूप में, चर्चा करते हुए देखते हैं। ईसापूर्व छठी और पाँचवी शती में इस विद्या का स्तर काफी ऊँचा हो गया था और सारे ग्रीक-विचार तथा ज्ञान-जगत् में इसे एक विशिष्ट स्थान प्राप्त था। ईस्वी दूसरी शती तक, इतिहास में ग्रीक चिकित्सा विज्ञान की अक्षुण्ण धारा दिखाई पड़ती है। ग्रीक चिकित्सा पर अन्य सभ्यताओं का प्रभाव और इस विद्या के क्रम-विकास की धारा, नीचे नक्शे के रूप में दिखाई जा रही है।



चित्र—१८ : हिपोक्रेटीय चिकित्सा-विद्या के ऐतिहासिक विकास का नक्शा

इससे स्पष्ट है कि ग्रीक चिकित्साविद्या अनेक ग्रीक मनीषियों की कई सौ वर्षों की अथक साधना का फल है। उन मनीषियों में से बहुतेरों की स्मृति विलुप्त हो चुकी है। जिन थोड़े से व्यक्तियों के बारे में हमें जानकारी है, वह भी बहुत अधूरी है। इन थोड़े से मनीषियों में से अल्कमाओन, एंपिडॉक्लिस् और हिपोक्रेटिस् के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कहना तो यह चाहिए कि ये तीनों ही ग्रीक चिकित्साविद्या के संस्थापक हैं।

अल्कमाओन और एंपिडॉक्लिस्

क्रोटन के अल्कमाओन (ई०पू० ५००) भ्रूणविज्ञान-वेत्ता थे। शल्य-चिकित्सा और जीव शरीर के विच्छेदन-कार्य में उनकी निपुणता का परिचय मिलता है। दृष्टि-तंत्रिका (optic nerve) का उन्होंने आविष्कार किया। वे मानते थे कि मस्तिष्क ही समस्त अनुभूतियों और मनन-शक्ति का केंद्र है।

शरीर-क्रिया संबंधी एंपिडॉक्लिस् के कुछ शोध ध्यान देने योग्य हैं। उनका कहना था कि खून हृदय से और हृदय की ओर प्रवाहित होता है। प्रत्येक पदार्थ जल, वायु, अग्नि और मिट्टी, इन चार मूल उपादानों के संमिश्रण से गठित है, इस प्राचीन ग्रीक मत का प्रचार पहले-पहल एंपिडॉक्लिस् ने किया। चिकित्सा में इस मत का उपयोग करके, उन्होने कहा कि, इन चारों मूल उपादानों का संतुलन ज्यों का त्यों बनाए रखने से स्वास्थ्य ठीक रहता है, किसी भी कारण से इस संतुलन में कमी-बेशी होने से व्याधि की उत्पत्ति होती है। ग्रीक चिकित्सा-विद्या इस मत से बहुत समय तक प्रभावित रही थी।

हिपोक्रेटिस् और हिपोक्रेटीय संग्रह

हिपोक्रेटिस् ग्रीक चिकित्सा-विज्ञान के गुरु और पाश्चात्य चिकित्सा के जनक थे। उनके द्वारा प्रदर्शित नीति और पद्धति ने सदा के लिए इस विज्ञान का ऊँचा मान निर्धारित कर दिया। केवल चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि समग्र रूप से वैज्ञानिक गवेषणा के क्षेत्र में उस महामनीषी ने जिस आदर्श और वाणी का प्रचार किया, उसकी तुलना कठिन है।

हिपोक्रेटिस् की रचना के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उनके नाम पर प्रचलित अनेक ग्रंथों और रचनाओं का पता लगा है, परंतु कौन से ग्रंथ हिपोक्रेटिस्-द्वारा रचित हैं और कौन से अन्य चिकित्सा-वैज्ञानिकों-द्वारा, इसका निश्चय इतिहासकार बहुत छान-बीन और परिश्रम के बावजूद अब तक नहीं कर सके हैं। हिपोक्रेटीय चिकित्सा-संग्रह के नाम से जो विशाल ग्रंथ-समूह अब तक चला आया है, वह मूलतः विभिन्न समयों तथा देशों के हिपोक्रेटिस्पंथी चिकित्सकों की दीर्घकालीन अभिज्ञताओं और पर्यवेक्षणों

का फल है। इन ग्रंथों में अभिव्यक्त विरोधी मतों और असंलग्न चर्चाओं से इस बात का अकाट्य प्रमाण मिलता है कि यह संग्रह विभिन्न हाथों की रचना है। फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि इन रचनाओं की अंतर्निहित वाणी, नीति और उपदेश एक है और उनका आदर्श भी एक ही है। प्रत्येक ग्रंथ एक समान-नीति, आदर्श और पद्धति की ओर इंगित करता है और इस मूल विषय में उस संग्रह में कहीं भी कोई असंगति नहीं दिखाई देती। उस नीति, आदर्श और पद्धति के साथ हिपोक्रेटिस् का नाम अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। हिपोक्रेटिस् के स्वरचित ग्रंथ या रचनाओं के विषय में चाहे जितना अनिश्चय हो, परंतु इस विषय में कोई संशय नहीं है कि इस संग्रह की मूल और प्राथमिक प्रेरणा उन्होंने ही दी।

संक्षिप्त जीवनी : हिपोक्रेटिस् की रचनाओं के संबंध में भले ही अनिश्चय हो, किंतु वे स्वयं ऐतिहासिक व्यक्ति थे। ई० पू० ४६० के लगभग कॉस् टापू में उनका जन्म हुआ और ई० पू० ३७७ और ३५९ के बीच किसी समय उनकी मृत्यु हुई। यदि ई० पू० ३५९ में उनकी मृत्यु हुई हो तो उस समय उनकी अवस्था १०१ वर्ष की थी। चिकित्सकों के लिए इस प्रकार का दीर्घ जीवन असंभव नहीं है। हिपोक्रेटिस् परिव्राजक-जीवन व्यतीत करते थे। कॉस्, थिब्स, एथेंस, थ्रेस, थेसाली आदि विभिन्न स्थानों में उनके कर्मरत जीवन का उल्लेख मिलता है। प्लेटो ने, जो उनके समसामयिक और उम्र में उनसे छोटे थे, अपनी रचना में हिपोक्रेटिस् के संबंध में श्रद्धापूर्ण उल्लेख किया है। हिपोक्रेटिस् के शिष्यों में उनके दो पुत्र और जामाता भी थे। अरस्तू ने इस जामाता के कार्यों का उल्लेख किया है। थेसाली में हिपोक्रेटिस् की कब्र का पता चला है।

हिपोक्रेटिस् के जीवन-काल में निर्मित उनका कोई चित्र या मूर्ति नहीं मिलती। उनकी मृत्यु के बहुत बाद ग्रीकों ने अपने इस प्राचीन प्रिय चिकित्सक की एक कल्पित मर्मर-मूर्ति तैयार की। वास्तविक हिपोक्रेटिस् से इस कल्पित मूर्ति का कोई सादृश्य हो या न हो, परंतु ग्रीक अपने प्रिय तथा आदर्श चिकित्सक को जिस रूप में देखना चाहते थे, यह मूर्ति उसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अविचलित, सौम्यमूर्ति और न्याय-परायणता तथा ज्ञान के प्रतीक, इस प्रस्तर मूर्ति से हिपोक्रेटिस् नामधारी उस मानव-चरित्र का पूरा सामंजस्य दीख पड़ता है, जिसका परिचय हमें हिपोक्रेटीय संग्रह के माध्यम से मिलता है। युग-युग में मनुष्य इसी मूर्ति के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करेगा।

हिपोक्रेटिस की चिकित्सा-पद्धति का सार है पर्यवेक्षण और परीक्षण। चिकित्सा-व्यवस्था में परीक्षण और पर्यवेक्षण का आदर्श प्रचलित करके उन्होंने एक क्रांति ला दी। जादू और मंत्र के पंजे से छुड़ाकर, चिकित्सा विद्या को उन्होंने वास्तविक विज्ञान के आदर्श पर ढाला। मत और सिद्धांत के साथ उन्होंने पर्यवेक्षण और प्रायोगिक अभिज्ञता का मिलन कराया। उन्होंने बताया कि केवल कल्पना और बुद्धि-द्वारा चिकित्सा-समस्या का समाधान असंभव है, इसके लिए अविराम परीक्षण और प्रायोगिक अभिज्ञता आवश्यक है। वे इस मत के प्रचारक थे कि 'क्यों होता है ?' इस प्रश्न के स्थान पर, 'कैसे होता है ?' इस प्रश्न के समाधान-द्वारा चिकित्सा-विज्ञान की वास्तविक उन्नति होगी। जो 'क्यों ?' के प्रश्न को लेकर मग्ज-पच्ची करना चाहते थे, उन्हें वे नभो-मंडल और भू-गर्भ के जटिल रहस्यों के विषय में गवेषणा करने का परामर्श देते थे। परंतु चिकित्सा-संबंधी गवेषणा में सफल होने के लिए उन्होंने यह मत प्रकट किया कि चिकित्सा-वैज्ञानिक को उन निर्भर-योग्य तथ्यों और पद्धतियों के आधार पर आगे बढ़ना होगा, जिनका संचय बहुत समय और बहुत से लोगों की वास्तविक अभिज्ञता और पर्यवेक्षण के परिणामस्वरूप हुआ है। हिपोक्रेटिस् ने इस आदर्श का पालन स्वय अपनी गवेषणा और रचना में बड़ी निष्ठा के साथ किया। अनेक रोगों की गति, परिवर्तन और परिणति का, लगातार कई सप्ताह तक अध्ययन करने के बाद उनका वर्णन उन्होंने त्रुटिहीन रूप में किया है। ये विवरण अतिशयोक्ति-विहीन हैं और उन पर कुसंस्कार-जनित मत का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। हिपोक्रेटिस् के वैज्ञानिक मानस का यह श्रेष्ठ परिचय है। इतना ही नहीं, इस प्रकार का त्रुटिहीन, निर्दोष वर्णन चिकित्साशास्त्र के २ हजार वर्षों के इतिहास में भी विरल है। इस प्रकार के एक विवरण का दृष्टांत नीचे दिया जा रहा है।

''आरिस्टियन के साथ जो महिला रहती थी, उसके गले में जलन होने लगी। पहले उसकी जीभ में दर्द शुरू हुआ, आवाज लड़खड़ाने लगी, जीभ लाल और सूखी हो गई। पहले दिन शरीर की कंपकंपी और ज्वर का आविर्भाव हुआ। तीसरे दिन जाड़ा और भीषण ज्वर। गला और सीने के दोनों ओर के हिस्से सख्त और लाल होकर सूज गए। अंग-प्रत्यंग ठंडे और रंगविहीन हो गए। सांस तेज हो गई। नाक के रास्ते पानी बाहर निकलने लगा। महिला कोई चीज निगल नहीं पाती। अँतड़ी और मूत्राशय से निकास

बंद हो गया। चौथे दिन सभी लक्षणों ने कठिन रूप धारण कर लिया और पाँचवें दिन महिला की मृत्यु हो गई।"*

उपर्युक्त वर्णन डिप्थीरिया रोग का एक उदाहरण है। किसी आधुनिक चिकित्सक के लिए भी इस रोग का, इससे अधिक संक्षिप्त और अधिक उत्कृष्ट विवरण देना कठिन है।

हिपोक्रेटीय संग्रह में शल्य-चिकित्सा का विशद विवरण है। 'शल्य-क्रिया संबंधी वस्तुओं के विषय में' (Concerning the Things in Surgery) शीर्षक एक छोटे नोट बुक में शल्यक्रिया संबंधी जिन व्यवस्थाओं और उपदेशों का वर्णन मिलता है, वे विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। इन व्यवस्थाओं और उपदेशों पर आधुनिकता की प्रबल छाप है। शल्यक्रिया का कमरा कैसा होना चाहिए, वहाँ कौन-सी व्यवस्थाएँ अपरिहार्य हैं, शल्य-चिकित्सक को किन बातों में सावधानी बरतनी चाहिए आदि अनेक आवश्यक विषयों के विवरण पूरे ब्योरे के साथ दिए हुए हैं। इस विवरण का एक छोटा अंश (हिंदी अनुवाद) नीचे उद्धृत किया जा रहा है।

'शल्य-चिकित्सा के आवश्यक अंग हैं - रोगी, शल्य-चिकित्सक, सहयोगी-गण, यंत्रादि, दीपक और किस प्रकार से कहां उसे रखा जाना है, इसकी व्यवस्था तथा रोगी का शरीर और यंत्रों को क्रमबद्ध रखने की व्यवस्था। शल्य-चिकित्सक को किसी ऐसे सुविधाजनक स्थान पर खड़ा होना या बैठना होगा, जहां से रोगी के शरीर के जिस स्थान पर शल्य-क्रिया की जानी है, वह अच्छी तरह दिखलाई दे और स्वाभाविक या कृत्रिम, या तिरछे सब प्रकार से प्रकाश का प्रयोग किया जा सके।

शल्य-चिकित्सक के लिए भी अनेक मूल्यवान निर्देश हैं।

'(चिकित्सक व।) नाखून उंगली से बहुत आगे निकला हुआ या बहुत छोटा नहीं होना चाहिए। उंगली के सिरे का प्रयोग करने का अभ्यास करो। शल्योपचार की सब प्रकार की क्रियाएँ, एक हाथ से और दोनों हाथों से साथ-साथ संपन्न करने का अभ्यास करो। दक्षता, शीघ्रता, वेदनाहीनता, सफाई और तत्परता की प्राप्ति तुम्हारा उद्देश्य होना चाहिए। जो रोगी की देखरेख के कार्य में नियुक्त हैं, उन्हें चाहिए कि शल्यक्रिया के लिए आवश्यक यंत्र आदि मांगते ही तुम्हारे पास पहुँचा दें, रोगी के शरीर को

* Charles Singer, 'A Short History of Medicine'; p. 24.

कड़ाई के साथ पकड़ें रहें और उसे हिलने-डुलने न दें, मौन रखें, अपने से वड़े कर्मचारियों की आज्ञा का पालन करें।'

इन वातों में कठोर नियम-पालन का निर्देश है। आधुनिक शल्यक्रिया की गृह-व्यवस्था तथा विधि-नियमों से उनका घनिष्ठ सादृश्य ध्यान देने योग्य है।

चोट लगने के कारण खोपड़ी में हुए घाव पर शल्यक्रिया के विषय में, 'सिर के जख्मों के विषय में' (On the Wounds of the Head) नामक ग्रंथ में अनेक निर्देश मिलते हैं। गंभीर चोट लगने पर खोपड़ी की हड्डी टूट जाय तो टूटी हड्डी को खोदकर निकालना पड़ता है। इस प्रकार की शल्य-क्रिया का नाम 'ट्रिफाइनिंग' है और इस कार्य में व्यवहृत यंत्र का नाम 'ट्रिफिन'। यह एक प्रकार की गोल आरी है। इसके मध्य भाग में एक नुकीला काँटा जुड़ा होता है। खोपड़ी के जख्म पर ट्रिफिन रखकर हथेली घुमाने से, यह आरी हड्डी को गोलाकार काटकर निकाल लेगी। इस कार्य में विशेष दक्षता और सावधानी आवश्यक है। ट्रिफिन की सहायता से शल्योपचार के समय शल्य-चिकित्सक को किन विषयों में सतर्क रहना चाहिए, उक्त ग्रंथ में इसका विस्तृत विवरण मिलता है।

हिपोक्रेटिस् के वचन : हिपोक्रेटीय संग्रह में हिपोक्रेटिस् के वचन विशेष महत्त्व रखते हैं। अनुमान किया जाता है कि ये वचन हिपोक्रेटिस् ने स्वयं लिखे थे। ये एक निपुण चिकित्सक की दीर्घ अभिज्ञता के परिणाम हैं। ये वहुत संक्षेप में, साधारण तौर पर लिखे गए हैं और संभवतः हिपोक्रेटिस् की वृद्धावस्था की रचना हैं। नीचे इन वचनों के कुछ नमूने दिए जा रहे हैं।

'जीवन की अवधि थोड़ी है और कला-कौशल के अर्जन का काल दीर्घ है; विपदा क्षणस्थायी होती है; परीक्षण की जिम्मेदारियाँ हैं; कर्त्तव्य निर्धारित करना बहुत कठिन काम है। केवल इतना ही नहीं कि चिकित्सक को कर्त्तव्य-पालन के लिए तैयार रहना होगा, बल्कि रोगी, सहकारी-समुदाय और वाह्य वातावरण, इन सभी चीजों पर आरोग्य-लाभ निर्भर है।'

'किसी कारण के बिना थकावट, रोग का लक्षण है।' 'दुबले-पतले व्यक्ति की तुलना में स्थूलकाय व्यवित की आकस्मिक मृत्यु की कहीं अधिक संभावना है।'

'रोग में निद्रा हानिकारक हो तो इसे गंभीर और घातक लक्षण समझा जाना चाहिए।'

'लंबी बीमारी के बाद उत्तम भोजनादि के बावजूद शरीर की पुष्टि न होना कुलक्षण है।'

'१८ से लेकर ३५ वर्ष की अवस्था के बीच क्षयरोग के आक्रमण की अधिक संभावना होती है।

'धनुष्टंकार रोग से आक्रांत व्यक्ति की या तो ४ दिन के भीतर मृत्यु हो जायगी या यदि वह ४ दिन तक जीवित रह जाय तो स्वस्थ हो जायगा।'

'४० वर्ष से ६० वर्ष की अवस्था के व्यक्ति मृगी रोग (apoplexy) के शिकार होते देखे जाते हैं।'

हिपोक्रेटीय शपथ : अंत में हिपोक्रेटीय शपथ के सबंध में कुछ कहना आवश्यक है। चिकित्सा के पेशे में प्रवेश करने के ठीक पहले प्रत्येक शिक्षार्थी को यह शपथ लेनी पड़ती थी। आज भी सभी देशों में शपथ ग्रहण करने की व्यवस्था प्रचलित है। हिपोक्रेटीय शपथ-रचना के ठीक काल का निर्णय नहीं हो सका है। जिस रूप में आज यह शपथ हमें मिलती है, उसकी रचना निस्संदेह हिपोक्रेटिस् के बहुत बाद हुई होगी। इस शपथ के कुछ अंश हिपोक्रेटिस् से पहले रचित हुए थे, कुछ विद्वानों का ऐसा भी खयाल है। ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दी के मिस्री पपीरस में इसका कुछ अंश मिलता है। शपथ की रचना का समय जो भी हो, परंतु हिपोक्रेटिस्-पंथी चिकित्सक जिस महान आदर्श और सेवाव्रत-द्वारा प्रेरित हुए थे, यह शपथ उसका एक प्रमाण है और इसी में उसका महत्त्व है। चिकित्साशास्त्र का अध्येता बनने से पहले छात्र कहता था :

"सब देव-देवियों को साक्षी मानकर, सर्व-रोग-हर ऐपोलो के नाम पर मैं यह शपथ लेता हूँ कि इस शपथ का तथा इसकी लिखित शर्तों का, मैं अपने विचार और बुद्धि के अनुसार, यथाशक्ति पालन करूँगा।"

"जिन्होंने मुझे यह शिक्षा दी है, उन्हें मैं अपने माता-पिता के तुल्य मानूँगा। आवश्यकता होने पर मैं अपनी उत्तम वस्तुओं को उनके साथ बांट लूँगा और उनकी जरूरत की चीजें इकट्ठी कर दूँगा। उनकी संतान को मैं अपना भाई समझूँगा और उन्हें इस विद्या के अध्ययन की अभिलाषा होगी तो विना वेतन या विना शर्त के मैं उन्हें यह विद्या सिखाऊँगा। अनुशासन, वक्तृता और हर प्रकार के अध्यापन के द्वारा मैं न केवल अपनी संतान को, बल्कि अपने अध्यापक की संतान को और इस प्रकार की शपथ तथा शर्तों से बंधे हुए अन्य छात्रों को भी, चिकित्सा सबंधी कानूनों के अनुसार विद्यादान करूँगा।"

"मैं जिस पथ्यापथ्य का निर्देश दूँगा, वह मेरी योग्यता और विचार-बुद्धि के अनुसार रोगी के हित में होगी, उसके अपकार या हानि के उद्देश्य से नहीं। माँगने पर भी मैं किसी को प्राणघाती औषधि या ऐसी किसी औषधि के विषय में परामर्श नहीं दूँगा; विशेषतः किसी स्त्री को भ्रूण हत्या में सहायता नहीं दूँगा। चाहे जिस घर में मैं जाऊँ, वहाँ मैं रोगी के उपकारार्थ जाऊँगा और किसी प्रकार के अहित की चेष्टा से, विशेषतः स्वतंत्र या क्रीत-दास, किसी पुरुष या स्त्री को प्रलोभित करने की चेष्टा तथा भ्रष्टाचार से विरत रहूँगा। रोगी की सेवा के सिलसिले में या उसके अतिरिक्त, किसी मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के विषय में मैं कुछ देखूँ या सुनूँ, जिसे प्रकट करना अनुचित हो, तो मैं उन बातों को गुप्त रखूँगा और ऐसे विषयों को पवित्र, गुप्त-तत्व जैसा समझूँगा। अपने जीवन और शास्त्र को मैं विशुद्ध और पवित्र रखूँगा।"

"यदि मैं शपथ का पालन कर सकूँ और इससे विचलित न होऊँ, तो सब समय, सभी लोगों की प्रशंसा का पात्र बनकर मैं समान रूप से अपने जीवन और शास्त्र का उपभोग कर पाऊँ। इसका उल्लंघनकर शपथ-भ्रष्ट होने पर इसके विपरीत परिणाम का ही मैं भागी बनूँ।"

चिकित्सक के लिए इससे उच्चतर आदर्श और क्या हो सकता है? युग-युग से इस आदर्श ने चिकित्सक को न्याय, सत्य और सेवा के पथ पर अविचलित रखा है।

जाँचे हुए सत्य पर हिपोक्रेटिस् तथा हिपोक्रेटिस्-पंथी अन्य चिकित्सकों और वैज्ञानिकों-द्वारा महत्त्वारोपण की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। इस सत्य की उपलब्धि करके ही हिपोक्रेटिस् ने विज्ञान के वास्तविक राजपथ का संधान किया था। निर्भूल, परीक्षण-लब्ध तथ्यों के आविष्कार के बिना विज्ञान की प्रगति संभव नहीं, हिपोक्रेटिस् की इस वाणी और उपदेश को परवर्ती वैज्ञानिकों ने भुला दिया। तार्किक बुद्धिवाद ने ग्रीक वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों को इस प्रकार सम्मोहित कर दिया था कि वे यंत्रों की सहायता से प्रत्यक्ष परीक्षण और अवलोकन को अवज्ञा की दृष्टि से देखने लगे। इससे विज्ञान की प्रगति रुक गई। फिर भी विचार-जगत् में जब तक ग्रीकों का आधिपत्य बना रहा, तब तक यह आदर्श पूर्णतः धुँधला नहीं हो पाया। रोम-साम्राज्य के बाद इस आदर्श का संपूर्ण लोप हो गया और जादू-विद्या, प्रेत-तत्व आदि ने विज्ञान का स्थान ले लिया। यूरोप में अंधकार युग का प्रारंभ

उसी समय से है। रॉजर बेकन तथा पुनरभ्युत्थानकालीन वैज्ञानिकों की चेष्टा से हिपोक्रेटिस् के आदर्श की पुनः प्रतिष्ठा होने पर विज्ञान को फिर नया जीवन मिला और अव्याहत गति से उसकी विजय-यात्रा फिर शुरू हुई।

आयोनी विज्ञान तथा दर्शन का उत्थान और पतन, प्लेटो-अरस्तू के विज्ञान तथा दर्शन के उद्भव के सामाजिक तथा राजनीतिक कारण

थालेस्-जैसे प्रमुख माइलेशियाई वैज्ञानिकों और दार्शनिकों की गवेषणा तथा विचारधारा से शुरू करके ल्युसिप्पस् तथा डिमोक्रिटस् के आणविक मतवाद और हिपोक्रेटिस्-पंथियों की चिकित्साविद्या संबंधी गवेषणाओं के काल तक की २ सौ वर्षों की अवधि (ई० पू० ६००-४००) की विज्ञान-चर्चा के अवसान के साथ ही ग्रीक वैज्ञानिक-विचारधारा के इतिहास के एक अति गौरवमय अध्याय की समाप्ति हुई। माइलेटस्, कॉस्, इफिसस्, क्रोटन इलिया, आक्रागास् आदि भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेश तथा टापुओं में आयोनी ग्रीकों के विख्यात उपनिवेशों को केंद्र बनाकर, जिस विज्ञान और दर्शन का संघटन हुआ था, इतिहासकारों ने उसे आयोनी विज्ञान और दर्शन का नाम दिया। आयोनी विज्ञान की विशेषता का कारण केवल भौगोलिक नहीं है। आयोनी ग्रीकों ने, प्राचीन मिस्र और बेबीलोन की २ हजार वर्ष की ज्यामिति, गणित, ज्योतिष और रसायन की क्षीण और मंथर धारा को, अपने विचार और उद्भावनी शक्ति के बल से, एक विशाल, वेगवती नदी में परिणत करके, विज्ञान के क्षेत्र में यह विशिष्टता प्राप्त की। पुरोहित-अधिकृत विभिन्न विद्याओं को एक सूत्र में बाँधकर, उस विद्या के परिप्रेक्ष्य में वे एक नई पृथ्वी की परिकल्पना में प्रवृत्त हुए। संस्कार-मुक्त, स्वतंत्र विचार-धारा के स्वस्थ वातावरण में जिस विज्ञान तथा दर्शन का जन्म हुआ, वही आधुनिक विज्ञान तथा दर्शन का आदि उद्गम है।

आयोनी विज्ञान में वस्तुवाद : श्रम का सम्मान

आयोनी विज्ञान की एक और विशेषता यह है कि यह जड़वादी है। पृथ्वी, विश्व ब्रह्मांड तथा उनके अंतर्गत दृश्यमान अथवा अदृश्य सभी वस्तुओं की उत्पत्ति प्राकृतिक कारणों से हुई है और प्रत्येक घटना के पीछे एक सरल कार्य-कारण संबंध है, यह विश्वास आयोनी विज्ञान तथा दर्शन का मूलतत्व है। विज्ञान के क्षेत्र में यही उसकी नई अंतर्दृष्टि है। इसी अंतर्दृष्टि के बल पर इस परिकल्पना की सृष्टि हुई कि ब्रह्मांड किसी प्राथमिक मौलिक उपादान से उद्भूत हुआ है। थालेस् को लगा कि यह मौलिक उपा-

दान जल है, ऐनाक्सिमेनेस् ने कहा, यह वायु है; हेराक्लिटस् की यह धारणा हुई कि यह उपादान अग्नि के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। संख्यानत्व-विशारद पाइथागोरियों की परिकल्पना के अनुसार पूर्ण-संख्या या 'मोनाड' ही सृष्टि-रहस्य का मूलाधार है। परमाणुवादियों ने यह मत प्रकट किया कि अदृश्य, अति क्षुद्र पदार्थकण या परमाणु ही आदि उपादान हैं और इन परमाणुओं से ही पदार्थों, पृथ्वी और नक्षत्रों की उत्पत्ति हुई है। पौराणिक उपाख्यानों, धार्मिक अंध-विश्वासों तथा कुसंस्कारों के आधार पर रचित, पृथ्वी और ब्रह्मांड की एक काल्पनिक, अतिप्राकृत और उद्भट परिकल्पना के बदले प्रतिदिन के साधारण अनुभव से प्राप्त ज्ञान के आधार पर पृथ्वी और उसके प्राकृतिक परिवेश को समझने की चेष्टा, विचार-जगत् में एक अभिनव और क्रांतिकारी घटना थी। आयोनी ग्रीक, प्रायोगिक अभिज्ञता तथा पर्यवेक्षण पर आधारित ज्योतिष, भेषज विद्या, ज्यामिति तथा गणित संबंधी अपनी शिक्षा के लिए पूर्णतः बेबीलोन और मिस्र के पुरोहितों के ऋणी हैं। परंतु अध्ययन-मूलक विद्या के साथ तर्कमूलक विचार के संयोजन के फलस्वरूप जिस नए वैज्ञानिक दृष्टिकोण का जन्म हुआ, उसने मानव की विचारधारा में एक अभूतपूर्व क्रांति उत्पन्न कर दी।

यह भौतिकतावादी दृष्टिकोण केवल चंद्र, सूर्य और ग्रहों के स्वरूप, ब्रह्मांड की उत्पत्ति आदि नैसर्गिक प्रश्नों के समाधान तक ही सीमित नहीं था। मनुष्य के दैनिक जीवन की विभिन्न समस्याओं के समाधान में भी इसका प्रयोग होता दीख पड़ता है। इस प्रयोग के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की यांत्रिक उन्नति संभव हो सकी। स्काइदी के ऐनाकार्सिस् (ई० पू० ५९२) ने कुम्हार का चक्का, और चिओस् के ग्लाउकस् (ई० पू० ५५०) ने रांगा गलाकर लोहा जोड़ने के नए कौशल का आविष्कार किया। सामोस के थियोडोरस् (ई०पू० ५३२) खराद, कुंजी, समतल दर्शक यंत्र, पैमाना, पटरी, पीतल ढालने की अधिक उन्नत पद्धति, विभिन्न प्रकार के यंत्रों और शिल्प-पद्धतियों के आविष्कार के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। ज्यामिति और गणित संबंधी थालेस् की गवेषणा का मुख्य उद्देश्य था समुद्र-मार्ग में जहाजों के गमनागमन को संकट-मुक्त करना और निर्भर-योग्य बनाना। नाविकों की सुविधा के लिए ही एनाक्सिमांडर ने पृथ्वी का मानचित्र बनाया था।

इन यांत्रिक आविष्कारकों की प्रतिष्ठा भी कम नहीं थी। ऐनाकार्सिस्, ग्लाउकस्, और थियोडोरस् प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनके देशवासी उन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उस समय श्रम की प्रतिष्ठा थी और व्यवसायी

तथा वणिक संप्रदाय के लोग प्रायः राजनीतिक और राष्ट्रीय क्षमता के भी अधिकारी होते थे। ईसापूर्व छठीं शती में सोलन ने एथेंस के नागरिक जीवन को सुधारने के उद्देश्य से श्रम-प्रतिष्ठा के आदर्श के प्रचार की चेष्टा की थी। उन्होंने एक नियम बनाकर पिता पर यह जिम्मेदारी सौंपी कि वह अपनी संतान के लिए किताबी विद्या के साथ ही कारीगरी अथवा व्यवसाय-संबंधी किसी विद्या की शिक्षा की व्यवस्था करेगा। पिता यह जिम्मेदारी संभालने में असमर्थ हो या इसकी अवहेलना करे तो वृद्धावस्था में उसके भरण-पोषण की जिम्मेदारी संतान की नहीं रहेगी। प्लूटार्क ने आयोनी ग्रीकों की इस श्रम-प्रतिष्ठा के विषय में लिखा है—"उस समय काम करने में कोई लज्जा नहीं थी और व्यवसाय-वाणिज्य में लगा होने के कारण समाज में कोई हेय नहीं समझा जाता था।" ग्रीक शब्द सोफिया (Sophia, ज्ञान) का अर्थ था शिल्प तथा यंत्र-संबंधी दक्षता—कोरी अपार्थिव कल्पना नहीं।*

श्रम की महत्ता का बोध, शिल्प में उन्नति और अधिक उन्नत उत्पादन-व्यवस्था के मूल में जो तकनीकी या कारीगरी विद्या है, उसके प्रति विचारशील वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों की स्वस्थ तथा सहानुभूतिसंपन्न मनोभावना के परिणामस्वरूप ही आयोनी ग्रीक वैज्ञानिक पर्यवेक्षण और परीक्षण का आदर्श स्थापित करने में समर्थ हुए। हिपोक्रेटिस् की चिकित्सा-पद्धति और पर्यवेक्षण पर महत्वारोपण तथा ल्युसिप्पस्-डिमोक्रिटस् के आणविक सिद्धांत, श्रम-प्रतिष्ठा-विहीन वातावरण में संभव होते या नहीं, यह संदेह की बात है।

आयोनी तथा सॉक्रेटिस-प्लेटो के दृष्टिकोणों में अंतर

सॉक्रेटिस्, प्लेटो और अरस्तू के आविर्भाव के बाद ज्ञान-विज्ञान-चर्चा का केंद्र एशिया माइनर तथा दक्षिण इटली के तटवर्ती प्रदेशों और भूमध्यसागरीय द्वीपों के आयोनी उपनिवेशों से हटकर ग्रीस की नई राजधानी एथेंस में स्थानांतरित होने पर विज्ञान और दर्शन की दिशा पुनः बदल गई। सॉक्रेटिस् और प्लेटो ने भौतिकवादी दर्शन का परित्याग कर अध्यात्मवादी तर्कमूलक दर्शन की सृष्टि की। उन्होंने कहा कि समस्त ज्ञान का स्रोत मनन-शक्ति और विचार-शक्ति है। मनन-शक्ति और विचार-शक्ति-द्वारा ही मनुष्य तथा भौतिक जगत् की सभी समस्याओं और रहस्यों का समाधान संभव है और इन शक्तियों का अधिकारी बनने के लिए प्रायोगिक अभिज्ञता और पर्यवेक्षण की आवश्यकता नहीं है। साक्रेटिस् और प्लेटो के प्रबल अध्यात्मवादी, भाववादी और माया-

* Benjamin Farrington, "Greek Science", 1; p. 78.

वादी दर्शन के दबाव में आयोनियों के भौतिकतावाद, प्रकृतिवाद, परमाणुवाद और सबसे बढ़कर, पर्यवेक्षण का आदर्श, सब एक-एक करके मिट गए।

आयोनियों ने ब्रह्मांड की उत्पत्ति के मूल में क्रमविकास की धारा देखी थी। प्लेटो के अनुसार ब्रह्मांड का सृजन हुआ है। अरस्तू के ब्रह्मांड-तत्त्व के मूल में निश्चल चालक ('unmoved mover') स्वयं भगवान हैं, जो ईश्वरीय नियमों के अधीन ग्रह-नक्षत्रों की परिचालना करते हैं। प्लेटो के ब्रह्मांड की सारवस्तु, कॉसमॅस (Cosmos) सजीव है—मानव शरीर और आत्मा से उसका प्रत्यक्ष योग है। भौतिक जगत्, प्राकृतिक नियमों के अधीन नहीं है। वास्तव में इसकी परिचलना एक अदृश्य, अज्ञेय, अलौकिक, अशरीरी आदि-शक्ति-द्वारा की जा रही है। इसके अतिरिक्त, इंद्रिय-लब्ध सत्य वास्तविक सत्य नहीं है और वास्तविक सत्य की उपलब्धि के लिए विचार, विशुद्ध बुद्धि, प्रज्ञा और अंतर्दृष्टि का आश्रय लेना अनिवार्य है। इस संबंध में प्लेटो का कहना है—

'यदि कभी हमें किसी चीज को पूरी तौर से जानना हो तो हमें शरीर से मुक्त होना होगा और केवल आत्मा के नेत्र से वास्तविकता को देखना होगा...। जीवित अवस्था में हम ज्ञान के निकटतम तभी होंगे, जब यथासंभव, शरीर के संयोग और संपर्क से (सिवा उतने के जितना नितांत आवश्यक हो) विरत रहें और उसकी प्रकृति से अपने को दूषित न होने दें, बल्कि उससे अपने को तब तक मुक्त रखें, जबतक स्वयं भगवान हमें मुक्ति प्रदान न करे।'—फीडो।

अर्थात् आँख, कान तथा स्पर्शजनित सब प्रकार की शारीरिक अनुभूतियों से ऊपर उठकर एकमात्र आत्मा की आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि के सहारे किसी वस्तु के संबंध में परम और सम्यक् ज्ञान-लाभ संभव है। ऐसा हो तो नक्षत्र-उद्भासित नभोमंडल का निरीक्षण करते हुए, रात के बाद रात ग्रह-नक्षत्रों की गति के पर्यवेक्षण-द्वारा उनके विचित्र व्यवहार और गति के संबंध में हम जो ज्ञान-लाभ करते हैं, उसका क्या कोई मूल्य है? प्लेटो ने 'रिपब्लिक' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि इस उपाय से प्राप्त ज्ञान निश्चय ही बहुत निकृष्ट श्रेणी का ज्ञान है। नक्षत्रों के स्वरूप, गति, व्यवहार आदि को एकमात्र बुद्धि और कल्पना के द्वारा समझा जा सकता है, पर्यवेक्षण के माध्यम से नहीं। ज्यामिति में जिस प्रकार साध्य की अवतारणा की जाती है, ज्योतिष में भी उसी प्रकार प्रतिपाद्य की अवतारणा करनी होगी और विश्लेषण तथा बुद्धि-द्वारा उन प्रतिपाद्यों का समाधान करना होगा। दृश्यमान नक्षत्र-जगत् जैसा

है, वैसा ही रहे; उसको लेकर माथापच्ची करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ध्वनि-विज्ञान में, ध्वनि के स्वरूप और संबंध का पता लगाने के उद्देश्य से, वैज्ञानिकों का एक दल तारयंत्र को लेकर उस पर आघात करता है और कान लगाकर उस ध्वनि को सुनता है, यह प्रक्रिया प्लेटो के लिए नितांत हास्यास्पद थी। सॉक्रेटिस के द्वारा उन्होंने कहलाया—

"आपका आशय उन महानुभावों से है, जो तारों को ऐंठते-मरोड़ते हैं और यंत्र की खूंटियों पर उन्हें खींचते-कसते हैं...वे भी ज्योतिषियों की भाँति गलती पर हैं। वे स्वर-संगतियों (harmonies) की संख्याओं की खोज करते हैं, लेकिन समस्या की गहराई तक नहीं पहुंच पाते।"

आयोनी लोग ऐनाकार्सिस्, प्लाउकस्, थियोडोरस्-जैसे प्रमुख कारीगर-शिल्पियों के आविष्कारों को बहुत मूल्यवान समझते थे। प्लेटो न केवल कारीगरी विद्या को बड़ी अवज्ञा की दृष्टि से देखते थे, बल्कि उन्हें यह विश्वास भी नहीं था कि कारीगर श्रेणी का कोई व्यक्ति कभी भी किसी चीज का आविष्कार कर सकता है। फिर भी, यह जो देखा जाता है कि इस श्रेणी के लोग भी यदा-कदा किसी नई पद्धति या नए पदार्थ का आविष्कार कर लेते हैं, इस विषय में प्लेटो की यह धारणा थी कि भगवत्-कृपा से ही ऐसा अघटन संभव होता है। बढ़ई को एक दिन, ईश्वर की कृपा से, ईश्वर-निर्मित एक पलंग देखने का अवसर मिल गया था, इसीलिए उसके निर्माण में वह सफल हो सका। प्लेटो यहीं चुप नहीं हुए। उन्होंने कहा कि जो व्यक्ति वस्तु का प्रयोग करता है और उसके संबंध में जिसे वास्तविक ज्ञान है, वास्तव में वही उस वस्तु का निर्माता है, कारीगर नहीं, जो यंत्रादि की सहायता से हाथ-पैर-द्वारा उस वस्तु को तैयार करता है।

यह कहना अनावश्यक है कि इस प्रकार की मनोभावना विज्ञान की प्रगति के पूर्णतः प्रतिकूल है। ज्यामिति, गणित और अंशतः ज्योतिष को छोड़कर, विज्ञान के किसी अन्य भाग में, प्लेटो, गवेषणा का कतई अनुमोदन नहीं करते थे। ज्यामिति, उनके लिए गवेषणा का बड़ा प्रिय विषय थी। उनकी अकादमी के दरवाजे पर लिखा था—'जो ज्यामिति नहीं जानता, वह इसके भीतर प्रवेश न करे'। प्लेटो के अनुसार आयोनी ग्रीकों-द्वारा प्रदर्शित वैज्ञानिक परीक्षण और पर्यवेक्षण का आदर्श अधार्मिक और हीन है। यह कारीगर, श्रमिक आदि निकृष्ट श्रेणियों के लोगों का आदर्श है। सभ्य और शिक्षित ग्रीक नागरिकों के लिए यह अशोभन था, यही उनका अभिमत था।

अब प्रश्न यह है कि प्लेटो इस प्रकार के मनोभाव के प्रचार में उद्योगी क्यों हुए ? उनके-जैसे प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति पृथ्वी में अब तक कितने हुए हैं ? क्या वास्तव में यह उनका आंतरिक विश्वास था, या कि तत्कालीन समाज और राजनीति की अनिवार्य आवश्यकता के कारण उन्हें इस प्रकार का मत और दृष्टिकोण अपनाना पड़ा ? इस प्रश्न को लेकर अनेक तर्क-वितर्क हैं, परंतु इसका एक विशेष कारण सामाजिक तथा राजनीतिक था, इसमें संदेह नहीं। इसे समझने के लिए तत्कालीन ग्रीक समाज-व्यवस्था और राजनीतिक घटना-प्रवाह से थोड़ा-बहुत परिचित होना आवश्यक है।

सामाजिक और राजनीतिक कारण

मिस्र और बेबीलोन की प्राचीन सभ्यता के आश्रय में अनेक प्रकार की विद्याओं और एक प्रकार की विचारधारा की उत्पत्ति के संबंध में हम पहले चर्चा कर चुके हैं। प्रयोजनवश उस विद्या का उद्‌भव हुआ और मुख्यतः कारीगरी विद्या तक ही वह सीमित रही। उस प्रयोजन की प्रेरणा से ही ज्यामिति, गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-विद्या और प्राणि-विद्या का उद्‌भव हुआ। इन विद्याओं की चर्चा मुख्यतया पुरोहित संप्रदाय तक सीमित थी। सभ्यता के उदय के इस प्रथम चरण में ज्ञान की तुलना में अज्ञान ही अधिक व्यापक था। कुशल और बुद्धिमान पुरोहित संप्रदाय ने अनेक पौराणिक कहानियों और उपाख्यानों का सृजन कर इस अज्ञान पर पर्दा डालने की चेष्टा की। इसका एक महत्वपूर्ण राजनीतिक उद्देश्य भी था। समाज-जीवन की सुसंबद्धता बनाए रखने का गंभीर दायित्व धीरे-धीरे पुरोहित संप्रदाय पर आ पड़ने के कारण, उन्हें बहु-संख्यक व्यक्तियों को शांतिपूर्ण उपायों से वशीभूत रखने की समस्या का सामना करना पड़ा। बुद्धिमान पुरोहितों को यह समझने में देर नहीं लगी कि पुराण और कुसंस्कारों के व्यापक वातावरण की सृष्टि-द्वारा अज्ञता-प्रसूत अंध-विश्वास को जीवित न रखने पर उनके लिए यह काम सहज नहीं होगा।

बेबीलोन और मिस्र में इस नीति का राजनीतिक उद्देश्य अवश्य सिद्ध हुआ, परंतु समय के साथ कुसंस्कारों का बोझ बढ़ते-बढ़ते संपूर्ण विचारों पर इस तरह छा गया कि हर प्रकार की उद्‌भावनी शक्ति का ही लोप हो गया।

ईसापूर्व ७ वी और ६ ठी शती में आयोनी ग्रीकों की समाज-व्यवस्था पूर्णतः भिन्न प्रकार की थी। सभ्य पृथ्वी के रंगमंच पर ग्रीकों का आविर्भाव अभी-अभी हुआ था। वे एक नई जाति के स्वाभाविक उत्साह और उत्तेजना

के साथ, प्राचीन सभ्यता के खंडहरों पर अपने नए समाज और सभ्यता के निर्माण में तत्पर थे। मंदिर-प्रधान, पुरोहित-राजा-शासित समाज का दूषित फोड़ा तब तक प्रकट नहीं हुआ था। सभ्यता के कुसंस्कारों को तब तक जमकर बैठने का अवसर नहीं मिला था।

आयोनी उपनिवेशों के प्राधान्य के मूल में वाणिज्य-व्यवसाय था। इसीलिए सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन पर वणिक संप्रदाय का सबसे अधिक प्रभाव था। वणिकों के उदय के पहले धनी भू-स्वामियों और भूमिहीन किसानों के बीच लगातार संघर्ष होता रहता था। व्यवसाय-वाणिज्य के प्रसार के साथ अनेक लोगों को जीविका के साधन प्राप्त होने पर इस संघर्ष की तीव्रता घटी और शांति तथा व्यवस्था प्रतिष्ठित हुई। वाणिज्य-व्यवसाय और देश की आर्थिक उन्नति के बीच अंगांगीसंबंध देखकर सोलन ने वाणिज्य की नींव पर एथेंस की आर्थिक बुनियाद को सुदृढ़ करने का विचार किया। इसके पहले (६ ठी शती) एथेंस की कोई उल्लेखनीय महत्ता नहीं थी। सोलन के प्रयत्नों के बाद से ही इस नगर के प्राधान्य की नींव पड़ी। हम देखते हैं कि पांचवीं शती, में स्वयं-संपूर्ण गणतांत्रिक राष्ट्र में परिणत होने के पहले, एथेंस शिल्प और वाणिज्य के क्षेत्र में, ग्रीक जगत् के एक प्रधान नगर के रूप में विख्यात हो चुका था। दरायुस् और जेरेक्सस् परिचालित दुर्दमनीय फारसी सेना के आक्रमण को रोकने में इस शिल्पशक्ति का भाग भी बहुत कम नहीं था।

आयोनी उपनिवेशों के प्राधान्य का दूसरा और सबसे बड़ा कारण यह था कि ग्रीक सामाजिक-जीवन में तब तक दास-प्रथा उग्र रूप में प्रकट नहीं हुई थी। समाज में दासों की एक श्रेणी थी, परंतु इस श्रेणी के साथ ग्रीक अभिजात और वणिक श्रेणियों का सहानुभूतिपूर्ण संपर्क था। इस संपर्क के कारण दास श्रेणी के अस्तित्व से किसी उल्लेखनीय सामाजिक या राजनीतिक समस्या की उत्पत्ति नहीं हुई थी। इस प्रकार, व्यवसाय-वाणिज्य पर महत्वारोपण, साधारण वणिक संप्रदाय की राजनीतिक प्रभुता, दास श्रेणी की अनुवर्तिता और सब कुछ मिलाकर शांति तथा संपन्नता के वातावरण ने एक ऐसे सहज, सरल, प्रगतिशील सामाजिक परिवेश की सृष्टि की थी, जो स्वभावतः वैज्ञानिक प्रगति के अनुकूल था।

यह सामाजिक परिवेश बहुत समय तक स्थायी नहीं रह सका। फारस के आक्रमण के परिणामस्वरूप एशिया माइनर के तटवर्ती आयोनी ग्रीकों के उपनिवेशों में अनेक प्रकार की राजनीतिक गड़बड़ियाँ और अव्यवस्थाएँ दीख पड़ीं। अनेक प्रसिद्ध आयोनी दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने जन्मभूमि छोड़कर

ग्रीस के मूल भूखंड या दक्षिण इटली में जाकर आश्रय लिया। मैराथन, थर्मोपाइली, सैलामिस् और प्लैटी के युद्धों के बाद बाहरी शत्रु के आक्रमण और उपद्रव की आशंका अवश्य घट गई, परंतु आत्मघाती पैलोपोनेशियाई गृह युद्ध के कारण अनिवार्य रूप से ग्रीक सामाजिक और राजनीतिक जीवन में शिथिलता छा गई। षड्यंत्र, चातुरी, विश्वासघात, गुप्त हत्या इत्यादि घृणित उपायों से सत्ता हथियाने की प्रतिद्वंद्विता के फलस्वरूप, राजनीतिक वातावरण दूषित और कलुषित हुआ और समाज की सभी गंदगियाँ और ग्लानियाँ एक-एक करके सिर उठाने लगीं। जन-साधारण के मन में न्यायपरायणता, नीति-बोध, सत्यानुराग आदि सद्गुणों के संबंध में संशय उत्पन्न होने लगा। इतिहासकार थ्युसिडाइडस् (ई० पू० ४६०—४००) ने पैलोपोनेशियाई युद्धकाल में ग्रीक समाज के अधःपतन का वर्णन विशद रूप से किया है।

ऐसी स्थिति में नैतिक और चारित्रिक उन्नति के माध्यम से समाज में पुनः व्यवस्था लाने की समस्या सॉक्रेटिस् को सबसे अधिक महत्वपूर्ण जान पड़ी हो तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। विज्ञान की ओर नजर डालकर उन्होंने देखा कि इसकी कल्पनामूलक विचारधारा में सामाजिक समस्या के समाधान का कोई इंगित या आभास नहीं है। आयोनी गणित, पदार्थविद्या, प्राणि-विद्या, सृष्टितत्व की प्राकृतिक व्याख्या और परमाणुवाद में समाज-सुधार के किसी उपाय का निर्देश तो है ही नहीं, बल्कि इस प्रकार की शिक्षा में अधिक-तर संशय और भ्रांति के बीज छिपे हुए हैं। सॉक्रेटिस् ने इस युक्ति का आश्रय लियाकि विशुद्ध समाज की सृष्टि शुद्धचित्त व्यक्तियों के समन्वय के बिना संभव नहीं। व्यक्ति अच्छा हो तो समाज भी अच्छा होगा। इसलिए भले-बुरे, न्यायपरायणता, सत्यासत्य आदि विषयों का चरम मान निर्धारित होना आवश्यक है। बाहरी अनुभूति की सहायता से इस मान का निरूपण संभव नहीं; शुद्ध बुद्धि और आत्म-दर्शन इस चेष्टा में सफलता प्राप्त करने के एक-मात्र उपाय हैं। इसलिए वे मानस और आत्मा के प्राधान्य के प्रचार में प्रयत्नशील हुए। मनुष्य के मन को बाह्य जगत् से हटाकर अंतर्जगत् में सन्निहित करने की उन्होंने चेष्टा की।

राजनीतिक और सामाजिक अव्यवस्था के अतिरिक्त उस समय की एक और महत्वपूर्ण बात थी दास प्रथा का व्यापक प्रसार। पहले युग में, खरीदे हुए दासों की संख्या भी कम थी। राज्य के विस्तार के साथ-साथ क्रीत दासों की संख्या तेजी से बढ़ती गई। साथ ही काम और जीविका की खोज में अनेक विदेशी वहाँ आए। लेकिन काम सब को नहीं मिला। अनेक बेरोजगार

विदेशी और क्रीत दास मजबूरी के कारण आवारा बन गए। आवारा लोगों की इस प्रकार बढ़ती हुए संख्या विचारशील और दूरदर्शी राजनीतिक व्यक्तियों के लिए सिरदर्द और आशंका का कारण बन गई। प्लेटो के समसामयिक आइसोक्रेटिस् ने इन आवारा भिखारियों की समस्या पर विशेष रूप से विचार किया और उन्हें यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि आवारा भिखमंगों को काम में लगाकर, उनके जीवन-यापन की संतोषजनक व्यवस्था न कर सकने पर उनके हाथों ग्रीक समाज और राष्ट्रीय जीवन की अत्यधिक हानि होने की आशंका है। उन्होंने लिखा है—'यदि हम इन आवारा लोगों के लिए संतोषजनक जीवन की व्यवस्था-द्वारा उनकी बढ़ती हुई संख्या को रोक न सके तो इसके पहले कि हम यह जान पावें कि हम कहाँ हैं, उनकी संख्या इतनी बढ़ जायगी कि ग्रीकों और बर्बरों, दोनों के लिए वे समान रूप से एक बहुत बड़ा खतरा बन जायेंगे।' (हिंदी अनुवाद)

प्लेटो दास-समस्या के तीखेपन और गुरुत्व के बारे में विशेष रूप से सचेत थे। वे केवल दास-प्रथा के समर्थक ही नहीं थे, बल्कि उनका यह विश्वास था कि इस प्रथा की उत्पत्ति स्वाभाविक नियमों से हुई है। 'रिपब्लिक' (गणराज्य) तथा 'लॉ' (विधि) नामक अपनी पुस्तकों में आदर्श राष्ट्र तथा समाज की गठन के लिए उन्होंने जो परामर्श दिए हैं, उनमें दास प्रथा को स्थायी बनाने की चेष्टा देखी जाती है। दास श्रेणी को शासक श्रेणी से पूर्णतः पृथक् और विच्छिन्न रखने के लिए ही उन्होंने सर्वगुणसंपन्न ग्रीक नागरिकों की कल्पना की थी। दासों पर उन सभी प्रकार के कार्यों का बोझ लादा गया, जिनके लिए शारीरिक श्रम आवश्यक है और इस बोझ से मुक्त अवकाशभोगी नागरिकों को शासन-परिचालन और ज्ञान-विज्ञान-दर्शन की चर्चा का भार सौंपा गया।

अरस्तू ने दास प्रथा को और भी सुदृढ़ करने की चेष्टा की। यहाँ तक कि उन्होंने इस प्रथा के समर्थन में जीव-जगत् से दृष्टांत लेकर एक प्रकार की वैज्ञानिक युक्ति भी प्रस्तुत की। प्राणिजगत् में उत्कृष्ट और निकृष्ट का भेद है और यह भेद प्राकृतिक है। जिस प्रकार मनुष्य तथा जंतुओं में भेद है, और मनुष्य जाति में पुरुष और स्त्री में भिन्नता है, उसी प्रकार एक ही मनुष्य जाति में, स्वाधीन नागरिक और पराधीन दास में भी अंतर है। इस अंतर के कारण यह देखा जाता है कि एक श्रेणी उत्कृष्ट होती है और दूसरी श्रेणी निकृष्ट,

इसलिए दोनों के कल्याण के निमित्त निकृष्ट श्रेणी के शासन का भार उत्कृष्ट श्रेणी पर होना चाहिए। *

शारीरिक श्रम-द्वारा होनेवाले कार्यों से तो नागरिकों को मुक्ति दी गई; अब उनके जीवन को सुंदर रूप से शृंखलित कैसे किया जाय ? जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या होगा ? प्लेटो ने एक स्थान पर लिखा है—

"अपने नागरिकों को शारीरिक श्रम की जिम्मेदारी से मुक्त करने की बहुत सुंदर व्यवस्था हमने कर दी है। कारीगरी तथा शिल्प-संबंधी कार्य अन्य व्यक्तियों पर लादा गया है। कृषि-कार्य का भार दासों पर डाल दिया गया है। इन कार्यों के बदले हमें जो कुछ मिलेगा, उससे हमारे दिन स्वच्छंद रूप से और भली-भाँति बीतते रहेंगे। परंतु समस्या यह है कि हम अपने जीवन को सुनियंत्रित किस प्रकार करें।"

इस समस्या का कोई सरल समाधान नहीं हो सका। संपूर्ण ग्रीस छोटे-छोटे नगर-राष्ट्रों में बँट गया और ये नगर-राष्ट्र कुछ दिनों तक अपनी-अपनी विशिष्टता बनाए रखने में सफल भी हुए; परंतु दास प्रथा ने, क्षय-रोग की तरह धीरे-धीरे बढ़ते हुए राष्ट्र-शक्ति को पंगु कर डाला। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी इसका प्रभाव पड़ा।

* "...प्रकृति में सर्वत्र उत्कृष्ट और निकृष्ट, एक दूसरे के प्रतिपक्ष के रूप में पाए जाते हैं; जैसे, आत्मा और शरीर, बुद्धि और भूख, मनुष्य और पशु, पुरुष और स्त्री। जहाँ दो वस्तुओं के बीच इस प्रकार का भेद विद्यमान हो, वहाँ दोनों के लिए यह हित की बात है कि एक दूसरे पर शासन करे। प्रकृति में मनुष्यों के बीच भी इस प्रकार का भेद उत्पन्न करने की प्रवृत्ति है—अर्थात् कुछ लोगों को बलिष्ठ बनाना, जिससे वे काम कर सकें और कुछ लोगों को राजनीतिक जीवन के लिए उपयोगी बनाना। इस प्रकार कुछ लोग स्वभावतः स्वाधीन हैं और अन्य लोग दास हैं।" W. D. Ross, 'Aristotle', Methuen and Co. London, 1923; p. 241.

पांचवां अध्याय

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में एथेंस : प्लेटो और अरस्तू का युग

राजनैतिक अव्यवस्था तथा अन्य कारणों से, आयोनिया का, विशेषतः पाइथागोरी भ्रातृसंघ का, ज्ञानानुशीलन जिस समय गिरावट पर था और संकट का सामना कर रहा था, उस समय एथेंस का नया नगर-राष्ट्र विज्ञान-लक्ष्मी को अपने यहां प्रतिष्ठित करने में व्यस्त था। ईसापूर्व छठी और पाँचवीं शती में ज्ञान-विज्ञान की बात चल पड़ती तो भूमध्यसागर के पास-पड़ोस के लोग माइलेटस्, कॉस्, इलिया, क्रोटन, टैरैंटम आदि जनपदों के विख्यात विद्यापीठों और उनसे संबद्ध दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का स्मरण करते। ईसापूर्व चौथी शती में एथेंस और उसके योग्य दार्शनिक तथा वैज्ञानिक इस सम्मान के अधिकारी हुए। सुकरात, प्लेटो, यूडॉक्सस्, अरस्तू, हेराक्लिडिस्, थियोफ्रेस्टस्-जैसे विश्वविख्यात दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की कर्मभूमि, और सभी युगों में श्रेष्ठ गिने जानेवाले, अकादमी और लाइसियम जैसे दो शिक्षा-केंद्रों की आवास-भूमि एथेंस इस समय ज्ञान-गौरव में सर्वाग्रणी होगा, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

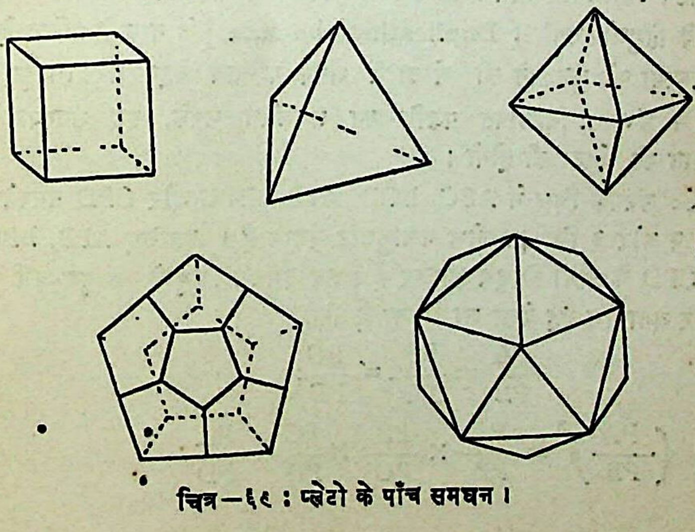
ज्ञान-जगत् में एथेंस को यह प्रतिष्ठा अपने राजनीतिक उत्थान और प्रभाव के कारण मिली। पूरब में फारस-साम्राज्य का बढ़ता हुआ प्रताप, ग्रीस के मूल भूखंड के प्रति उसकी लोलुप दृष्टि, मैराथन, थर्मोपाइली तथा सैलामिस् के युद्धों में फारसियों की अप्रत्याशित पराजय आदि घटना-प्रवाहों के बीच ग्रीकों ने जो यह उपलब्धि की कि राष्ट्रीय एकता की स्थापना नितांत आवश्यक है, इसका एक मुख्य कारण था एथेंस का अभ्युत्थान। डेलस् टापू में एक अंतर्राष्ट्रीय सभा में विभिन्न राष्ट्रों के बीच एकता स्थापित करने के संबंध में एक सिद्धांत स्वीकार किया गया। एकता-सूत्र में बँधे इन राष्ट्रों की समृद्धि और प्रभाव, एथेंस-निवासियों की चेष्टा से धीरे-धीरे, एथेंस में केंद्रित हुए। ज्ञान-विज्ञान की साधना राजनीतिक और आर्थिक प्राधान्य की अनुगामिनी है, यह सत्य इतिहास में अनेक बार प्रमाणित हो चुका है। एथेंस इस सत्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

गणित और ज्योतिष

प्लेटो (ई० पू० ४२८-३४८)

ग्रीक विज्ञान पर प्लेटो के प्रभाव के विषय में कुछ चर्चा हम पहले कर चुके हैं। उनका यह प्रभाव, साधारण रूप से, विज्ञान की प्रगति के लिए बहुत शुभ नहीं रहा, यह अत्युक्ति न होने पर भी विज्ञान को प्लेटो की देन उपेक्षणीय नहीं है। वे स्वयं गणित के अच्छे ज्ञाता थे। गणित के प्रति उनका गहरा अनुराग था और गणितीय गवेषणा की उन्नति के लिए उनकी चेष्टा नाना प्रकार से फलवती हुई थी। उनके समसामयिक या उनके ठीक बाद के काल के कुछ श्रेष्ठ गणितज्ञों में से प्रायः सभी उनके विद्यापीठ के छात्र थे।

प्लेटो का जन्म अनुमानतः ई० पू० ४२८ में एथेंस में हुआ था। वे सॉक्रेटिस् के प्रिय शिष्य और मित्र थे, परंतु गणित में पारदर्शिता के लिए पाइथागोरियों के ऋणी थे। सुकरात की मृत्यु के बाद कुछ समय उन्होंने देश-भ्रमण में बिताया और उसी अवधि में उन्होंने सायरेन में थियोडोरस नामक एक गणितज्ञ से गणित का अध्ययन किया। यह पता चलता है कि कुछ समय वे दक्षिण इटली और सिसली में भी रहे। संभवतः इसी समय पाइथागोरियों से उन्हें गणित का अध्ययन और चर्चा करने का अवसर मिला था। टैरैंटम के विख्यात गणितज्ञ आर्किटस् से उनका परिचय इसी समय हुआ। प्लेटो का गणित मूलतः पाइथागोरी गणित का ही अधिक विस्तृत रूप है, इसमें संदेह नहीं।



चित्र—६९ : प्लेटो के पाँच समघन।

ज्यामिति : किसी नए साध्य के आविष्कार या किसी कठिन गाणितिक प्रश्न के समाधान की दृष्टि से विचार करने पर प्लेटो की गवेषणा में किसी विशेष मौलिक तत्व का परिचय नहीं मिलता। उन्होंने विंदु, रेखा, समतल, घन आदि ज्यामितीय धारणाओं को त्रुटिहीन और भूलरहित संज्ञा प्रदान की। पाइथागोरसपंथी विंदु (point) को स्थान का एकक (unity of position) समझते थे। प्लेटो ने कहा, विंदु से रेखा का आरंभ होता है, विंदु एक अदृश्य रेखा है। उसी प्रकार, रेखा बिना चौड़ाई की लंबाई है। युक्लिड की ज्यामिति में प्लेटो की इस प्रकार की परिभाषा की पुनरावृत्ति मिलती है।

प्लेटो ने ५ प्रकार के घनों का उल्लेख किया है। बहुत से लोगों की धारणा है कि इनका आविष्कार उन्होंने ही किया। कम से कम पाँच प्रकार के घनों को बहुत दिनों तक 'प्लेटो के घन' का नाम दिया जाता रहा। ज्यामिति को उनकी एक और उल्लेखनीय देन विश्लेषण-पद्धति का प्रयोग है। उन्होंने यह दिखाया कि विश्लेषण की सहायता से अनेक ज्यामितीय समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। विख्यात गणितज्ञ चिओस् के हिपोक्रेटिस् ने (चिकित्सक हिपोक्रेटिस् नहीं, इनका कार्यकाल अनुमानतः ई० पू० ४३० था) अनजाने ही, प्लेटो की विश्लेषण-पद्धति का, अपने अनेक समाधानों में प्रयोग किया।

कहा जाता है कि प्लेटो ने किसी घन के दुगुने आयतन के घन की रचना के कठिन ज्यामितीय निर्मेय का समाधान किया था। ग्रीक ज्यामिति में यह 'घन के द्विगुणीकरण' (Duplicating the cube) के नाम से प्रसिद्ध है। इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा में अनेक गणितज्ञ बेहद परेशान हुए। प्लेटो ने संभवतः निम्नोक्त पद्धति का अवलंबन करके, इस समस्या के समाधान की चेष्टा की होगी।

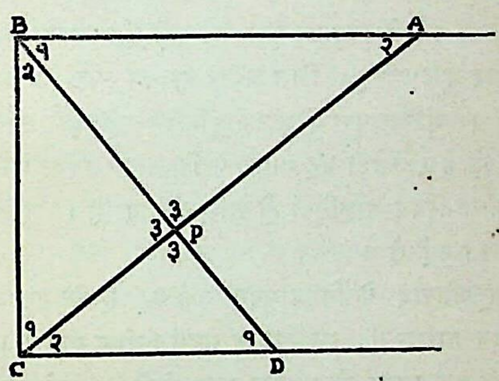
७० संख्यक चित्र में ABC, BCD, APB, BPC और CPD समकोण हैं। १,२ और ३ चिह्नित कोण क्रमानुसार समान हैं। इसलिए APB, BPC और CPD ये तीनों त्रिभुज समरूप हैं। अब समरूप त्रिभुजों के गुण-धर्म के अनुसार अनायास यह देखा जा सकता है कि,

$$\frac{PA}{PB}=\frac{BP}{PC}=\frac{PC}{PD};$$

$$\left(\frac{PA}{PB}\right)^3=\frac{PA}{PB}\times\frac{PB}{PC}\times\frac{PC}{PD}=\frac{PA}{PD}$$

यदि आरेख इस प्रकार अंकित किया जाय कि PA, PD का दुगुना हो तो $(PA/PB)^3 = 2$; $PA^3 = 2PB^3$ ।

अर्थात् PA बाहु पर समान रूप से अंकित घन का आयतन PB बाहु पर समान रूप से अंकित घन के आयतन का दुगुना होगा । कंपास और मापनी (scale) की सहायता से इस प्रकार का आरेख अंकित नहीं किया जा सकता । प्रायोगिक पद्धति से PD और PA की लंबाइयाँ निर्धारित करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है ।



चित्र—७०

ज्योतिष : प्लेटो की ब्रह्मांड-परिकल्पना और ज्योतिष बहुत निम्न स्तर के हैं । इसका कारण यह है कि ज्योतिष-चर्चा को उन्होंने कभी विशेष महत्व नहीं दिया । उन्होंने यह स्वीकार किया कि पृथ्वी का आधार गोल है और यह ब्रह्मांड के केंद्र में अवस्थित है । उनकी यह मान्यता थी कि ग्रह-नक्षत्रों के साथ संपूर्ण नभ-मंडल पृथ्वी को केंद्र बनाकर घूमता रहता है । पृथ्वी के चंद्र, सूर्य, शुक्र, बुध, मंगल, बृहस्पति और शनि की दूरी के अनुपात हैं १, २, ३, ४, ८, ९ और २७ ।

प्राकृतिक दर्शन (Natural Philosophy) : प्लेटो मानस्-जगत् के अध्ययन में ही अधिक तल्लीन थे; वस्तु-जगत् के विषय में स्वतंत्र रूप से विचार करना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा । उनकी यह धारणा थी कि जो विचित्र अनुभूतियाँ हमारे मन पर रेखांकन करती हैं, उन्हीं से वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना संभव है । यह मन ही एकमात्र सत्य है । बाहरी जगत् मानस का प्रतिबिंबस्वरूप है । मनुष्य कुछ अंतर्जात धारणाओं को लेकर जन्म ग्रहण

करता है। वस्तु की कठोरता, रंग, गोल आकार आदि इसी प्रकार की धारणाएँ हैं। इन अंतर्जात धारणाओं को प्लेटो ने आकृति या Form की संज्ञा दी है। बातचीत में हम कहते हैं, मैं एक कठोर लाल गेंद देख रहा हूँ। प्लेटो के मतानुसार इसका यह अर्थ है कि कठोरता, लाल रंग, गोल आकार आदि जो धारणाएँ हमारे मन में पहले से मौजूद हैं, उस वस्तु को देखते ही उन धारणाओं को उसमें खपाने की चेष्टा से जो अनुभूति मन में पैदा होती है, उसी को हम अपने मुख से इस प्रकार प्रकट करते हैं। परंतु मानस में विद्यमान त्रुटिहीन आकृति से बाहरी वस्तु का पूरा मेल नहीं बैठ सकता, क्योंकि वस्तु-जगत् अधूरा और त्रुटिपूर्ण है। जिस प्रकार कागज पर खींचा हुआ वृत्त कभी मानस-पट पर अंकित वृत्त की तरह त्रुटिहीन नहीं हो सकता, यह भी बहुत कुछ वैसा ही है। प्लेटो यह मानते थे कि सत्य सर्वथा त्रुटिहीन होता है। इसलिए मानस-स्थित आकृतियाँ ही शाश्वत सत्य हैं। त्रुटिपूर्ण, अनित्य वस्तु-जगत् शाश्वत नहीं है।

प्लेटो के आकृतिवाद के विरुद्ध मुख्य तर्क यह है कि मनुष्य के मन में वस्तु-संबंधी सहज धारणा है, यह सिद्धांत समर्थन-योग्य नहीं है। मनुष्य को अनुभवों-द्वारा ही इस प्रकार की धारणा प्राप्त होती है। जो व्यक्ति जन्म से ही अंधा है, वस्तु के रंग के बारे में उसकी कोई धारणा नहीं होती। उसी प्रकार जो बहरा है, वह ध्वनि-वैचित्र्य के संबंध में पूर्णतः अज्ञ है। इस विषय में और अधिक चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

अनित्य, त्रुटिपूर्ण वस्तु-जगत् से हटकर, मनो-जगत् पर अपना ध्यान केंद्रित करने के परिणामस्वरूप प्लेटो ने यह उपलब्धि की कि सत्य, शिव और सुंदर का अनुसंधान ही ज्ञान-विज्ञान-चर्चा का वास्तविकाउद्देश्य है। इसीलिए मनुष्य के मन के विभिन्न गुण-धर्मों को समझने का ही उन्होंने विशेष प्रयास किया। उच्चतर मननशीलता के सहायक के रूप में वे गणितीय गवेषणा के प्रति आकृष्ट हुए।

इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि पदार्थवादी, अणु-सिद्धांत के समर्थकों को वे बिलकुल ही सहन नहीं कर पाते थे। उन्हें वे बहुत घृणा की दृष्टि से देखते थे। अणु-परमाणुओं की सहायता से वस्तु-जगत् की व्याख्या की चेष्टा को यदि सहन कर भी लेते तो मानव-मन के विभिन्न गुणों—उदाहरणस्वरूप मनुष्यत्व, सौंदर्य-बोध, स्नेह, ममता आदि—की व्याख्या उन्हीं

परमाणुओं की सहायता से करने की स्पर्धा को वे कभी क्षमा न कर पाते थे। प्लेटो ने अपनी विभिन्न रचनाओं में कहीं डिमोक्रिटस् का नामोल्लेख नहीं किया। इसका व्यतिक्रम केवल एक बार हुआ, जब उन्होंने यह लिखा कि डिमोक्रिटस् के सभी ग्रंथों को तुरंत जला डालना चाहिए।

युडॉक्सस् (ई० पू० ४०८-३५५)

युडॉक्सस् का जन्म स्नाइडस् में हुआ था। उन्होंने आर्किटस् से ज्यामिति और प्लेटो से दर्शन की शिक्षा प्राप्त की। डियोजेनिस् लेर्टियस् ने लिखा है कि ज्यामिति, ज्योतिष, भूगोल और चिकित्साशास्त्र में उनका असाधारण पांडित्य और ख्याति थी। मौलिकता की दृष्टि से, ज्यामिति में एकमात्र आर्किमीडिस् के अतिरिक्त प्राचीन गणितज्ञों में उनकी टक्कर का और कोई नहीं था। ज्यामिति की सहायता से उन्होंने जिस भू-केंद्रित ब्रह्मांड की परिकल्पना की, उसी के सहारे, परवर्ती काल में हिपार्कस्-टॉलेमी के भू-केंद्रीय ज्योतिष का उद्भव हुआ। जॉर्ज सार्टन ने युडॉक्सस् का उल्लेख 'अपने समय के श्रेष्ठतम गणितज्ञ और ज्योतिषशास्त्रज्ञ, तथा सभी काल के श्रेष्ठतम व्यक्तियों में से एक' के रूप में किया है।*

विद्याध्ययन के उद्देश्य से युडॉक्सस् ने अनेक देशों का भ्रमण किया। २३ वर्ष की आयु में वे एथेंस आए। इस समय वे प्लेटो के दर्शन संबंधी भाषण और तर्क-वितर्क नियमित रूप से सुना करते थे। एथेंस आने के पहले उन्होंने इटली और सिसली में आर्किटस् से ज्यामिति और फिलिस्टिआन से चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया। अनुमानतः ई० पू० ३८१-८० में उन्होंनेमिस्र-भ्रमण किया। नीलनद के देश में अपने डेढ़ वर्ष के प्रवासकाल में वे मिस्री पुरोहितों के साथ विज्ञान और दर्शन-चर्चा करते रहे। पता चलता है कि मिस्र से लौटने पर साइजिकस् नामक स्थान में उन्होंने एक विद्यालय की स्थापना की। ई० पू० ३६८ में इस विद्यालय को उन्होंने एथेंस में स्थानांतरित किया।

मिस्र में रहते समय उनमें ज्योतिषीय प्रेक्षण की रुचि उत्पन्न हुई। हैलियोपोलिस के निकट एक वेधशाला में वे स्वयं कुछ समय तक ज्योतिष का अध्ययन करते रहे। युडॉक्सस् के समय इस वेधशाला की विशेष ख्याति थी। बाद में इसके अनुकरण पर उन्होने स्नाइडस् में भी एक वेधशाला स्थापित

* G. Sarton, Introduction to the History of Science, vol 1; p. 117

की। उन्होंने अगस्त्य नक्षत्र के संबंध में इसी वेधशाला में पर्यवेक्षण किए।

ज्यामिति : युडाक्सस्-रचित ग्रंथों में मिरर (Mirror) तथा 'फैनोमेना' (Phaenomena) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दुर्भाग्यवश ज्यामिति पर रचित उनके किसी ग्रंथ का पता नहीं मिला है। परवर्ती गणितज्ञों की रचनाओं में उनके संबंध में जो उल्लेख किया गया है, उससे पता चलता है कि ज्यामिति के विषय में उनका ज्ञान कितना गहरा था। युक्लिड के 'एलिमेंट्स' (Elements) के पांचवे खंड में युडाक्सस् की ज्यामितीय प्रतिभा का परिचय मिलता है। उन्होंने अनुपात-सिद्धांत (theory of proportion) और समापन-पद्धति (method of exhaustion) का आविष्कार किया। इनमें से दूसरी पद्धति के प्रयोग-द्वारा उन्होंने वृत्त के क्षेत्र तथा पिरामिड, शंकु और गोलक के आयतन और उनके बाहरी भाग के क्षेत्र का निर्णय करने में सफलता प्राप्त की। आर्किमीडिस् ने इस पद्धति का और विस्तार तथा परिवर्धन करके नाना प्रकार की घन वस्तुओं के आयतन निकाले। इस समापन-पद्धति से ही आगे चलकर समाकलन-गणित (integral calculus) का उद्भव हुआ।

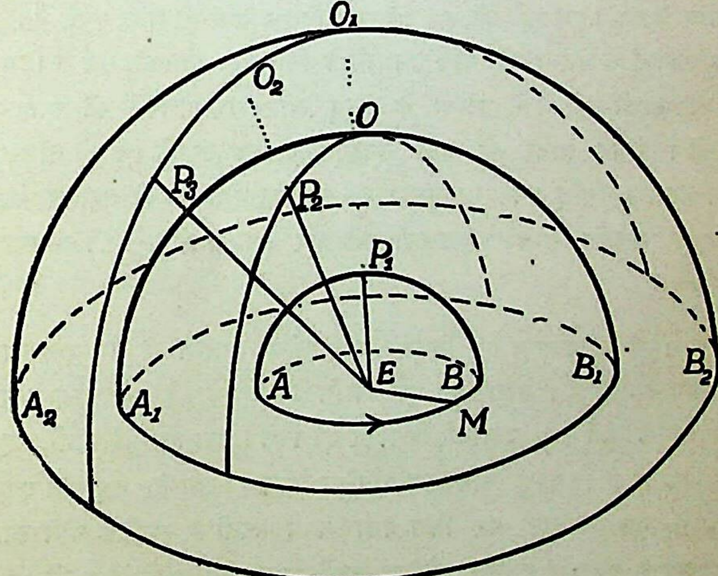
ज्योतिष : ग्रहों की प्रतीयमान गति के संबंध में युडॉक्सस् की ज्यामितीय व्याख्या सुप्रसिद्ध है। इस मूल व्याख्या को मानते हुए हिपार्कस् और टॉलेमी ने ब्रह्मांड परिकल्पना का जो रूप सामने रखा, कोपर्निकस् के समय तक उसमें किसी ने संदेह प्रकट नहीं किया। युडॉक्सस् की ज्योतिषीय धारणाओं तथा परिकल्पना की जानकारी मिलती है अरस्तू के 'मेटाफिजिक्स' नामक ग्रंथ तथा एक और ग्रंथ 'डीकेलो' पर सिम्प्लिसियस् की टीका से, और शियापारेली की निजी गवेषणा तथा रचनाओं से। वास्तव में प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथों में युडॉक्सस् की बिखरी हुई गवेषणाओं का उद्धार करने और उन्हें सुसंबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का सारा श्रेय शियापारेली को ही प्राप्त है।*

एककेंद्रीय स्फटिक गोलक, ब्रह्मांड परिकल्पना : ग्रह-नक्षत्रों की गति के विषय में युडॉक्सस् ने वृत्ताकार गति को ही पर्याप्त माना। उन्होंने समग्र ब्रह्मांड को एककेंद्रीय अनेक स्फटिक गोलकों (concentric crystal spheres)

---

* Schiaparelli, "Le Sfere Cmccentriche di Eudosso, di Callippo e di Aristotele; Publicazioni del R. Osservatorio di Brera; Milan, 1875.

में विभाजित किया। पृथ्वी को इन गोलकों के केंद्र में स्थापित किया गया। ये स्फटिक गोलक किसी एक व्यास को अक्ष बनाकर चक्कर काटते हैं। प्रत्येक ग्रह एक-एक गोलक के धुरीविहीन वृत्त के किसी विंदु से संलग्न रखा गया है, इसलिए वे अपने-अपने गोलक के आवर्तन के साथ, वृत्ताकार मार्ग में पृथ्वी की भी परिक्रमा करते रहते हैं। ऐसा ही हो तो ग्रहों की गति बहुत सहज और सरल होनी चाहिए। परंतु दीर्घकाल तक पर्यवेक्षण के बाद यह तो स्पष्ट हो ही गया था कि ग्रहों की गति सहज-सरल होना तो दूर रहा, उलटे काफी जटिल और असंबद्ध है। इस जटिल और असंबद्ध गति को समझाने के लिए युडॉक्सस् ने बताया कि ग्रहों के ऊपर, अपने गोलक की गति के अतिरिक्त एकाधिक अन्य गोलकों की गतियों की भी प्रतिक्रिया होती रहती है। विभिन्न गतिवाले एकाधिक गोलकों की परिक्रमण-गतियाँ, एक ही समय, ग्रहों को नियंत्रित करती हैं तो उनकी गति जटिल होगी, यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है। अब प्रश्न यह है कि इस प्रतिक्रिया का रूप क्या है?



चित्र—७१ : यूडाक्सस् परिकल्पित एककेंद्रीय स्फटि गोलक की सहायता से ग्रह-गति की व्याख्या।

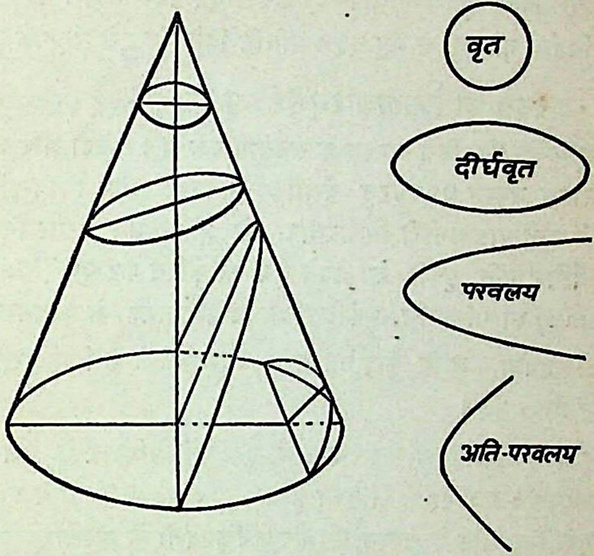
इस प्रतिक्रिया का रूप समझाना बहुत कठिन है। चित्र के सहारे इसे समझने में कुछ सुविधा हो सकती है। मान लीजिए कि M एक ग्रह है, जो P_1AB गोले के धुरीविहीन वृत्त के एक विंदु के साथ संलग्न है। EP_1 इस गोले की धुरी है और P_1 एक ध्रुव है। युडॉक्सस् का कहना है कि EP_1 धुरी स्थिर नहीं रहती। यह एक अन्य एककेंद्रीय गोलक OA_1B_1 के साथ संयुक्त है। ७१ संख्यक चित्र में हमने यह दिखाने की चेष्टा की है कि यह दूसरा गोलक OA_1B_1 एक अन्य धुरी EP_2 के चारों ओर चक्कर काट रहा है। इस प्रकार की परिक्रमा के परिणामस्वरूप पहले गोलक की धुरी भी गतिमान होगी और वह गति M ग्रह की गति को भी प्रभावित करेगी। इसके अतिरिक्त दूसरे गोले OA_1B_1 की धुरी EP_2 भी स्थिर नहीं है; यह एक अन्य गोलक $O_1A_2B_2$ से जुड़ा हुआ है। इस तीसरे गोलक की धुरी है EP_3। इसलिए इस तीसरे गोलक की गति पहले दूसरे गोलक, फिर उसके माध्यम से पहले गोलक की गति को प्रभावित करेगी। इस तरह तीन प्रकार की गतियाँ समन्वित होकर ग्रह की गति को अतिशय जटिल कर देती हैं। ज्योतिषीय पर्यवेक्षण के समय हम ग्रहों की इस प्रकार जटिल गतियाँ ही लक्ष्य करते हैं।

युडॉक्सस् ने चंद्रमा की गति समझाने के लिए तीन गोलकों, सूर्य के लिए तीन और बाकी ग्रहों में से प्रत्येक के लिए चार-चार गोलकों की अवतारणा की। स्थिर तारा को गति समझाने के लिए उन्होंने एक ही गोलक पर्याप्त माना। अर्थात् उनके मतानुसार २७ स्फटिक गोलकों की सहायता से, ब्रह्मांड के अंतर्गत सभी ग्रह-नक्षत्रों की हर प्रकार की गति की व्याख्या संभव है।

यह संपूर्ण परिकल्पना एक विशुद्ध ज्यामितीय समस्या के समाधान का विशेष प्रयत्न मात्र है। ब्रह्मांड को एक ज्यामितीय योजना के अंदर सजाने से उस काल के सर्वश्रेष्ठ ज्यामितिविशारद को विशेष प्रसन्नता हुई होगी, यह स्वाभाविक ही है। परंतु परिक्रमण-गति का कारण क्या है, वह गति एक गोलक से दूसरे गोलक पर किस प्रकार कार्य करती है, स्फटिक गोले का स्वरूप क्या है, इत्यादि विभिन्न मौलिक प्रश्नों पर उन्होंने चुप्पी साध ली।

ई० पू० ३५५ में युडॉक्सस् की मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु के बाद मेनेक्मस्, कालिप्पस्, पॉलिमार्कस्-जैसे कुछ गणितज्ञों और ज्योतिर्विदों ने युडॉक्सस् की ज्योतिषीय परिकल्पना में थोड़े-बहुत परिवर्तन किए। इस संबंध में कालिप्पस्

(ई० पू० ३७०-३००) का नाम उल्लेखनीय है। ग्रह-नक्षत्रों की गति के विषय में उन्होंने कुछ उन्नत प्रकार के प्रेक्षण किए। इन प्रेक्षणों में देखा गया कि ग्रहों



चित्र—७२

की गति की सारी जटिलताओं की सुंदर सुसंबद्ध व्याख्या २७ स्फटिक गोलकों की सहायता से संभव नहीं है। कुछ और गोलकों की अवतारणा आवश्यक प्रतीत हुई। उन्होंने जो व्याख्या प्रस्तावित की, उसके लिए ३४ गोलकों की आवश्यकता पड़ी थी।

मेनेक्मस् (ई० पू० ३७५-३२५)

शांकव-गणित : शांकव-गणित (Conics) के आविष्कारक के रूप में, विज्ञान के इतिहास में मेनेक्मस् को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। किसी शंकु को विभिन्न प्रकार से काटने पर, कटे हुए स्थान पर भिन्न-भिन्न आकार के क्षेत्र पैदा होते हैं। कटाई की भिन्नता के कारण यह क्षेत्र कभी वृत्ताकार, कभी दीर्घ वृत्ताकार और कभी परवलय (Parabola) या अति-परवलय (Hyperbola) के आकार का होता है। यह काट शंकु की धुरी को लंबतः काटे तो वृत्त बनेगा और कुछ टेढ़ा काटे तो दीर्घ वृत्त बनेगा। कटाई शंकु की भुजा के समानांतर हो तो परवलय होगा, इत्यादि। चित्र में ये काट दिखाए गए हैं।

मेनेक्मस् ने शांकव रेखाओं के गुण-धर्मों का अध्ययन किया। इस अध्ययन और गवेषणा से जिस नई शांकव-ज्यामिति का उद्‌भव हुआ, उसके मूल्य की उपलब्धि वैज्ञानिक बहुत दिनों तक नहीं कर पाए। परवर्ती काल की गाणितिक और ज्यामितीय गवेषणा में यह नई ज्यामिति विशेष रूप से सहायक हुई थी।

पंटुस् का हेराक्लिडिस् (ई० पू० ३८८-३१५)

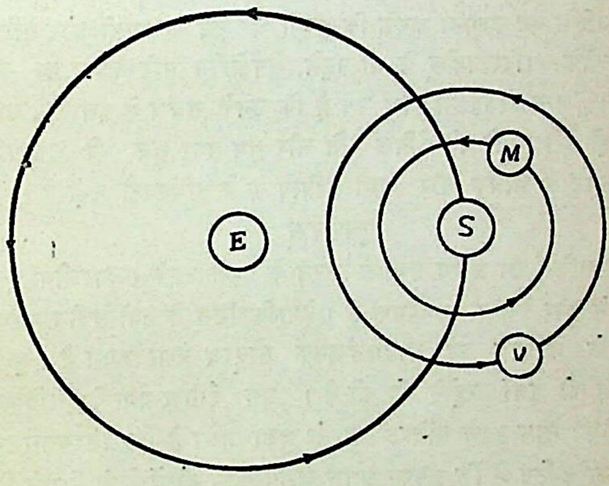
पंटुस् के हेराक्लिडिस् अरस्तू के समसामयिक थे। प्लेटो और अरस्तू का उन पर प्रभाव अवश्य था, परंतु वैज्ञानिक गवेषणा और विश्व-परिकल्पना के संबंध में उन्हें पाइथागोरी विचारधारा से ही विशेष प्रेरणा मिली थी। पृथ्वी की दैनिक गति, पृथ्वी के बदले सूर्य को केंद्रित कर बुध (Mars) और शुक्र (Venus) का परिक्रमण, भूकेंद्रित ब्रह्मांड-परिकल्पना में अधिचक्र (epicycle) का प्रयोग, आदि कुछ महत्त्वपूर्ण आविष्कारों के लिए हेराक्लिडिस् को प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

पंटुस् के हेराक्लिया नामक स्थान में, एक धनी परिवार में, हेराक्लिडिस् का अनुमानतः ई० पू० ३८८ में जन्म हुआ। ई० पू० ३६४ में वे एथेंस आए और प्लेटो के विद्यापीठ के सदस्य बने। एक किंवदंती के अनुसार, इस विद्यापीठ के अध्यक्ष-पद के निर्वाचन में उन्होंने एक बार जेनोक्रेटिस् की प्रतिद्वंद्विता की और कुछ मतों से वे हार गए। वे अच्छे साहित्यिक भी थे। भारो और सिसेरो उनकी रचनाओं के विशेष प्रशंसक थे। उनकी ज्योतिषीय गवेषणा और आविष्कार, दो पुस्तकों में—'प्रकृति के विषय में' (On Nature) और 'आकाश के विषय में' (On the Heavens)—लिपिबद्ध हैं।

दैनिक गति : हेराक्लिडिस् का पहला और विशेष महत्त्वपूर्ण आविष्कार था पृथ्वी की दैनिक गति। प्लेटो और अरस्तू की तरह वे यह तो मानते थे कि पृथ्वी ब्रह्मांड के केंद्र में अवस्थित है, परंतु अपने पूर्ववर्तियों के इस मत को कि 'पृथ्वी पूर्णतः स्थिर है,' उन्होंने अस्वीकार कर दिया। उन्होंने बतायाकि पृथ्वी अपनी धुरी के चारों ओर लट्टू की तरह घूमती रहती है। 'डी केलो' (De Caelo) के टीकाकार सिंप्लिसियस् ने लिखा है—'लेकिन हेराक्लिडिस् ने यह अनुमान किया कि पृथ्वी केंद्र में है और चक्राकार घूमती रहती है, जब कि नक्षत्र-लोक स्थिर है।'

बुध और शुक्र का सूर्य-परिक्रमण : उनका दूसरा और उतना ही महत्त्वपूर्ण आविष्कार यह था कि बुध और शुक्र ग्रह, पृथ्वी को नहीं, बल्कि सूर्य को

केंद्रित कर उनकी परिक्रमा करते हैं। युडॉक्सस् और अरस्तू ने प्रत्येक ग्रह को किसी एककेंद्रीय गोले से जोड़ दिया था। इन गोलों की गति-द्वारा उन्होंने ग्रहों की पृथ्वी-परिक्रमा समझाने की चेष्टा की थी। इस परिकल्पना में मुख्य कमी यह थी कि पृथ्वी से ग्रह की दूरी हर समय अपरिवर्तित होने के कारण उसकी उज्ज्वलता की कमी-वेशी की व्याख्या नहीं की जा सकती थी। बुध और शुक्र की उज्ज्वलता की घट-बढ़ बहुत पहले ही एकाधिक ज्योतिर्विदों ने परखी थी, परंतु इस प्रश्न का ठीक उत्तर कोई नहीं दे पाया था।



चित्र—७३ : बुध और शुक्र की परिक्रमा संबंधी हेराक्लिडिस् की परिकल्पना;
E = पृथ्वी; S = सूर्य; M = बुध; V = शुक्र

हेराक्लिडिस् ने यह बताया कि मान लिया जाय कि बुध और शुक्र, सूर्य को केंद्र बनाकर वृत्ताकार परिभ्रमण करते हैं, तो पृथ्वी से दोनों ग्रहों की दूरियों में घट-बढ़ होगी और इस प्रकार उनकी उज्ज्वलता में जो घट-बढ़ ऊपरी दृष्टि से दिखाई पड़ती है, उसका एक सरल कारण बताया जा सकता है। इस परिकल्पना में सूर्य, पृथ्वी को ही केंद्र बनाकर, वृत्त मार्ग में चक्कर काटता रहेगा (७३ संख्यक चित्र)। बुध और शुक्र जिस वृत्त मार्ग पर सूर्य की परिक्रमा करते हैं, उसे ज्यामिति शास्त्र में अधिचक्र (Epicycle) का नाम दिया जाता है। ब्रह्मांड-परिकल्पना में अधिवृत्त की धारणा के प्रयोग-द्वारा हेराक्लिडिस् ने अपनी विशिष्टता का परिचय दिया। हिपार्कस् और टॉलेमी

ने अधिवृत्त के अधिक व्यापक प्रयोग का अवसर निकालकर भूकेंद्रीय परिकल्पना को और भी उन्नत किया।

एक बार जब बुध और शुक्र को सूर्य के चारों ओर चला दिया गया, तब अन्य ग्रहों को भी इसी प्रकार घुमाने में हानि क्या है ? पृथ्वी को यदि केंद्र-स्थान में रखना हो तो वैसा ही किया जाय। ठीक यही बात टाइको ब्राहे (ई० १५४६-१६०१) ने ईस्वी सोलहवीं शती में कही थी। उनके कोई दो हजार वर्ष पहले ईसापूर्व चौथी शती में हेराक्लिडिस् ने इस प्रकार की बात कही थी या नहीं, यह अनिश्चित है। दो-एक इतिहासकारों का मत है कि हेराक्लिडिस् ने यह कल्पना तो की ही थी कि अन्यान्य ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं, बल्कि यह कल्पना करके कि पृथ्वी भी सूर्य के चारों ओर परिक्रमण-रत है, उन्होंके आरिस्टार्कस् से भी पहले, सूर्यकेंद्रीय परिकल्पना का आभास दिया था। अन्य विद्वानों का मत है कि उनके संबंध में इस दावे का कोई आधार नहीं है। पृथ्वी की दैनिक गति और बुध तथा शुक्र की सूर्य-परिक्रमा के आविष्कार से अधिक और किसी कृतित्व के वे अधिकारी नहीं हैं।

एक्फैंटस्

हेराक्लिडिस् का प्रसंग समाप्त करने के पहले उनके समकालीन एक्फैंटस् के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। हेराक्लिडिस् के ज्योतिषीय मतवाद से एक्फैंटस् के मतवाद का आश्चर्यजनक सादृश्य देखा जाता है। पृथ्वी की दैनिक गति की चर्चा उन्होंने भी की है। इस दैनिक गति के आविष्कार के साथ दोनों का नाम इतने घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है कि निश्चयात्मक रूप से यह कहना कठिन है कि इसका प्रथम आविष्कार दोनों में से किसने किया। एटियस् ने निरंतर दोनों नामों का एक साथ उल्लेख किया है—

"पांटुस् के हेराक्लिडिस् और पाइथागोरस-पंथी एक्फैंटस् (Ecphantus) पृथ्वी को जिस तरह चलाते हैं, वह सामने बढ़ते रहने की गति नहीं, बल्कि किसी धुरी के चारों ओर घूमते रहने की गति है।"

एटियस् ने एक और स्थान पर एक्फैंटस् का उल्लेख साइराक्यूज-निवासी के रूप में किया है।

एक्फैंटस् परमाणुवादी थे। परमाणुओं के स्वरूप के विषय में उनकी धारणा में बड़ी मौलिकता का परिचय मिलता है। वे यह मानते थे कि ब्रह्मांड अविभाज्य है और अति सूक्ष्म पदार्थकणों के समन्वय-द्वारा गठित है। कणों के बीच रिक्त स्थान है। ये परमाणु अति सूक्ष्म एक कण-विशेष हैं और एक प्रकार की ईश्वरीय शक्ति के द्वारा गतिशील रहते हैं।

जीव-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान और पदार्थ-विज्ञान

अरस्तू (ई० पू० ३८४-३२२)

प्राचीन ज्ञान-विज्ञान-दर्शन के सर्वोत्तम प्रतिनिधि अरस्तू, सभी देशों और सभी कालों के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिकों, दार्शनिकों और विचारकों में से एक थे। विज्ञान के किसी-किसी विभाग में, विशेषतः ज्योतिष और पदार्थ-विज्ञान में, अरस्तू के रूढ़िवादी मतों ने परवर्ती वैज्ञानिक गवेषणा तथा विचारधारा की स्वाभाविक प्रगति को अवरुद्ध किया, यह अभियोग अनेकांश में सत्य होने पर भी यह भी सच है कि उनकी बहुमुखी प्रतिभा और विश्व-कोष-सदृश असीम ज्ञान की तुलना कम ही मिलती है। प्रतिभाशाली प्राचीन वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के समाज में भी वे सूर्य-जैसे चमकते दिखाई देते हैं। उनके समय तक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो भी आविष्कार हुए, उनमें कोई ऐसा नया तथ्य, मत या दर्शन नहीं था, जिससे उनका सम्यक् परिचय न रहा हो। परंतु ये तथ्य और ज्ञान प्रायः सभी क्षेत्रों में असंलग्न और असंबद्ध थे। अरस्तू ने इस असंलग्न ज्ञान को सुसज्जित और सुसंबद्ध किया, उसे परिपूर्णता और समग्रता का रूप प्रदान किया और साथ ही स्वयं अपनी गवेषणाओं-द्वारा उसे तरह-तरह से पुष्ट किया। उनकी मृत्यु के समय से लेकर पुनर्जागरण-काल के पहले तक की दो हजार वर्षों की अवधि में विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में अलग-अलग तौर पर, कुछ वैज्ञानिकों की उच्चकोटि की गवेषणाओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं, लेकिन संभवतः कोई वैज्ञानिक ऐसा नहीं था, जिसका अरस्तू की भाँति सभी विद्याओं पर इस तरह समान और संपूर्ण अधिकार हो।

संक्षिप्त जीवनी : मेसिडोनिया प्रदेश के स्टाजिरा नामक स्थान में अरस्तू का जन्म ई० पू० ३८४ में हुआ। मेसिडोनिया के अलेग्जेंडर ने तलवार के बल पर विश्वविजय की। मेसिडोनिया के अरस्तू ने अपनी कलम के बल से विचारजगत् पर एकाधिकार प्राप्त किया। दोनों में अंतर यह है कि अलेग्जेंडर का साम्राज्य उनकी मृत्यु के बाद थोड़े ही वर्षों में छिन्न-भिन्न हो गया, जबकि अरस्तू के विचार-साम्राज्य में दो हजार वर्षों के बाद भी कोई दरार नहीं पड़ी।

अरस्तू के पिता निकोमेकस् एक अच्छे चिकित्सक और मेसिडोनिया के अधिपति द्वितीय फिलिप के सभासद थे। पिता के व्यावहारिक चिकित्सा-

विज्ञान का पुत्र पर प्रभाव बहुत स्पष्ट है। गैलेन के लेखों से पता चलता है कि अरस्तू ने अपने पिता से शल्यविद्या सीखी थी। हो सकता है कि शल्यकर्म में अपने पिता के सहायक के रूप में भी उन्होंने कभी-कभी काम किया हो। १७ वर्ष की आयु में, प्लेटो के पास विद्याध्ययन के उद्देश्य से वे एथेंस आए और लगातार २० साल तक उनकी अकादमी या विद्यापीठ में अध्ययन और गवेषणा करते रहे। प्लेटो की मृत्यु होने पर ई० पू० ३४७-४८ में स्पिउसिपस् ने अकादमी का संचालन-भार ग्रहण किया। अरस्तू ने देखा कि अकादमी के हर प्रकार के अध्ययन, अध्यापन, गवेषणा, यहाँ तक कि गणितीय गवेषणा में भी दर्शन की अतिशयता होती जा रही है। उन्होंने समझ लिया कि अकादमी से विदाई लेने का समय अब आ गया है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक कारण भी अवश्य ही थे। द्वितीय फिलिप की दिग्विजय की इच्छा और उद्देश्य ने धीरे-धीरे एथेंसवासियों में मेसिडोनिया-निवासियों के प्रति वैर-भाव उत्पन्न कर दिया। ऐसी स्थिति में फिलिप के सभासद निकोमेकस् के पुत्र को एथेंस में कोई अच्छी निगाह से न देखता। कारण जो भी हो, अरस्तू ने एथेंस छोड़ दिया और मिसिया प्रदेश के आसोस् नामक स्थान में, अकादमी के आदर्श के अनुरूप एक छोटे विद्यापीठ और विचार-गोष्ठी की स्थापना की। आसोस् में उन्होंने तीन वर्ष विताए। इसके बाद अपने सहकर्मी और विशिष्ट मित्र थिओफ्रेस्टस् के बुलावे पर वे लेस्बस् टापू के समीप मिटिलिन नामक स्थान में चले गए। आसोस् और मिटिलिन रहते समय, जीव तथा प्राणि-विज्ञान-संबंधी उनकी गवेषणाएँ पूरी हुईं। एथेंस के अध्यात्मवादी दर्शन और पांडित्व की आबोहवा से दूर, आयोनी द्वीपों के मुक्त वातावरण में, उन्होंने प्राकृतिक जगत् को नए दृष्टिकोण से समझने की चेष्टा की। इसी चेष्टा के फलस्वरूप वे जीव-विज्ञान और प्राणि-विज्ञान की नींव डालने में समर्थ हुए। विज्ञान को उनकी यह अक्षय और अनुपम देन है।

एथेंस छोड़कर ५ वर्ष विभिन्न स्थानों में बिताने के बाद, अरस्तू, तरुण राजकुमार अलेग्जेंडर के अध्यापक नियुक्त होकर ई० पू० ३४२-४३ में पुनः मेसीडन लौटे। यहाँ उन्हें राजनीति-चर्चा का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने अलेग्जेंडर को दर्शन का पंडित या वैज्ञानिक की अपेक्षा विचक्षण राजनीतिज्ञ बनाने का निश्चय किया। अलेग्जेंडर के लिए उन्होंने दो विख्यात ग्रंथों, 'राजतंत्र' और 'उपनिवेश', की रचना की। इन दो ग्रंथों में उन्होंने

राजतंत्र और औपनिवेशिक शासन-पद्धति की विशद चर्चा की है। विश्व के विभिन्न देशों के शासन-तंत्रों का संग्रह करके उन्होंने शासन-तंत्र के विकास के एक इतिहास और आदर्श शासन-तंत्र पर एक मसौदे की रचना की योजना बनाई। अलेग्जेंडर के साम्राज्य-विस्तार के परिणामस्वरूप इस योजना के संबंध में तथ्य संग्रह करने का काम उनके लिए बहुत सरल हो गया।

ई० पू० ३३४-३५ में, फिलिप की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद, अरस्तू पुनः एथेंस लौटे और साधारण रूप से अध्यापन और गवेषणा-कार्य में लग गए। इसी समय उनकी वैज्ञानिक गवेषणा का एक और महत्वपूर्ण अध्याय आरंभ हुआ। नगर के एक छोर पर कुछ छोटे-छोटे उद्यानगृह किराए पर लेकर उन्होंने विख्यात विद्यापीठ 'लाइसियम' की स्थापना की। बगीचे में टहलते हुए गुरु-शिष्य के बीच विद्या-चर्चा की प्रथा से इस शिक्षा-प्रतिष्ठान को 'लाइसियम' या 'पेरिपैटेटिक' विद्यापीठ नाम दिया गया। 'लाइसियम' में न्यायशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, दर्शन, राजनीति, अलंकारशास्त्र आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। एक सौ से अधिक मौलिक पांडुलिपियों और अनेक दुष्प्राप्य तथा मूल्यवान ग्रंथों का संग्रह करके उन्होंने जिस ग्रंथागार की स्थापना की थी, उसी के आदर्श पर बाद में अलेग्जेंड्रिया और पार्गामम् के विराट ग्रंथागारों का संगठन हुआ। कुछ मानचित्र और छोटा-सा एक संग्रहालय इस विद्यापीठ के विशेष अंग थे।

ई० पू० ३२३ में अलेग्जेंडर की मृत्यु होने के बाद एथेंस में मेसीडन-विरोधी भावना पुनः उमड़ पड़ी। राजनीतिक कारणों से अरस्तू की लोकप्रियता भी घटने लगी। इस समय कुछ लोगों ने विद्यापीठ को अन्यत्र स्थानांतरित करने का प्रस्ताव किया, परंतु अरस्तू राजी नहीं हुए। उन्होंने 'लाइसियम का सचालन-भार अपने योग्य मित्र और सहकर्मी थिओफ्रेस्टस् के हाथों सौंप दिया और अपने जीवन का अंतिम काल बिताने के लिए वे मेसीडोनिया के सुरक्षित केंद्र कैल्सिस् चले गए। यहीं अगले वर्ष ई० पू० ३२२ में उनकी मृत्यु हुई।

रचना : अरस्तू की रचनाओं में दो प्रकार के ग्रंथ हैं। प्रथम प्रकार के ग्रंथ साधारण लोगों के समझने योग्य सरल भाषा में लिखे गए हैं। ये अधिकांशतः लाइसियम में दिए गए संध्याकालीन भाषणों के संकलन हैं। दूसरी श्रेणी के ग्रंथ पांडित्यपूर्ण हैं और विशेष रूप से विद्वज्जनों के लिए लिखे गए

हैं। इन पुस्तकों की शैली संक्षिप्त और सुसंबद्ध है। प्रथम प्रकार के प्रायः सभी ग्रंथ विनष्ट हो चुके हैं और लापता हैं। सौभाग्य की बात है कि दूसरी श्रेणी के अधिकांश ग्रंथ सुरक्षित हैं। प्राकृतिक विज्ञान संबंधी उनके ग्रंथों में फिजिक्स (Physics); डिकेलो (De caelo); डी जेनेरेशिओन एट् करप्शिओन (De generatione et corruption) और मीटिऑरोलॉजिका (Meteorologica) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'फिजिक्स' ८ खंडों का ग्रंथ है। पहले ४ खंडों में पदार्थ-विज्ञान संबंधी विभिन्न विषयों और बाकी ४ खंडों में गति के संबंध में चर्चा की गई है। डी ऐनिमा (De Aenema) और पार्वा नाचुरालिया (Parva Naturalia) मनोविज्ञान के संबंध में उनके श्रेष्ठ ग्रंथ हैं। 'पार्वा नाचुरालिया' ८ पृथक् पुस्तकों का एक विशद संग्रह है। ये ८ पुस्तकें हैं— डी सेंसू एट् सेंसिबिली (De Sensu et Sensibili); डी मेमोरिया एट् रेमिनिसेंटिया (De Memoria et Reminiscentia); डी सॉम्नो (D३ Somno); डी सॉम्निआइस (De Somniis); डी डिवाइनेशिओन पर सोम्नम् (De Divinatione Per Somnum); डी लॉंगिच्युडिने एट् ब्रेवीटेट विटी (De Longitudinae et Brevitet Viti); डी वीटा एट् मॉंत् (De Vita et Morte); और डी रेस्पिरेशिओन (De Respiratione)। वैज्ञानिक गवेषणा की दृष्टि से जीव-विज्ञान और प्राणि-विज्ञान संबंधी उनके ग्रंथ सर्वोत्तम हैं। हिस्टोरिया एनिमेलियम (Historia Animalium) में जीव-जंतुओं के विभिन्न व्यवहार, उनकी विशेषताएँ, उनके शरीर की बाहरी और भीतरी गठन आदि विषयों के संबंध में उनके पर्यवेक्षण लिपिबद्ध हैं। इन पर्यवेक्षणों से वे जिन सिद्धांतों पर पहुँचे, उनकी विशद चर्चा तीन अन्य ग्रंथों में की गई है। ये तीन ग्रंथ हैं—डी पार्टिबस ऐनिमेलियम (De Partibus Animalium); डी इंसेसू ऐनिमेलियम (De Insesu Animalium) और डी जेनेरेशिओन एनिमेलियम (De Generatione Animalium)। मेटाफिजिक्स (Metaphysics; तत्त्वमीमांसा) भी उनका एक और उल्लेखनीय ग्रंथ है। यह पुस्तक दर्शन की शैली में लिखी गई है। वैज्ञानिक पद्धति और विज्ञान की दार्शनिक बुनियाद की इसमें चर्चा होने के कारण इस पुस्तक का अलग महत्व है।

इस प्रसंग में एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। उनके जीवन के आरंभिक काल की रचनाओं और विचारधाराओं पर प्लेटो की शिक्षा

का प्रबल प्रभाव पड़ा है। परवर्ती काल में उन्होंने इस प्रभाव से ऊपर उठकर एक नए दृष्टिकोण से वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन की चेष्टा की है। उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन का पता, उनके आरंभिक और परवर्ती काल के ग्रंथों को ध्यान से पढ़ने से चल जाता है। अपनी आरंभिक रचनाओं में उन्होंने प्लेटो की वार्तालाप-शैली अपनाई थी। परंतु बाद की रचनाओं में उन्होंने यह पद्धति बिलकुल त्याग दी और अपने विचारों तथा वक्तव्यों को विशुद्ध समालोचनात्मक गद्य में प्रस्तुत किया। विषय-वस्तु के संबंध में भी यह ध्यान देने की बात है कि वे बाद में, अवास्तविक, अलौकिक तत्वों के स्थान पर वास्तविक, और पार्थिव तथ्यों की चर्चा की ओर अधिक आकृष्ट हुए। रॉस ने लिखा है :

"उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन की साधारण दिशा के संबंध में हम कह सकते हैं कि पहले उन्हें इस दुनिया से परे की वस्तुओं में रुचि थी, परंतु बाद में, इतिहास और प्रकृति के ठोस तथ्यों के प्रति उनमें दिलचस्पी पैदा हुई। उन्हें यह दृढ़ विश्वास होने लगा कि इस पृथ्वी का 'अर्थ' और 'रूप' पार्थिव पदार्थ और उनकी गठन में ही निहित हैं; इनसे पृथक् कोई चीज नहीं है।"*

अकादमी के सर्वश्रेष्ठ छात्र अरस्तू की विचार-धारा और गवेषणाओं पर प्लेटो की शिक्षा का अत्यधिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। बाद में अपनी गवेषणाओं और विचार द्वारा, उन्होंने अपने को इस प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त कर लिया था। इस बात का प्रमाण प्राणि-विज्ञान और जीव-विज्ञान संबंधी उनकी क्रांतिकारी गवेषणाओं में मिलता है। इन गवेषणाओं में उन्होंने यह उपलब्धि की कि तर्क की अपेक्षा परीक्षण का और विशुद्ध बुद्धि तथा अंतर्दृष्टि-द्वारा प्राप्त ज्ञान की अपेक्षा पर्यवेक्षण-लब्ध ज्ञान का मूल्य अधिक है और आवश्यकता भी अधिक है। जीव-विज्ञान-संबंधी गवेषणा के सिलसिले में उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—"तथ्य अभी पर्याप्त रूप से पकड़ में नहीं आए हैं; यदि कभी वे पकड़ में आवें तो इसका श्रेय पर्यवेक्षण को दिया जाना चाहिए, सिद्धांतों को नहीं। सिद्धांतों को तभी श्रेय दिया जा सकता है, जब कि, जो कुछ वे बताते हों, उनका उन तथ्यों से मेल हो, जिनका हम पर्यवेक्षण करते हैं।"[1]

---

* Ross, 'Aristotle.'

1. 'About the Generation of fish' नामक अपने ग्रंथ में उन्होंने यह मत व्यक्त किया है।

इतना ही नहीं, बल्कि गवेषणाओं के लिए योजना तैयार करना और गवेषणा कार्य में संगठित रूप से लोगों को नियुक्त करना, यह काम भी पहले-पहल अरस्तू ने ही किया। एक समय था जब कि विद्योत्साही अलेग्जेंडर की उदार आर्थिक सहायता से इस कार्य पर वे कई सौ ग्रीक मुद्रा [ग्रीक मुद्रा एक 'टेलेंट (Talent) का मूल्य लगभग २४० ब्रिटिश पौंड के समान था] व्यय किया करते थे। ग्रीस तथा एशिया के विभिन्न स्थानों से प्राणि-विज्ञान-संबंधी तथ्य संग्रह करने के लिए उन्होंने २ हजार व्यक्ति नियुक्त किए थे।[1] ये व्यक्ति कोई कुशल प्रेक्षक नहीं थे, फिर भी, इस प्रकार के व्यापक प्रयत्न से, अरस्तू को विभिन्न विषयों-संबंधी ढेरों तथ्यों के संग्रह में जो सफलता मिली, उसका दृष्टांत आजकल की राष्ट्र-सहायता द्वारा पुष्ट, सुनियोजित और सुनियंत्रित वैज्ञानिक शोध-कार्य शुरू होने से पहले कहीं नहीं मिलता।

प्राणि-विज्ञान और जीव-विज्ञान : प्राणि-विज्ञान और जीव-विज्ञान-संबंधी खोज अरस्तू ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में की, लेकिन उसकी चर्चा हम सबसे पहले करेंगे। जीव-विज्ञान-संबंधी खोजों में ही उनकी वैज्ञानिक गवेषणा का परिपूर्ण विकास हुआ है। गणित, ज्योतिष और पदार्थ-विज्ञान में उनका ज्ञान असाधारण था, परंतु नए आविष्कारों-द्वारा वे इस ज्ञान को और अधिक उन्नत नहीं कर सके थे। दूसरी ओर, जीव-विज्ञान के संबंध में कहा जा सकता है कि यह विद्या उन्हीं की सृष्टि है। प्राचीन काल के श्रेष्ठतम जीव-वैज्ञानिक के संबंध में, आधुनिक काल के अन्यतम श्रेष्ठ वैज्ञानिक डार्विन ने लिखा है —

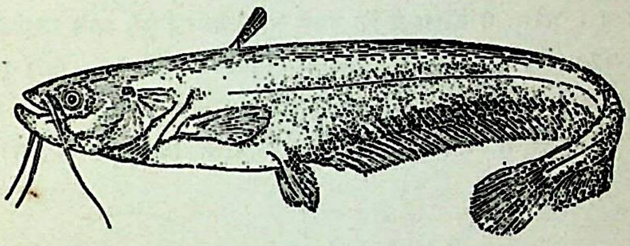
'लिनियस और कूविए, बहुत भिन्न रूपों में, हमारे दो देवता रहे हैं, परंतु, वृद्ध अरस्तू के सामने वे स्कूल के छात्र मात्र थे।[2]

अरस्तू प्रायः ५०० विभिन्न प्राणियों के त्रुटिहीन, विशद वर्णन लिपिबद्ध कर गए हैं। इनमें से ५० की उन्होंने अपने हाथों चीर-फाड़ करके उनकी जटिल भीतरी गठन अंकित की। निजी अध्ययन और अभिज्ञता के बिना, इस प्रकार के वर्णन और चित्रण संभव नहीं।

---

1. Crowther, 'The Social Relations of Science. p. 73.
2. "Linnaeus and Cuvier have been my two Gods, though in very different ways, but they were more school boys to old Aristotle"—Darvin's life and letters, III; p. 252.

उन्होंने समग्र प्राणि-विज्ञान के तीन भाग किए—(१) प्राणि-वृत्तांत—यह प्राणि-जीवन की साधारण घटनाओं, अभिज्ञताओं और व्यवहारों का विवरण है; (२) शरीर-रचना और शरीर-क्रिया—प्राणि-देह के विभिन्न अंशों तथा उनकी क्रियाओं का वर्णन और शरीर के भीतर स्थित यंत्र-समूह के नानाविध



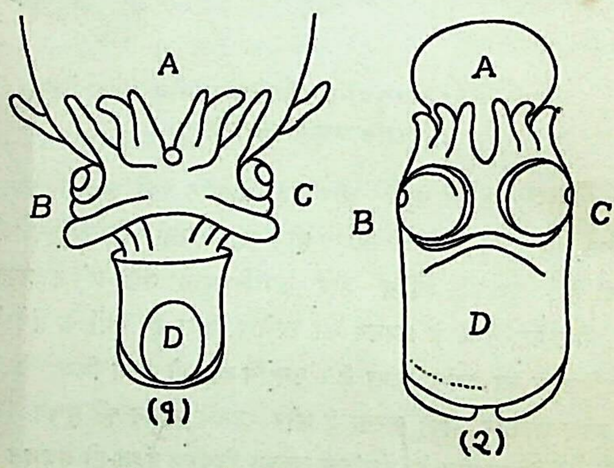
चित्र—७४ : अरस्तू द्वारा वर्णित अशल्क मीन (Cat fish)
(पेरासिलरस एरिस्टाटेलिस)

व्यवहार तथा क्रिया की चर्चा; और (३) प्रजनन तथा भ्रूण-विज्ञान। अपने-आप पुष्ट, विकसित और क्षय-प्राप्त होने की क्षमता को उन्होंने 'जीवन' की संज्ञा दी है। उन्होंने अस्थि और उपास्थियुक्त मछलियों के प्रकार-भेद का निर्णय और मछलियों के प्रजनन का उल्लेख किया है, मुर्गी के अंडे में भ्रूण के क्रमिक विकास का वर्णन किया है। उन्होंने यह भी लक्ष्य किया कि डिंबावस्था में ही हृदय आकार प्राप्त करता है और उसमें स्पंदन की सूचना मिलती है। मधुमक्खियों के स्वभाव से संबंधित उनका विवरण बहुत-ही अद्भुत है। इसके अतिरिक्त प्राणि-जगत् के अनेक तथ्य उन्होंने आविष्कृत और लिपिबद्ध किए। इनमें से अनेक का महत्व उनके समकालीन या कुछ बाद के भी प्राणि-वैज्ञानिक समझ नहीं पाए; कई शतियों के बाद उनका आविष्कार फिर नए सिरे से हुआ।

अरस्तू के त्रुटिहीन पर्यवेक्षण और वर्णन के कुछ दृष्टांत दिए जा रहे हैं। भूमध्यसागर में कट्ल्फिश (Cuttle-fish; Sepia) नाम का एक प्रकार का समुद्री घोंघा मिलता है। अरस्तू ने लिखा है कि अंडे की श्वेत वस्तु से शिशु घोंघा धीरे-धीरे आकार प्राप्त करता है। इसके बाद अंडे का छिलका फटकर यह बहुत कुछ चिड़ियों के बच्चों की तरह बाहर निकल आता है। १६ वीं शती में प्राणि-वैज्ञानिक विलियम रोंदले (१५०७-६६ ई०) ने, अरस्तू

के विवरण के अनुसार इस समुद्री घोंघे के अंडे से बच्चा पैदा होने का जा चित्र अंकित किया, वह ७५ संख्यक चित्र में दिखाया गया है।

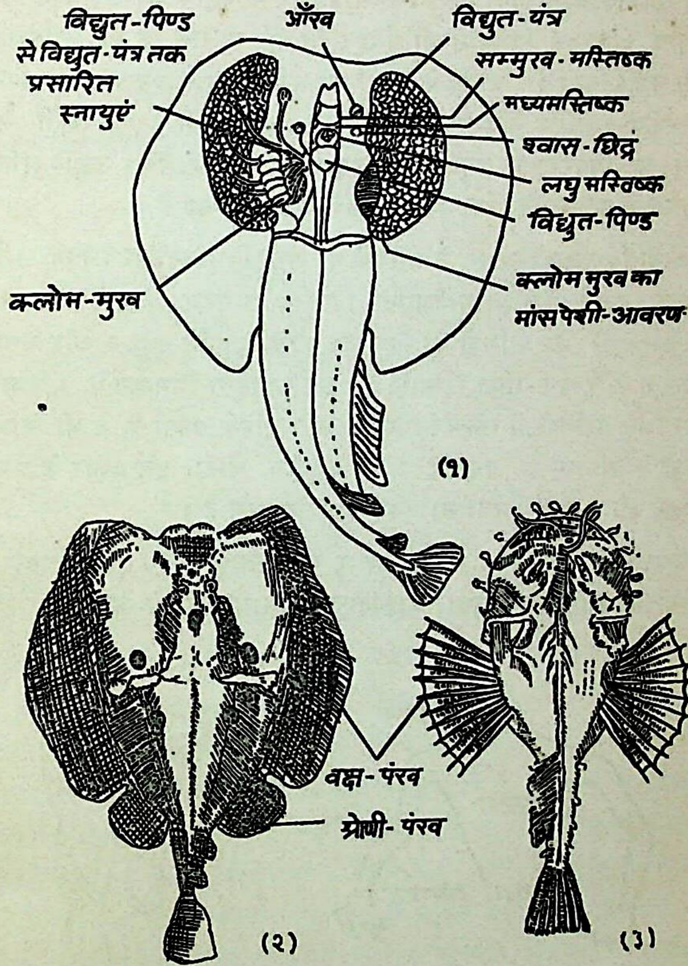
इस सिलसिले में अरस्तू-वर्णित टारपीडो (Torpedo Ocellata) और वंसी-मछली (Angler fish) की वात उल्लेखनीय है। भूमध्य सागरीय मछुए वहुत प्राचीन काल से ही इन दोनों प्रकार की मछलियों से भलीभांति परिचित थे। अरस्तू ने लिखा है कि इनके सामनेवाले हिस्से अन्य मछलियों के मुकावले वहुत चौड़े हैं। टारपीडो में दोनों श्रोणि-पंख (Pelvic fin) दुम की ओर होते हैं; सामने का फैला हुआ हिस्सा थोड़ा-वहुत पंखे का काम करता है। टारपीडो मछली अपने शरीर से निकलनेवाली विद्युत्-शक्ति-द्वारा अन्य



चित्र ७५ : अरस्तू-वर्णित कट्लफिश (Sepia) या एक प्रकार के समुद्री घोंघे की परिणति-प्राप्ति का चित्र : (१) शैशवावस्था का चित्र; (२) परिणत अवस्था का चित्र। A—अंडा; B और C—आंखें; D—घोंघे का शरीर।

मछलियों या जलज प्राणियों को बिजली मारकर उनका शिकार करती है। समुद्र के किनारे रेत या कीचड़ में ये छिपी रहती हैं और कोई मछली निकट आ जाय तो तुरंत बिजली मार देती हैं। इनकी विजली का तीव्र आघात मनुष्य तक ने अनुभव किया है। वंसी मछली की आंख के पास धागे की तरह लंवी, महीन और चिकनी कोई चीज होती है। छोटी मछलियां धागा-जैसी इस चीज को, समुद्री सेवार के धोखे में, खाने आकर खुद्र इस चीज़ में विंध जाती हैं। रोंदले ने टारपीडो और वंसी मछली के जो चित्र अंकित किए हैं, उनका अरस्तू के वर्णन से पूरा मेल है।

अरस्तू ने आविष्कार किया कि ह्वेल (Whale) मगर आदि के समान एक जाति के समुद्री प्राणी हैं, जो स्तनपायी स्थल-जीवों की तरह जरायुज हैं, साधारण



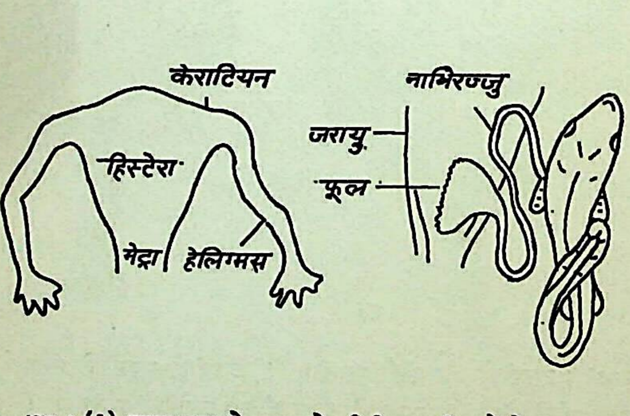
चित्र ७६ : टारपीडो और वंसी मछली। (१) टारपीडो मछली के भीतर के विद्युत्-यंत्र का चित्र; (२) रौंदले (१५०७-६६) द्वारा अंकित टारपीडो ओसेलाटा (Torpedo Ocellata) के भीतरी भाग का चित्र; (३) रौंदले-द्वारा अंकित वंसी मछली (Angler-fish)।

मछलियों की तरह अंडज नहीं। मुस्टेलस् लेविस् (Mustelus laevis) और मुस्टेलस् वल्गारिस (Mustelus vulgaris) नाम के दो बहुत छोटे मगरों

के भ्रूण मातृगर्भ में किस तरह रहते हैं और नाभिरज्जु (umbilical cord) द्वारा जरायु और फूल से जुड़े रहते हैं, अरस्तू ने इसका उल्लेख किया है। प्राणिवैज्ञानिक वहुत दिनों तक इस आविष्कार के महत्व की उपलब्धि नहीं कर पाए और इस विषय में भी संदेहरहित नहीं हो सके कि यह आविष्कार अरस्तू ने ही किया। अरस्तू के कार्यों का अंतिम रूप से प्रमाण प्रस्तुत किया जर्मन जीव-वैज्ञानिक जोहानेस् मुलर (ई० १८०१-५८) ने १९ वीं शती में। अरस्तू के विवरण के अनुसार मुस्टेलस् के भ्रूण के जो चित्र उन्होंने अंकित किए, उनके कुछ नमूने चित्र ७७ और ७८ में दिखाए गए हैं।

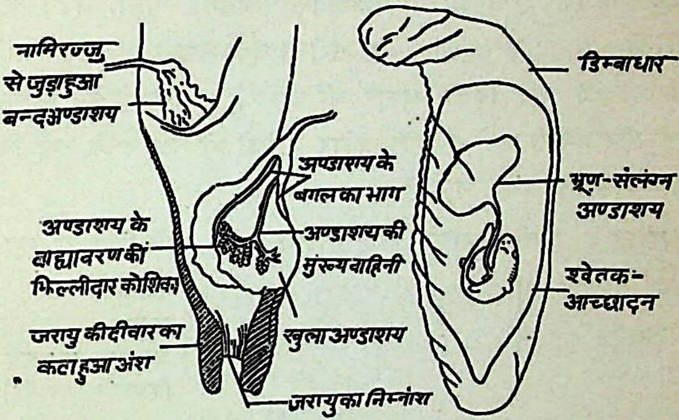
श्रेणी-विभाजन : अरस्तू ने प्राणियों का श्रेणी-विभाजन विलकुल नए तरीके से किया। उनसे पहले प्राणि-वैज्ञानिक विपरीत गुणात्मक श्रेणियों (Contrasted group) में प्राणियों का विभाजन करते थे; जैसे स्थलज और जलज, पंख-युक्त और पंख-रहित, इत्यादि। इस प्रकार के विभाजन के परिणामस्वरूप जिन प्राणियों में अनेक विषयों में वहुत अधिक समता है, वे भी विभिन्न श्रेणियों में बंट गए। पंखदार और पंखहीन चींटी, इस प्रकार के श्रेणी-विभाजन की अवास्तविकता का एक अच्छा उदाहरण है।

अरस्तू ने प्राणि-जगत् में तीन प्रकार की समताएँ देखीं। एक ही प्रकार के प्राणियों में स्वभावगत तथा आकृतिगत सामान्य भेदों के आधार पर जिन



चित्र—७७ : (१) मादा-मगर के जठर के विभिन्न हिस्सों के अरस्तू-प्रदत्त नाम, आधुनिक शरीर-रचना शास्त्र में ये नाम अनेकांश में अव भी चालू हैं। (२) मुस्टेलस् लेविस (Mustelus laevis) नामक एक जाति के क्षुद्र मगर की भ्रूणावस्था; वहुत कुछ स्तनपायी जीवों की तरह, मगर-शिशु मातृ जठर की दीवारों से जुड़ा हुआ रहता है। जोहानेस् मुलर (१८४२) द्वारा अंकित अरस्तू की धारणा का चित्ररूप।

विभिन्न जातियों का उल्लेख किया जाता है, उनमें शारीरिक गठन-संबंधी तथा अन्य अनेक विषयों में भी काफी समानता पाई जाती है। इन विभिन्न



चित्र—७८ : (१) मुस्टेलस् लेविस जाति के क्षुद्र मगर के जरायु के निम्न भाग का भीतरी गठन-वैचित्र्य। अरस्तू के विवरण के अनुसार जोहानेस् मुलर (१८४२) द्वारा अंकित। (२) मुस्टेलस् वल्गारिस् नामक एक अन्य जातीय छोटे मगर का अंडा। अरस्तू के वर्णन के अनुसार जोहानेस् मुलर-द्वारा अंकित इस चित्र में दिखाया गया है कि अंडे के भीतर मगर-शिशु फूल के साथ किस प्रकार जुड़ा रहता है।

जातियों के समन्वय से वंश बना है। किसी एक वंश के अंतर्गत विभिन्न जातियों में बहुत सादृश्य होता है। विभिन्न वंशों के अंतर्गत प्राणियों में भी अनेक विषयों में मोटे तौर पर समता देखी जाती है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे अद्‌भुत जीव हैं, जिन्हें कतई किसी जाति या वंश के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। ऐसी स्थिति में अरस्तू ने यह समझ लिया कि बिलकुल सही तौर पर श्रेणी-विभाजन करना बहुत ही कठिन काम है। इन विचारों से वे इस सिद्धांत पर पहुँचे कि श्रेणी-विभाजन के काम में भेद-सूचक जितने अधिक गुणों को शामिल किया जायगा, श्रेणी-विभाजन उतना ही दोषरहित होगा। इस नियम के अनुसार प्राणियों को श्रेणीबद्ध करके अरस्तू ने जो सूची तैयार की, उससे अधिक उन्नत सूची १८वीं शती में लिनियस से पहले और कोई तैयार नहीं कर पाया।

अरस्तू ने प्राणियों के दो मुख्य भाग किए (१) रक्तपूर्ण और (२) रक्त-विहीन। आधुनिक श्रेणी-विभाजन में इनकी तुलना कशेरुक (Vertebrate)

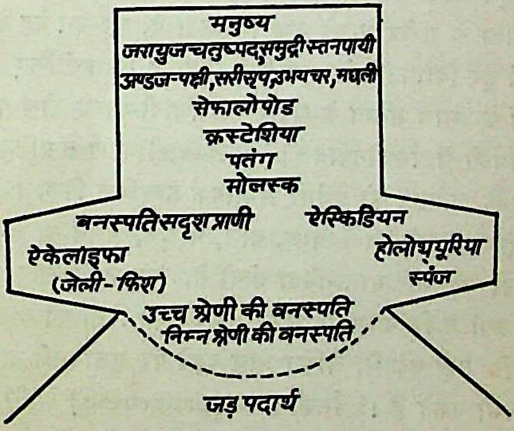
और अकशेरुक (invertebrate) प्राणियों से की जा सकती हैं। रक्तपूर्ण प्राणियों के मुख्य वंश-विभाग इस प्रकार हैं : जरायुज चतुष्पद (Viviparous quadrupeds), सिटेशिया (Cetacea—तिमिगण), पक्षी, अंडज चतुष्पद (Oviparous quadrupeds) और सरीसृप तथा मछली। रक्तपूर्ण प्राणियों में मनुष्यों की एक विशेष प्रकार की जाति है। रक्तविहीन प्राणियों के बाहरी और भीतरी अंगों के अनेक प्रकार के भेदों को लक्ष्य करके उन्हें विभिन्न वंशों में विभाजित किया गया है।

अरस्तू के श्रेणी-विभाजन का संक्षिप्त सार नीचे दिया जा रहा है—

जरायुज		रक्तपूर्ण (१) मनुष्य (२) जरायुज चतुष्पद (स्थल स्तनपायी) (३) समुद्री स्तनपायी
अंडज	इनके अंडे संपूर्ण और त्रुटिहीन होते हैं।	(४) पक्षी (५) अंडज चतुष्पद (Reptiles) सरीसृप, जलस्थलचर (amphibia)
	इनके अंडे असंपूर्ण और त्रुटिपूर्ण होते हैं।	(६) मछली रवतविहीन (७) सेफालोपोड (Cephalopod) (८) क्रस्टेशिया (Crustacea)
	इनके अंडे विशेष प्रकार के होते हैं।	(९) पतंग
	एक प्रकार के चिपचिपे जनन-पदार्थ से या स्वतः प्रजनन-पद्धति से उत्पत्ति होती है।	(१०) मोलस्क (mollusc)
	स्वतः प्रजनन-पद्धति से इनकी उत्पत्ति होती है।	(११) वनस्पति सदृश प्राणी; स्पंज

मछलियाँ क्लोम की सहायता से, और अन्य प्राणी फेफड़ों की सहायता से सांस लेते हैं, इस विषय में अरस्तू ने अनेक परीक्षण किए। सांस लेने की वास्तविक प्रणाली से अवगत होने के लिए वे जीवित पशु-पक्षियों की चीर-फाड़ करते थे। उन्होंने बहुत से पशु-पक्षियों के फेफड़ों का वर्णन किया है। इस विषय

में अपने पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के मतों की समालोचना के प्रसंग में उन्होंने एक स्थान पर यह मत व्यक्त किया है कि "(श्वास-प्रश्वास के संबंध में) पूर्ववर्ती प्राणि-वैज्ञानिक अच्छा वर्णन या समालोचना नहीं कर सके। इसका कारण यह है कि प्राणियों की भीतरी गठन के विषय में उनमें प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव था। इसके अतिरिक्त वे यह भी स्वीकार नहीं करते थे कि प्रकृति के हर कार्य के पीछे एक कारण हुआ करता है। यदि वे यह प्रश्न उठाते कि प्राणियों के श्वास-प्रश्वास का उद्देश्य क्या है और क्लोम, फेफड़ा आदि अंगों की क्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में इस प्रश्न पर विचार-विमर्श करने का प्रयत्न करते, तो वे बहुत पहले ही श्वास-प्रश्वास के कारण का पता लगा लेते।" इस उक्ति में, कम-से-कम जीव-विद्या-संबंधी गवेषणा के क्षेत्र में, अरस्तू का विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया 'किस तरह' घटित होती है, इसका ठीक उत्तर देने पर भी, यह क्रिया 'क्यों घटित होती है', इसका उत्तर वे नहीं दे पाए। उनका खयाल था कि हवा के स्पर्श से खून को ठंडा करना ही श्वास-प्रश्वास क्रिया का मुख्य उद्देश्य है। इससे बेहतर और संतोषजनक कारण बताना अरस्तू के काल में संभव भी नहीं था। वायु और गैस का भेद उस समय तक अज्ञात था, रसायन की भी तब तक शैशवावस्था थी।



चित्र—७९ : अरस्तू की परिकल्पना के अनुसार प्राणि-जगत् के विभिन्न स्तर।

ऐसे ही कुछ और विषयों में भी अरस्तू की धारणाएँ भ्रांतिपूर्ण थीं। इनमें से दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनका यह विश्वास था कि वनस्पति-

जीवन में यौन-क्रिया नहीं होती; उनका यह भी खयाल था कि बुद्धिवृत्ति का स्थान मस्तिष्क नहीं, हृदय है। अल्कमाओन और हिपोक्रेटिस्, दोनों यह मानते थे कि मस्तिष्क ही बुद्धिवृत्ति का उद्‌गम स्थान है; परंतु, न जाने क्यों, अरस्तू ने उनके मत को स्वीकार नहीं किया।

प्रजनन तत्त्व : प्रजनन तत्त्व के संबंध में अरस्तू का मतवाद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। पिता ही संतान का वास्तविक जनक है। मातृ-गर्भ केवल भ्रूण को आश्रय देने और उसकी पुष्टि की व्यवस्था करने के लिए है। मिस्री जमाने से प्रचलित यह धारणा उस समय बहुत व्यापक थी। जहाँ तक जान पड़ता है, इस प्रकार की धारणा से ही पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। प्रजनन-क्रिया में माता के वास्तविक अंश की प्रथम व्याख्या अरस्तू ने की।

प्राणियों के जन्म-रहस्य के प्रसंग में उन्होंने ३ प्रकार के जन्मों के विवरण दिए हैं—(१) किसी-किसी प्राणी का जन्म अपने-आप होता है, (२) एक श्रेणी के प्राणियों का जन्म अकेले पिता से होता है, और (३) अवशिष्ट प्राणियों के क्षेत्र में पिता और माता के यौन-संबंध के फलस्वरूप संतान-सृष्टि होती है। इस तीसरे उपाय से जन्म होने के संबंध में अरस्तू ने बहुत गहरा विचार किया। पहले लोगों का यह खयाल था, और हिपोक्रेटिस् की भी यही धारणा थी, कि पिता के शरीर से जो शुक्र निकलता है, वह उस देह के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों की हर विशेषता को साथ लिए होता है। इसीलिए पिता के शरीर के अवयवों के साथ संतान के शरीर का अंगांगी-साम्य दीख पड़ता है। यह मतवाद अंग्रेजी में पैनजीनवाद (pangenesis) नाम से प्रसिद्ध है। अरस्तू ने इस प्रकार के मतवाद को पूर्णतः भ्रमात्मक प्रमाणित किया। अंग-प्रत्यंगों की सदृशता छोड़कर, गले की आवाज, बाल, नाखून, चलने का तरीका आदि कुछ और विषयों में भी माता-पिता दोनों से, संतान का सादृश्य दिखाई पड़ता है। हो सकता है कि जन्मदान करते समय तरुण पिता की दाढ़ी नहीं उगी थी या बाल भी नहीं पके थे, लेकिन आयु बढ़ने पर संतान की दाढ़ी भी बढ़ती है और बाल भी पकते हैं। पैनजीनवाद (pangenesis) के सिद्धांत के अनुसार इस प्रकार के असामंजस्य की व्याख्या असंभव है।

अरस्तू ने बताया कि विभिन्न अंग-प्रत्यंगों के बदले जीवकोषों की समष्टि सूक्ष्म ऊतकों से शुक्र की उत्पत्ति होती है। खाद्य पदार्थ से रक्त और रक्त से

ऊतकों का निर्माण होता है। सारा का सारा रक्त ऊतकों में परिणत नहीं होता। ऊतकों के निर्माण के बाद जो रक्त बच रहता है, उससे शुक्र उत्पन्न होता है। इस प्रकार जिस खाद्य-पदार्थ से पिता के अवयवों की उत्पत्ति होती है, उसी खाद्य पदार्थ से शुक्र बनने के कारण पिता और संतान में आकृति-गत सादृश्य दीख पड़ता है। इस शुक्र में ही अंग-प्रत्यंग और संपूर्ण अवयवों के सभी उपादान छिपे रहते हैं। इस संबंध में रॉस ने लिखा है, "वस्तुतः जो उपयोगी पौष्टिक तत्त्व अपने अंतिम रूप में सीधे ऊतकों का निर्माण करता है, यह उसी का अवशिष्ट भाग है। पौष्टिक तत्त्व जो अंतिम रूप प्राप्त करता है, वह रक्तपूर्ण जीवों में रक्त और रक्तविहीन जीवों में उसी प्रकार का कोई तरल पदार्थ है। शुक्र स्पष्टतः रक्त नहीं है, इसलिए यही अनुमान किया जाना चाहिए कि यह रक्त की प्रत्यक्ष उपज है। किसी जीव का अधिकांश रक्त उसके ऊतकों का निर्माण करता है; जो रक्त इसके लिए आवश्यक नहीं होता, उसी से शुक्र बनता है। चूँकि बचा हुआ भाग अधिकांश भाग के सदृश होता है, इसलिए संतान भी माता-पिता के सदृश होती है। 'वस्तुतः वह शुक्र, जिसे हाथ, चेहरा या संपूर्ण जीव का निर्माण करना है, पहले ही, अभिन्न रूप से (undifferentiated) वही हाथ, चेहरा या संपूर्ण जीव है, और उनमें से प्रत्येक जीव वास्तव में जो है, शुक्र वही वस्तु संभाव्य रूप (potentially) में है।'*

संतान-सृष्टि में माता का क्या अंश है, इस संबंध में अरस्तू का कहना है कि संतान की पुष्टि और वृद्धि के लिए सार पदार्थ का पोषण करना माता की जिम्मेदारी है। शुक्र इस सार पदार्थ को ही यथोचित रूप प्रदान करता है। संतान-सृष्टि के विषय में माता और पिता के संबंध को सरल और स्पष्ट रूप में समझाने के लिए उन्होंने बढ़ई-द्वारा सामान बनाने का उदाहरण दिया है। खाट, पलंग, कुरसी, मेज आदि बनाने के लिए जिस तरह लकड़ी की आवश्यकता है, उसी तरह बढ़ई की कार्य-कुशलता की भी आवश्यकता है। इस कुशलता और लकड़ी के समन्वय से बननेवाला सामान अपना रूप प्रकट करता है। पिता का शुक्र बढ़ई की कुशलता की भांति है। शुक्र में जो शक्ति, गति और कार्यक्षमता है, वह माता के सार पदार्थ (Substance) को धीरे-धीरे आकार प्रदान करके, पूर्णावयव प्राणी में रूपांतरित करता है।

---

* Ross, Aristotle, p. 119-20.

जिस प्रतिभा ने, परीक्षण और पर्यवेक्षण का पारस पत्थर छुलाकर जीव-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में क्रांतिकारी आविष्कारों को संभव बनाया, वही प्रतिभा, ज्योतिष और पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में, पर्यवेक्षण से संपर्क तोड़कर विशुद्ध दर्शन के आदर्श का अनुसरण करती हुई बांझ बन गई और कोई नई सृष्टि नहीं कर सकी। ज्योतिष और पदार्थ-विज्ञान में अरस्तू की विश्लेषण-प्रणाली और दृष्टिकोण पूर्णतः भिन्न प्रकार के थे। इसका एक उदाहरण दिया जा रहा है। डिमोक्रिटस् का यह विचार था कि किसी शून्य स्थान में भारी परमाणु, हल्के परमाणुओं की अपेक्षा अधिक द्रुत गति से नीचे गिरेंगे। इस मत की समालोचना करते हुए अरस्तू ने कहा कि शून्य स्थान में भारी और हल्की सभी वस्तुएँ समान गति से नीचे गिरनी चाहिए, परंतु, चूँकि इस प्रकार का सिद्धांत असंगत, युक्ति-विरुद्ध और दुर्बोध्य है, इसलिए शून्य स्थान का अस्तित्व असंभव है। चंद्रग्रहण इस कारण होता है कि यही चंद्र का स्वभाव और रीति है। पदार्थ-विद्या और ज्योतिष-संबंधी अनेक प्रश्नों के समाधान के उद्देश्य से उन्होंने लगातार इस प्रकार की युक्ति की शरण ली है।

ज्योतिष और ब्रह्मांड-परिकल्पना : अरस्तू की विश्व-परिकल्पना में ब्रह्मांड एक, संपूर्ण और सीमाबद्ध है। सभी वस्तुएँ इस ब्रह्मांड में सीमित हैं। असीम वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती। कारण यह है कि असीम वस्तु या तो सरल और साधारण होगी, नहीं तो अनेक वस्तुओं के सम्मिश्रण से अति जटिल होगी। यदि वह वस्तु सरल और साधारण हो तो वह मौलिक तत्त्व के सिवा और कुछ नहीं हो सकती, और चूँकि मौलिक तत्व असीम नहीं है, इसलिए असीम वस्तु सरल और साधारण नहीं हो सकती। दूसरी ओर असीम वस्तु जटिल हो तो उसे मूलतः मौलिक तत्त्वों का सम्मिश्रण होना पड़ेगा। पदार्थों के मूल तत्वों की संख्या सीमित है—अर्थात् केवल चार है। इसलिए कोई असीम वस्तु जटिल तभी हो सकती है, जब कि कम से कम एक मौलिक तत्त्व असीम हो। परंतु किसी असीम मौलिक तत्व का अस्तित्व असंभव है, क्योंकि किसी एक मौलिक पदार्थ को असीम मान लिया जाय तो वह अकेला ही सारे शून्य स्थान में व्याप्त हो जायगा और अन्य मौलिक पदार्थों के अस्तित्व के लिए जगह ही नहीं रह जायगी। इसलिए ब्रह्मांड असीम नहीं हो सकता। यह अरस्तू की सिलोजिस्म (Syllogism) अथवा युक्ति का एक दृष्टांत है। 'फिजिक्स' (Physics) ग्रंथ में इस युक्ति का प्रदर्शन किया गया है।

'डी केलो' (De Caelo) पुस्तक में अरस्तू ने गति के अध्ययन से ब्रह्मांड की सीमाबद्धता प्रमाणित करने की चेष्टा की है। जिस वस्तु की गति वृत्ताकार है, वह असीम नहीं हो सकती; क्योंकि यदि वह वस्तु असीम हो तो केंद्र से परिधि पर किसी विंदु तक सरल रेखा खींचने पर वह रेखा निश्चय ही असीम होगी। परंतु असीम रेखा का खींचा जाना असंभव है। इसलिए असीम वस्तु की वृत्ताकार गति भी असंभव है। लेकिन हम जानते हैं कि ब्रह्मांड वृत्ताकार चक्कर काटता रहता है। इसलिए ब्रह्मांड असीम नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त किसी असीम वस्तु का केंद्र नहीं हो सकता; और ब्रह्मांड एक केंद्र के चारों ओर घूम रहा है। इस कारण भी यह सीमित है।*

अरस्तू के ज्योतिष में एकक, संपूर्ण और सीमाबद्ध ब्रह्मांड के केंद्र में पृथ्वी अवस्थित है। पाइथागोरियों ने केंद्र में अग्नि को संस्थापित किया था, क्योंकि केंद्र-जैसे विशिष्ट स्थान में उन्होंने मिट्टी की जगह अग्नि को स्थान देना ही अधिक युक्तिसंगत समझा। अरस्तू ने इस मत का विरोध करते हुए कहा कि भारी वस्तु-मात्र पृथ्वी के केंद्र की ओर दौड़ती है; दूसरी ओर अग्नि की गति ऊर्ध्वमुखी है। इसलिए, मृत्तिका-धर्म-युक्त अभिकेंद्र (Centripetal) पृथ्वी को ही ब्रह्मांड के केंद्र में स्थान मिलना चाहिए। इसके बाद उन्होंने समग्र ब्रह्मांड को स्फटिक के समान स्वच्छ कुछ एक-केंद्रीय गोलों (Concentric Crystal spheres) में विभाजित किया। ब्रह्मांड को स्फटिक गोलों में विभाजित करने की उन्होंने जो परिकल्पना की, वास्तव में उसकी उद्भावना युडॉक्सस् ने की थी। अरस्तू की कल्पना के अनुसार केंद्र में अवस्थित पहला गोला मृण्मय पृथ्वी का गोला है; परवर्ती गोले में सागर और महासागर विराजमान है; बाद के दो गोलों में क्रमानुसार वायु और अग्नि की अवस्थिति है। इसके बाद एक-एक गोला क्रमानुसार चंद्र, सूर्य, बुध,

* कोई वस्तु जिसकी गति वृत्ताकार है, जैसी कि ब्रह्मांड की है, अवश्य ही सीमित होगी, क्योंकि यदि वह वस्तु असीम हो तो जो सरल रेखा केंद्र से उसकी परिधि के किसी विंदु तक खींची जायगी, वह भी असीम होगी। अब यह रेखा असीम होने के नाते तय नहीं की जा सकती और वस्तु वृत्ताकार नहीं घूम सकती, जब कि हम देखते हैं कि वास्तव में यह ब्रह्मांड इसी प्रकार चक्कर काटता है। इसके अतिरिक्त किसी असीम वस्तु का केंद्र नहीं हो सकता, इसलिए यह ब्रह्मांड, जो अपने केंद्र के चारों ओर चक्कर काटता है, असीम नहीं हो सकता।—Heath, 'Aristarchus of Samos.' p. 229.

शुक्र, मंगल, वृहस्पति और शनि ग्रहों को पीठ पर लादकर पृथ्वी की परिक्रमा करता रहता है। शनि ग्रह के परवर्ती गोले में स्थिर तारे पंक्तिवद्ध रूप में विराजमान रहते हैं। स्थिर तारों का यह गोला ही ब्रह्मांड की सीमा निर्धारित करता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस अविराम वृत्ताकार गति का कारण क्या है ? इस अविराम गति को निर्देशित कौन करता है और इसका उद्गम कहाँ है ? अरस्तू से न्यूटन तक हर वैज्ञानिक को इस प्रश्न ने परेशान किया। मेटाफिज़िक्स ग्रंथ में अरस्तू ने ग्रहों की अविराम गति के स्वरूप और कारण की विशद चर्चा करने के बाद कहा है कि आकार (form) और पदार्थ (matter) की तरह गति भी चिरस्थायी और चिरंतन है। इसका न आदि है और न अंत। इस गति के पीछे अचल चालक (Primen Movens या Unmoved Mover) है। यह चालक अचल है; क्योंकि स्वयं अचल हुए बिना किसी अन्य को निरंतर परिचालित करना उसके लिए संभव नहीं है। यह अचल, अचपल, अशरीरी, अदृश्य 'प्राइमेन मूवेन्स' ही एकमात्र सत्य है, वास्तविक शक्ति और भगवान हैं। यह अदृश्य, सर्व-शक्तिमान, अचल चालक ब्रह्मांड के प्रांतदेश में अवस्थित होकर विश्व-चक्र को निरंतर घुमा रहा है।

पदार्थ-विद्या : अरस्तू ने गति के विकास में गहराई से विचार और चर्चा की है। उनके मतानुसार तीन प्रकार की गतियाँ हैं—वृत्ताकार गति, सरल रेखा की गति और दोनों के समन्वय से उत्पन्न मिश्र गति। तीन प्रकार की गतियों में वृत्ताकार गति ही विरामहीन और अंतहीन है। इसलिए चंद्र, सूर्य, ग्रह-नक्षत्रों की विरामहीन गति वृत्ताकार है। इस प्रकार की गति ही त्रुटिहीन है। दूसरी ओर मिट्टी, जल, वायु और अग्नि, इन चार मौलिक पदार्थों की गति सरल रेखा में संपन्न होती है। मिट्टी की गति निम्नमुखी और अग्नि का ऊर्ध्वमुखी है; जल और वायु की गतियाँ दोनों के बीच की हैं।

इस प्रकार के गतिवाद से अरस्तू ने पृथ्वी और चंद्र के मध्यवर्त्ती स्थान को भर दिया—प्रथम या सब से नीचे के स्तर पर मिट्टी, उसके बाद जल, फिर वायु और चंद्रमंडल के पास अंतिम स्तर पर अग्नि के द्वारा। अब उन्हें चंद्र-मंडल से लेकर ब्रह्मांड के प्रांतदेश पर अवस्थित नक्षत्रमंडल तक के स्थान को भरना था। इस स्थान की पूर्ति के लिए उन्होंने पाँचवें मौलिक पदार्थ 'ईथर' की परिकल्पना की। ईथर के अस्तित्व के संबंध में उनकी युक्ति बहुत अद्भुत है। जब कि, मिट्टी, जल, वायु और अग्नि में से प्रत्येक की सरल-रेखा गति है, तब आवर्तन-गति-संपन्न एक पांचवां मौलिक तत्त्व अवश्य ही है। इस प्रकार

की गति से युक्त किसी तत्त्व के अभाव में सृष्टि परिपूर्णता लाभ नहीं कर सकती। फिर उन्होंने कहा कि आवर्तन-गति-संपन्न पांचवां तत्त्व ईथर मौलिक पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ है। यह चंद्र-मंडल से नक्षत्र-मंडल तक अवशिष्ट स्थान में व्याप्त रहता है। नक्षत्र आदि ज्योतिष्क इसी ईथर से उत्पन्न हुए हैं—ऐनावसागोरस् की धारणा के अनुसार वे लाल और गरम प्रस्तर-खंड नहीं हैं। विज्ञान के इतिहास में ईथर-परिकल्पना को एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। वैज्ञानिकों ने अपनी सुविधा के अनुसार इस अदृश्य, अनेक प्रकार के पार्थिव तथा अपार्थिव गुणों से युक्त आश्चर्यजनक पदार्थ का, कल्पतरु की भाँति, अनगिनत वार, अनेक प्रकार से व्यवहार किया है।

मीटिऑरॉलाजिका (meteorologica) में अरस्तू ने पृथ्वी और चंद्र-मंडल के बीच के देश की व्याख्या की है। इस ग्रंथ में मौलिक पदार्थ, पत्थर और खनिज की उत्पत्ति, ग्रह, पुच्छल तारा, उल्का, इंद्रधनुष आदि प्राकृतिक घटनाओं के स्वरूप और कारण की चर्चा की गई है। मौलिक पदार्थों की स्वरूप-संबंधी उनकी व्याख्या में कोई नवीनता नहीं है। यह एंपिडॉक्लेस् के मतवाद की पुनरावृत्ति मात्र है। अर्थात् विपरीतधर्मी दो प्रकार के गुणों के समन्वय से मौलिक पदार्थ की सृष्टि हुई है, जैसे ताप और शुष्कता के मिलन से अग्नि तथा शीतलता और नमी के योग से जल की उत्पत्ति हुई है। अरस्तू ने ताप और शीतलता को सक्रिय गुण और शुष्कता और नमी को निष्क्रिय गुण बताया है।

पत्थर खनिज की उत्पत्ति के संबंध में उन्होंने कहा है कि पृथ्वी दो प्रकार के श्वास छोड़ती हैं—एक भाप की तरह और दूसरा धुएँ की तरह। भाप की तरह का श्वास गीला होता है, इससे धातु की उत्पत्ति हुई है। धुएँ की भाँति का श्वास सूखा होता है, इससे पत्थर और खनिज की उत्पत्ति होती है। भाप की तरह होने के कारण धातु पिघल जाती है, और धुँए की भांति होने के कारण पत्थर और खनिज को आसानी से पिघलाया नहीं जा सकता।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के श्वास छोड़े जाने के कारण उल्का की भी सृष्टि होती है। भाप और धुएं की तरह के पदार्थ जब ऊपर उठते हैं तो चंद्र-मंडल से उनका संघर्ष होता है और इस संघर्ष के परिणामस्वरूप उन्हें वृत्ताकार गति प्राप्त होती है। यह वृत्ताकार गति तेजी से संपन्न होने के कारण भाप और प्रज्ज्वलित होकर उल्का का रूप धारण करती है। पुच्छल तारा के आविर्भाव की व्याख्या भी उन्होंने इसी प्रकार की है।

अरस्तू डिमोक्रिटस् के आणविक सिद्धांत के घोर विरोधी थे। पहले ही कहा जा चुका है कि वे शून्य स्थान के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। अणु-सिद्धांत की मूल बुनियाद शून्य स्थान की परिकल्पना है। इस लिए शून्य स्थान को अस्वीकृत करके उन्होंने अणु-सिद्धांत का भला-बुरा सब कुछ अपनी कलम की एक लकीर से उड़ा दिया। शून्य स्थान में उनकी अनास्था के कारण की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। वस्तुमात्र एक ही परमाणु-द्वारा गठित है, परमाणु-वादियों की इस धारणा के बारे में उन्होंने कहा कि सभी वस्तु जब एक ही परमाणु के द्वारा गठित हैं, तब समान आयतन की प्रत्येक वस्तु समान वजन की होगी। आयतन के तारतम्य के लिए एक वस्तु अन्य किसी वस्तु की तुलना में हलकी या भारी होगी। यह बात मान ली जाय तो छोटे परिमाण की मिट्टी या जल हवा में कभी डूबेगा ही नहीं। परंतु हमारी अभिज्ञता कुछ और है। ऊपरी दृष्टि से अरस्तू की यह युक्ति अकाट्य है। परंतु आर्किमीडिस् का सूत्र तब तक आविष्कृत नहीं हुआ था। वस्तु के आपेक्षिक घनत्व की धारणा भी उस समय कल्पनातीत थी। इसलिए अनायास ही और बिना किसी आपत्ति के अरस्तू यह घोषणा कर सके कि वस्तु का बड़ा-छोटा होना उसका निजी, अंतर्निहित गुण और धर्म है। अरस्तू के बाद आर्किमीडिस् का सूत्र आविष्कृत हुआ, पदार्थ-विज्ञान और गति-विज्ञान की बहुत उन्नति हुई, लेकिन १६ वीं शती के अंत तक अरस्तू की शिक्षा और सिद्धांत ज्यों-के-त्यों बने रहे। स्टेविनस और गैलिलियो ने जब अपने परीक्षणों-द्वारा, आँख में उंगली डालकर दिखाया कि भारी और हलकी वस्तुएँ एक ही गति-वेग से ऊपर से जमीन पर गिरती हैं, तब धीरे-धीरे लोगों को विश्वास हुआ कि भारीपन या हलकापन वस्तु का निजी, अंतर्निहित कोई गुण नहीं है। ठीक इसी प्रकार अरस्तू की भूकेंद्रीय ब्रह्मांड-परिकल्पना ने भी, भारी पत्थर की चक्की की तरह, मनुष्य की विचारधारा को दो हजार वर्षों तक दबा रखा था।

प्राणि-विज्ञान, जीव-विज्ञान, न्याय-शास्त्र, दर्शन आदि ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विभागों के प्रतिष्ठाता, सर्वविद्या-विशारद और बहुमुखी प्रतिभा के अधिकारी अरस्तू ने ज्योतिष, बल-विज्ञान और पदार्थ-विज्ञान में विशेष निर्बलता और अपरिपक्वता का परिचय दिया है। विज्ञान के इन विभागों में उनकी कोई नई देन नहीं है; बल्कि भ्रांत मतवाद का दृढ़ता के साथ समर्थन करके, खास तौर से अणु-सिद्धांत की पूर्णतः उपेक्षा करके, उन्होंने हानि ही अधिक की। फिर भी समग्र रूप से विचार करने पर, इसमें कोई संदेह

नहीं रहता कि वे सभी युगों तथा कालों के एक श्रेष्ठ वैज्ञानिक और दार्शनिक थे।

वनस्पति विज्ञान और रसायन
थिओफ्रेस्टस् (ई० पू० ३७३-२८८)

थिओफ्रेस्टस् का जन्म अनुमानत: ई० पू० ३७३ में लेस्बस् के अंतर्गत इरेसस् नामक स्थान में हुआ। उन्होंने प्लेटो के विद्यापीठ में शिक्षा प्राप्त की और प्लेटो के मृत्यु-काल तक अकादमी से उनका संपर्क बना रहा। परंतु अरस्तू ने जब लाइसियम की स्थापना की तो उन्होंने इस नवीन विद्यापीठ में योगदान किया।

उस युग के श्रेष्ठ विचारक, प्लेटो के शिष्य तथा अरस्तू के मित्र औरसह-योगी थिओफ्रेस्टस् का वैज्ञानिक अवदान भी कम नहीं है। अरस्तू की बहुमुखी प्रतिभा की चमक के आगे थिओफ्रेस्टस् की प्रतिभा इतिहासकारों को फीकी जान पड़ी है। उनकी गवेषणाओं के महत्व और मूल्य के संबंध में भी बहुत दिनों तक इतिहासकार उदासीन रहे थे। परंतु पिछले ५० वर्षों में थिओफ्रेस्टस् संबंधी खोजों के परिणामस्वरूप जिन तथ्यों की जानकारी मिली है, उनसे थिओफ्रेस्टस् की गवेषणाओं की अधिकता और मूल्य के विषय में इतिहास-कारों को अपना मत बदलने को बाध्य होना पड़ा है। आध्यात्मिक विषयों तथा जीव-विज्ञान और रसायन पर उन्होंने लगभग पचास विशाल ग्रंथ लिखे। दुर्भाग्य की बात है कि केवल चार-पाँच ग्रंथों को छोड़कर शेष का अब कोई पता नहीं मिलता।

वैज्ञानिक पद्धति : थिओफ्रेस्टस् की वैज्ञानिक गवेषणा के संबंध में जिस बात पर सबसे पहले हमारी दृष्टि जाती है, वह है परीक्षण और पर्यवेक्षण पर उनका महत्वारोपण और नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण। जीव-विज्ञान संबंधी गवेषणा में अरस्तू ने इस दृष्टिकोण का परिचय दिया था और पर्यवेक्षण के महत्व की उपलब्धि भी की थी। परंतु प्लेटो के प्रभाव से पूर्णत: मुक्त न हो सकने के कारण, अपने वैज्ञानिक सिद्धांतों की स्थापना में उन्होंने टेलियोलाजी (Teleology) का आश्रय ग्रहण किया, जिससे अधिकतर क्षेत्रों में वे अद्भुत परिणामों पर पहुँचे। विज्ञान-चर्चा में इस उद्देश्यवाद के प्रयोग के संबंध में थिओफ्रेस्टस् ने विशेष सतर्कता का अवलंबन किया और यथा-संभव वे परीक्षा-लब्ध तथ्यों पर ही निर्भर रहे। 'मेटाफिजिक्स' (Metaphy-sics) ग्रंथ में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि विज्ञान के अध्ययन में

सदा उद्देश्यवाद का आश्रय लेना युक्ति-संगत नहीं है। प्रथम सिद्धांत (First Principles) से युक्ति की सहायता-द्वारा सब कुछ की मीमांसा करने की चेष्टा अध्यात्मविद्या में फलप्रद होने पर भी, विज्ञान के क्षेत्र में इसका व्यतिक्रम होने की बहुत संभावना है, क्योंकि जिस प्राकृतिक घटना से विज्ञान का संपर्क है, वह अत्यंत जटिल है। दीर्घकालीन अभिज्ञता, परीक्षण और पर्यवेक्षण की सहायता से इन जटिल, प्राकृतिक व्यापारों का बोध हो सकता है। प्रत्येक घटना की परिणति और सार्थकता है और प्रकृति की व्यवस्था में कुछ व्यर्थ होनेवाला नहीं है। इस प्रकार की युक्ति के खंडन के उद्देश्य से वे कहा करते थे कि यदि ऐसा हो तो बाढ़ क्यों आती है और सूखा क्यों पड़ता है? नर-प्राणियों के सीने पर और प्राणि-शरीर के अनावश्यक स्थानों में बाल क्यों उगते हैं? प्राणि-जगत् में सब कुछ यदि शृंखलाबद्ध है तो फिर उनकी पुष्टि-साधन-व्यवस्था में इतनी विषमता क्यों दीखती है? इसलिए उद्देश्यवाद को प्राणि-जगत् के संबंध में या प्राकृतिक व्यापारों में पूर्णतः प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। फिर भी थिओफ्रेस्टस् ने उद्देश्यवाद की आवश्यकता को बिलकुल अस्वीकार नहीं किया; इसके व्यवहार के संबंध में वैज्ञानिकों को विशेष सतर्कता बरतनी चाहिए, उन्होंने इसी बात को बार-बार दुहराया है।

वनस्पति-विज्ञान : वनस्पति विज्ञान और रसायन थिओफ्रेस्टस् की गवेषणा के मुख्य विषय थे। अलेग्जेंडर की सेना में शामिल वैज्ञानिक कर्मचारियों ने विभिन्न देशों से वनस्पति-विज्ञान संबंधी जो नमूने और तथ्य संग्रह किए थे, उनका उन्होंने विशेष सदुपयोग किया। ६ खंडों में समाप्त 'पौधों के कारण' (Causes of Plants) और ९ खंडों में समाप्त 'पौधों का इतिहास', ये दोनों विशाल ग्रंथ उनकी वनस्पति-संबंधी गवेषणा के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। वनस्पतियों के बाहरी और भीतरी नाना अंशों के गुणावगुण और प्रक्रिया के संबंध में उन्होंने अनेक तथ्य ढूँढ़ निकाले थे। उनका एक विशेष कृतित्वपूर्ण आविष्कार था असली मूल से वर्तुलाकार मूल (bulb), स्फीतकंद (tuber), मूलाकार स्कंध अथवा राइजोम आदि नकली या मूल सदृश उद्भिदांशों का भेद-निर्णय। उच्च श्रेणी की वनस्पतियों की प्रजनन-क्रिया के संबंध में उनकी धारणा सही थी; परंतु अरस्तू वनस्पतियों के प्रजनन में विश्वास नहीं रखते थे, इसलिए थिओफ्रेस्टस् का मत अग्राह्य हो गया और समय के साथ वैज्ञानिक इस गवेषणा

की बात भूल गए थे। पुनर्जागरण के काल में सेसल्पिनी ने प्राचीन ग्रंथों से थिओफ्रेस्टस् के इस मत का पुनरुद्धार किया।

थिओफ्रेस्टस् का एक और महत्वपूर्ण आविष्कार है प्राणी और वनस्पति की पृथकता का निर्णय। अरस्तू का यह विश्वास था कि प्रकृति-जगत् में क्रम-विकास के स्थान पर एक प्रकार का अधोगति का नियम काम करता है, जैसे यह कि मनुष्य से प्राणी की और प्राणी से वनस्पति की उत्पत्ति हुई। उनका यह मत था कि मानव जाति में पुरुष से स्त्री निकृष्ट है और ग्रीक जातियों की तुलना में ग्रीकेतर जातियाँ निकृष्ट हैं। खरीदे हुए दासों की श्रेणी का स्थान सब से नीचे है। इस प्रकार की धारणा से ही दास-प्रथा की उत्पत्ति हुई। जो भी हो, हम यह देख चुके हैं कि अरस्तू, प्राणी और वनस्पति का भेद बताने में समर्थ नहीं हुए। प्राणि-शरीर के विभिन्न अंगों के गुणावगुण तथा तात्पर्य को लक्ष्य करके उन्होंने इन अंगों की तुलना वनस्पति के विभिन्न अंशों से की और यह प्रकट किया कि प्राणी और वनस्पति के देहांशों में एक प्रकार की समता और योगसूत्र है।

'पौधों के इतिहास' (History of Plants) के प्रथम अध्याय में थिओ-फ्रेस्टस् ने इस भेद को समझाने की चेष्टा की है। प्राणी के अवयवों में स्थायित्व है—संगीन चोट, रोग, जरा या मृत्यु के बिना उसकी अंगहानि नहीं होती। परंतु वनस्पति के फल, फूल, पत्तियां आदि हर साल अपने नियमों के अनुसार सूख जाती हैं और फिर नए सिरे से उनका जन्म होता है। यहाँ तक कि जटाएं और डाल-पत्ते भी नए उग आते हैं। वनस्पति के ये अंश सदा परिवर्तनशील हैं; इनकी कोई निर्धारित संख्या भी नहीं है। प्राणी और वनस्पति में यही एक बहुत बड़ा भेद है। थिओफ्रेस्टस् ने यह भी कहा कि फल वनस्पति का एक अंगविशेष है, परंतु किसी पशु के बच्चे को कोई उसका अंगविशेष नहीं कहेगा।

रसायन : रसायन और मौलिक पदार्थों के स्वरूप-संबंधी थिओफ्रेस्टस् की गवेषणाएँ ध्यान देने योग्य हैं। 'प्रस्तर पर निबंध' (Treatise on Stones) नामक ग्रंथ में उन्होंने सफेदा* प्रस्तुत करने की जिस प्रणाली का वर्णन किया है, वह आधुनिक-विज्ञान-सम्मत है। उन्होंने लिखा है, 'किसी मिट्टी के बर्त्तन में सिक्का और पारा एक साथ रखा गया; कोई दस मिनट बाद उस बर्त्तन का ढक्कन खोलने पर देखा जायगा कि पारे के ऊपर जंग-जैसी एक मोटी

* ग्रीक भाषा में सफेदा (श्वेत सीसा) का नाम है 'सिमूथियन' (psimuthion).

परत जमा हो गई है। इस परत को खुरचकर पारे से अलग कर लिया जाता है। बाकी पारे पर फिर सिरका डाला जाता है और यह प्रक्रिया तब तक जारी रखी जाती है, जब तक सारा पारा, उपर्युक्त पद्धति से, जंग में परिणत नहीं हो जाता। इसके बाद जंग को पीसकर देर तक पानी में उबालने पर जो तलछट जमा हो जाती है, वही सफेदा है। *

अग्नि से जल, वायु और मिट्टी का एक मौलिक भेद बताकर थिओफ्रेस्टस् ने अग्नि की मौलिकता के विषय में संदेह प्रकट किया है। 'On Fire,' (अग्नि के विषय में) नामक एक छोटी पुस्तिका में उन्होंने इस विषय में अपने पर्यवेक्षण और संदेह के कारणों की चर्चा की है। इसमें हमें उनकी वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि का कुछ परिचय मिलता है। इसलिए रचना के कुछ अंश का अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है।

"सब प्रकार के तत्वों में अग्नि के कुछ विशेष गुण हैं। वायु जल और मिट्टी का परस्पर रूपांतरण हो सकता है, परंतु इनमें से किसी की यह क्षमता नहीं कि वह स्वतः अपना सृजन कर सके। अग्नि न केवल अपने को प्रकट करने में सक्षम है, बल्कि स्वयं ही अपने को बुझा भी सकती है। छोटी आग बड़ी आग को उत्पन्न करती है और बड़ी आग छोटी आग को बुझा देती है। इसके अतिरिक्त अग्नि के प्रायः हर प्रकार के उत्पादन के मूल में बल-प्रयोग रहता है। उदाहरणस्वरूप, इस्पात पर पत्थर की चोट से, जलने लायक लकड़ी के दो टुकड़ों की रगड़ से और बादलों के टकराने के परिणामस्वरूप वायु से अग्नि का उत्पादन उल्लेखनीय है। बल-प्रयोगजनित अग्नि और प्राकृतिक कारणों से एक दूसरे में रूपांतरित होनेवाले अन्य तीन मौलिक पदार्थों के बीच का भेद विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य है। हम अग्नि उत्पन्न कर सकते हैं, परंतु अन्य तीन मौलिक पदार्थों का उत्पादन नहीं कर सकते। यहाँ तक कि कुआं खोदकर हम नए सिरे से जल की सृष्टि नहीं करते, केवल बिखरे हुए जल को एकत्रित करके उसे दृष्टिगोचर बनाते हैं। परंतु सबसे बड़ा और सबसे अधिक महत्वपूर्ण भेद यह है कि अन्य मौलिक पदार्थ स्वयं संपूर्ण हैं, उन्हें अपने अस्तित्व के लिए किसी आधार या माध्यम की आवश्यकता नहीं है; परंतु आधार या माध्यम के बिना अग्नि का अस्तित्व संभव नहीं। अग्नि को यदि हम प्रकाश समझें तो भी यह उक्ति सत्य है, क्यों कि प्रकाश के अस्तित्व के लिए वायु अथवा जल का माध्यम आवश्यक है। यदि प्रकाश को छोड़

* J. R. Partington, 'A Short History of Chemistry' p. 16

दें, तो भी शिखा या जलते कोयले को, अग्नि को धारण करने के लिए, एक विशेष आधार की आवश्यकता है। शिखा जलता हुआ धुआं है और अंगार मृत्तिकाधर्मी एक प्रकार की कठिन वस्तु है। अग्नि आकाश में हो या मिट्टी पर, उसका स्वरूप एक है। आकाश की आग जलती हुई हवा है; मिट्टी की आग तीन या दो मौलिक पदार्थों के जलने का परिणाम है। साधारण तौर पर कहा जाय तो अग्नि सदा अपने आपको पैदा कर रही है। यह एक प्रकार की गति विशेष है। जन्म के साथ ही इसकी मृत्यु है और अपने आधार का त्याग करते ही इसका विनाश होता है। अग्नि सदा खूराक ढूंढ़ती रहती है, प्राचीन लोगों की इस उक्ति का यही अर्थ है। प्राचीन लोगों ने देख लिया था कि वस्तु के माध्यम के बिना अग्नि का अस्तित्व असंभव है। वस्तु-संपर्क-विहीन स्वतंत्र सत्ता हीं न हो तो अग्नि को मूलतत्व कहने का अर्थ क्या है ? कुछ लोग यह अवश्य कह सकते हैं कि ब्रह्मांड से लगे हुए बाहरी गोले में जिस अग्नि का अवस्थान है, वह विशुद्ध है, उसके ताप में कोई मिलावट नहीं है। यदि यह बात सत्य है तो वह आग जलती नहीं, और जलना ही अग्नि का धर्म है।''*

उपर्युक्त वर्णन में किसी प्रकार के अनावश्यक युक्ति-तर्क की अवतारणा नहीं की गई है। व्यावहारिक अभिज्ञता से अग्नि के वास्तविक स्वरूप के संबंध में थिओफ्रेस्टस् की जो धारणा बनी थी, उसी का वर्णन उन्होंने बिना पंडिताई के, बहुत सरल भाषा में किया है। अग्नि के अस्तित्व के लिए माध्यम आवश्यक है और यह गतिशील है; यह अपने आप उत्पन्न होती है और उत्पन्न होते ही इसकी मृत्यु होती है। इस प्रकार वास्तविक अभिज्ञता के आधार पर प्रचलित धारणा और मतवाद को भ्रांत प्रमाणित करने की चेष्टा विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य है। वैज्ञानिक गवेषणा में इस विशिष्टता के कारण थिओफ्रेस्टस् को विज्ञान के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

अकादमी और लाइसियम

प्लेटो और अरस्तू-द्वारा स्थापित 'अकादमी' और 'लाईसियम', इन दो विद्यापीठों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। ग्रीक ज्ञान-विज्ञान के इतिहास में इन दो विद्यापीठों को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है। ये दोनों विद्यापीठ केवल इसीलिए विख्यात नहीं थे कि ये प्लेटो और अरस्तू के सम-

---

* Benjamin Farrington, "Greek Science, i"; p. 25–26

सामयिक और ठीक बाद के अनेक प्रख्यात दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की ज्ञान-विज्ञान-चर्चा के मुख्य केंद्र थे, बल्कि इसलिए भी कि यूरोप और निकट पूर्वी देशों को, सैकड़ों वर्षों तक, एथेंस के इन दोनों शिक्षायतनों से ज्ञान-विज्ञान-चर्चा की प्रधान प्रेरणा मिलती रही। अनेक उत्थान-पतनों के बीच से गुजरते हुए प्लेटो की अकादमी लगभग ९ सौ वर्षों तक चलती रही थी। सम्राट जस्टिनियन ने ५२९ ई० में जब अकादमी का दरवाजा बंद कर दिया, तब इस प्राचीन और विचित्र तथा इतिहास-प्रसिद्ध विख्यात विद्यापीठ का अंत हुआ। अरस्तू की लाइसियम इतनी दीर्घस्थायी न होते हुए भी अलेग्जेंड्रिया के संग्रहालय के माध्यम से इसका आदर्श बहुत दिनों तक जीवित रहा, क्योंकि लाइसियम के अनुकरण में ही इस संग्रहालय की स्थापना हुई थी और उसके प्रथम अध्यक्ष स्ट्राटो, लाइसियम के एक योग्य छात्र थे।

प्लेटो के बाद अकादमी के अध्यक्ष-पद पर जिनकी नियुक्ति हुई, वे प्रतिभा या विद्या-बुद्धि में प्लेटो से बहुत निकृष्ट थे। गुरु की शिक्षा और विचारधारा को जीवित रखने की प्रशंसनीय चेष्टा तो उन्होंने की, किंतु नई सृजन शक्ति का कोई परिचय वे नहीं दे सके। स्पिउसिपस् (ई० पू० ३४७-३३९), जो प्लेटो के बाद ही अकादमी के अध्यक्ष बने, जीवविद् थे, लेकिन जीव-विज्ञान-संबंधी उनकी प्रथम श्रेणी की किसी गवेषणा का कोई पता नहीं मिलता। स्पिउसिपस् के परवर्ती अध्यक्ष जेनोक्रेटिस् (ई० पू० ३३९-३१४) नीतिवादी दार्शनिक थे। उनके विषय में हेनरी जैक्सन ने लिखा है, 'गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा के कारण वे प्लेटो के मतवाद का अध्यापन तो करते थे, किंतु उनका दर्शन समझते नहीं थे।' इस प्रकार अकादमी का संचालन-भार दूसरी श्रेणी के पंडितों के हाथों आ जाने के कारण यह विद्यापीठ ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कोई नई सृष्टि नहीं कर सका; केवल प्लेटो के विशाल तथा विपुल पांडित्य की पूंजी पर किसी तरह टिका रहा।

अरस्तू के लाइसियम का इतिहास भिन्न प्रकार का है। प्लेटो के प्रभाव से मुक्त होकर अरस्तू ने, स्वतंत्र वातावरण में ज्ञान-विज्ञान की चर्चा और अध्यापना के उद्देश्य से, ई० पू० ३३४ में लाइसियम उद्यान-विद्यापीठ की स्थापना की। प्लेटो के जीवनकाल तक उन्होंने अकादमी नहीं छोड़ी। परंतु अपने गुरु के भाववादी और अध्यात्मवादी दर्शन की अतिशता से वे बहुत समय पहले से ही, अंदर ही अंदर ऊब उठे थे। स्पिउसिपस् के अकादमी का अध्यक्ष

बनने के बाद, उनसे अरस्तू का विभिन्न विषयों में मतभेद होने लगा और वे थोड़े ही दिनों बाद अकादमी छोड़कर चले गए। अकादमी छोड़ने के लगभग १३ वर्ष बाद उन्होंने लाइसियम की स्थापना की।

विज्ञान के इतिहास में लाइसियम की परिकल्पना और स्थापना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अलेग्जेंड्रिया का विश्वविख्यात संग्रहालय मुख्यतः लाइसियम के आदर्श पर और उसके अनुकरण में स्थापित हुआ था। इस लाइसियम के अंतर्गत एक अच्छा पुस्तकालय था और विभिन्न विषयों में गवेषणा के लिए कई प्रयोगशालाएँ थीं। विद्यापीठ में मुख्य विषयों में गवेषणा के लिए अलग-अलग विभाग थे और प्रत्येक विभाग का संचालन-भार एक विशिष्ट वैज्ञानिक को सौंपा गया था। जैसे, प्राकृतिक दर्शन के विभाग का भार थिओफ्रेस्टस् ने लिया, गणित और ज्योतिष-विभाग का भार युडिमस् ने ग्रहण किया। जेनोक्रेटिस् नामक एक ज्यामिति-विशारद को समग्र ज्यामितिक गवेषणा की परिचालना का भार अर्पित किया गया और मेनन ने चिकित्सा विभाग की जिम्मेदारी ली।

लाइसियम के संगठन में इस बात का एक अस्पष्ट बोध विशेष रूप से परिलक्षित होता है कि वैज्ञानिक गवेषणा अनेक वैज्ञानिकों की सम्मिलित साधना और चेष्टा का फल है और उस चेष्टा को सफल बनाने के लिए सुनियंत्रित संचालन-व्यवस्था की आवश्यकता है। अलेग्जेंडर की सेना में शामिल वैज्ञानिक कर्मचारियों ने विभिन्न देशों से लगभग १५८ शासनतंत्रों की प्रतिलिपियाँ इकट्ठी की थीं। अरस्तू की देखरेख में लाइसियम के गवेषकों ने उन शासनतंत्रों का अध्ययन और विश्लेषण किया और इस अध्ययन तथा विश्लेषण की बुनियाद पर ही अरस्तू ने राजनीतिक दर्शन तथा सिद्धांत-संबंधी अपने ग्रंथों की रचना की। प्राणि-विज्ञान-संबंधी गवेषणा में भी इसी प्रकार से एकाधिक वैज्ञानिकों की सम्मिलित चेष्टा का पता चलता है। विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि इस प्रकार की नियंत्रित संचालन-व्यवस्था में एकाधिपत्य का मनोभाव नहीं था। अपने-अपने विभाग में वैज्ञानिकों को विचार, गवेषणा, समालोचना और अध्यापनकार्य में पूरी स्वतंत्रता थी। लाइसियम की सुचिंतित परिकल्पना का एक अकाट्य प्रमाण थिओफ्रेस्टस् और स्ट्राटो-जैसे वैज्ञानिकों का उद्भव है।

लाइसियम का एक और प्रधान कार्य था विभिन्न विधाओं के प्रामाणिक ग्रंथों को संकलित और प्रकाशित करना। वनस्पति-विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान,

गणित, ज्योतिष, बल-विद्या, पदार्थ-विज्ञान, भूगोल, संगीत, व्याकरण आदि नाना विषयों के बहुमूल्य ग्रंथ प्रकाशित किए गए। यद्यपि अरस्तू की गवेषणा और सिद्धांत ही उन ग्रंथों के मूल आलोच्य विषय थे, किंतु अन्य प्राचीन तथा समसामयिक वैज्ञानिकों की गवेषणाओं को भी उनमें स्थान मिला था।

अरस्तू की मृत्यु के बाद पहले थिओफ्रेस्टस् (ई० पू० ३२२) और उनके बाद स्ट्राटो (ई० पू० २८७) लाइसियम के अध्यक्ष नियुक्त हुए। थिओफ्रेस्टस् के नेतृत्व में लाइसियम बहुत लोकप्रिय बन गया था। थिओफ्रेस्टस् ने अरस्तू की शिक्षा और दर्शन का केवल प्रचार ही नहीं किया, बल्कि जीव-विज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, रसायन आदि विषयों में महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ भी कीं। मुट्ठीभर पंडितों की मंडली के बाहर, जनसाधारण में, विज्ञान के प्रचार-प्रसार की ओर भी लाइसियम का विशेष ध्यान था। इस उद्देश्य से साधारण लोगों के समझनेयोग्य सरल भाषा में संध्याकालीन भाषणों की, नियमित रूप से, व्यवस्था थी। थिओफ्रेस्टस् के काल में इन संध्याकालीन भाषणों के समय कोई दो हजार स्त्री-पुरुष इकट्ठे हो जाते थे।* विज्ञान, दर्शन आदि विषयों के ज्ञान के अलावा, अध्यापकों को भाषण के अभ्यास का अवसर प्राप्त हो, संध्याकालीन भाषणों का यह भी एक विशेष उद्देश्य था। थिओफ्रेस्टस् स्वयं, और लाइसियम के अध्यापकों में से अनेक, अच्छे वक्ता थे।

थिओफ्रेस्टस् के बाद स्ट्राटो ने १८ वर्ष तक लाइसियम की अध्यक्षता की। अपने से पहले के अध्यक्षों की भांति वे भी लाइसियम की लोकप्रियता बनाए रखने में समर्थ हुए। अलेग्जेंड्रिया में संग्रहालय स्थापित होने पर वे उसके अध्यक्ष तथा पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त हुए और तब वे एथेंस छोड़कर चले गए। उनके स्थान पर लाइसियम के प्रधान लाइको नियुक्त हुए। वैज्ञानिक के रूप में लाइको की विशेष ख्याति नहीं थी और उन्हीं के समय से लाइसियम का पतन आरंभ हुआ।

---

* B. Farrington, 'Greek Science', ii p. 50

छठा अध्याय

अलेग्जेंड्रिया और विज्ञान

थालेस् से लेकर थिओफ्रेस्टस् तक के तीन सौ वर्षों के विज्ञान-चर्चा के युग को ग्रीक-विज्ञान का स्वर्ण-युग कहा जाता है। इन तीन सौ वर्षों में ग्रीक जाति ने बर्बरयुगीन अज्ञान के अंधकार को दूर करके अपने को उस युग की श्रेष्ठ सभ्य जाति के रूप में प्रतिष्ठित किया। वे एक अद्भुत प्रेरणा लेकर आए। बड़ी दक्षता के साथ, बहुत थोड़े समय में उन्होंने बेबीलोन, मिस्र आदि प्राचीन सभ्य जातियों के ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-राजनीति और समाज-नीति पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अपनी विचार-शक्ति तथा गवेषणा के द्वारा मनुष्य के ज्ञान-भंडार को कई गुना समृद्ध करके, वे विचार-जगत् के अधिनायक के रूप में इतिहास की भूमिका में अवतरित हुए। पार्मेनिडिस्, एंपिडॉक्लेस्, डिमोक्रिटस्, प्लेटो और अरस्तू की भाँति दार्शनिक तथा राजनीतिज्ञ; पाइथागोरस्, एनाक्सागोरस्, आर्किटस्, हेराक्लिडिस्, युडॉक्सस् और मेनेक्सस् की तरह गणितज्ञ और ज्योतिर्विद तथा हिपोक्रेटिस् की भांति चिकित्सक और भेषज-विद्या-विशारद का आविर्भाव जिस जाति में हुआ, वह जाति, ज्ञान के अग्रभाग में रहकर विचार-जगत् का नेतृत्व करेगी, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

राजनीतिक जीवन में भी ये तीन सौ वर्ष ग्रीस के स्वर्ण-युग थे। इस युग के प्रथम भाग में ग्रीक भूमध्यसागर के पूर्वी और मध्य तट पर एक विस्तृत भूमि में फैल गए थे और वहाँ उन्होंने अनेक समृद्ध उपनिवेश बसा कर, सुसंबद्ध आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक एकता की स्थापना की। इस एकता के बल पर ही पराक्रमी फारस-साम्राज्य के आक्रमण को रोककर वे अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता को कायम रखने में समर्थ हुए। इसी अवधि में महावीर अलेग्जेंडर के नेतृत्व में ग्रीक जाति नेआद्रियाटिक से पंजाब तक फैले भूखंड में निवास करनेवाली अनेक जातियों के राजनीतिक भाग्य का नियंत्रण किया। राजनीतिक क्षमता और सौभाग्य के साथ किसी जाति

के शिल्प, कला, विज्ञान और दर्शन की उन्नति का कितना गहरा संबंध है, यह इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

ई० पू० ३२३ में अलेग्जेंडर की मृत्यु के बाद ग्रीक साम्राज्य की बुनियाद हिल गई। इस अवसर पर, आपस में झगड़नेवाले उच्चाभिलाषी सेनानायकों ने, जिससे जितना बन पड़ा, इस साम्राज्य को आपस में बाँट लिया। पूरब में भारत के सीमांत से लेकर पश्चिम में प्राय: लीडिया तक, समग्र पश्चिम-एशिया पर सेलूकस् ने कब्जा किया; मिस्र, आधुनिक पैलेस्टाइन और सीरिया का कुछ अंश टॉलेमी सोतार के हिस्से में पड़ा। ग्रीस के मूल भूखंड पर अधिकार को लेकर तुमुल गृहयुद्ध छिड़ गया। निरंतर गृहविवाद के परिणामस्वरूप ग्रीस के राजनीतिक जीवन पर अँधेरा छा गया। ऐसे समय में चंचला विज्ञान-लक्ष्मी भी ग्रीस छोड़कर भाग्यान्वेषण के लिए अन्यत्र चल पड़ी। अलेग्जेंडर-द्वारा स्थापित उदीयमान नए नगर, टॉलेमी की अलेग्जेंड्रिया ने भगोड़ी विज्ञान-लक्ष्मी का सादर आह्वान किया।

टॉलेमी राजवंश का विद्यानुराग : राजनीतिक विकास के इतिहास में टॉलेमी राजवंश की देन कुछ भी हो, परंतु विज्ञान के पृष्ठपोषक के रूप में उसकी ख्याति सदा अक्षुण्ण रहेगी। अलेग्जेंड्रिया की राजशक्ति से उत्साह और आदर पाकर विज्ञान को अपनी पुरानी गति वापस मिल गई। युक्लिड्, हिरोफिलस्, आर्किमीडिस, एपोलोनियस्, इराटोस्थेनिस्, एरिस्टार्कस्, हिपार्कस् और क्लॉडियस् ने टॉलेमी-विज्ञान के झंडे को बहुत ऊँचा फहराए रखा किसी ने गणित और ज्यामिति में, किसी ने चिकित्सा-शास्त्र में, किसी ने ज्योतिष में और किसी ने भूगोल में। विज्ञान के इस नए भवन के निर्माण में ग्रीकों ने आरंभ में एथेंस की दीर्घकालीन अभिज्ञता से लाभ अवश्य उठाया, लेकिन साथ ही उन्होंने यह अनुभव किया कि समग्र रूप से विज्ञान की प्रगति, उसके विभिन्न विभागों में, विशेषज्ञों की पृथक् और एकाग्र चेष्टा पर निर्भर है। एक ही व्यक्ति सभी शास्त्रों में सुपंडित हो, इस चेष्टा के बदले, विज्ञान के विभिन्न विभागों में अनेक व्यक्तियों की गवेषणा तथा साधना-द्वारा विज्ञान की उन्नति और शीघ्र हो सकती है, अलेग्जेंड्रिया की वैज्ञानिक गवेषणा की धारा में यह उपलब्धि विशेष रूप से स्पष्ट है। इस प्रकार, एक-एक विषय में विशेष ज्ञानलाभ के उद्देश्य से, गवेषणा का व्रत लेने के कारण, ज्यामिति में युक्लिड ने जो मान स्थापित किया, आर्किमीडिस ने गणित और बल-विद्या को जिस स्तर पर पहुँचाया अथवा हिपार्कस् ने समग्र ज्योतिष को

जिस परिपूर्णता और सुसंबद्धता का रूप प्रदान किया, १६-१७ वीं शती में कोपर्निकस्, केप्लर, गैलिलियो और न्यूटन के आविर्भाव के पहले, लगभग दो हजार वर्षों की अवधि में, और किसी वैज्ञानिक के लिए, उस मान, स्तर या परिपूर्णता का अतिक्रमण करना संभव नहीं हुआ।

संग्रहालय (म्यूजियम) : वैज्ञानिक गवेषणा को इस प्रकार सफल बनाने के पीछे आयोजन भी बहुत था। टालेमियों-द्वारा स्थापित जगत्प्रसिद्ध संग्रहालय संभवतः पृथ्वी का प्रथम विश्वविद्यालय था। संग्रहालय, अंग्रेजी म्युजियम शब्द का पर्यायवाची है; 'म्युजेज का मंदिर' (Temple of the Muses) इस अर्थ से 'म्युजियम' (संग्रहालय) शब्द की उत्पत्ति हुई है। प्लेटो के विद्यापीठ, विशेषकर अरस्तू के 'लाइसियम' (विद्यापीठ) ने संग्रहालय (म्युजियम) की परिकल्पना को प्रेरणा दी, इसमें कोई संदेह नहीं है। प्लेटो या अरस्तू के विद्यालय बहुत कुछ हमारे देश की प्राचीन संस्कृत पाठशालाओं की भाँति ही थे। परंतु संग्रहालय के संगठन में आधुनिक विश्वविद्यालयों की छाप है। साहित्य, गणित, ज्योतिष और चिकित्सा-शास्त्र के लिए इसके चार मुख्य भाग थे। हर विभाग के प्रधान उस विषय के विशेषज्ञ कोई साहित्यिक या वैज्ञानिक हुआ करते थे। सब विभागों को मिलाकर कोई एक सौ अध्यापक थे। राजकोष से उनके लिए मासिक भत्ते की व्यवस्था थी। विभिन्न विभागों से संबद्ध गवेषणागारों के अतिरिक्त, संग्रहालय में एक वेधशाला, एक चिड़ियाखाना और नाना प्रकार की वनस्पतियों से सुशोभित एक बगीचा था। संग्रहालय में एक विख्यात ग्रंथागार भी था। किसी समय इस पुस्तकालय में ४ लाख ग्रंथ थे। एथेंस में गवेषणा की प्रवृत्ति समाप्त होने पर अरस्तू का ग्रंथागार अलेग्जेंड्रिया में स्थानांतरित किया गया था। पृथ्वी की एक आश्चर्यजनक वस्तु, अलेग्जेंड्रिया के ग्रंथागार के एक अंश का विध्वंस, विशप थिओफिलस् ने, ३९० ई० में किया। बचे हुए भाग को मुसलमानों ने ६४० ई० में, अलेग्जेंड्रिया पर अधिकार करने के बाद विनष्ट कर दिया। संपूर्ण मानव जाति की साधारण संपत्ति, यह अमूल्य ज्ञान-भंडार, खलीफा उमर के धर्मोन्माद की आग में जलकर राख हो गया। लगभग एक हजार वर्षों तक इस ग्रंथागार ने अनेक देशों के अनेक मनीषियों की जीवनव्यापी गवेषणा और विचार को संरक्षित कर ज्ञान की जिस दीपशिखा को प्रज्ज्वलित कर रखा था, वह बुझ गई। उमर ने अपने कार्य का समर्थन इस युक्ति-द्वारा किया कि यदि ग्रीक-ग्रंथों में लिखित मूल तत्त्व वही हैं, जो कुरान में वर्णित

हैं, तब इन ग्रंथों का रहना-न-रहना बराबर है और यदि उनमें कुरान-विरोधी शिक्षा लिपिबद्ध है तो वह नितांत हानिकारक और खतरनाक है और उन ग्रंथों को जलाना उचित ही था। आश्चर्य की बात यह है कि परवर्ती काल के इस्लामी विद्यानुराग ने ही पुनः ग्रीक ज्ञान-विज्ञान की रक्षा की और उससे प्रेरणा प्राप्त की। जो भी हो, अलेग्जेंड्रिया के ग्रंथागार के नष्ट होने से विचार-जगत् की जो असीम क्षति हुई, उसकी पूर्ति नहीं हो सकती थी।

संग्रहालय की स्थापना की सही तिथि नहीं मिलती। प्रथम टॉलेमी ने ई० पू० ३२३ में मिस्र पर पूरी तरह अधिकार कर लिया और ई० पू० ३०५ में 'सोतर' अर्थात् 'पालक' उपाधि ग्रहण करके अपने को मिस्र का राजा घोषित किया। ई० पू० २८५ में प्रथम टॉलेमी की मृत्यु होने पर उनके पुत्र फिलो-डेल्फस् (द्वितीय टॉलेमी) ने राज्य-भार ग्रहण किया और ३८ वर्ष तक शासन किया। प्रथम तथा द्वितीय टॉलेमी के राजत्वकाल में ही संग्रहालय की स्थापना हुई और उसका प्रसार हुआ। संभवतः ई० पू० ३०० के आसपास संग्रहालय-स्थापना का कार्य मोटे तौर पर पूरा हुआ, अध्यापकों की नियुक्ति हुई और छात्रों की भर्ती शुरू हो गई। अलेग्जेंड्रिया में मुख्य पुस्तकाध्यक्ष का कार्यभार स्ट्राटो ने संभवतः ई० पू० २६९ के कुछ बाद ही ग्रहण किया। कारण यह है कि ई० पू० २६९ तक उन्हें लाइसियम के अध्यक्ष-पद पर नियुक्त देखा जाता है। प्रथम टॉलेमी, स्ट्राटो की वैज्ञानिक ख्याति से परिचित थे। अपने पुत्र फिलोडेल्फस् की शिक्षा के लिए उन्होंने स्ट्राटो को ही गृह-शिक्षक नियुक्त किया था।

मैसिडोनियों का यह विद्यानुराग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। युवराज की शिक्षा के लिए तत्कालीन श्रेष्ठ ज्ञानी और वैज्ञानिक की नियुक्ति एक प्रकार की रीति बन गई थी। साम्राज्यवाद के साथ विज्ञान के घनिष्ठ योग का उपलब्धि ने ही संभवतः मैसिडोनियों को इस प्रकार विद्यानुरागी बनाया होगा। फिलिप और अलेग्जेंडर की सामाजिक सफलता का एक बड़ा कारण था उनके वैज्ञानिकों और इंजीनियरों की दक्षता। विशाल सेना के समावेश के लिए जिस उच्च कोटि की संगठन-व्यवस्था आवश्यक है, उसके लिए इंजीनियर, गणितज्ञ, ज्योतिर्विद्, चिकित्सक, भौगोलिक आदि नाना प्रकार के विशेषज्ञों की सहायता अनिवार्य है। साम्राज्य की बुनियाद है सामरिक शक्ति; और इंजीनियर तथा वैज्ञानिक इस सामरिक शक्ति के प्रधान अंग-स्वरूप हैं। साम्राज्यवादी टालेमियों ने इस सत्य को जान लिया था। इस सत्य का बोध

ही, टालेमियों के जमाने में, अलेग्जेंड्रिया की वैज्ञानिक गवेषणा के शीघ्र प्रसार का प्रधान कारण था।

सामाजिक वातावरण : अलेग्जेंड्रिया के जिस सामाजिक वातावरण में विज्ञान की इस प्रकार उन्नति संभव हुई, उसके विषय में संक्षेप में कुछ बताना आवश्यक है। स्पार्टा और एथेंस के अभ्युदय के समय ग्रीकों को हम उग्र राष्ट्रवादी और स्वातंत्र्य-बोध-संपन्न जाति के रूप में पाते हैं। इस उग्र स्वातंत्र्य-बोध की दृष्टि में विदेशी बर्बर और उन्नत विचार तथा गवेषणा के अनुपयुक्त थे। मिस्र और एशिया में साम्राज्य-विस्तार के परिणामस्वरूप विभिन्न जातियों की शिक्षा, संस्कृति और समाज-जीवन के संपर्क में आकर औपनिवेशिक ग्रीकों की उग्र राष्ट्रीयता और स्वातंत्र्य-बोध में कुछ कमी आई। अलेग्जेंड्रियाई ग्रीकों के मामले में यह परिवर्त्तन ध्यान देने योग्य है। अनेक जातियों के सम्मेलन और मिश्रण से अलेग्जेंड्रिया एक प्रकार से अंतर्राष्ट्रीय नगर बन गया था। इस नगर में यहूदी, मिस्री, सीरियाई तथा एशिया माइनर की अनेक जातियाँ एक दूसरे के पास-पास रहती थीं। वाणिज्य-व्यवसाय और शासन-संबंधी विभिन्न मामलों में ग्रीकों को हर समय उनके संपर्क में आना पड़ा। ग्रीकों और मिस्रियों के परस्पर वैवाहिक संबंध के भी अनेक दृष्टांत मिलते हैं। ऐसी अवस्था में जातिगत पृथकता-बोध और कुसंस्कार स्वभावतः सीमित हो जाते हैं और दूसरी जाति की शिक्षा, संस्कृति, समाज-व्यवस्था, धर्म-विश्वास या कुसंस्कार के प्रति उदार और सहानुभूतिपूर्ण मनोभाव आप-से-आप बढ़ जाता है। टालेमियों ने साधारणतया राज-परिषद्, सेना या शासन-कार्य में अ-ग्रीक जातियों के प्रवेशाधिकार को स्वीकार नहीं किया और इस विषय में सदा सतर्क भी रहे, लेकिन सामान्य रहन-सहन में इन विदेशी जातियों के प्रभाव को नहीं रोक सके या उन्होंने इसकी चेष्टा नहीं की। वैज्ञानिक गवेषणा-पद्धति मूलतः ग्रीक होने पर भी उस पर एशिया का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। अलेग्जेंड्रियाई यहूदियों में विज्ञान-चर्चा का बहुत आदर था, विशेषतः चिकित्साशास्त्र में वे काफी आगे बढ़े हुए थे। इस प्रकार सब की दृष्टि की ओट में ही अलेग्जेंड्रिया के विज्ञान ने एक प्रकार का अंतर्राष्ट्रीय रूप ग्रहण कर लिया था। श्री लैसी ओ'लियरी ने इस विषय में लिखा है :

"अलेग्जेंडर के समय के बाद जिस सार्वदेशिक ग्रीक-जीवन का विकास हुआ, उसके अनेक पहलू थे। उसने एक विशिष्ट शैली का अपना साहित्य

प्रस्तुत किया और वैज्ञानिक पद्धति की साहित्यिक समालोचना को विकसित किया। दर्शन को उसने प्रायः नई धाराओं में आगे बढ़ाया। गणित, ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र तथा विज्ञान की अन्य शाखाओं में उसने नए शोध किए।"*

शरीर-रचना, शरीर-क्रिया तथा चिकित्सा-विज्ञान

क्रोटन के अल्कमाओन, कॉस के हिपोक्रेटिस्, अरस्तू और लाइसियम के वैज्ञानिकों की चिकित्सा तथा जीव-विज्ञान-संबंधी गवेषणाओं के बाद विज्ञान के इन विभागों में अलेग्जेंड्रिया की देन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अलेग्जेंड्रियाई चिकित्सा-विज्ञान और जीव-विज्ञान की नींव दो व्यक्तियों ने डाली—कैल्सिडन के हिरोफिलस् और चिओस के इरासिस्ट्रेटस् ने। हिरोफिलस् शरीर-रचना-विज्ञान के वास्तविक स्रष्टा हैं। इरासिस्ट्रेटस् ने शरीर-क्रिया-विज्ञान (Physiology) की नींव डाली।

हिरोफिलस् (अनुमानतः ई० पू० ३००)

हिरोफिलस् का जन्म कब हुआ, इसका ठीक पता नहीं चलता। अलेग्जेंड्रिया में प्रथम टॉलेमी के राजत्वकाल में अनुमानतः ई० पू० ३०० के समय उनकी गवेषणा और कार्यों की सूचना मिलती है। शरीर-रचना-संबंधी उनका तथ्यपूर्ण ग्रंथ 'ऐनाटॉमी' (anatomy) प्रसिद्ध है। 'आँखों के विषय में' (of the eyes) ग्रंथ में आँखों के गठन-वैचित्र्य और क्रिया के संबंध में उन्होंने अपनी अभिज्ञताओं और गवेषणाओं के परिणाम लिपिबद्ध किए हैं। इसके अतिरिक्त धात्री-विद्या में भी वे विशेष पारदर्शी थे और इस विषय पर उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी। इसमें मातृगर्भ की गठन के संबंध में विस्तृत विवरण मिलता है।

शरीर-रचना-संबंधी गवेषणा के सिलसिले में हिरोफिलस् का मुख्य आविष्कार था मस्तिष्क से बुद्धिवृत्ति का संबंध-निर्णय। ई० पू० पांचवी शती में अल्कमाओन ने यह अनुमान किया था कि मस्तिष्क ही बुद्धि-वृत्ति का आधार है। दूसरी ओर अरस्तू का यह दृढ़ विश्वास था कि बुद्धि-वृत्ति का अवस्थान हृदय में है। इस मतभेद की अंतिम मीमांसा हिरोफिलस् ने की। मस्तिष्क और तंत्रिकाओं की चीर-फाड़ के द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मस्तिष्क ही बुद्धि-वृति का आधार है। उनके पहले शरीर तत्त्व-वेत्ताओं ने

* Lacy O'Leary, "How Greek Science Passed to the Arabs"; p 20.

कुछ विशेष प्रकार की संवेदी-तंत्रिकाओं (sensory nerves) के क्रियाकलाप का अवलोकन किया था। परंतु समग्र तंत्रिका-तंत्र (nervous system) के संबंध में स्पष्ट धारणा हिरोफिलस् के पहले संभवतः और किसी की नहीं हुई थी। उन्होंने संवेदी तंत्रिका और प्रेरक तंत्रिका (motor nerve) के बीच प्रभेद का निरूपण किया। हिरोफिलस् ने रक्त-परिवहन-प्रणाली को भी समझने की चेष्टा की थी। उनकी यह धारणा थी कि धमनी (artery) और शिरा (vein) दोनों ही रक्त-वहन करती हैं। इनके भेद को वे पकड़ नहीं पाए थे। फिर भी शरीर की चीर-फाड़ की जानकारी होने के कारण उन्होंने धमनी और शिरा का तथ्यपरक वर्णन किया है।

हिरोफिलस् प्रसिद्ध चिकित्सक थे। भेषज विद्या का उन्हें विशेष ज्ञान था। परंपरागत किसी सिद्धांत पर निर्भर न रहकर वे पर्यवेक्षणमूलक अभिज्ञता की सहायता से रोगी की चिकित्सा करते थे। यही उनकी विशेषता थी।

इरासिस्ट्रेटस्

इरासिस्ट्रेटस् हिरोफिलस् के समसामयिक, लेकिन उम्र में उनसे छोटे थे। चिकित्सा-विज्ञान के संबंध में उन्होंने हिरोफिलस् से प्रेरणा प्राप्त की थी। मानव-शरीर की चीर-फाड़ में वे निपुण थे और प्राणि-शरीर के विषय में उन्होंने अनेक गवेषणाएँ की थीं। लेकिन वे शरीर-क्रिया की गवेषणा के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुए। रक्त-परिवहन-प्रणाली, धमनी और शिरा की क्रिया, मस्तिष्क, तंत्रिका-तंत्र आदि विभिन्न विषयों में इरासिस्ट्रेटस् की मौलिक गवेषणाओं का पता मिलता है।

धमनी और शिरा के संबंध में उनकी गवेषणा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शिरा और धमनी के बहुत छोटे विभागों को देखकर उन्हें लगा कि ये केशिका (capillary) नाड़ी के द्वारा संयुक्त हैं। इसके अलावा, जीवित प्राणी की धमनी कट जाने पर कटी हुई जगह से बड़ी तेजी से रक्त प्रवाहित होता है, लेकिन मृत प्राणी की धमनी काटने से खून नहीं निकलता, क्योंकि धमनी में हवा भरी होती है। यद्यपि यह मत भ्रांतिपूर्ण था, फिर भी उन्होंने इसकी एक आश्चर्यजनक व्याख्या प्रस्तुत की थी। स्ट्राटो की पदार्थ-संबंधी गवेषणा से उन्हें यह जानकारी मिली थी कि तरल पदार्थ शून्य स्थान की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता है, यहाँ तक कि नीचे से ऊपर की ओर भी वेग के साथ चढ़ जाता है। द्रवस्थैतिक-विज्ञान (hydrostatics) के इस तथ्य का प्रयोग

करके उन्होंने बताया कि धमनी में साधारणतः हवा भरी होती है, धमनी कटने-फटने पर यह हवा निकल जाती है। तब, इस शून्य स्थान को भरने के उद्देश्य से शिरा से धमनी में रक्त प्रवाहित होता है और कटे स्थान से बाहर निकल आता है। इरासिस्ट्रेटस् की व्याख्या की मौलिकता ने सभी की दृष्टि आकर्षित की और गेलेन के पहले चार सौ वर्षों तक पंडितों ने इसी व्याख्या को सही मान लिया था। गैलेन ने पहले-पहल जीवित प्राणी के शरीर की चीर-फाड़ के द्वारा यह प्रमाणित किया कि स्वाभाविक अवस्था में धमनी वायुपूर्ण नहीं होती। इसमें से रक्त प्रवाहित होता है। गैलेन के भी कोई डेढ़ हजार वर्ष बाद विलियम हार्वी ने रक्त-परिवहन-प्रणाली का प्रथम अधुना-स्वीकृत सिद्धांत प्रस्तावित किया (१५७८-१६५७)।

गणित और पदार्थ-विज्ञान

युक्लिड (ई० पू० ३३०-२७५)

प्रथम टॉलेमी के राजत्वकाल में जिन थोड़े-से वैज्ञानिकों की प्रतिभा ने अलेग्जेंड्रियाई विज्ञान की नींव को सुदृढ़ किया था, उनमें युक्लिड सर्वश्रेष्ठ थे। अनुमानतः ई० पू० ३०० में वे संग्रहालय में गणित-शास्त्र के अध्यापक नियुक्त हुए। म्यूजियम के पुस्तकालय की गणित-शाखा के प्रधान के रूप में भी वे काम करते रहे। अध्यापन-कार्य में उनकी विशेष ख्याति थी। युक्लिड के जन्म-वृत्तांत, कहाँ उन्होंने विद्याभ्यास किया या शिक्षा प्राप्त की, इन विषयों की कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। संभवतः एथेंस में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। उनकी विचारधारा और रचना पर प्लेटो के विद्यापीठ के गणित और ज्यामिति का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।

युक्लिड ने समग्र ज्यामितिक ज्ञान को एकत्रित करके, अपनी विश्व-विख्यात पुस्तक, 'एलिमेंटस्' (Elements) में उसे जो रूप और सुसंबद्धता प्रदान की, उसमें लगभग दो हजार वर्षों की अवधि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। ज्यामिति अवश्य ही बहुत प्राचीन विद्या है। माइलेटस् के थालेस् से लेकर स्नाइडस् के युडॉक्सस् तक, अनेक विशिष्ट गणितज्ञों का चिंतन और शोध इस विद्या को पुष्ट और परिवर्धित करती आई थी। एनाक्सागोरस्, पाइथागोरस तथा उनके शिष्यों, चिओस् के हिपोक्रेटिस्, आर्किटस्, मेनेक्मस्-जैसे विशिष्ट पंडितों ने, विभिन्न क्रमों से उसे उन्नत किया। प्लेटो के विद्या-पीठ में ज्यामितीय गवेषणा के महत्त्व और आदर की चर्चा पहले ही की जा

चुकी है। युक्लिड के पहले रोड्स के यूडिमस् ने, अनुमानतः ई० पू० ३२० में ज्यामिति के एक इतिहास की रचना की थी। इस प्रकार युक्लिड् को मोटे तौर पर एक सुसंबद्ध ज्यामिति मिल गई थी। तथापि इस विद्या में तब तक बहुत कुछ करना बाकी था। अनेक प्रमेयों तथा साध्यों के विश्वसनीय प्रमाण नहीं थे। इसके अतिरिक्त, पूर्ववर्ती साध्य से किस प्रकार स्वभावतः परवर्ती साध्य का उद्भव होता है, यह प्रदर्शित करते हुए, पहले किसी ने इसके साध्यों को युक्तिसंगत क्रम से सजाने की चेष्टा नहीं की थी। युक्लिड समग्र ज्यामिति को इस प्रकार के क्रम में ढालकर सजाने में जुट गए। उन्होंने पहले उन थोड़े से, स्वयंसिद्ध तथ्यों को अलग कर लिया, जिन पर संपूर्ण ज्यामिति का कलेवर प्रतिष्ठित है। उन्होंने अनेक साध्यों के नए प्रमाण खोज निकाले और अनेक साध्य तैयार किए। फिर प्रत्येक साध्य का प्रमाण निरूपित करने के उद्देश्य से साधारण और विशेष निर्वाचन, अंकन, आवश्यक कल्पना, प्रमाण तथा सिद्धांत आदि विभिन्न सीढ़िया बाँध दीं। इस प्रकार युक्ति-परंपरा की नींव पर प्रणालीबद्ध, तेरह खंडों में समाप्त, युक्लिड की ज्यामिति आधुनिक गणित-शिक्षा-व्यवस्था में प्रायः अपरिवर्तित ही रह गई है।

बेशक, यह नहीं कहा जा सकता कि युक्लिड की ज्यामिति त्रुटिहीन और सर्वांग सुंदर है। अनेक साध्यों के उनके प्रमाण अनावश्यक रूप से जटिल और एकरस हैं। फिर, उनके स्वयंसिद्ध एक प्रकार के विशेष स्थान (Space), युक्लिडीय स्थान (Euclidean Space), के क्षेत्र में ही प्रयुक्त हो सकते हैं। युक्लिडीय स्थान की परिकल्पना अवश्य साधारण व्यावहारिक अभिज्ञता से ही उत्पन्न हुई है। इस प्रकार का स्थान स्वीकार कर लेने पर युक्लिड के साध्यों की युक्ति और प्रमाण अभ्रांत जान पड़ते हैं। न्यूटन ने इस प्रकार का स्थान स्वीकार करके ही अपने गणित और ज्योतिष का ढाँचा तैयार किया था। एडम्स तथा लेवेरियेर के काल तक विभिन्न ज्योतिषीय तथ्यों के साथ युक्लिडीय स्थान के आधार पर रचित गाणितिक सिद्धांतों का कोई असामंजस्य नहीं दीख पड़ा। लेकिन इसके कुछ ही समय बाद कुछ ऐसे नए तथ्य आविष्कृत हुए, जिनके कारण युक्लिडीय स्थान की परिकल्पना से काम नहीं चला और साधारण अभिज्ञता से परे बिलकुल नए प्रकार के स्थान की कल्पना गणितज्ञों को करनी पड़ी। इस प्रकार के स्थान में युक्लिड के स्वयंसिद्ध निरर्थक और भ्रमात्मक हो जाते हैं, इसलिए युक्लिडीय ज्यामिति भी बेकार हो जाती है। प्रकृति और पदार्थ के इन नवीन रहस्यों के समाधान के लिए वैज्ञानिकों,

को नई ज्यामिति और गणित की सृष्टि करनी पड़ी और आइनस्टाइन की प्रतिभा की आवश्यकता पड़ी।

ज्यामिति के अतिरिक्त गणित के अन्य विभागों में भी युक्लिड ने अनेक मौलिक गवेषणाएँ कीं। अभाज्य संख्याओं (prime numbers) की कोई निर्धारित सीमा, अर्थात् बृहत्तम अभाज्य संख्या जैसी कोई चीज है या नहीं, इस विषय में उन्होंने खोज की। हम जानते हैं कि संख्याओं की दो श्रेणियाँ हैं- अभाज्य और मिश्र। अभाज्य संख्या का कोई गुणन-खंड नहीं होता; मिश्र संख्या एकाधिक गुणन-खंडों का गुणनफल है। उदाहरण के तौर पर २,३,५,७,११,१३ आदि अभाज्य संख्याएँ हैं; ४ (२×२), ६ (३×२), ८ (२×२×२), ९ (३×३) आदि मिश्र संख्याएँ हैं। पहले तो मिश्र संख्याओं के अनुपात में अभाज्य संख्याएँ कहीं अधिक होती हैं; लेकिन संख्याएँ बढ़ाते जाने से मिश्र संख्याओं का अनुपात बढ़ता रहता है। जैसे, प्रथम ६ संख्याओं में दो तिहाई अभाज्य संख्याएँ हैं, बाकी मिश्र; प्रथम १२ संख्याओं में आधे अभाज्य और आधे मिश्र हैं; २४ संख्याओं के क्षेत्र में केवल ९, अर्थात् ८ में से ३ भाग अभाज्य हैं। इस प्रकार संख्याएँ बढ़ाते जाने पर हम देखते हैं कि ९६ संख्याओं में अभाज्य संख्याएँ केवल एक चौथाई होती हैं। अब प्रश्न यह है कि चूँकि संख्याएँ बढ़ाते जाने पर अभाज्य संख्याओं का अनुपात बराबर घटता जाता है, तो क्या अंत तक हम किसी ऐसी अभाज्य संख्या पर पहुँच सकते हैं, जो वृहत्तम हो, अर्थात् जिससे बड़ी अभाज्य संख्या हो ही नहीं सकती? युक्लिड ने इस प्रश्न की एक सरल मीमांसा प्रस्तुत की। मान लिया जाय कि इस प्रकार की बृहत्तम अभाज्य संख्या का अस्तित्व संभव है और वह है P। तब यह सहज ही प्रमाणित किया जा सकता है कि [(१ × २ × ३ × ···P) + १], यह संख्या एक ही साथ अभाज्य भी है और मिश्र भी। यह अभाज्य संख्या होगी क्योंकि P तक हर प्रकार की अभाज्य संख्या-द्वारा भाग करने पर भी हर बार १ बच रहेगा। परंतु पहले की कल्पना के अनुसार P से बड़ी कोई अभाज्य संख्या नहीं हो सकती और चूँकि [(१ × २ × ३ × ···P) + १],P से बड़ी है, इसलिए यह मिश्र संख्या है। लेकिन एक ही संख्या मिश्र और अभाज्य दोनों नहीं हो सकती। इसलिए बृहत्तम अभाज्य संख्या की कल्पना भ्रांत है।

युक्लिड ने २५ विभिन्न असम्मेय संख्याएँ (incommensurable numbers) आविष्कृत कीं। दो सम्मेय संख्याओं (commensurable numbers)

के वर्गमूल के जोड़ या बाकी का पुनः वर्गमूल निकालने पर इस असम्मेय संख्या को प्रकट करना संभव है।

अर्थात्—

$$p = \sqrt{\sqrt{m} \pm \sqrt{n}}$$

p = असम्मेय संख्या

m, n = सम्मेय संख्या

असम्मेय संख्या के बारे में इस प्रकार की गवेषणा युक्लिड के बाद डेढ़ हजार वर्षों के बीच किसी और ने की हो, ऐसा पता नहीं चलता।

आलोक-विज्ञान : युक्लिड की गवेषणा गणित तक ही सीमित नहीं थी। आलोक-विज्ञान और संगीत-शास्त्र में भी उन्होंने गवेषणा की थी। उनकी 'ऑप्टिक्स' (Optics) नामक पुस्तक में आलोक के परावर्तन और तत्संबंधी नियम की चर्चा की गई है। आलोक के स्वरूप के संबंध में युक्लिड ने इस पुस्तक में लिखा है कि आलोक-रश्मियाँ आँख से सरल रेखाओं में विकीर्ण होती हैं और वस्तु पर टकराकर उसे दृश्यमान करती हैं। वस्तु से आलोक की उत्पत्ति संभव नहीं, इस विश्वास के समर्थन में उन्होंने यह युक्ति प्रदर्शित की कि ऐसा ही होता तो जमीन पर गिरी सुई को खोज निकालने में इतनी कठिनाई न होती। †

युक्लिड के पहले अरस्तू भी प्रकाश के स्वरूप के संबंध में इसी प्रकार की गलत धारणा रखते थे। दूसरी ओर पाइथागोरियों ने यह कहा था कि प्रकाश उज्ज्वल वस्तु से बहुत छोटे असंख्य कणों के आकार में प्रवाहित होकर आँखों में प्रवेश करता है और उस वस्तु के अस्तित्व को प्रकट करता है। प्रकाश के संबंध में न्यूटन के कण-सिद्धांत से इस मत का सादृश्य ध्यान देने योग्य है। आयोनी एंपिडॉक्लेस् ने कहा था कि प्रकाश में वेग है, एक विशेष माध्यम से यह प्रवाहित होता है और इस माध्यम में एक प्रकार के आंदोलन का फल ही आलोक है। १८ वीं और १९ वीं शती में व्यापक रूप से प्रचलित आलोक के तरंग-सिद्धांत का यह पूर्वाभास था।

---

† Euclid, 'Optics'—"For if light proceeded from the object we should not, as we obften do, fail to perceive a needle on the floor."

जो भी हो, युक्लिड आरंभ से अंत तक मूलतः ज्यामितीय गवेषणा में ही लगे रहे। वे सभी कालों और सभी देशों के अन्यतम श्रेष्ठ ज्यामितिविद् थे, यह निःसंशय रूप से कहा जा सकता है। ज्यामिति के संबध में युक्लिड की एक उक्ति समय के साथ विशेष लोकप्रिय हो गई थी, वह उक्ति है— 'ज्यामितीय ज्ञान प्राप्त करने का कोई राजपथ नहीं है।'

आर्किमीडिस् (ई० पू० २८७-२१२)

युक्लिड ने सभी काल के लिए ज्यामिति का मान निर्धारित किया तो आर्किमीडिस् ने बलविद्या और वास्तुकला की नींव डाली। साधारण पाठक, द्रवस्थिति-विज्ञान में उनकी गवेषणाओं के कारण ही उनसे परिचित हैं। परंतु हाल की खोज से जो तथ्य आविष्कृत हुए हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि वे उस समय के सर्वश्रेष्ठ गणितज्ञ, पदार्थविद् और वास्तुकला-विशारद थे। गणित के साथ व्यावहारिक विद्या और अभिज्ञता का इस प्रकार समन्वय और सामंजस्य, उनके पहले देखने में नहीं आता। विज्ञान के वर्तमान आदर्श की दृष्टि से वे वास्तविक वैज्ञानिक थे। दर्शन और विशुद्ध आध्यात्मिक चिंतन के साथ विज्ञान को मिलाकर उन्होंने खिचड़ी पकाने की चेष्टा नहीं की। इसके अतिरिक्त विज्ञान के समूचे विभागों के बदले केवल थोड़े से विभागों को चुनकर उनका पूर्णतम ज्ञानार्जन करना उनकी गवेषणा का मूल उद्देश्य और लक्ष्य था। इसलिए जिस विषय में भी उन्होंने मनोनिवेश किया, उसी को पूर्णता प्रदान की। प्रसंगतः यह उल्लेख किया जा सकता है कि बहुत-सी विद्याओं के अनुशीलन के बदले एक या थोड़ी विद्याओं का अनुशीलन अलेग्जेंड्रियाई विज्ञान-साधना की विशेषता थी और यह गुण युक्लिड से लेकर परवर्ती प्रायः सभी वैज्ञानिकों में देखा जाता है।

संक्षिप्त जीवनी :—आर्किमीडिस् के जीवन के संबंध में जो थोड़ी-बहुत जानकारी मिलती है, वह प्राचीन लेखकों की बिखरी हुई बहुविध रचनाओं, टीकाओं या कहानियों पर आधारित है। 'वृत्त की माप' (Measurement of the Circle) ग्रंथ के टीकाकार युटोसियस् ने उल्लेख किया है कि हेराक्लिडिस् ने उनकी एक जीवनी लिखी थी। यह जीवनी समय के साथ विनष्ट और लुप्त हो गई है। सर टॉमस हीथ ने अपनी पुस्तक 'आर्किमीडिस् की कृतियाँ' में उनके जीवन-वृत्तांत के संबंध में कुछ मूल्यवान तथ्य दिए हैं।

आर्किमीडिस् के पिता फिडियस् ज्योतिर्विद् थे। सिसली के सायराक्यूज-राजपरिवार से संभवतः आर्किमीडिस्-वंश का घनिष्ठ संबंध था। रोम के

सैनिकों-द्वारा सायराक्यूज के ध्वंस और लूट-पाट के समय (ई० पू० २१२) किसी सैनिक ने उनकी हत्या कर दी। उस समय उनकी आयु ७५ वर्ष की थी। विद्वानों के इस अनुमान के अनुसार उनका जन्म-काल ई० पू० २८७ निर्धारित हुआ है। अलेग्जेंड्रिया के म्यूजियम में उन्होंने विद्याभ्यास किया। वहीं युक्लिड की ज्यामिति और गणित से उनका परिचय हुआ और संभवतः युक्लिड के परवर्ती अध्यापकों के साथ वहीं उन्हें गणित-चर्चा का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। इसी समय वे प्रसिद्ध गणितज्ञ सामोड् के कोनन तथा कोनन के शिष्य डोसिथियस् के संपर्क में आए। अलेग्जेंड्रिया में ही प्रसिद्ध भौगोलिक और ज्योतिर्विद् इराटोस्थेनिस् से उनकी जान-पहचान हुई। विद्याभ्यास के थोड़े दिनों बाद वे सायराक्यूज लौट गए। अधिकांश शोध-कार्य उन्होंने अपने देश में ही किया। चिट्ठी-पत्री और पुस्तकादि के आदान-प्रदान के माध्यम से उन्होंने अलेग्जेंड्रिया के वैज्ञानिकों से अपना संपर्क और सहयोग बनाए रखा।

सायराक्यूज-विध्वंस के समय रोम के सैनिक के हाथों आर्किमीडिस् की मृत्यु की घटना मर्मस्पर्शी है। रोम के आक्रमण की रोकथाम के उद्देश्य से, वर्षों तक उन्होंने आत्म-रक्षात्मक अनेक प्रकार के वैज्ञानिक कौशलों का सहारा लिया था। पत्थर बरसाने के लिए उनका केटापुल्ट (Catapult) यंत्र प्रसिद्ध है। नगर-प्राचीर में जगह-जगह छेद करके, इन निक्षेपक यंत्रों को उन छेदों के बाहर लगा दिया जाता था, और उन्हें भीतर से चलाकर विभिन्न दूरियों-वाले शत्रु पर भारी पत्थर फेंके जाते थे। फिर आर्किमीडिस् के निर्देशानुसार घिरनी (pulley) की तरह के यंत्र, जिनके एक ओर, संड़सी के आकार की लंबी खूँटियाँ जड़ी हुई थीं और जिनमें लोहे की लपेटन और चोंच का आकार बना हुआ था, दीवार पर लगा दिए गए थे। इन खूँटियों को उत्तोलक (lever) की सहायता से, ऊपर-नीचे, दाहिने-बाएँ, सामने-पीछे, विभिन्न दिशाओं में, विभिन्न रूप से चलाने की व्यवस्था थी। शत्रु जब पास आता, इस घिरनी की सहायता से जमीन से बड़े-बड़े पत्थर उठाकर सेना पर वेग के साथ फेंका जाता था। कभी-कभी समुद्र के किनारे तक उन्हें फैला कर, चोंच की सहायता से बड़े-बड़े जहाजों को भी जमीन पर पटककर चूर-चूर कर दिया जाता था। इस प्रकार के कौशल से घबराकर कई बार रोमन सेना ने घेरा उठा लेने का संकल्प किया। आर्किमीडिस् के कौशलों को विफल न कर सकने के कारण, रोमन सेनाध्यक्ष मार्सेलस् ने अपने इंजीनियरों को किस प्रकार से उलाहना दिया, उसे प्लूटार्क ने लिपिबद्ध किया है :

"......क्यों न हम इस ज्यामितीय ब्रिएरिअस के विरुद्ध अपनी लड़ाई समाप्त कर दें, जो समुद्र के पास आराम से बैठकर हमारे जहाजों को उलट-पलट देता है और जिसने हमारे ऊपर अनगिनत अस्त्र निक्षेप कर पौराणिक शतभुज दैत्यों को भी मात्त कर दिया है ?" *

लेकिन लानत-मलामत और निंदा का कोई फल नहीं हुआ। रोमन सैनिक इतने भयभीत हो गए थे कि नगर-प्राचीर पर टँगी रस्सी या लकड़ी का कोई टुकड़ा देखते ही भाग खड़े होते थे।

एक लंबी अवधि के घेरे के बाद ई० पू० २१२ में सायराक्यूज का पतन हुआ। पतन के वाद नगर में अराजकता फैल गई और लूट तथा हत्याकांड के दौरान किसी रोमन सैनिक के हाथों आर्किमीडिस् की मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु का ठीक विवरण नहीं मिलता। कुछ लोगों का कहना है कि ज्यामिति के किसी प्रश्न के समाधान में तल्लीन होने के कारण रोमन सेना के नगर में प्रवेश करने का उन्हें कोई पता नहीं चला और उन्हें विना पहचाने किसी रोमन सैनिक ने उनकी हत्या कर दी। एक और विवरण के अनुसार, उन्हें जब अविलंब रोमन सेनाध्यक्ष के पास जाने को कहा गया, तब उन्होंने यह मनोभाव प्रकट किया कि जिस प्रश्न को उन्होंने शुरू किया था, उसे समाप्त किए विना वे नहीं उठेंगे; इस पर उस सैनिक ने उनकी हत्या कर दी।† कुछ अन्य लोगों का कहना है कि सायराक्यूज के पतन का समाचार मिलने पर, आर्किमीडिस् मार्सेलस् के पास सूर्यवलय, गोला, कोण-निर्देशक यंत्र आदि कुछ ज्योतिषीय औजार ले जा रहे थे। सैनिकों ने यह समझकर उन्हें मार डाला कि वे चोरी-छिपे सोना ले जा रहे हैं।

इस कहानी में ध्यान देने की वात यह है कि आज से दो हजार वर्ष पहले भी शासक-वर्ग आत्मरक्षा के लिए वैज्ञानिक की शरण लेते थे, या वैज्ञानिक स्वेच्छा से अपनी विद्या और अभिज्ञता, आपत्काल में देशसेवा में नियोजित करते थे। इस युद्ध में आर्किमीडिस् की मृत्यु के साथ, प्रथम महायुद्ध में शत्रु की गोली से मोजले की मृत्यु में समानता है।

स्वरचित ग्रंथ : आर्किमीडिस्--द्वारा लिखित अनेक पुस्तकों में, जिनका उद्धार संभव हो सका है, निम्नलिखित ग्रंथ उल्लेख योग्य हैं :—

* Plutarch, Marcellus, 17.

समतलों की साम्यावस्था के विषय में, (१);
परवलय का क्षेत्र कलन;
समतलों की साम्यावस्था के विषय में, (२);
गोला और वेलन के विषय में;
सर्पिलों के विषयों में;
शंकुभों और गोलाभों के विषय में;
तैरते हुए पिंडों के विषय में, (१ और २);
वृत्त की माप; और
रेत-गणक।

इतिहासकार यह मानते हैं कि 'मवेशी समस्या' नामक गणित-संबंधी एक जटिल प्रश्न के रचयिता आर्किमीडिस् ही थे। यह प्रश्न अलेग्जेंड्रिया के गणितज्ञों के लिए, इराटोस्थेनिस् को लिखित एक पत्र के शीर्षक के तौर पर व्यवहृत हुआ था। उपर्युक्त अधिकांश ग्रंथ, बाद में, बहुत खोज-ढूंढ़ के बाद निकाले गए। आर्किमीडिस् डोरिक (बोलचाल की भाषा) में लिखा करते थे। परंतु अनेक हाथों में जाने और विभिन्न भाषाओं में अनूदित होने के कारण आदि-डोरिक संस्करण तथा उसकी रचना-पद्धति में बहुत परिवर्तन और विकृति हुई।

द्रवस्थैतिक विज्ञान : द्रवस्थिति-विज्ञान संबंधी आर्किमीडिस् का सूत्र सुविदित है। किसी वस्तु को, अंशतः या पूर्णतः तरल पदार्थ में डुबोने पर, उस वस्तु का वजन घट जाता है। वह वस्तु, तरल पदार्थ में अपनी जगह बनाने के लिए, तरल पदार्थ के जिस आयतन को स्थानांतरित करती है, उस आयतन के तरल पदार्थ के वजन के बराबर ही, उस वस्तु का वजन घटता है। आर्किमीडिस् ने अनेक प्रतिज्ञाओं के माध्यम से इस सिद्धांत को व्यक्त किया है। जैसे :

१. यदि ठोस वस्तु का वजन एक ही आयतन के तरल पदार्थ के समान हो तो इस ठोस वस्तु को तरल पदार्थ में डुबोने पर, वह डूबेगी नहीं, या उसका कुछ अंश तरल पदार्थ के ऊपर रहने पर भी वह उतराएगी नहीं। (Prop. 3)

२. तरल पदार्थ की तुलना में कठिन पदार्थ आपेक्षिक रूप से हलका हो तो कठिन पदार्थ तरल पदार्थ में पूरे तौर पर डूबेगा नहीं, उसका कुछ अंश ऊपर निकला हुआ होगा। (Prop. 4)

३. कठिन पदार्थ अपने से भारी तरल पदार्थ में डूबे, तो वह इस प्रकार आंशिक रूप में डूबेगा कि समूचे कठिन पदार्थ का वजन स्थानांतरित तरल के वजन के बराबर होगा। (Prop. 5)

४. तरल पदार्थ में उससे आपेक्षिक रूप से अधिक भारी कठिन पदार्थ को डुबोया जाय, तो वह कठिन पदार्थ तरल पदार्थ के तल तक जा पहुँचेगा और उस तरल पदार्थ में लिया गया उसका वजन उसके वास्तविक वजन से कम होगा; कठिन वस्तु के इन दोनों वजनों का अंतर स्थानांतरित तरल पदार्थ के वजन के समान होगा।' (Prop. 7) *

दो खंडों में समाप्त On the Floating Bodies (तैरनेवाले पदार्थों के विषय में) नामक ग्रंथ में आर्किमीडिस् ने १९ प्रतिज्ञाएँ दी हैं। कठिन पदार्थों की विभिन्न ज्यामितिक आकृतियाँ हों तो वे तरल पदार्थ पर किस प्रकार तैरेंगी, उसमें प्रमाण-सहित इसकी चर्चा की गई है।

आर्किमीडिस् ने अपने ही सूत्र से आपेक्षिक गुरुत्व मापने का एक सहज उपाय निकाला था। जलपूर्ण किसी पात्र में निर्धारित वजन की एक कठिन वस्तु को डुबोया जाता है। इससे जितना पानी स्थानांतरित होकर निकल जाता है, उसे वजन करके आपेक्षिक गुरुत्व निकाला जाता है। आपेक्षिक गुरुत्व की धारणा न होने के कारण, अरस्तू भारी और हलके पदार्थों के भेद के बारे में किस प्रकार भ्रांत धारणा का पोषण करते थे और किस प्रकार के विचित्र मत उन्होंने व्यक्त किए, इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। आर्किमीडिस् के इस आविष्कार से संबद्ध एक कहानी प्रचलित है। साइराक्यूज के राजा हीरण को एक बार संदेह हुआ कि उनके सोने के मुकुट में चाँदी की खाद मिलाई गई है। उस मुकुट को बिना नष्ट किए, यह पता लगाने के लिए कि वास्तव में उसमें खाद मिलाई गई है या नहीं, उन्होंने आर्किमीडिस् की सलाह मांगी। पानी में गोता लगाकर स्नान करते समय आर्किमीडिस् ने लक्ष्य किया था कि उस समय शरीर हल्का लगता है और शरीर के आयतन के समान पानी बाहर उतरा जाता है। कहा जाता है कि यह जानकर ही उन्होंने आपेक्षिक गुरुत्व का आविष्कार और हीरण के स्वर्ण-मुकुट की समस्या का समाधान किया।

---

* T. L. Heath—लिखित "The works of Archimedes" ग्रंथ के २५५ वें पृष्ठ पर दिए गए आर्किमीडिस् के उपर्युक्त सूत्रों का हिंदी अनुवाद।

गणित : गणित और ज्योतिष के विभिन्न विभागों में आर्किमीडिस् ने अनेक महत्वपूर्ण आविष्कार किए, परंतु अधिकांश समय वे ज्यामिति की गवेषणा में ही लगे रहे। उनके जिन ग्रंथों का उल्लेख किया गया है, उनमें से प्रायः सभी में ज्यामिति के किसी न किसी प्रश्न या उसके प्रयोग की समस्या की चर्चा की गई है। उनकी प्रत्येक ज्यामितीय गवेषणा मौलिक है। उनकी गवेषणा का लक्ष्य ही था अपने पूर्ववर्तियों के काम को आगे बढ़ाना। जिन समस्याओं के समाधान में उनके पूर्ववर्ती असफल रहे, उनका समाधान करना और जो कार्य वे असमाप्त छोड़ गए थे, उन्हें पूरा करना। वे सदा कुछ नया करने की चेष्टा करते थे। उन्होंने वृत्त का क्षेत्र, गोले के बाहरी भाग का क्षेत्र तथा उसके आयतन के निर्णय के उद्देश्य-से π का मूल्य तथा इन क्षेत्रों और आयतन के साथ π तथा व्यासार्द्ध के संबंध* आविष्कृत किए। इसी प्रकार उन्होंने शंकु, पिरामिड तथा विभिन्न आकार की घन वस्तुओं के आयतन और बाहरी भाग के क्षेत्रफल का निर्णय किया। उन्होंने जिस तरह π का मूल्य निर्धारित किया, वह उल्लेखनीय है। मान लीजिए कि एक वृत्त, जिसका केन्द्र O है, (चित्र—८०), ABCD वर्गक्षेत्र का भीतरी और A'B'C'D' वर्गक्षेत्र का बाहरी वृत्त है, अतः इस वृत्त का क्षेत्रफल (S) दोनों वर्गक्षेत्रों के क्षेत्रफलों के बीच होगा।

$$\text{अर्थात्}—S > 2r^2;\ S < 4r^2$$

८१ संख्यक चित्र में ABCDEF वृत्त का बाहरी, और A'B'C'D'E'F वृत्त का भीतरी समषड्भुज है। इसलिए वृत्त का क्षेत्रफल भीतरी षड्भुज के क्षेत्रफल से बड़ा और बाहरी षड्भुज के क्षेत्रफल से छोटा होगा।

---

* r यदि वृत्त या गोले का व्यासार्द्ध हो, तो

(१) वृत्त की परिधि की लंबाई $= 2\pi r$;

(२) वृत्त का क्षेत्रफल $= \pi r^2$,

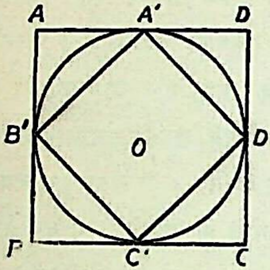
(३) गोले के बाहरी भाग का क्षेत्रफल $= 4\pi r^2$,

(४) गोले का घनफल $= \frac{4}{3}\pi r^3$.

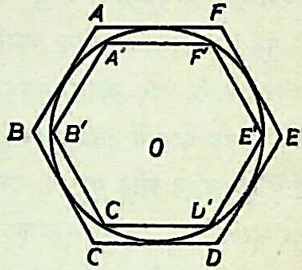
(५) $\pi = \dfrac{2\pi r}{2r} = \dfrac{\text{वृत्त की परिधि की लंबाई}}{\text{वृत्त का व्यास}}$

अर्थात्

$$S > 2{\cdot}598 r^2$$
$$< 3{\cdot}464 r^2$$



चित्र—८०



चित्र—८१

वृत्त के भीतर और बाहर सम अष्टभुज की कल्पना करने पर उसका क्षेत्रफल २.८२८r^2 और ३.३१४ r^2 के बीच होगा। इस प्रकार सम-बहुभुज की बाहुओं की संख्या लगातार बढ़ाते जाने पर बाहरी और भीतरी बहुभुजों के क्षेत्रफल एक दूसरे के बहुत निकट हो जायंगे। ९६ बाहु-समन्वित क्षेत्र की कल्पना की जाय तो S का मान होगा—

$$S > 3{\cdot}1395\ r^2$$
$$< 3.1426\ r^2$$

अर्थात् π का मूल्य ३·१३९५ और ३·१४२६ के बीच होगा। आर्किमीडिस् ने π का मूल्य ३·१४०८ और ३·१४२९ के बीच ठहराया। आज π का मान ३·१४१६ माना जाता है।

इस रीति से निर्णय करने की पद्धति का नाम 'निःशेषीकरण पद्धति' (method of exhaustion) है। इसके प्रयोग-द्वारा आर्किमीडिस् ने वृत्त, गोला और परवलय के क्षेत्रफल और घनफल निकाले।

गणित में निःशेषीकरण पद्धति के वास्तविक आविष्कारक युडॉक्सस् हैं। आर्किमीडिस् के बहुत पहले, इस पद्धति के प्रयोग-द्वारा उन्होंने गोला, पिरामिड, शंकु आदि घन वस्तुओं के घन और क्षेत्रफल के निर्णय किए थे। आर्किमीडिस् ने इस पद्धति को पूर्णतः विकसित किया। इस पद्धति में समाकलन गणित (Integral Calculus) का बीज छिपा हुआ था, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

आर्किमीडिस् के On Conoids and Spheroids (शंकुओं तथा गोलाभों के विषय में) नामक पुस्तक में अधिवृत्त और परवलय संबंधी अनेक प्रतिज्ञाओं के विवरण और प्रमाण हैं। घन-ज्यामिति-संबंधी कुछ काम भी इस पुस्तक में मिलते हैं।

ग्रीक संख्या-लेखन-पद्धति : संख्या प्रकाशित करने की ग्रीक पद्धति बहुत जटिल थी। आधुनिक अंक-विन्यास पद्धति का तब तक आविष्कार नहीं हुआ था। वर्णमाला के अक्षरों को एक के बाद एक सजाकर संख्याओं का निर्देश किया जाता था। शून्य की परिकल्पना तब तक अज्ञात थी। ग्रीक वर्णमाला की संख्या कुल २४ है; इसमें वर्त्तमान काल में अप्रचलित और लुप्त दो और ग्रीक अक्षरों तथा एक फिनिशियन अक्षर को जोड़कर, २७ अक्षरों की सहायता से वे संख्याओं को प्रकाशित करते थे। इस उपाय से कई लाख तक हिसाब लगाने में विशेष असुविधा नहीं होती थी; लेकिन उसके बाद गाड़ी रुक जाती थी। आज कल हम जैसे १ के बाद चाहे जितने 0 (शून्य) बैठाकर, अर्थात् १० के माथे पर, शून्यों की संख्या को सूचक के रूप में व्यवहृत कर, बड़ी से बड़ी संख्या को इच्छानुसार प्रकाशित कर सकते हैं, ग्रीक वैसा नहीं कर सकते थे। उदाहरण के तौर पर $१०^{२७८}$ से कितनी बड़ी संख्या बनती है, आज स्कूल का छात्र भी यह समझ सकता है। ग्रीकों के लिए यह दुर्बोध्य था। आज सभ्य दुनिया में सर्वत्र प्रचलित दशमलव स्थानिक अंक-विन्यास-पद्धति हिंदुओं का आविष्कार है। यह आविष्कार मानव-प्रतिभा का एक श्रेष्ठ निदर्शन है।

आर्किमीडिस् ग्रीक अंक-विन्यास-पद्धति की असुविधा से भली भांति परिचित थे। फिर भी उन्होंने जिस तरह इस जटिल पद्धति की सहायता से बहुत बड़ी संख्याओं को प्रकट करने की चेष्टा की, यह सोचकर आश्चर्य होता है। अपने विख्यात ग्रंथ 'रेत-गणक' (Sand-reckoner) में चाहे जितनी बड़ी संख्या प्रकाशित करने का उन्होंने एक उपाय निकाला था। सवाल इस तरह पैदा हुआ था। मान लीजिए कि पोस्त के एक बीज-जैसे आयतन में रेत के १० हजार कणों का स्थान हो सकता है; इस बीज का व्यास उँगली की चौड़ाई का ४० वाँ भाग (१/४०) है। अब यदि संपूर्ण ब्रह्मांड-गोले का व्यास १० अरब स्टाडिया [१० स्टाडिया (Stadia) = १ मील] मान लिया जाय तो समग्र ब्रह्मांड को रेत के कणों से भरने के लिए कितनी संख्या में रेत के कणों की आवश्यकता पड़ेगी? राजा गेलन को लिखे गए एक पत्र के प्रारंभ में आर्किमीडिस् ने यह प्रस्ताव रखा :

"कुछ लोग कहते हैं कि रेत के कण अनगिनत हैं। इस रेत से हमारा मतलब केवल सायराक्यूज और सिसली नहीं, बल्कि पृथ्वी के अंतर्गत जितनी रेत का अस्तित्व संभव है, उस सबसे है। लेकिन कुछ लोग इस बात को माने बिना कि रेत के कण अनगिनत हैं, यह कहते हैं कि अभी तक ऐसी किसी संख्या का पता नहीं लगा है, जो (उपर्युक्त) समग्र रेत के कणों की संख्या का अतिक्रमण कर सकती है। परंतु आपको आसानी से समझ में आनेवाले ज्यामितिक प्रमाण की सहायता से मैं दिखाऊँगा कि, ज्युक्सिप्पस् को प्रेषित अपनी एक गवेषणा में मैंने जिन संख्याओं का उल्लेख किया है, पृथ्वी तो क्या, समग्र ब्रह्मांड को रेत से भरने के लिए जिस विशाल संख्या में रेत के कणों की आवश्यकता है, उससे भी बड़ी संख्याएँ हैं...ऐरिस्टार्कस् ने स्थिर तारा तक सीमा निर्धारित करके ब्रह्मांड का जो आयतन निकाला है, ऐसे विशाल आयतन के रेतपूर्ण गोले कें रेत-कणों की संख्या की तुलना में भी 'प्रिंसिपल्स' (Principles) में उल्लिखित हमारी संख्याएँ कहीं अधिक बड़ी हैं।"*

फिर आर्किमीडिस् ने दस अरब स्टाडिया व्यास के गोले में रेत के कितने कणों का रहना संभव है, इसका हिसाब लगाया। यह संख्या है $१०^{६३}$!

आर्किमीडिस की संख्या-तत्व की गवेषणा में एक जगह सूचक-नियम (law of indices) का इंगित है। हम यह जानते हैं कि *m* और *n* दो पूर्ण संख्याएँ हों तो

$$a^m \times a^n + a^{m+n}$$

आर्किमीडिस् ने दिखाया कि $१०^{८}$, $१०^{१६}$, $१०^{२४}$ आदि राशियां जिस गुणोत्तर प्रगति की सृष्टि करती हैं; उसमें, एक के बाद एक, किन्हीं दो राशियों का गुणनफल परवर्ती राशि के समान है। अर्थात् $१०^{८} \times १०^{१६} = १०^{२४}$।

यह हूबहू उपर्युक्त सूचक-नियम का प्रयोग है। इस सूचक नियम में लघु गणक (logarithm) गणना-पद्धति अंतर्निहित है। आर्किमीडिस् के लगभग २ हजार वर्ष बाद नेपियर ने १६१४ ई० में लघु-गणक पद्धित का आविष्कार किया था।†

---

* Heath, The Works of Archimedes; p. 221.

† Mirifici Logarithmorum Canonis Descriptio, Edinburgh, 1614.

आर्किमीडिस्, अनुन्नत और जटिल ग्रीक संख्याओं की सहायता से बीज-गणित की दुरूह समस्याओं का किस प्रकार समाधान करते थे, इसका एक और प्रमाण है कैटल्-प्रॉब्लम (Cattle problem) या गो-समस्या। समस्या इस प्रकार है : मान लीजिए, सफेद, काले, बादामी और भूरे रंग के कुछ सांड और गाएँ हैं। विभिन्न रंगों के सांडों की संख्याएँ हैं, A, B, C, D और गायों की संख्याएँ हैं, a, b, c, d। अब, बादामी रंग के सांडों की संख्या वह होगी, जो सफेद सांडों की संख्या में से काले सांडों का (१/२ + १/३) गुना निकाल देने पर, जो बच रहेगा; या, काले सांडों की संख्या में से भूरे सांडों की संख्या का (१/४ + १/५) गुना घटाने पर जो बच रहेगा; या, भूरे सांडों की संख्या में से सफेद सांडों की संख्या का (१/६ + १/७) गुना घटाने पर जो बाकी रहेगा।

चिह्नों की सहायता से उपर्युक्त विवरण इस प्रकार लिखा जायगा :—

$$C = A - \left(\tfrac{1}{2} + \tfrac{1}{3}\right) B$$
$$= B - \left(\tfrac{1}{4} + \tfrac{1}{5}\right) D$$
$$= D - \left(\tfrac{1}{6} + \tfrac{1}{7}\right) A$$

इसी प्रकार, सफेद गायों की संख्या होगी काले सांड और गायों की सम्मिलित संख्या की (१/३ + १/४) गुनी; काली गायो की संख्या होगी भूरे सांडों और गायों की सम्मिलित संख्या की (१/४ + १/५) गुनी, भूरी गायों की संख्या, बादामी सांड और गायों की सम्मिलित संख्या की (१/५ + १/६) गुनी और बादामी गायों की संख्या, सफेद सांड तथा गायों की सम्मिलित संख्या की (१/६ + १/७) गुनी। अर्थात्

$$a = \left(\tfrac{1}{3} + \tfrac{1}{4}\right)(B + b)$$
$$b = \left(\tfrac{1}{4} + \tfrac{1}{5}\right)(D + d)$$
$$d = \left(\tfrac{1}{5} + \tfrac{1}{6}\right)(C + c)$$
$$c = \left(\tfrac{1}{6} + \tfrac{1}{7}\right)(A + a)$$

प्रश्न यह है कि सफेद, काले, बादामी भूरे रंग के सांडों और गायों में से प्रत्येक की संख्या कितनी है ? कहा जा सकता है कि इन सह-समीकरणों के समाधान से उत्तर मिल जायगा। परंतु स्मरण रखना होगा कि सह-समीकरणों का तब तक उद्‌भव नहीं हुआ था और आर्किमीडिस् को इस विषय की कोई जानकारी नहीं थी। वर्त्तमान नियमों के सहारे भी इस सह-समीकरण का समाधान बहुत सरल नहीं है।

आर्किमीडिस् का उत्तर था * :—

	सांड	गाय
सफेद	८२९,३१८,५६०	५७६,५२८,८००
काला	५९६,८४१,१२०	३८९,४५९,६८०
बादामी	३३१,९५०,९६०	४३५,१३७,०४०
भूरा	४४८,६४४,८००	२८१,२६५,६००

गणितशास्त्र का कितना गहरा ज्ञान और उसमें कितनी दक्षता होने पर, ग्रीक अंक-विन्यास के आधार पर, इस प्रकार के कठिन प्रश्न का समाधान किया जा सकता है, यह इस बात का एक श्रेष्ठ दृष्टांत है। एकमात्र आर्किमीडिस् की प्रतिभा के द्वारा ही यह संभव था।

बल-विज्ञान : व्यावहारिक बल-विज्ञान में आर्किमीडिस् की असाधारण उद्‌भावनी शक्ति का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उन्होंने एक पानी-पेंच (water screw) का आविष्कार किया था, जिसकी सहायता से सिंचाई के कार्य में बहुत सुविधा हो गई। खान या जहाज की तली से पानी निकालने के काम में, इस पेंच का एक समय व्यापक प्रयोग किया जाता था। उत्तोलक (lever) और मिश्र-घिरनी (pulley) का व्यवहार करके उन्होंने अनेक प्रकार के यंत्र तैयार करवाए थे। इन कार्यों में उन्हें इतनी दक्षता और आत्मविश्वास प्राप्त हो गया था कि वे कहा करते थे, "मुझे खड़ा होने की कोई जगह मिल जाय तो मैं समूची पृथ्वी को हिला सकता हूं।"*

हीरण ने आर्किमीडिस् की इस प्रकार की उक्ति की बात सुनी थी और यह कहानी प्रचलित है कि इस उक्ति की सत्यता प्रमाणित करने के लिए उन्होंने आर्किमीडिस् को बुलवाया। आर्किमीडिस् ने एक विशाल व्यापारी जहाज चुना और बहुत भारी-भारी वस्तुएँ लदवाकर उसे भर दिया। जहाज इतना भारी हो गया कि सैंकड़ों दासों को पसीना छूटने लगा, लेकिन वे मिलकर भी उसे हिला नहीं सके। राजा हीरण ने यह देखा। फिर जब सब तैयारी हो गई, तब आर्किमीडिस् ने एक मिश्र-पुली की सहायता से दूर से ही, जहाज को अनायास इस तरह चला दिया, 'मानों वह समुद्र में चल

* James Jeans, The Growth of Physical Science, Cambridge University Press, 1947, p. 80.

Heath, 'The works of Archimedes', p. 321; Wurm's Problem शीर्षक समालोचना में देखिए।

रहा था'।* कुछ लोग कहते हैं कि हीरण ने सामान से भरा एक बहुत बड़ा जहाज भेजने का इरादा किया था। लेकिन जहाज इतना भारी हो गया कि बहुत लोग मिलकर भी उसे पानी में तैरा न सके। तब आर्किमीडिस् ने एक मिश्र-पुली की सहायता से जहाज को ऊपर उठाकर पानी में डाल दिया। जो भी हो, हीरण आर्किमीडिस् की प्रतिभा और उद्भावनी शक्ति से इतने आश्चर्यान्वित हुए कि अपने पार्षदों से उन्होंने कहा कि आज से जिस किसी विषय में आर्किमीडिस् जो कुछ बताएं, उसी पर विश्वास करना होगा।

ज्योतिष : नभोमंडल में सूर्य, चंद्र और पांच ग्रहों की परिक्रमा समझाने के लिए उन्होंने एक विराट कृत्रिम नभोमंडल (प्लैनेटोरियम, Planetorium) तैयार करवाया था। सिसरो, इस प्लैनेटोरियम को अपनी आंखों से देखकर, इसका एक विवरण लिपिबद्ध कर गए हैं। इस प्लैनेटोरियम में चंद्र, सूर्य और ग्रहों की परिक्रमा-गति का इतना त्रुटिहीन अनुकरण किया जाता था कि सूर्य और चंद्र-ग्रहण, स्वाभाविक ग्रहण की तरह, एक साथ घटित होता देखा जाता था। प्लैनेटोरियम की परिकल्पना और गठन-कौशल से ज्योतिष में आर्किमीडिस् के उत्साह और गवेषणा का कुछ परिचय मिलता है। संभवत: ग्रहों की दूरी का आविष्कार उन्होंने ही किया होगा। सूर्य का दृश्यमान व्यास, अर्थात् प्रेक्षक की आँखो में सूर्य जो कोण बनाता है, उसकी माप का उन्होंने निर्णय किया था। "रेत-गणक" पुस्तक में इसका उल्लेख है। एरि-स्टार्कस् की सूर्य-केंद्रीय ब्रह्मांड-परिकल्पना की बात वे जानते थे, परंतु उसे स्वीकार नहीं करते थे। भूकेंद्रीय ब्रह्मांड में ही उनकी आस्था थी।

यांत्रिक और व्यावहारिक गवेषणा में आश्चर्यजनक रूप से दक्ष और सफल होते हुए भी वे इस प्रकार की गवेषणा को हीन समझते और उसे अवज्ञा की दृष्टि से देखते थे। इन कार्यों को वे कोई महत्व नहीं देते थे। कहते थे कि अवकाश का समय बिताने के लिए ये यन्त्र हमारे खेल की सामग्रियां हैं। केवल 'गोला-निर्माण के विषय में' नामक पुस्तक में यांत्रिक गवेषणा का सामान्य उल्लेख करने के अतिरिक्त उन्होंने व्यावहारिक गवेषणा के विषय में और कुछ नहीं लिखा है। जिनकी आविष्कार-शक्ति ने युद्ध-क्षेत्र में शत्रु को बार-बार पछाड़ा, यंत्र की सहायता से सिंचाई सुगम करके जिन्होंने कृषि की उन्नति की और जो छोटे-बड़े अनेक यंत्रों को संभव बनाकर, उस युग में

---

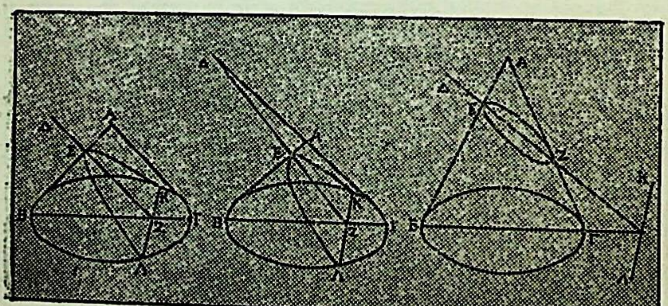
* Plutarch.

शिल्प और वाणिज्य के प्रसार के निमित्त बने, उनका व्यावहारिक विज्ञान को अवज्ञा की दृष्टि से देखना, कुछ अस्वाभाविक ज्ञात पड़ सकता है। संभवतः, समग्र कारीगरी-विद्या के प्रति, साधारणतया ग्रीक दार्शनिकों की जो प्रतिकूल मनोभावना थी, उसके प्रभाव से आर्किमीडिस् भी मुक्त नहीं हो पाए थे। इस विषय में प्लूटार्क ने लिखा है :

"उनका हौसला इतना ऊँचा था, उनकी आत्मा में इतनी गहराई थी और वैज्ञानिक ज्ञान का उनके पास इतना बड़ा खजाना था कि यद्यपि इन आविष्कारों ने उन्हें अधिमानवीय बुद्धि का अधिकारी होने की ख्याति प्रदान की, तथापि इन विषयों में कुछ लिखकर छोड़ जाने की उनकी प्रवृत्ति ही नहीं हुई। बल्कि, बलविद्या और हर प्रकार की कारीगरी को, जिसका उद्देश्य व्यवहार-कुशलता और लाभ है, हेय और निकृष्ट मानते हुए उन्होंने अपनी समस्त महत्त्वाकांक्षाएँ उन कल्पनात्मक विचारों की दिशा में प्रेरित कीं, जिनकी सुंदरता और सूक्ष्मता में जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की कोई मिलावट नहीं है।"*

एपोलोनियस् (ई० पू० २६०-२००)

आर्किमीडिस् के बाद अलेग्ज़ेंड्रियाई गणितज्ञों में एपोलोनियस् का नाम विशेष विख्यात है। मेनेक्मस् ने शांकव ज्यामिति का आविष्कार किया था। एपोलोनियस् के द्वारा उस ज्यामिति की पूर्ण परिणति हुई। आठ खंडों में



चित्र—८२ : एपोलोनियस् की शांकव ज्यामिति में दिए गए रेखांकनों के कुछ नमूने। १७१० ई० में प्रसिद्ध अंग्रेज ज्योतिर्विद् एडमंड हैली ने एपोलोनियस् की शांकव ज्यामिति के जिस संस्करण की रचना की, उसमें ये रेखांकन मिलते हैं।

* Plutarch, 'Life of Marcellus', Chapter 17.

समाप्त एक विराट ग्रंथ में उन्होंने शांकव रेखाओं-संबंधी ४ सौ साध्यों के प्रमाण प्रस्तुत किए। ग्रंथ के ७ खंड अभी तक सुरक्षित हैं, ४ खंड मूल ग्रीक भाषा में और ३ खंड अरबी अनुवाद में। युक्लिड-जैसे प्रख्यात गणितज्ञों के अनुकरण में एपोलोनियस् ने शांकव ज्यामिति की रचना में निगमनिक (deductive) पद्धति का अनुसरण किया है। विश्लेषिक ज्यामिति (Analytical Geometry) का तब तक आविष्कार नहीं हुआ था। १७वीं शती में रेने देकार्त के पहले इसके व्यवहार की सूचना नहीं मिलती। फिर भी एपोलोनियस् की प्रमाण-पद्धति में विश्लेषणात्मक ज्यामिति का क्षीण आभास मिलता है। नियमनिक पद्धति से शांकव ज्यामिति की जितनी उन्नति संभव थी, एपोलोनियस् ने उसमें कुछ उठा नहीं रखा।

ग्रीक लोग शांकव रेखाओं का प्रयोग और व्यवहार नहीं कर सके थे। इस प्रयोग के अभाव में गणितज्ञों और वैज्ञानिकों की दृष्टि भी गणित के इस विभाग की ओर उतनी आकृष्ट नहीं हो पाई। जब केप्लर ने यह आविष्कार किया कि ग्रह वृत्त-मार्ग नहीं, बल्कि परवलय-मार्ग पर परिक्रमण करते हैं, उसके बाद से ही शांकव ज्यामिति की गवेषणा की ओर गणितज्ञों की दृष्टि व्यापक रूप से आकृष्ट हुई। तोप का गोला अधिचक्र (epicycle) मार्ग पर छूटता है, गैलिलियो का यह आविष्कार भी शांकव ज्यामिति की प्रगति में सहायक हुआ। इस दृष्टि से विचार करने पर कहा जा सकता है कि ग्रीक उद्भावित शांकव-ज्यामिति समयोपयोगी नहीं थी। गणित की प्रगति, विज्ञान के अन्य विभागों, विशेष रूप से ज्योतिष और पदार्थ विज्ञान की प्रगति, पर कितनी निर्भर है, यह इसका एक दृष्टांत है।

ऐपोलोनियस् ने वर्षों अलेग्जेंड्रिया में विद्याभ्यास और गवेषणा की। संभवतः उन्होंने बहुत दिनों तक यहाँ अध्यापन-कार्य भी किया।

ज्योतिष और भूगोल—सामोस् के एरिस्टार्कस्, इराटोस्थेनिस्, हिपार्कस् और टॉलेमी

एरिस्टार्कस् आफ सामोस् (ई० पू० ३१०-२३०,

प्रसिद्ध रोमन विद्वान और लेखक विट्रूवियस् ने सामोस् के ऐरिस्टार्कस् को प्राचीन काल के चुने हुए श्रेष्ठ दार्शनिकों और वैज्ञानिकों में अन्यतम बताया है। उनके मतानुसार ऐरिस्टार्कस्, पाइथागोरी फिलोलाउस्, टेरेंटम के आर्किटस्, आर्किमीडिस्, इराटोस्थेनिस्-जैसे विभिन्न युगों के श्रेष्ठ वैज्ञानिकों

के समकक्ष थे। * अपनी प्रतिभा, ज्ञान और विचारों के द्वारा ये लोग मानव सभ्यता को अधिक समृद्ध बना गए हैं। ऐरिस्टार्कस् ने सूर्यकेंद्रीय ब्रह्मांड की प्रथम परिकल्पना की। इसलिए कभी-कभी उन्हें प्राचीन काल का कोपर्निकस् कहा जाता है। पृथ्वी की तुलना में चंद्र और सूर्य के व्यास का विज्ञान-सम्मत निर्णय सबसे पहले उन्होंने ही किया। ऐरिस्टार्कस् ने मुख्यत: ज्योतिष और ज्यामिति में गवेषणाएँ कीं, किंतु वे विज्ञान के प्राय: सभी विभागों तथा विषयों के विद्वान थे। संगीत-शास्त्र का भी उनको विशेष ज्ञान था।

ऐरिस्टार्कस् (जन्म ई० पू० ३१०) आर्किमीडिस् से उम्र में २३ वर्ष बड़े थे। प्रसिद्ध पदार्थविद् स्ट्राटो (जो पहले लाइसियम और बाद में संग्रहालय के अध्यक्ष नियुक्त हुए) से उन्होंने शिक्षा पाई। प्रकाश, वर्ण, दृष्टि आदि पदार्थ-विद्या-संबंधी गवेषणा में उन पर स्ट्राटो का प्रभाव दीख पड़ता है। स्ट्राटो के युक्तिवादी और परीक्षणात्मक वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा आदर्श ने उन्हें विशेष रूप से प्रेरित किया। पर्यवेक्षण-लब्ध तथ्य-समूह से किसी सिद्धांत पर पहुँचने के लिए, व्यक्तिगत संस्कारों और धारणाओं, दंतकथाओं और आर्ष प्रयोगों के गलत रास्तों से सदा दूर रहकर उन्होंने गणित का कठिन, परंतु भूल-रहित मार्ग ही अपनाया। उनका विख्यात ग्रंथ 'सूर्य और चंद्र की दूरियाँ तथा आकार' पर्यवेक्षण और गणित के सुंदर समन्वय का एक निदर्शन है।

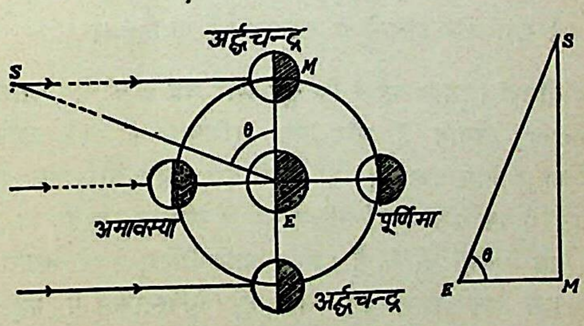
पर्यवेक्षण की सहायता के लिए उन्होंने कई ज्योतिषीय यंत्रों का आविष्कार और सुधार किया। इनमें एक उन्नत किस्म की सूर्य-घड़ी का निर्माण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस घड़ी का गोलाकार क्षेत्र, समतल के स्थान पर अवतल (concave) गोलार्ध के आकार में तैयार कराया गया था। केंद्र-स्थल पर अवस्थित, ऊर्ध्वमुखी एक कांटे की छाया इस अवतल गोलार्ध के क्षेत्र पर पड़ती थी। सूर्य के अवस्थान और ऊँचाई (क्षितिज से) निर्देशित करने के उद्देश्य से गोलार्ध की सतह पर अनेक चिह्न बनाए गए थे। इन

* 'सामोस् के एरिस्टार्कस्, टैरेंटम के फिलोलाउस और आर्किटस्, पर्गा के एपोलोनियस्, सायरीन के इराटोस्थेनिस् और सायराक्यूज के आर्किमीडिस् और स्कोपिनास-जैसे व्यक्ति, जो अतीत काल में हुए, विरले ही मिलते हैं; वे आनेवाली पीढ़ी के लिए अपने द्वारा आविष्कृत यांत्रिक कौशल और समय-मापी यंत्र छोड़ गए, जिनकी व्याख्या उन्होंने गाणितिक और प्राकृतिक सिद्धांतों के आधार पर की थी।"
—De architectura.

चिह्नों से काँटे की छाया का मिलान करके सूर्य की अवस्थिति, ऊँचाई आदि सरल तरीके और निर्दोष रूप से मापी जाती थी।

ज्योतिषीय गवेषणा : 'सूर्य-चंद्र की दूरियां और आकार' संबंधी ग्रंथ में एरिस्टार्कस् ने, पृथ्वी की तुलना में सूर्य और चंद्र कितने बड़े या छोटे हैं और पृथ्वी से सूर्य और चंद्र की कितनी दूरी है, इन प्रश्नों की मीमांसा करने की चेष्टा की है। पहले उन्होंने पर्यवेक्षण-लब्ध तथ्यों में कुछ साधारण सूत्र उपलब्ध किए। फिर उन सूत्रों का अवलंबन करके, ज्यामिति की सहायता से सूर्य और चंद्र का आपेक्षिक व्यास, पृथ्वी से सूर्य और चंद्र की दूरी आदि का निर्णय किया। इस प्रकार संबंध-निर्णय करने में उन्हें यथेष्ट कठिनाई का सामना करना पड़ा था, क्योंकि ये प्रश्न अधिकांशतः त्रिकोणमिति (trigonometry) के अंतर्गत हैं और तब तक त्रिकोणमिति का उद्भव नहीं हुआ था। इसलिए उन्हें ज्यामिति के पेचीदे रास्ते पर ही अग्रसर होना पड़ा।

पृथ्वी से चंद्र और सूर्य की दूरी का निर्णय : पृथ्वी से सूर्य और चंद्र की दूरियों का अनुपात निकालने के लिए उन्होंने एक मौलिक उपाय का अवलंबन किया। ऐनाक्सागोरस् ने बहुत पहले ही चंद्रकला के वास्तविक कारण की व्याख्या की थी। ऐरिस्टार्कस् ने लक्ष्य किया कि अर्द्धचंद्र के समय पृथ्वी से चंद्र तक एक रेखा *EM*, और सूर्य से चंद्र तक एक और रेखा *SM* की कल्पना की जाय, तो ये दोनों काल्पनिक रेखाएँ चंद्र पर एक समकोण *SME* उत्पन्न करती हैं।



चित्र—८३

"अब, *ME* और *SE* पृथ्वी पर अर्थात् *E* बिंदु पर, जो कोण उत्पन्न करती हैं, उसे मापने की कोई व्यवस्था हो तो *ME* और *SE* के अनुपात का निर्णय

करना कठिन नहीं है। ऐरिस्टार्कस् ने इस कोण का निर्णय किया ८७°। त्रिकोणमिति के ज्ञान से अब हम जानते हैं कि,

$$\cos \theta = \frac{EM}{ES} = \frac{1}{19}$$

$$\text{इसलिए, } ES = 19\, EM$$

अर्थात्, पृथ्वी से सूर्य की दूरी, पृथ्वी से चंद्र की दूरी की तुलना में १९ गुनी है। ऐरिस्टार्कस् को ज्यामिति का सहारा लेना पड़ा था, इसलिए उन्होंने कहा कि यह अनुपात १८ गुना से कम और २० गुना से अधिक नहीं है। *

ऐरिस्टार्कस् ने पर्यवेक्षण में भूल की थी। इस कोण का वास्तविक मान है ८९° ५०"। इस भूल के परिणामस्वरूप, पृथ्वी से चंद्र की दूरी के मुकाबले सूर्य की जो वास्तविक दूरी है, ऐरिस्टार्कस् के हिसाब में वह २० गुना कम बैठती है। पर्यवेक्षण में भूल होने पर भी उनकी गणना-पद्धति निर्दोष है और यही उनकी सफलता है।

ऐरिस्टार्कस् का दूसरा मुख्य सिद्धांत यह है कि चंद्रग्रहण के समय चांद पर पृथ्वी की जो वृत्ताकार छाया पड़ती है, उस वृत्त का व्यास चंद्र के व्यास का दुगुना है। यह उनकी कोरी कल्पना नहीं थी। संभवत: पूर्णग्रहण के समय ग्रहण के स्थायित्व की दीर्घता लक्ष्य करके वे इस सिद्धांत पर पहुँचे थे। बाद में हिपार्कस् और टॉलेमी ने चंद्र पर पृथ्वी की छाया के व्यास का अधिक निर्दोष निर्णय किया था। छाया-वृत्त का व्यास, हिपार्कस् के अनुसार, चंद्र के व्यास का २$\frac{१}{२}$ गुना और टॉलेमी के अनुसार २$\frac{३}{५}$ गुना है।†

उनका तीसरा सिद्धांत यह है कि सूर्य और चंद्र के कोणीय व्यास (angular diameter) समान हैं और यह राशिचक्र की १२ राशियों में से किसी एक का १ भाग, अर्थात् २° डिग्री है। 'सूर्य और चंद्र की दूरियाँ और आकार' नामक ग्रंथ में उल्लिखित सूर्य के कोणीय व्यास का यह मान वास्तविक मान से कहीं अधिक है। परंतु आर्किमीडिस् ने 'रेत-गणक' (Sand-Reckoner) में एक स्थान पर लिखा है, "ऐरिस्टार्कस् ने यह खोज की कि सूर्य का प्रतीयमान आकार राशिचक्र का लगभग ७२० वाँ भाग"—अर्थात्

---

* ७ और ९ संख्यक प्रतिज्ञाएँ—On the sizes and distances of the Sun and Moon.

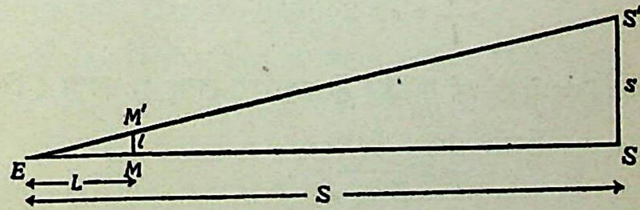
† Ptolemy, Syntaxis, IV, 9, Vol 2.

½° डिग्री है। हो सकता है कि उन्होंने बाद में इस कोणीय व्यास को और भी सही ढंग से मापा हो।

चंद्र और सूर्य के कोणीय व्यास को मापने की चेष्टा बहुत प्राचीन काल से होती रही है। ऐरिस्टार्कस् के बहुत पहले बेबीलोनियों ने और उनके बाद आर्किमीडिस्, हिपार्कस् और टॉलेमी-जैसे ग्रीक ज्योतिर्विदों ने इस व्यास का सही निर्णय किया था। बेबीलोनियों के हिसाब से यह व्यास १° डिग्री बैठता है। आर्किमीडिस् ने निर्णय किया कि यह २७′ और ३२′ ५५″ के बीच है। चंद्र के लिए, हिपार्कस् के प्रेक्षण के अनुसार, यह मान ३३′ १४″ और टॉलेमी के अनुसार ३१′ २०″ और ३५′ २०″ के बीच है।

पृथ्वी की तुलना में चंद्र और सूर्य के आयतनों का निर्णय : इस प्रकार चंद्र और सूर्य के कोणीय व्यास के निर्णय-द्वारा यह निस्संदेह प्रमाणित हुआ कि सूर्य और चंद्र के कोणीय व्यास समान हैं। यह बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य है। जब दोनों के कोणीय व्यास समान हैं और पृथ्वी से दोनों की दूरियों के अनुपात का पता है, तब, सूर्य और चंद्र के वास्तविक व्यासों के अनुपात का निर्णय करना सहज हो जाता है। सूर्य और चंद्र के व्यास, क्रम से s और l मान लिए जायँ और पृथ्वी से सूर्य और चंद्र की दूरियाँ क्रमानुसार S और L हों तो यह अनुपात हुआ,

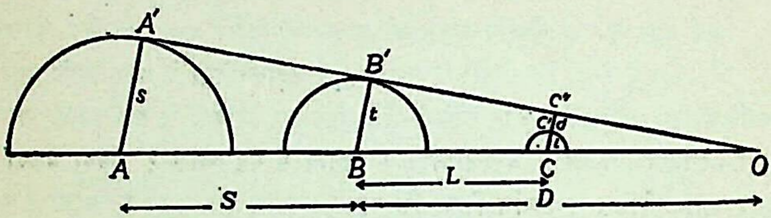
$$\frac{S}{L} = \frac{s}{l} = 19$$



चित्र—८४

इस प्रकार चंद्र और सूर्य के आपेक्षिक व्यास और उनकी आपेक्षिक दूरियों की जानकारी मिली। अब ऐरिस्टार्कस् ने इस प्रश्न की मीमांसा की कि पृथ्वी की तुलना में सूर्य कितना बड़ा और चंद्र कितना छोटा है। टेनरी

ने ऐरिस्टार्कस् के प्रमाण का एक सहज आधुनिक संस्करण दिया है। * यह प्रमाण संक्षेप में दिया जा रहा है।



चित्र—८५

एक पूर्ण चंद्रग्रहण का दृष्टांत ले लीजिए। A, B, C क्रमानुसार सूर्य, पृथ्वी और चंद्र के स्थानों को निर्देशित करते हैं। सूर्य-द्वारा पृथ्वी पर उत्पन्न छाया-शंकु का शीर्ष है O।

सूर्य का व्यासार्द्ध, $AA' = s$; पृथ्वी से सूर्य की दूरी $AB = S$;
पृथ्वी का व्यासार्द्ध, $BB' = t$; पृथ्वी से चंद्र की दूरी $BC = L$;
चंद्र का व्यासार्द्ध, $CC' = l$; पृथ्वी से छाया-शंकु के शीर्ष की दूरी, $BO = D$;
चंद्र के पास पृथ्वी के छायावृत्त का व्यासार्द्ध, $CC'' = d$;

पहले ही प्रमाणित हो चुका है कि,

$$\frac{S}{L} = \frac{s}{l} = x = 19 \qquad (१)$$

$$\frac{d}{l} = n = 2 \qquad (२)$$

समरूप त्रिभुजों के धर्म से सहज ही प्रमाणित किया जा सकता है कि,

$$\frac{D}{S} = \frac{t}{s - t} \qquad (३)$$

$$\frac{d}{t} = \frac{D - L}{D} \qquad (४)$$

---

* Tannery, 'Memoires de la societe des sciences physiques et naturelles de Bordeaux', 2e serie, v, 1883; p. 241—243.

(१) और (२) के प्रयोग से (३) और (४) के निम्नलिखित रूप होंगे;

$$\frac{t}{l}+\frac{t}{s}=n+1 \qquad (५)$$

$$\frac{D}{L}=\frac{1}{1-n\frac{l}{t}} \qquad (६)$$

समीकरण (५) में $l=\frac{s}{x}$ अथवा $s=lx$ के प्रयोग से,

$$\frac{tx}{s}+\frac{t}{s}=n+1 \quad \text{अर्थात्} \quad \frac{s}{t}=\frac{x+1}{n+1} \qquad (७)$$

$$\text{और} \quad \frac{t}{l}+\frac{t}{lx}=n+1 \quad \text{अर्थात्} \quad \frac{t}{l}=\frac{n+1}{x+1}x \qquad (८)$$

अब $x = 19$ और $n = 2$ के प्रयोग द्वारा

$$\frac{s}{t} = \frac{20}{3} = 6{\cdot}7 \text{ और,}$$

$$\frac{t}{l} = \frac{57}{20} = 2{\cdot}8$$

अर्थात् पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य का व्यास ६·७ गुना और चंद्र की तुलना में पृथ्वी का व्यास २.८५ गुना होगा।

इस प्रकार उन्होंने निःसंदिग्ध रूप से प्रमाणित किया कि सूर्य, पृथ्वी की अपेक्षा बहुत गुना बड़ा और चंद्र, पृथ्वी की तुलना में बहुत गुना छोटा है। इस बड़े-छोटे के अनुपात का उन्होंने जो मान निर्धारित किया, वह गलत हो सकता है, परंतु उनकी पद्धति और साधारण सिद्धांत अकाट्य वैज्ञानिक युक्ति पर प्रतिष्ठित है। बाद में, इराटोस्थेनिस्, हिपार्कस् और टॉलेमी, प्रेक्षण-पद्धति को उन्नत करके, अधिक विश्वसनीय मान निर्धारित करने में समर्थ हुए थे। लेकिन, सूर्य, पृथ्वी से बहुत गुना बड़ा है, यह स्वयं एक युगांतकारी आविष्कार था। सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास की तुलना में ६.७ गुना बड़ा हो, तो सूर्य का आयतन पृथ्वी के आयतन का लगभग ३०० गुना होगा।

सूर्यकेंद्रीय परिकल्पना : सूर्य की इस विशालता को जानकर ऐरिस्टार्कस् के मन में भूकेंद्रीय विश्व-परिकल्पना के संबंध में संदेह पैदा हुआ। छोटे आयतन के एक गोले को केंद्र बनाकर उससे बहुत गुना बड़े आयतन का गोला उसके चारों ओर वृत्ताकार परिक्रमण करेगा, यह बात, बलविद्या के विभिन्न तथ्यों और सूत्रों का तब तक आविष्कार न होने पर भी, ऐरिस्टार्कस् को अपनी साधारण बुद्धि से असंभव लगी। इसलिए उन्होंने कल्पना की कि सूर्य ही केंद्र स्थान में है और पृथ्वी उसकी परिक्रमा कर रही है। साथ ही उनकी यह भी धारणा बनी कि अन्य ग्रह भी सूर्य को केंद्र बनाकर, उसके चारों ओर, वृत्ताकार मार्ग पर, परिक्रमा करते हैं। सौर-जगत्-परिकल्पना की यही प्रथम सूचना है और इसका श्रेय सामोस् के ऐरिस्टार्कस् को प्राप्त है। उनके पहले पाइथागोरी फिलोलाउस् ने पृथ्वी की गतिहीन स्थिति की कल्पना को अस्वीकार कर, उसे एककेंद्रीय अग्नि के चारों ओर परिक्रमा-रत बताया था। हेराक्लिडिस् और एक्फैंटस् ने पृथ्वी की दैनिक गति का आविष्कार किया था और यह भी कल्पना की थी कि बुध और शुक्र ग्रह, सूर्य को केंद्र बनाकर, वृत्ताकार गति से उसकी परिक्रमा करते हैं; परंतु भ्रमणकारी सूर्य को ब्रह्मांड का केंद्र होने का गौरव प्रदान कर, पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों को उस केंद्र के चारों ओर वृत्ताकार मार्ग में परिक्रमा करने की क्रांतिकारी परिकल्पना का सर्वप्रथम प्रस्ताव सामोस् के ऐरिस्टार्कस् ने ही किया।

आज तक सुरक्षित, "सूर्य और चंद्र की दूरियाँ और आकार" संबंधी ऐरिस्टार्कस् के ग्रंथ में, सौर-जगत् का कोई उल्लेख नहीं मिलता, इसका कारण यह है कि सौर-जगत्-संबंधी उनकी परिकल्पना संभवतः उनकी परवर्ती गवेषणा और चिंतन का फल है। इस विषय में लिखित उनकी अन्य किसी पुस्तक या चिट्ठी-पत्री का कोई पता नहीं मिलता। परंतु उनके समसामयिक तथा उनके ठीक बाद के वैज्ञानिकों और लेखकों की रचनाओं में सूर्यकेंद्रीय ब्रह्मांड की उनकी परिकल्पना का निःसंदिग्ध प्रमाण मिलता है। उदाहरण के रूप में आर्किमीडिस् ने "रेत-गणक" पुस्तक में इस प्रकार लिखा है :

"आप (राजा गेलन) यह जानते हैं कि अधिकांश ज्योतिर्विदों-द्वारा उस गोले को "ब्रह्मांड" कहा जाता है, जिसका केंद्र पृथ्वी का केंद्र है और जिसका अर्द्धव्यास, सूर्य और पृथ्वी के केंद्रों को जोड़नेवाली सरल रेखा के समान है। यही साधारण ब्यौरा है, जैसा कि ज्योतिर्विदों से आपने सुन रखा है। परंतु

सामोस् के ऐरिस्टार्कस् ने अपनी एक पुस्तक में जो प्राक्कल्पनाएँ प्रस्तावित की हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी जानकारी की अपेक्षा ब्रह्मांड, बहुत गुना बड़ा है। उनकी प्राक्कल्पना है कि, तारे और सूर्य निश्चल हैं और पृथ्वी, सूर्य के चारों ओर, एक वृत्त की परिधि पर परिक्रमा करती है। सूर्य इस कक्षा के मध्य में अवस्थित है और स्थिर तारों का गोला, जिसका केंद्र सूर्य के निकट ही है, इतना बड़ा है कि स्थिर तारों तक की दूरी का, पृथ्वी के परिक्रमण-वृत्त से वही अनुपात बैठता है, जैसा कि उस गोले के केंद्र विंदु से उसके पृष्ठ (surface) का अनुपात होता है।"*

आर्किमीडिस् के भाष्य के अनुसार, ऐरिस्टार्कस् के सौर-जगत् की मूल बातें ये हैं :

(१) पूर्ववर्ती ज्योतिर्विदों की यह धारणा भ्रांत है कि ब्रह्मांड का विस्तार उस गोले के अनुरूप है, जिसका अर्द्धव्यास पृथ्वी से सूर्य तक खींची गई एक कल्पित सरल रेखा के समान है। ब्रह्मांड उससे कहीं अधिक बड़ा है।

(२) ऐसे ब्रह्मांड में स्थिर नक्षत्र और सूर्य गतिहीन हैं।

(३) सूर्य को केंद्र मानकर एक वृत्त की कल्पना करने से इस वृत्त के परिधि-मार्ग पर पृथ्वी, सूर्य की परिक्रमा करती है।

(४) सूर्य, नक्षत्र-मंडल के गोले का केंद्र है। सूर्य-केंद्रीय पृथ्वी के परिक्रमणवृत्त की तुलना में सूर्य से नक्षत्र-मंडल की दूरी इतनी अधिक है कि यह केंद्र विंदु के अनुपात में एक गोले के पृष्ठ के समान है अर्थात्, नक्षत्र-मंडल की तुलना में सूर्य और सूर्य के चारों ओर परिक्रमा-रत पृथ्वी विंदु की भाँति हैं।

सूर्य से पृथ्वी की दूरी, नक्षत्र-मंडल की दूरी की तुलना में, नितांत नगण्य है। यह चौथी कल्पना, तीसरी परिकल्पना पर निर्भर है। नक्षत्र-मंडल को, पूर्ववर्ती ज्योतिर्विदों की धारणा के अनुसार, निकट मान लिया जाय, तो नक्षत्र-मंडल की अपरिवर्तनीयता से पृथ्वी की परिक्रमा-गति का तालमेल बैठाना कठिन हो जाता है। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की परिक्रमा के कारण नक्षत्र-मंडल की दृश्यमान स्थिरता में कोई अंतर दिखाई न पड़ने की एकमात्र संभव व्याख्या यह मानकर की जा सकती है कि नक्षत्र-मंडल पृथ्वी से बहुत दूर है। इसलिए ऐरिस्टार्कस् ने कहा कि नक्षत्र-मंडल पृथ्वी से इतनी

* T.L. Heath, "The Works of Archimedes", Sand-reckoner; p. 221-222,

दूर है कि वहाँ से पृथ्वी एक विंदु की भाँति दिखाई देगी और उसकी गतिविधि के कारण नक्षत्र-मंडल में किसी परिवर्तन का बोध नहीं होगा।

आर्किमीडिस् की तरह प्लूटार्क के लेखन में भी ऐरिस्टार्कस् की सूर्यकेंद्रीय परिकल्पना का उल्लेख है।

"भाई, तुम क्लियांथिस् की तरह मुझ पर अपवित्रता का दोष न मढ़ना। उसका यह खयाल था कि सामोस् के ऐरिस्टार्कस् को अपवित्रता के लिए दोषी ठहराना ग्रीकों का कर्त्तव्य था, क्योंकि उसने ब्रह्मांड के आवास-स्थान को गतिमान बना दिया था; उस बेचारे को प्रपंच (phenomena) को बचाने की कोशिश में यह कल्पना करनी पड़ी कि स्वर्गलोक अपनी जगह पर स्थिर है और पृथ्वी एक तिर्यक् (oblique) वृत्त में परिक्रमा करती है, जब कि वह साथ ही अपनी धुरी के चारों ओर चक्कर काटती रहती है।"*

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि हैराक्लिडिस् उद्भावित पृथ्वी की दैनिक गति से ऐरिस्टार्कस् भली-भाँति परिचित थे और उस गति को पूर्णतया स्वीकार करते थे। लेकिन देखने की बात यह है, और यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है कि, उनकी सूर्यकेंद्रीय परिकल्पना ने पुरोहित-संप्रदाय और शिक्षित-समाज में तीव्र विरोधी प्रतिक्रिया उत्पन्न की। ऐरिस्टार्कस् ने जिस पुस्तक में यह परिकल्पना लिपिबद्ध की थी, वह अप्राप्य है, फिर भी, उनके सिद्धांत के लुप्त न होने का मुख्य कारण यह है कि भूकेंद्रीय ब्रह्मांड परिकल्पना में विश्वास रखनेवाले सुविख्यात पंडितों तथा लेखकों ने उस सिद्धांत की प्रतिकूल आलोचना की है। वे अपने समय के एक यशस्वी वैज्ञानिक थे। ज्यामिति और गणित में उनकी दक्षता असाधारण थी। इसके अतिरिक्त वे सर्व-शास्त्रज्ञ थे। ऐसे वैज्ञानिक के सिद्धांत की सहज ही उपेक्षा नहीं की जा सकती, यह समझकर ही विपक्षी दल ने तीखी आलोचना का हथियार उठाया। ये आलोचनाएँ ही आज उनकी मूल लिपि की गवाही दे रही हैं।

एकमात्र बेबीलोन के सेल्युकस् (ई० पू० १५०) के सिवा प्राचीन काल में ऐरिस्टार्कस् की सूर्यकेंद्रीय परिकल्पना का और किसी ने समर्थन किया हो, ऐसा नहीं देखा जाता। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् हिपार्कस् ने इस सिद्धांत को पास भी नहीं फटकने दिया; बड़ी कुशलता के साथ भूकेंद्रीय ब्रह्मांड-परिकल्पना को

---

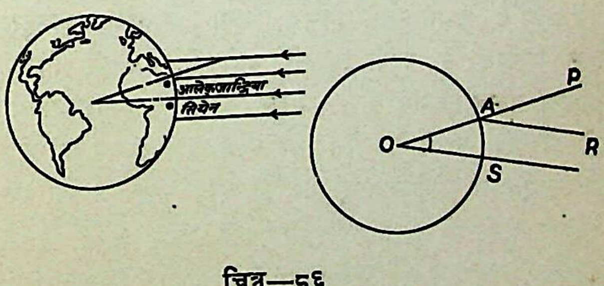
* Plutarch—De facie en orbe lunae, c, b, p. 922, F.—923A.

विभिन्न प्रकार से और उन्नत बनाकर उन्होंने उसे सुदृढ़ किया। ज्योतिष में हिपार्कस् की देन मौलिक है। इस क्षेत्र में उनके पांडित्य की बड़ी ख्याति भी थी। वास्तविकता यह है कि धर्मभीरु संस्कारग्रस्त मनुष्य की मनः-स्थिति तब तक सौर-जगत्-जैसी एक युगांतकारी धारणा को सहज ही ग्रहण करने योग्य नहीं बन पाई थी।

इराटोस्थेनिस् (ई० पू० २७३-१९२)

प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् और भौगोलिक इराटोस्थेनिस् का नाम आर्किमीडिस्-संबंधी चर्चा में आ चुका है। वे, उम्र में आर्किमीडिस् से १३-१४ वर्ष छोटे थे। वैज्ञानिक विषयों में दोनों के बीच काफी आदान-प्रदान हुआ। वे अलेग्जेंड्रिया के म्यूजियम में पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। ज्योतिष और भूगोल के अतिरिक्त साहित्य और अनेक प्रकार के खेलों और व्यायाम में भी उनकी विशेष ख्याति थी।

पृथ्वी की परिधि और व्यास का निर्णय : पृथ्वी की परिधि और व्यास का निर्णय करके उन्होंने ज्योतिष में प्रसिद्धि प्राप्त की। उनकी निर्णय-पद्धति जितनी सरल, उतनी ही मौलिक है। इराटोस्थेनिस् ने देखा कि सूर्य जब कर्कट-क्रांति में अवस्थित होता है, अलेग्जेंड्रिया के दक्षिण की ओर सियेन में (S) (अधुना आसावा) दोपहर को कोई वस्तु अपनी छाया नहीं डालती। सूर्य सीधे सिर के ऊपर होता है, यहाँ तक कि गहरे कुएँ के तल तक सूर्य का प्रकाश पहुँचता है। लेकिन उसी समय अलेग्जेंड्रिया (A) में सूर्य शिरोबिंदु (Zenith) पर न होकर कुछ दक्षिण को झुका रहता है। सूर्य-घड़ी के



चित्र—८६

खड़े कांटे की छाया मापकर उन्होंने सूर्य की कोणीय दूरी अर्थात् PAR का मान निर्णय किया ७° १२′ — ३६० डिग्री का ५०वां भाग। अब यदि यह अनुमान किया जाय कि सियेन (S) और अलेग्जेंड्रिया (A) एक ही याम्योत्तर (meridian) पर अवस्थित हैं, (जैसा कि इराटोस्थेनिस् ने अनुमान किया

था) तो, AOS = PAR = ७° १२′ होगा। फिर यह अनायास कहा जा सकता है कि पृथ्वी की परिधि ५० × AS है। अब AS, यानी अलेग्जेंड्रिया से सियेन की दूरी माप लेने पर पृथ्वी की परिधि का मान निकल आएगा। इराटोस्थेनिस् ने इस दूरी को ५००० स्टाडिया (१ स्टाडिया = ५१६·७३ फीट या ५१७ फीट के निकट) मानकर पृथ्वी की परिधि का मान निर्धारित किया, २, ५०,००० स्टाडिया।

किसी अज्ञात कारण से इराटोस्थेनिस् ने इस मान को थोड़ा बढ़ाकर २, ५२,००० स्टाडिया लिख लिया था। सर टॉमस हीथ के मतानुसार उन्होंने यह परिवर्तन इस उद्देश्य से किया था कि इस मान को ६० द्वारा पूरा-पूरा विभाजित किया जा सके। जो भी हो, मीलों के हिसाब से पृथ्वी की परिधि २४, ६६२ मील और व्यास ७८५० मील है। आश्चर्य की बात यह है कि ये मान, अधुना-निर्णीत वास्तविक मान, क्रमानुसार, २४,८७५ मील और ७९०० मील के निकट हैं। यह मेल नितांत आकस्मिक है। कई भूलों की परस्पर काट के कारण इस प्रकार का शुद्ध मान निकाला जा सका। उदाहरण के तौर पर, (१) सियेन, कर्कट-क्रांति से लगभग ४० मील उत्तर है; (२) अलेग्जेंड्रिया और सियेन एक ही याम्योत्तर के अंतर्गत नहीं हैं; अलेग्जेंड्रिया से लगभग १८० मील पूर्व, एक भिन्न याम्योत्तर पर सियेन का अवस्थान है; और, (३) इन दोनों स्थानों के अक्षांशों का अंतर ७° १२′ के बदले ६° डिग्री ५३′ है।*

इराटोस्थेनिस् ने वैज्ञानिक उपाय से पृथ्वी की परिधि और व्यास के विश्वसनीय मान का सबसे पहले निर्णय किया। प्रतिदिन व्यवहृत स्टाडिया या मील के हिसाब से पृथ्वी कितनी बड़ी है, अब इस विषय में स्पष्ट धारणा बनाना संभव हो गया है। बहुत समय से जनसाधारण में और वैज्ञानिकों में भी पृथ्वी के व्यास और आयतन के विषय में, तरह-तरह की अजीब कल्पनाएँ और लोक-कथाएँ प्रचलित थीं; अब उनकी समाप्ति हो गई। ऐरिस्टार्कस् ने इससे पहले ही पृथ्वी के अनुपात में चंद्र और सूर्य के आपेक्षिक व्यास और दूरी का निर्णय कर लिया था। पृथ्वी के व्यास का निर्णय हो जाने पर चंद्र और सूर्य के व्यास और दूरी का निरपेक्ष मान (absolute value) निकालना सहज हो गया। उन्होंने सूर्य की दूरी

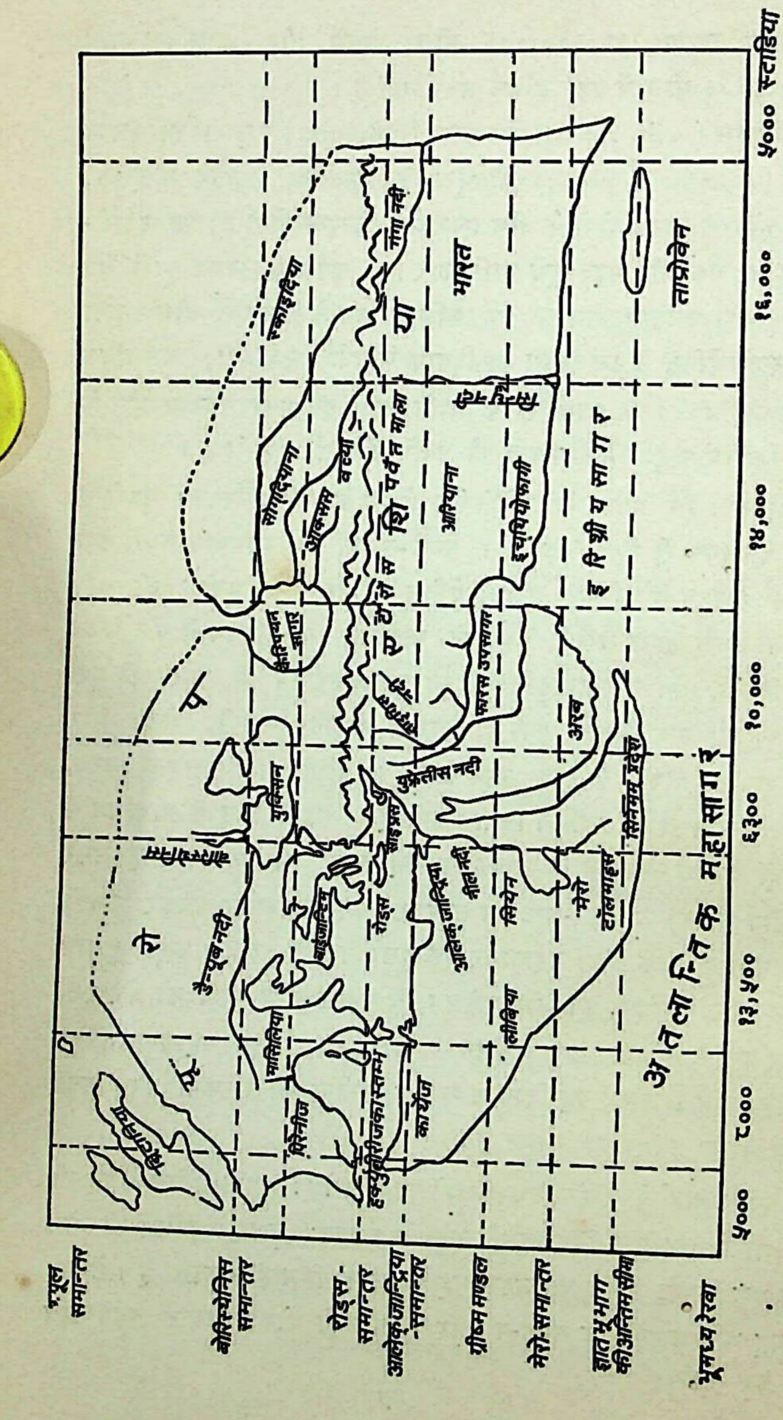
* Jeans, "The Growth of Physical Science"; p. 91,

का हिसाब लगाया ९२,०००,००० मील; इसमें और आधुनिक मान ९३,०००,००० मील में बहुत अधिक अंतर नहीं है।

क्रांतिवृत्त (ecliptic) का तिरछापन (obliquity) : पृथ्वी का भूमध्य समतल (equatorial plane) क्रांतिवृत्त के समतल के समांतर न होकर; तिरछा होने के कारण दोनों के बीच एक कोण उत्पन्न होता है, यह इराटोस्थेनिस् का एक और महत्त्वपूर्ण आविष्कार है। इसके फलस्वरूप पृथ्वी की विषुवत् रेखा क्रांतिवृत्त समतल पर कल्पित लंब से सदा एक कोण बनाता है। इराटोस्थेनिस् ने इस कोण का हिसाब लगाया २३°५१'; वास्तविक मान है २३°४६'। हम जानते हैं कि क्रांतिवृत्त के इस प्रकार तिरछा होने के कारण विभिन्न ऋतुओं में दिन-रात की अवधियों में अंतर होता है।

भूगोल : इस प्रकार के ज्योतिषीय प्रेक्षण के परिणामस्वरूप पृथ्वी के संबंध में जानकारी बहुत बढ़ गई। पृथ्वी-संबंधी इन मूल्यवान तथ्यों तथा ज्ञान को एकसूत्र में बांधकर इराटोस्थेनिस् ने प्राकृतिक भूगोल की नींव डाली। उनके द्वारा अंकित पृथ्वी के मानचित्र में पश्चिम में ग्रेट ब्रिटेन (ब्रिटानिया), स्पेन और हरक्युलिस के स्तंभ से लेकर पूर्व में भारत की पूर्वी सीमा तक का भाग दिखाया गया है; उत्तर में आधुनिक जर्मनी, पोलैंड और रूस तथा साइबेरिया के मध्य भाग से लेकर दक्षिण में सिनामम्, अरब, ईरान और भारत को प्रदर्शित किया गया है। हिरोडोटस् के मानचित्र से यह कहीं अधिक उन्नत है। अतलांतक महासागर और भारत महासागर (इरिथ्रीय सागर) के ज्वार-भाटे का सामंजस्य और समरूपता देखकर उनकी यह धारणा बनी कि दोनों महासागर एक दूसरे से मिले हुए हैं। उनका खयाल था कि उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में महासमुद्र ने पृथ्वी को घेर रखा है और यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका सम्मिलित रूप से इस महासमुद्र में एक द्वीप-विशेष हैं। उनका यह विश्वास था कि अफ्रीका की परिक्रमा करके समुद्र पथ से भारत पहुँचा जा सकता है।

नए गोलार्द्ध के संबंध में कल्पनाओं का श्रीगणेश : इराटोस्थेनिस् ने यह भी कहा था कि पृथ्वी के विपरीत गोलार्द्ध में संभवतः उत्तर से दक्षिण की ओर फैला एक विराट भूखंड अतलांतक महासागर को विभाजित करता है। सेनेका की यह भविष्यवाणी कि समुद्र-पथ पर पश्चिम की ओर लगातार बढ़ते रहने



चित्र—८७ : इराटोस्थेनिस् का मानचित्र

पर इस नए अनजाने भूखंड को देखा जा सकेगा, संभवतः इराटोस्थेनिस् की उपर्युक्त युक्ति और विश्वास पर ही आधारित थी। परंतु रोड्स के पोसिडोनियस् (१३५-५१ ई०) की यह धारणा थी कि ऐरिस्टार्कस् और इराटोस्थेनिस्-द्वारा निर्धारित पृथ्वी का व्यास बहुत अधिक था, वास्तविक व्यास उससे बहुत कम है। इस धारणा से प्रभावित होकर उन्होंने यह मत प्रकट किया कि जिस नए भूखंड की कल्पना इराटोस्थेनिस् और सेनेका ने की थी, उसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है। पोसिडोनियस् ने पृथ्वी की परिधि की माप १८०,००० स्टाडिया निर्धारित की। इस माप के आधार पर उनकी यह धारणा बनी कि पृथ्वी के विपरीत गोलार्द्ध में इराटोस्थेनिस्-कल्पित नए भूखंड का अस्तित्व असंभव है और पश्चिम की ओर समुद्र-मार्ग पर कोई नाविक अग्रसर हो, तो केवल ७० हजार स्टाडिया यानी लगभग ६८५० मील की दूरी तय करने पर ही वह भारत पहुँच सकेगा। संभवतः पोसिडोनियस् की इस धारणा से ही कोलंबस को समुद्री अभियान की प्रेरणा मिली होगी।*

हिपार्कस् (ई० पू० १९०-१२०)

हिपार्कस् का जन्म ई० पू० १९० में बिथिनिया के अंतर्गत निसिया नामक स्थान में हुआ था। कुछ लोगों का कहना है कि उनका जन्म-स्थान रोड्स द्वीप है। इस टापू में ज्योतिष-संबंधी उनकी अनेक गवेषणाओं का पता मिलता है। यहाँ उन्होंने एक वेधशाला का निर्माण कराया था। ई० पू० १६० से ई० पू० १२७ तक ३३ वर्ष उन्होंने अलेग्जेंड्रिया में बिताए। हिपार्कस् की अधिकांश रचनाएँ नष्ट हो चुकी हैं; इधर-उधर बिखरे हुए कुछ रचनांशों के अतिरिक्त उनके और किसी लेख का पता नहीं लगाया जा सका है। उनके योग्य शिष्य और प्रख्यात वैज्ञानिक क्लॉडियस् टॉलेमी अपने विख्यात ग्रंथ 'ऐल्माजेस्ट' में हिपार्कस् की ज्योतिषीय गवेषणाओं का विशद विवरण लिपिबद्ध कर गए हैं। वास्तव में टॉलेमी अपनी गवेषणा तथा वैज्ञानिक-पद्धति के लिए अपने गुरु के विशेष ऋणी हैं; उनकी अधिकांश गवेषणाएँ हिपार्कस् की गवेषणाओं के विस्तार और संशोधन-मात्र हैं।

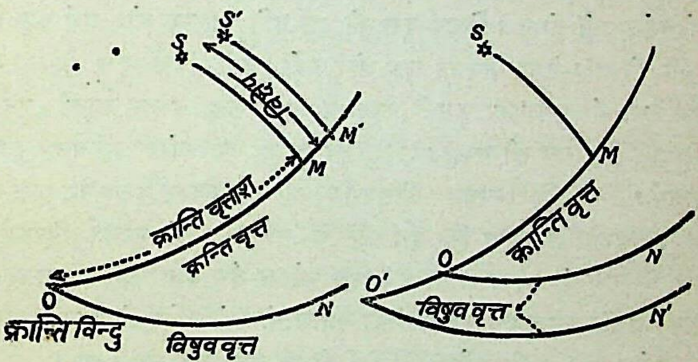
ज्योतिष : टॉलेमी के विशद विवरण से निःसंशय यह कहा जा सकता है कि हिपार्कस् न केवल प्राचीन काल के वैज्ञानिकों में श्रेष्ठ थे, बल्कि सब देशों

* Dampier, 'A History of Science' p. 47-48.

और सब समयों के विचार से भी उनके समकक्ष-ज्योतिर्विदों को उंगलियों पर गिना जा सकता है। प्रेक्षणात्मक ज्योतिष के वे सम्राट थे। १००८ नक्षत्रों की स्थिति, खगोल (Celestial Sphere) में उनके विक्षेप, क्रांति-वृत्तांश और उज्ज्वलता की मात्रा आदि का निर्णय करके उन्होंने जिस नक्षत्र-सारणी की रचना की थी, परवर्ती दो हजार वर्षों में उस सारणी में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। विषुव-अयन (Procession of the equinoxes) उनका श्रेष्ठ आविष्कार था। उन्होंने चंद्र और सूर्य के आयतन और दूरी का नए सिरे से निर्णय किया था और चंद्र का लंबन (Paralax) को लक्ष्य किया था। ऐरिस्टार्कस् की सूर्यकेंद्रीय परिकल्पना का उन्होंने प्रत्याख्यान अवश्य किया था, किंतु विभिन्न ज्यामितीय कौशलों का अवलंबन करके भू-केंद्रीय परिकल्पना का जो प्रारूप उन्होंने तैयार किया, उससे तब तक आविष्कृत प्रायः सभी ज्योतिषीय तथ्यों का संतोषजनक कारण-निर्देश और अच्छी व्याख्या की जा सकती थी। टॉलेमी ने बाद में इसमें थोड़ा और परिवर्तन किया था। इस परिवर्तित टॉलेमी-हिपार्कस भूकेंद्रीय परिकल्पना ने कोपर्निकस्-केप्लर-गेलिलियो के आविर्भाव तक, डेढ़ हजार वर्षों की लंबी अवधि में, ज्योतिष के क्षेत्र में, बिना किसी प्रतिद्वंद्विता के अपना आधिपत्य कायम रखा था। हिपार्कस् ग्रीक ज्योतिष के मध्याह्न सूर्य थे। उनकी मृत्यु के बाद क्लॉडियस् टॉलेमी ने कुछ समय तक ग्रीक ज्योतिष के ऊँचे स्तर को बनाए रखने की चेष्टा की थी। लेकिन उनके बाद धीरे-धीरे ग्रीक-ज्योतिष तथा समग्र ग्रीक-विज्ञान की अवनति आरंभ हो गई।

विषुव-अयन : हिपार्कस् का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार, विषुव-अयन, उनकी वैज्ञानिक-पद्धति का श्रेष्ठ परिचय है। ई० पू० १३० में वृश्चिक राशि में एक नए नक्षत्र का आविर्भाव देखकर उन्होंने समस्त नक्षत्रों का स्थान निर्देश करते हुए एक व्यापक और त्रुटिहीन नक्षत्र-सारणी बनाने की आवश्यकता का अनुभव किया। इसके बाद बड़े धैर्य के साथ, उनका बहु-वर्ष-व्यापी नक्षत्र-प्रेक्षण शुरू हुआ। उन्होंने १००८ नक्षत्रों का पर्यवेक्षण किया। केवल आँखों के सहारे देखे जानेवाले नक्षत्रों की यह प्रायः अंतिम सीमा है। १६ वीं शती के अंतिम भाग में टाइको ब्राहे ने जो नक्षत्र-सारणी प्रस्तुत की थी, उसमें भी वे १००५ से अधिक नक्षत्रों का समावेश नहीं कर पाए थे। विक्षेप (Celestial latitude) और

क्रांति-वृतांश की सहायता से नक्षत्रों का स्थान निर्दिष्ट करने की पद्धति निकाल कर हिपार्कस् ने नक्षत्रों को एक-एक करके आकाश के मानचित्र में सजाया। इराटोस्थेनिस् ने याम्योत्तर और अक्षांश की सहायना से भूपृष्ठ पर स्थान निर्दिष्ट करने का सहज उपाय निकाला था। खगोल में नक्षत्रों के स्थान-निर्देश के लिए, हिपार्कस् ने उसी प्रकार विक्षेप और क्रांति वृत्तांश की सहायता ली। इस निर्णय में उन्होंने विषुव विंदु को, अर्थात् जिस विंदु पर विषुव-वृत्त और क्रांति-वृत्त एक दूसरे को काटते हैं, मूल विंदु के रूप में व्यवहृत किया। इस प्रकार नक्षत्र-सारणी तैयार करते हुए उन्होंने लक्ष्य किया कि उनके पूर्ववर्त्ती ज्योतिर्विदों ने नक्षत्रों का जो नक्शा तैयार किया था, उसमें दिखाए गए स्थानों से नक्षत्र कुछ हट गए हैं। (चित्र — ८८)। उदाहरण के तौर पर



चित्र—८८ : विषुव-अयन। '(१) नक्षत्र के क्रांतिवृत्तांश का दृश्य-परिवर्तन. (२) विषुव-अयन के कारण विषुव-विंदु ० से हटकर ०' पर चला गया है।

हिपार्कस् ने देखा कि स्पिका (Spica) नामक उज्ज्वल नक्षत्र का जो स्थान लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले टिमोचारिस् और ऐरिस्टिलस् ने निर्देशित किया था, अब वह उस स्थान से कुछ हट गया था। उन्होंने यह भी लक्ष्य किया कि इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप स्पिका नक्षत्र का क्रांतिवृत्तांश पूर्व की ओर २° डिग्री बढ़ अवश्य गया था, परंतु उसका विक्षेप अपरिवर्तित रहा। प्राचीन नक्षत्र-सारणी से अपनी सारणी का ब्योरेवार मिलान करते हुए, उन्हें यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि क्रांतिवृत्तांश में इस प्रकार का परिवर्तन अकेले स्पिका नक्षत्र की ही विशेषता नहीं थी; प्रत्येक नक्षत्र में इस प्रकार का परिवर्तन हुआ था और हर क्षेत्र में विक्षेप में कोई परिवर्तन न होकर केवल क्रांतिवृत्तांश की लंबाई पूर्व की ओर बढ़ी हुई थी। हिपार्कस् की

गणना के अनुसार क्रांतिवृत्तांश में वृद्धि का अनुपात प्रतिवर्ष कम से कम ३६" है। हिपार्कस् ने यह भी देखा कि विषुव वृत्त और क्रांतिवृत्त के परस्पर विच्छेदन से जो कोण उत्पन्न होता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ था।

नक्षत्रों के क्रांति-वृत्तांशों की इस प्रकार साधारण वृद्धि से हिपार्कस् ने यह निष्कर्ष निकाला कि एक ही समय, समान रूप से, सभी नक्षत्रों की क्रांति-वृत्तांश-वृद्धि असंभव है। नक्षत्र वास्तव में अपने-अपने स्थान पर ही रहते हैं और उनके स्थान-परिवर्तन की जो प्रतीति होती है. उसका कारण है क्रांति-बिंदु का स्थान-परिवर्तन; अर्थात् विषुव वृत्त लगातार पूर्व से पश्चिम की ओर हटता जा रहा है (चित्र-८८:२)। विषुव वृत्त की इस गति के परिणाम-स्वरूप क्रांति-वृत्त से इसका जो कोण उत्पन्न होता है, उस कोण में कोई परिवर्तन नहीं होता। विषुव-वृत्त की इस गति का एक और अर्थ यह है कि पृथ्वी की अक्ष-रेखा निरंतर एक ओर नहीं रहती, विषुव-वृत्त के साथ-साथ अक्ष रेखा भी चक्राकार घूमती रहती है, बहुत कुछ, चक्कर काटते हुए लट्टू की धुरी के चलन की तरह। लट्टू की तरह एक ओर झुककर पृथ्वी के आवर्तन के परिणामस्वरूप विषुव-विंदु की इस प्रकार वृत्ताकार गति को ही विषुव-अयन कहा जाता है। इस गति के आविष्कार को मुख्यतः हिपार्कस् के नाम के साथ-ही जोड़ा जाता है, परंतु स्नैवेल-जैसे वैज्ञानिक इतिहासकार यह मानते हैं कि यह आविष्कार प्रसिद्ध वेवीलोनी-ज्योतिर्विद् किदिन्नू (अनुमानतः ई० पूर्व ३८३) ने हिपार्कस् से कोई दो सौ वर्ष पहले किया था।

विषुव-विंदु को क्रांति-वृत्त मार्ग पर पूरा एक चक्कर लगाने में २६,००० वर्ष लग जाते हैं। विषुव-अयन-सबंधी तथ्य से अनेक प्राचीन तिथियों का पता लगाना संभव है। जैसे, हिपार्कस् के जीवन-काल के संबंध में ही कोई संदेह उपस्थित हो तो, उनकी रचित नक्षत्र-सारणी के अंतर्गत किसी विशेष नक्षत्र के स्थान का, आधुनिक काल की सारणी में उसी नक्षत्र के स्थान से मिलान करने पर, हिपार्कस् के काल का ठीक-ठीक हिसाब अनायास लगाया जा सकता है। इसी उपाय से, अनेक प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित नक्षत्र-संस्थान के विचार-द्वारा उन ग्रंथों अथवा उनमें वर्णित घटनाओं के काल का सही-सही निर्णय किया गया है।

चंद्रग्रहण के समय चंद्र पर पड़नेवाली पृथ्वी की छाया के कोणीय व्यास मापने की जिस पद्धति का आविष्कार ऐरिस्टार्कस् ने किया था, उसके प्रयोग द्वारा हिपार्कस् ने चंद्र के आयतन और दूरी का और भी सही निर्णय किया।

उनकी गणना के अनुसार चंद्र की दूरी पृथ्वी के व्यास की ३३$\frac{2}{3}$ गुनी और सूर्य की दूरी १,२४५ गुनी है। चंद्र और सूर्य की दूरियों की यह बहुत ही ठीक माप है। टॉलेमी ने अपने ग्रंथ में हिपार्कस् की अनेक गवेषणाओं और प्रेक्षणों की चर्चा की है, लेकिन चंद्र और सूर्य की दूरियों की इन मापों का उल्लेख नहीं किया। उन्होंने स्वयं इस दूरी की जो माप बताई है, वह हिपार्कस्-द्वारा दी गई माप से बहुत कम है। टॉलेमी के अनुसार सूर्य की दूरी पृथ्वी के व्यास की केवल ६०५ गुनी है; यह हिपार्कस् के हिसाव के आधे से भी कम है। हिपार्कस् की माप की जानकारी न होने के कारण बाद के वैज्ञानिकों ने टॉलेमी की माप को ही स्वीकार कर लिया और कई शतियों तक यह गलत माप ही सही मानी जाती रही। कोपर्निकस् ने इस दूरी की जो माप की, वह भी पृथ्वी के व्यास की ७५० गुनी-मात्र थी। १७वीं शती के अंतिम भाग में रिचर्-जैसे ज्योतिर्विदों की चेष्टा से इस दूरी की बिलकुल ठीक माप का निर्णय हुआ।*

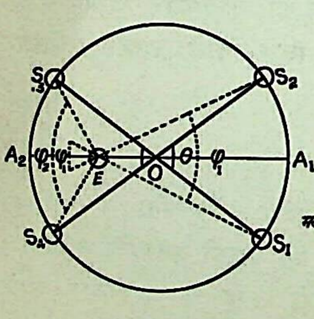
ग्रहण की संतोषजनक व्याख्या : बहुत लोग समझते हैं कि हिपार्कस् ने ही यह भी आविष्कार किया कि चंद्र क्रांतिवृत्त-मार्ग में परिक्रमण नहीं करता और उसके परिक्रमण-वृत्त का तल क्रांति-वृत्त के तल पर, प्रायः ५ डिग्री कोण से झुका रहता है। चंद्र का परिक्रमण-वृत्त और क्रांतिवृत्त एक दूसरे के प्रति इस प्रकार झुका होने के कारण हम प्रति अमावस्या में सूर्य-ग्रहण और प्रत्येक पूर्णिमा में चंद्र-ग्रहण होता नहीं देखते, और ग्रहण लगने के लिए, सूर्य और चंद्र दोनों का क्रांतिवृत्त और चंद्र के परिक्रमण-वृत्त के विच्छेदन-विंदु के बहुत निकट होना आवश्यक है, हिपार्कस् ने इस तथ्य का आविष्कार करके ग्रहण के वास्तविक कारण की व्याख्या की। इसलिए ग्रहण-संबंधी उनकी भविष्य-वाणी भी बहुधा सही निकला करती थी।

भूकेंद्रीय परिकल्पना : हिपार्कस् की भूकेंद्रीय कल्पना के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। वे ऐरिस्टार्कस् की सूर्यकेंद्रीय परिकल्पना से परिचित थे। फिलोलाउस् की अग्निकेंद्रीय परिकल्पना भी उनकी अनजानी नहीं थी। परंतु उन्होंने पृथ्वी की परिक्रमण-गति को पूरी तरह से अस्वीकार करके अरस्तू, युडॉक्सस्-जैसे प्राचीन वैज्ञानिकों-द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करते हुए, भूकेंद्रीय परिकल्पना के आधार पर, सूर्य और ग्रहों का परिक्रमण

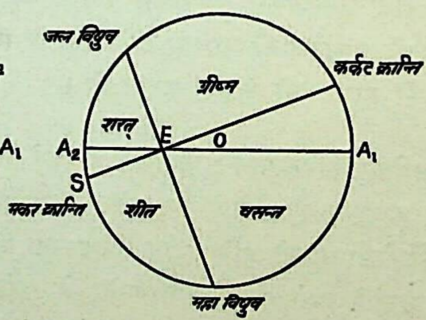
* Aristarchus of Samos; p. 343.

समझाने की चेष्टा की। पृथ्वी को उन्होंने निश्चल रखा। फिर भी वे यह अच्छी तरह जानते थे कि युडॉक्सस् और अरस्तू की एककेंद्रीय गोलों की परिकल्पना ज्योतिष के सभी तथ्यों की व्याख्या के लिए यथेष्ट नहीं है। उन्होंने युडॉक्सस्-अरस्तू के स्फटिक-गोलों की धारणा का परित्याग करके यह बताया कि ग्रहगण वृत्त-मार्ग में पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं। परंतु उनकी परिकल्पना की मुख्य विशेषता यह है कि सूर्य और ग्रह जिन एक-केंद्रीय वृत्त-मार्गों में भ्रमण करते हैं, पृथ्वी उन वृत्तों के ठीक केंद्र-स्थान में न होकर, उससे कुछ हटकर अवस्थित है। अर्थात् ग्रहगण उत्केंद्र वृत्तमार्ग (eccentric circle) में पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं।

पृथ्वी को केंद्र बनाकर सूर्य समान वेग से घूमता हो तो महाविषुव (Autumnal equinox) और वहाँ से पुनः महाविषुव को लौटने में उसे ठीक आधा वर्ष यानी १८२-१८३ दिन लगने चाहिए। परंतु पर्यवेक्षण-द्वारा बहुत पहले ही यह पता चल गया था कि क्रांतिवृत्त-मार्ग में महाविषुव से जलविषुव पहुँचने में सूर्य को १८६ दिन लगते हैं और बाकी आधा मार्ग चलकर महाविषुव पर पुनः लौटने में १७९ दिन लगते हैं। उन्होंने यह भी लक्ष्य किया कि वसंतकाल (महाविषुव से कर्कटक्रांति) की अवधि ९४ दिन और ग्रीष्मकाल (कर्कटक्रांति से जलविषुव) की अवधि ९२ दिन है। इससे जाहिर होता है कि क्रांति-वृत्त के दोनों अर्द्ध भागों में सूर्य के परिक्रमण का गतिवेग असमान है। पृथ्वी को केंद्र बनाकर सूर्य समान गति से घूमता हो तो वसंत और ग्रीष्म की अवधियों में अंतर की व्याख्या नहीं हो पाती।



चित्र—८९ :
उत्केंद्र-वृत्त की सहायता से हिपार्कस् की ग्रह-गति-व्याख्या।



चित्र—९० :
हिपार्कस् की ऋतु-परिवर्तन-व्याख्या।

इस असंगति को दूर करने के लिए हिपार्कस् ने यह प्रस्ताव किया कि पृथ्वी क्रांतिवृत्त के ठीक केंद्र-स्थान में न होकर उससे कुछ हटकर अवस्थित है। द्रष्टा के स्थान की कल्पना केंद्र से कुछ दूर अर्थात् उत्केंद्र (Ex-centre) में की जाय, तो सूर्य के गतिवेग में जिस असमानता की प्रतीति होती है, उसे सहज ही समझा जा सकता है। ८९ संख्यक चित्र में यह दिखाया गया है।

O = क्रांति-वृत्त का केंद्र; E = पृथ्वी; A_1 = अपभू; (apogee)
A_2 = अनुभू (perigee)

S_1, S_2, S_3, S_4 सूर्य के विभिन्न अवस्थान।

यह सहज ही देखा जा सकता है कि

$$\phi_1 < \theta$$

इसलिए S_1 से S_2 जाते हुए सूर्य जिस गति से अग्रसर होता है, पृथ्वी (E) से देखने पर वह गति आपेक्षिक रूप से धीमी जान पड़ेगी। पुनः

$$\phi_2 > \theta > \phi_1$$

इसलिए सूर्य S_3 से S_4 की ओर यदि पहले ही की तरह कोणीय गतिवेग से जा रहा हो, तो भी पृथ्वी पर से यह जान पड़ेगा, कि वह अधिक तेज गति से जा रहा है। ध्यान देने की एक और बात यह है कि अपभू से अनुभू की ओर बढ़ने हुए इसकी प्रतीयमान गति लगातार बढ़ती रहती है और अनुभू पर वह गति सब से अधिक होती है। इसके बाद गति फिर घटती जाती है।

हिपार्कस् ने, उत्केंद्र-वृत्त की परिकल्पना की सहायता से, वसंत, ग्रीष्म, शरद्, शीत आदि विभिन्न ऋतुओं की बहुत सुंदर व्याख्या की है। चित्र ९० में यह दिखाया गया है। हिपार्कस् ने हेराक्लिडिस् की पद्धति का अनुसरण करके ग्रहों की गति की व्याख्या करने की चेष्टा की थी, परंतु इसे वे पूरा नहीं कर पाए। यह कार्य पूरा किया क्लॉडियस टॉलेमी ने, जिनकी चर्चा आगे की गई है।

गणित, त्रिकोणमिति : गणित में भी हिपार्कस् ने अनेक मौलिक गवेषणाएँ कीं। ज्योतिषीय गवेषणा में हम उन्हें त्रिकोणमिति का व्यवहार करते देखते हैं। त्रिकोणमिति का एक विशेष महत्त्वपूर्ण साध्य,

$$\sin (A+B) = \sin A \cos B + \cos A \sin B$$

संभवतः उन्होंने ही प्रमाणित किया। विभिन्न कोणों के साइन (Sine) के मान निर्धारित करके, गणना की सुविधा के लिए उन्होंने एक साइन-सारणी (table of sines) प्रस्तुत की थी। गोले के पृष्ठ पर त्रिभुज अंकित करने पर उस त्रिभुज के कोण, भुज आदि के संबंध और मान निर्णीत करने की

पद्धति उन्होंने निकाली थी। इस पद्धति से उन्हें अपनी ज्योतिषीय गणना में विशेष सहायता मिली।

हिपार्कस् की वैज्ञानिक गवेषणाओं के चार मुख्य भाग किए जा सकते हैं : (१) प्रचलित यंत्रों की सहायता से व्यापक और सही पर्यवेक्षण; (२) प्राचीन और अपने से पहले के वैज्ञानिकों के पर्यवेक्षण-लब्ध वैज्ञानिक तथ्यों का समुचित समावेश और उनका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार तथा विश्लेषण; (३) वैज्ञानिक तथ्यों का सहज और विधिबद्ध रूप प्रकट करने के लिए गणित का आश्रय-ग्रहण और किसी क्षेत्र में गणित इस कार्य में असमर्थ हो तो गणित का संशोधन अथवा नवीन गणित का उद्भावन (जैसे त्रिकोणमिति); (४) एक विशेष ज्यामितीय परिकल्पना की सहायता से सूर्य, चंद्र और ग्रहों की गतियों का वर्णन और व्याख्या। इन चारों विभागों में उन्होंने आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाए हैं। ज्योतिर्विज्ञान के प्रसिद्ध फ्रेंच इतिहासकार देलाँब्र ने लिखा है :

'जब हम उन सब बातों का, जिनका हिपार्कस् ने आविष्कार किया या जिनको उन्होंने समुन्नत किया, विचार करते हैं और उनकी रचनाओं की संख्या तथा उनमें सन्निहित गणनाओं पर ध्यान देते हैं, तो हमें यही कहना पड़ता है कि वे प्राचीन काल के अत्याश्चर्यजनक व्यक्तियों में से एक थे, और जो विज्ञान विशुद्ध रूप से कल्पनात्मक नहीं है और जिसमें ज्यामितीय ज्ञान के साथ-साथ उन प्राकृतिक घटनाओं का ज्ञान आवश्यक है, जिनका अध्ययन केवल परिष्कृत उपकरण एवं एकाग्र अवधान-द्वारा ही किया जा सकता है तो वे सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होते हैं।'*

हिपार्कस् की गवेषणाओं में ही ग्रीक-ज्योतिष का चरम उत्कर्ष है। इसके बाद ही इस ज्योतिष की प्रगति रुद्ध हो गई। अनेक टीकाकारों, भाष्यकारों तथा सुलेखकों की सम्मिलित चेष्टा से ज्योतिष की लोकप्रियता और सम्मान बना रहने पर भी वास्तविक प्रतिभा के अभाव में नए ज्ञान के मार्ग-प्रदर्शक सजीव विज्ञान के रूप में, ज्योतिष का वह पुराना गौरव नहीं रहा। ईसा की दूसरी शती में हिपार्कस् के योग्य शिष्य टॉलेमी ने इस रुद्ध स्रोत को पुनः प्रवाहित करने की चेष्टा की। परंतु अनिवार्य ऐतिहासिक कारणों से और राष्ट्र-व्यवस्था के प्रतिकूल वातावरण में उस स्रोत को जीवित नहीं रखा जा सका।

* Delambre, 'Histoire de l'Astronomie Ancienne.' Vol 1; p. 185.

क्लॉडियस् टॉलेमी (ईसा की दूसरी शती)

ऐतिहासिक समय के क्रमानुसार, क्लॉडियस टॉलेमी की गवेषणाओं की चर्चा, हमें ईसा की दूसरी शती के लिए ही स्थगित रखनी चाहिए थी, लेकिन अलेग्जेंड्रियाई विज्ञान की चर्चा में, इतिहास-प्रसिद्ध इस महानगर के अंतिम विख्यात वैज्ञानिक क्लॉडियस् टॉलेमी के प्रसंग को यहाँ छोड़ देने पर, यह अध्याय असमाप्त रह जायगा। इसके अतिरिक्त ऐरिस्टार्कस्, इराटोस्थेनिस् और हिपार्कस् के प्रयत्नों से ज्योतिषशास्त्र के विकास और क्रमोन्नति के जिस इतिहास का हमने अध्ययन किया है, उसे पूरा करने के लिए भी टॉलेमी के ज्योतिष की चर्चा यहाँ अनिवार्य है।

टॉलेमी के जीवन के विषय में विशेष कुछ पता नहीं चलता, किन्तु यह निश्चय है कि टॉलेमी राजवंश से उनका कोई संबंध या संपर्क नहीं था। सन् १२७ ई० से १५१ ई० तक वे विभिन्न गवेषणाओं में लगे रहे थे। उनकी गवेषणा का मुख्य विषय था ज्योतिष, गणित, पदार्थ-विद्या और भूगोल के क्षेत्र में भी उन्होंने अनेक बहुमूल्य कार्य किए। कहा जाता है कि फलित ज्योतिष अर्थात् भाग्य-गणना में भी उनका अगाध विश्वास था और इस विषय में 'टेट्रा विब्लॉस' नामक एक पुस्तक भी उन्होंने लिखी थी।

ग्रंथ परिचय : टॉलेमी के सर्वश्रेष्ठ ज्योतिष-ग्रंथ ऐल्माजेस्ट (Almagest) को प्राचीन ज्योतिष का विश्वकोष कहा जा सकता है। मध्य युग के ज्योतिर्विद् इसे ज्योतिषशास्त्र का बाइब्ल मानते थे। टॉलेमी के मूल ग्रंथ के ग्रीक नाम का अर्थ है 'बृहद् संहिता'। श्रद्धावश हो या भ्रम-वश, अरब अनुवादकों ने वृहद् शब्द के ग्रीक तत्सम शब्द का अर्थ किया 'बृहत्तम' और अरबी अनुवाद में यह हो गया 'अल् माजिस्टी'। अरबी से अनूदित होने के कारण टॉलेमी के ग्रंथ का लैटिन नाम बना 'ऐलेमैजेस्टम् (Almagestum); इसका अंग्रेजी अपभ्रंश हुआ 'ऐलमाजेस्ट'।* 'ऑप्टिक्स' नाम के उनके एक और ग्रंथ में प्रकाश के गुण-धर्मों का विवरण दिया गया है। किसी-किसी इतिहासकार का यह मत कि ध्वनि-विज्ञान, भाग्य-गणना आदि अन्य विषयों की कुछ पुस्तकें भी उन्हीं की लिखी हुई हैं, संदेहजनक है। ये पुस्तकें निम्न कोटि की हैं और ऐलमाजेस्ट के रचयिता के योग्य नहीं हैं।

ऐलमाजेस्ट : युक्लिड के 'एलिमेंट्स्' की भाँति ऐलमॉजेस्ट समग्र ज्योतिष को सुविन्यस्त और विधिबद्ध विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने का एक

---

* Berry, 'A Short History of Astronomy.'

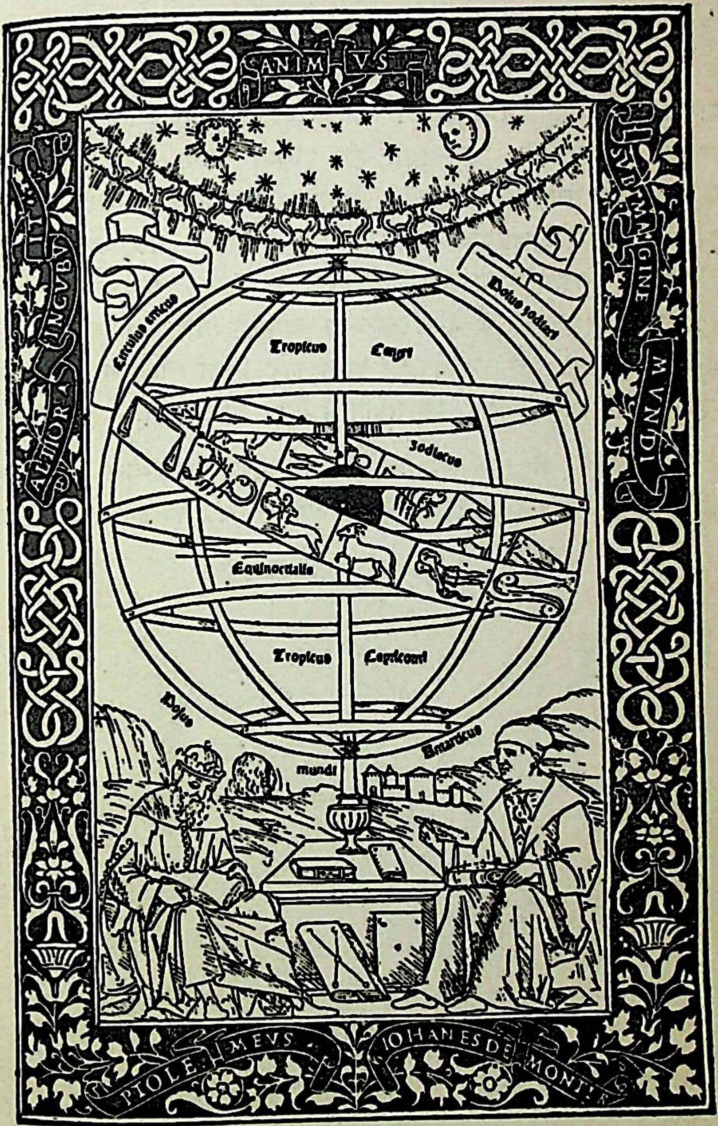
महान प्रयास है। इसमें टॉलेमी की अपनी गवेषणाओं का उल्लेख और चर्चा होने पर भी, यह मुख्यतः पूर्ववर्ती ज्योतिर्विदों, विशेष रूप से हिपार्कस्, की गवेषणा पर आधारित है। १३ खंडों में समाप्त, यह 'ऐलमाजेस्ट' ही १७वीं शती तक सर्वश्रेष्ठ, प्रामाणिक ज्योतिष-ग्रंथ था। इसका प्रभाव केवल पाश्चात्य ज्योतिष तक ही सीमित नहीं था—भारत, इस्लामी मध्यपूर्व आदि देशों की ज्योतिष-चर्चा को भी कई सौ वर्षों तक इसने प्रभावित किया। इसलिए विज्ञान के इतिहास में इस ग्रंथ को विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

ऐलमाजेस्ट के पहले और दूसरे खंडों में सूर्य तथा ग्रहों की गति, पृथ्वी की दैनिक गति, दिन और रात तथा उसकी अवधि, नक्षत्रों के उदयास्त, खगोल का आवर्तन, इत्यादि सहज विषयों की चर्चा है। पृथ्वी की गोलाकृति के संबंध में विविध तथ्यों का समावेश किया गया है और पृथ्वी की परिधि के संबंध में टॉलेमी ने पोसिडोनियस्-द्वारा निर्णीत माप १८०,००० स्टाडिया उद्धृत किया है। यह इराटोस्थेनिस्-द्वारा निर्णीत माप से बहुत कम है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि यह गलत माप प्रचलित होने के कारण पृथ्वी के दूसरे गोलार्द्ध के संबंध में परवर्ती काल के भौगोलिकों के मन में किस प्रकार की भ्रांत धारणाएँ घर कर बैठी थीं। इस ग्रंथ में गणित के संबंध में भी कई मूल्यवान अध्याय जोड़े गए हैं। इस प्रसंग में त्रिकोणमिति संबंधी अनेक प्रश्नों की चर्चा उल्लेखनीय है। ० से १८० डिग्री तक हर १/२° पर ज्या (Sine) का मूल्य लिपिबद्ध करके उन्होंने एक मूल्यवान सारणी प्रस्तुत की। यह सारणी प्रथम खंड में दी गई है। संभवतः त्रिकोण-मिति के ये अध्ययन हिपार्कस् की गवेषणा से लिए गए हैं। इस खंड में एक स्थान पर उन्होंने π का मूल्य निर्धारित किया है ३·१४१६७। आधुनिक स्वीकृत मान है ३·१४१५९२७।

तीसरे खंड में वर्ष की समयावधि, पंचांग और सूर्य-संबंधी नाना विषयों की चर्चा की गई है। ये सब के सब हिपार्कस् की गवेषणाएँ हैं: टॉलेमी की कोई देन इसमें नहीं है।

चंद्र की गति, डेफरेंट और अधिचक्र की कल्पना : चौथे खंड का मूल विषय है चंद्र की गति और ग्रहण। अपने से पहले के प्रतिष्ठित ज्योतिर्विदों की गवेषणाओं के विवरण के बाद, इस विषय में टॉलेमी ने अपने प्रेक्षणों का

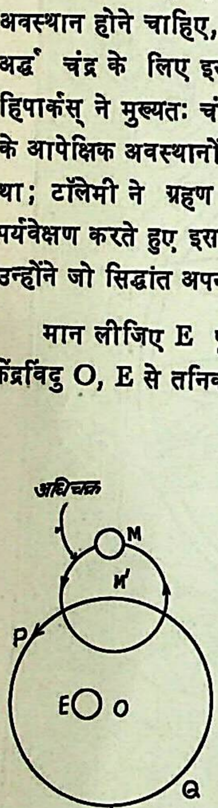
और अपना सिद्धांत लिपिबद्ध किया है। चंद्र की गति के विषय में उनका आविष्कार और सिद्धांत ध्यान देने योग्य है।



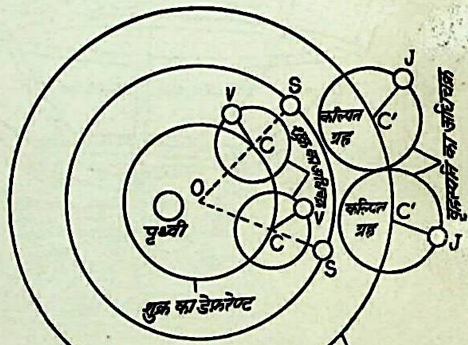
चित्र- ९१ : टॉलेमी के 'ऐल्माजेस्ट' के एक संक्षिप्त संस्करण में यह चित्र मुखपृष्ठ के रूप में व्यवहृत हुआ।

टॉलेमी के बहुत पहले हिपार्कस् ने चंद्र की असमान गति लक्ष्य की थी और इसे समझाने के लिए, सूर्य की तरह चंद्र के क्षेत्र में भी उत्केंद्र-वृत्त की सहायता ली थी अर्थात् यह कहा था कि चंद्र जिस वृत्त में पृथ्वी की परिक्रमा करता है, उस वृत्त से कुछ हटकर पृथ्वी का अवस्थान है। टॉलेमी ने दिखाया कि हिपार्कस् की इस परिकल्पना के अनुसार चंद्र की असमान गति की संपूर्ण व्याख्या संभव नहीं है। हिपार्कस् की गणना के अनुसार चंद्र के जो विभिन्न अवस्थान होने चाहिए, अमावस्या और पूर्णिमा में तो वैसा होता है, परंतु अर्द्ध चंद्र के लिए इस अवस्थान में यथेष्ट व्यतिक्रम दिखाई पड़ता है। हिपार्कस् ने मुख्यतः चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण के समय चंद्र, सूर्य और पृथ्वी के आपेक्षिक अवस्थानों का पर्यवेक्षण करके ही अपना सिद्धांत सामने रखा था; टॉलेमी ने ग्रहण के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर उनके अवस्थानों का पर्यवेक्षण करते हुए इस तथ्यांतर का आविष्कार किया। इसे समझाने के लिए उन्होंने जो सिद्धांत अपनाया, वह संक्षेप में दिया जा रहा है।

मान लीजिए E पृथ्वी है और M^1PQ एक उत्केंद्र-वृत्त है, जिसका केंद्रविंदु O, E से तनिक दूरी पर है। हिपार्कस, चंद्र को इस उत्केंद्र वृत्त का



चित्र—९२ : डेफरेंट और अधिचक्र की सहायता से चंद्र की ग त की व्याख्या—टॉलेमी।



चित्र—९३ : टॉलेमी की भूकेंद्र ग परिकल्पना का चित्र रूप। O केंद्र विंदु, V शुक्र, C कल्पित शुक्र, S सूर्य, J बृहस्पति, C^1 कल्पित बृहस्पति।

चक्कर दिलवाकर ही संतुष्ट थे। टॉलेमी ने कहा—वास्तविक चंद्र, M, इस उत्केंद्र-वत्त M^1PQ पर अवस्थित M^1 विंदु को केंद्र बनाकर, एक अधिचक्र

में परिक्रमा करता है। इस परिकल्पना में चंद्र की गति इस प्रकार है कि M जब अधिचक्र में भ्रमण कर रहा है, उस समय अधिचक्र का केंद्र M^1, उत्केंद्र-वृत्त M^1PQ के मार्ग पर पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है। M^1PQ वृत्त का नाम है डेफरेंट (deferent)। अब तो हम यह जानते हैं कि चंद्र दीर्घवृत्त (ellipse) मार्ग में पृथ्वी की परिक्रमा करता है। दीर्घवृत्त की जानकारी न होने के कारण टॉलेमी को अधिचक्र, डेफरेंट आदि अवास्तविक ज्यामितीय कौशलों का प्रयोग करना पड़ा था। आज के बलविज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार की गति की कल्पना कितनी ही अस्वाभाविक क्यों न जान पड़े, परंतु इस उपाय से टॉलेमी चंद्र का अवस्थान ठीक-ठीक समझाने में समर्थ हुए थे और गणना तथा अवलोकन के अंतर को १० सेकेंड तक घटा लाए थे।

प्राचीन काल में ज्योतिषीय प्रेक्षण में व्यापक रूप से व्यवहृत 'आस्त्रोलाब' (astrolabe) यंत्र का विवरण मिलता है पाचवें खंड में। लंबन (parallax) की सहायता से चंद्र की दूरी मापने की पद्धति और चंद्र की दूरी के अनुपात में सूर्य की दूरी का मापसंबंधी अध्ययन भी इसी खंड में किया गया है। इन विषयों में भी उन्होंने मुख्यतः हिपार्कस् की गवेषणाओं की पुनरावृत्ति-मात्र की है।

छठे खंड में ग्रहण और सातवें तथा आठवें खंडों में नक्षत्र-परिचय, उनके अवस्थान और नक्षत्र-सूची की विशद चर्चा की गई है। उनकी सारणी में १०२८ नक्षत्रों के वर्णन मिलते हैं। यह सारणी प्रायः हिपार्कस् की सारणी की ही नकल है; विषुव-अयन-संबंधी कुछ आवश्यक-परिवर्तन-मात्र इसमें किए गए हैं। टॉलेमी तथा उनके सहयोगियों ने नए पर्यवेक्षणों-द्वारा हिपार्कस् की नक्षत्र-सूची में कहीं-कहीं सामान्य परिवर्तन किया था, परंतु इतिहासकारों की यह धारणा है कि उन्होंने सारणी के प्रत्येक नक्षत्र का नए सिरे से अवलोकन नहीं किया और उनकी सूची मूलतः हिपार्कस् की नक्षत्र-तालिका पर ही आधारित है।

भूकेंद्रीय परिकल्पना : ९ वें से १३ वें तक पाँच खंडों में ग्रहों की गति और साधारण रूप से भूकेंद्रीय ब्रह्मांड-परिकल्पना का वर्णन किया गया है। इसी परिकल्पना के कारण टॉलेमी की ख्याति है। भूकेंद्रीय परिकल्पना के आधार पर ज्योतिष के सभी तथ्यों की व्याख्या का यह सर्वश्रेष्ठ प्राचीन प्रयास है। बाद में टॉलेमी का मतवाद गलत सिद्ध हुआ, लेकिन इससे विज्ञान के इतिहास में इसका महत्त्व कम नहीं हुआ है। विज्ञान प्रगतिशील है। विज्ञान

के इतिहास में अनेक पर्यवेक्षणों तथा तथ्यों में गलतियाँ निकलीं, अनेक मतवादों के उत्थान-पतन हुए। विज्ञान की प्रगति इन सभी सही और गलत चेष्टाओं का सम्मिलित परिणाम है। जिस असाधारण प्रतिभा, बुद्धि, विचार-शक्ति, धैर्य तथा अध्यवसाय ने इस प्रकार की तत्परता को संभव बनाया, उसका मूल्य शाश्वत है।

टॉलेमी ने सूर्य के परिक्रमण का निर्देश करने के लिए हिपार्कस् के दृष्टांत का अनुकरण करते हुए, उत्केंद्र-वृत्त की सहायता ली। चंद्र की गति के संबंध में उनकी व्याख्या पहले ही दी जा चुकी है। अब रही ग्रहों की गति की बात। ग्रहों की गति की व्याख्या करने में ही उन्हें सबसे अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। ऊपरी दृष्टि से यह गति बहुत ही बेतुकी और अनियमित जान पड़ेगी। यह गति केवल असमान ही नहीं है, कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है कि ग्रहगण पश्चिम से पूरब की ओर न जाकर, विपरीत दिशा में पृथ्वी की प्रदक्षिणा कर रहे हैं। फिर कभी ऐसा भी लगेगा कि कुछ समय के लिए ये ग्रह बिल्कुल निश्चल हो गए हैं। ग्रहों की नियम-बहिर्भूत गति ने हेरा-क्लिडिस् की दृष्टि आकर्षित की थी। उन्होंने, बुध और शुक्र ग्रहों के क्षेत्र में, अधिचक्र की कल्पना-द्वारा किस प्रकार इस गति की व्याख्या की, यह पहले बताया जा चुका है। टॉलेमी ने अधिचक्र की सहायता अवश्य ग्रहण की, परंतु, कोई ग्रह सूर्य के चारों ओर घूम रहा है, यह कल्पना नहीं की। उनकी पूरी परिकल्पना चित्र ९३ में दिखाई गई है।

सूर्य (S) उत्केंद्र-वृत्त-मार्ग में पृथ्वी का समान गतिवेग से परिक्रमण करता है। क्रांतिवृत्त की अपेक्षा छोटे दो डेफरेंटों पर, क्रम से कल्पित शुक्र और बुध [चित्र में केवल शुक्र (V) की गति दिखाई गई है] परिक्रमण करते हैं; वास्तविक शुक्र और बुध चक्कर काटते हैं एक-एक अधिवृत्त में—कल्पित शुक्र या बुध इस वृत्त के केंद्रमात्र हैं। इसके अतिरिक्त, बुध और शुक्र की गतियाँ इस प्रकार नियंत्रित हैं कि अधिचक्र में इनके जो भी स्थान हों, केंद्र बिंदु O, कल्पित ग्रह C और सूर्य (S), ये तीनों सदा एक ही सरल रेखा (OCS) पर होंगे। सूर्य की अपेक्षा अधिक दूरी पर अवस्थित ग्रहों की गति बृहस्पति (J) के दृष्टांत-द्वारा समझाई गई है। बृहस्पति भी एक अधिचक्र पर घूमता है और इस अधिचक्र का केंद्र अर्थात् कल्पित बृहस्पति (C), O बिंदु को केंद्र बनाकर एक बड़े डेफरेंट की परिधि का परिक्रमण करता है। इस बड़े डेफरेंट पर पूरा चक्कर लगाने में बृहस्पति को १२ वर्ष का

समय लगता है; परंतु अधिचक्र मार्ग की एक बार पूरी परिक्रमा करने में उसे एक वर्ष लगता है। बुध और शुक्र को छोड़कर अन्य ग्रहों के लिए अधिचक्र की माप इस प्रकार कल्पित की गई थी कि प्रत्येक को अपने-अपने अधिचक्र की एक बार पूरी परिक्रमा करने में एक वर्ष का समय लगे। इसे समझाने के लिए उन्होंने कहा कि ग्रह के वास्तविक अवस्थान से अधिचक्र के केंद्र तक एक सरल रेखा खींची जाय तो वह सरल रेखा हर समय पृथ्वी से सूर्य तक अंकित सरल रेखा के समांतर होगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह पूरी परिकल्पना बहुत जटिल है और आधुनिक वैज्ञानिक-युक्ति की दृष्टि से इसमें अनेक प्रकार की असंगतियाँ हैं, परंतु इस परिकल्पना की सहायता से टॉलेमी ने, संतोषजनक रूप से, ग्रहों की दृश्यमान गतियों में मेल बैठाया था। उनकी इस सफलता के लिए नाना प्रकार की असंगतियों के बावजूद, विद्वत्-समाज ने इसे निःसंकोच स्वीकार कर लिया था और कोपर्निकस् के पहले इससे अधिक उन्नत परिकल्पना प्रस्तुत करने में कोई और समर्थ नहीं हुआ था।

प्रकाश विज्ञान : टॉलेमी ने प्रकाश संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ कीं। 'ऑप्टिक्स' (Optics) नामक ग्रंथ में उनकी ये गवेषणाएँ लिपिबद्ध हैं। विख्यात जर्मन वैज्ञानिक अलेग्ज़ेंडर फॉन हंबोल्ट ने इस ग्रंथ की बड़ी प्रशंसा की है। उनका मत है कि इस ग्रंथ में टॉलेमी ने वैज्ञानिक परीक्षण के जिस ऊँचे आदर्श का दृष्टांत रखा है, प्राचीन वैज्ञानिकों में ऐसे दृष्टांत बहुत कम मिलते हैं। हंबोल्ट के इस मत में कुछ अतिशयोक्ति अवश्य है; क्योंकि हीरो, स्टेसिबियस् जैसे—अलेग्ज़ेंड्रियाई वैज्ञानिक बड़े दक्ष व्यावहारिक वैज्ञानिक थे और वैज्ञानिक परीक्षण के आदर्श के प्रति उन्होंने गहरी श्रद्धा प्रदर्शित की थी। वैज्ञानिक परीक्षण के विषय में टॉलेमी, हीरो या स्टेसिबियस् से आगे थे, यह नहीं कहा जा सकता।

टॉलेमी के अन्य कुछ ग्रंथों की तरह इस 'ऑप्टिक्स' ग्रंथ की मूल ग्रीक पांडुलिपि का भी कोई पता नहीं है। इस पुस्तक का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ था; दुर्भाग्यवश यह अरबी अनुवाद भी सुरक्षित नहीं है। अब हमारे हाथ जो ग्रंथ लगा है, वह है 'ऑप्टिक्स' के अरबी अनुवाद का लैटिन रूपांतर। इस लैटिन संस्करण की १६ प्रतिलिपियों का पता मिला है। १२वीं शती में सिसली की नौसेना के प्रधान सेनापति यूजेन ऑव पालेर्मो (Eugene of Palermo) ने इस ग्रंथ का लैटिन अनुवाद किया।

'ऑप्टिक्स' ग्रंथ पांच खंडों में पूरा हुआ है। पहले खंड में प्रकाश और आँखों-संबंधी अध्ययन है। यह खंड भी अब अप्राप्य है। १३ वीं शती में रॉजर बेकन को इस खंड की जानकारी थी।* दूसरे खंड में यह दिखाया गया है कि वस्तुओं का दीखनेवाला आयतन किस प्रकार दृष्टिकोण पर निर्भर होता है। तीसरे और चौथे खंडों में समतल, अवतल, उत्तल, शंकु तथा पिरा-मिड के आकार के विभिन्न प्रकारों के परावर्तकों का विवरण है। पाँचवें खंड का मुख्य विषय है प्रकाश का अपवर्तन (refraction)। टॉलेमी के पहले और उनके बाद मुसलमान वैज्ञानिक अल्-ह्वाजेम तक किसी ने प्रकाश के अपवर्तन के संबध में गवेषणा की, ऐसा पता नहीं चलता। काँच के किसी टुकड़े या पानी में प्रवेश करते समय प्रकाश की किरणें किस प्रकार तिरछी मुड़ जाती हैं, उस अपवर्तन का एक नियम उन्होंने प्रस्तावित किया। वह नियम है,

$$A = lB - cB^2$$

जिसमें, A है आपतन कोण (angle of incidence), B अपवर्तन कोण, l अपवर्तनांक और c एक नियतांक है। वास्तविक नियम है,

$$\text{Sin } A = l \text{ Sin } B$$

A और B के मान बहुत कम हों तो दोनों नियमों से प्रायः एक ही परिणाम निकलेगा।

इस अपवर्तन की चर्चा के कारण ऑप्टिक्स का पाँचवाँ खंड विशेष महत्त्व-पूर्ण है। परंतु इसी कारण, टॉलेमी के 'आप्टिक्स' का जो लैटिन अनुवाद इस समय संरक्षित है, वह कहाँ तक असल और कहाँ तक नकल है, इस विषय में बहुत से लोग गंभीर संदेह प्रकट करते हैं। इस संदेह का मुख्य कारण यह है कि 'ऐलमाजेस्ट' में प्रकाश के अपवर्तन का कोई उल्लेख नहीं है, परंतु 'ऑप्टिक्स' में न केवल अपवर्तन, बल्कि वायु-स्तर पर सूर्य तथा अन्य ज्योतिष्कों से विकीर्ण प्रकाश के अपवर्तन के कारण जो ज्योतिषीय घटनाएँ घटित होती हैं, उनका भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त, 'ऑप्टिक्स' में ज्यामिति के प्रयोग के जो नमूने मिलते हैं, वह बहुत निकृष्ट किस्म की ज्यामिति है और कतई टॉलेमी के उपयुक्त नहीं है। इन बातों से लगता है कि टॉलेमी की ऑप्टिक्स-रचना के विषय में कहीं कुछ रहस्य छिपा हुआ है। यह यदि

* Lynn Thorndike, 'A History of Mag.c and Experimental Science,' Vol 1, p. 108.

वास्तव में टॉलेमी की रचना है तो मध्ययुग के अरब और लैटिन अनुवादकों ने टॉलेमी की ख्याति का अवसर ग्रहण कर, मूल ग्रंथ में जगह-जगह अपनी चीजें जोड़ दी होंगी, यह धारणा युक्ति-विरुद्ध नहीं जान पड़ती।

ज्योतिष के संभवतः सर्वश्रेष्ठ ग्रंथकार क्लॉडियस टॉलेमी के कार्यों के संबंध में भी आधुनिक इतिहासकार संदेह प्रकट करते हैं। यह बात सत्य है कि उनका ज्योतिष अनेकांश में हिपार्कस् की गवेषणा का ऋणी है; वैज्ञानिक गवेषणा की मूल प्रेरणा भी उन्हें हिपार्कस् से ही मिली। उनके अपने कार्यों के विषय में भले ही संदेह की संभावना हो, किंतु उनकी विद्वत्ता और ज्ञान की व्यापकता में टॉलेमी के समकक्ष वैज्ञानिक उस युग में थोड़े ही थे। 'ऐलमाजेस्ट' सदा ही उनकी अक्षय कीर्ति की घोषणा करता रहेगा। ऐलमाजेस्ट की रचना करके टॉलेमी ने हिपार्कस् की अमूल्य गवेषणाओं को विस्मृत होने से बचाया, इसलिए भी हम उनके चिरऋणी हैं।

बल विज्ञान, यांत्रिक आविष्कार और व्यावहारिक पदार्थ विज्ञान
स्टैसिबियस्, फिलो और हीरो

ग्रीक विज्ञान की इतिहास-चर्चा के प्रसंग में अब तक मुख्यतः ज्यामिति, गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-विज्ञान, जीव-विद्या तथा प्राणि-विज्ञान में ग्रीकों की आश्चर्यजनक गवेषणा और आविष्कार का ही विस्तृत वर्णन किया गया है। पाइथागोरस, आर्किटस्, युडॉक्सस्, युक्लिड, आर्किमीडिस् तथा ऐपोलोनियस्-जैसे प्रसिद्ध गणितज्ञों ने गणित और ज्यामिति के ज्ञान-भंडार को समृद्ध किया, थिओफ्रेस्टस् ने वनस्पति-विज्ञान की नींव डाली, अरस्तू ने जीव-विज्ञान में और फिलोलाउस्, हेराक्लिडिस्, ऐरिस्टार्कस्, इराटोस्थेनिस्, हिपार्कस् और टॉलेमी-जैसे प्रसिद्ध ज्योतिर्विदों ने ज्योतिष में एक नए युग का प्रवर्तन किया और हिपोक्रेटिस्, हिरोफिलस्, हिरासिस्ट्रेटस्-जैसे प्रख्यात चिकित्सकों की गवेषणाओं के परिणामस्वरूप चिकित्सा-विद्या में एक वैज्ञानिक आदर्श प्रतिष्ठित हुआ। बुनियादी और तत्त्वीय विज्ञान में प्राचीन जातियों में ग्रीकों की देन अतुलनीय है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

व्यावहारिक विज्ञान में ग्रीकों का पिछड़ापन

इतिहासकार साधारणतया इस तत्वीय विज्ञान में ग्रीकों की देन की विस्तृत चर्चा करके और ग्रीक-प्रतिभा तथा उद्भावनी शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करके ही अपना कर्त्तव्य समाप्त करते हैं। परंतु विज्ञान की एक और

दिशा है, एक और विशाल विभाग है। मानव का कल्याण हो, मनुष्य बिना कठिनाई के जीवन-निर्वाह कर सके, वल्कि वह अपना जीवन-स्तर काफी ऊँचा उठा सके—इन उद्देश्यों के लिए विज्ञान का प्रयोग, विज्ञान की एक और दिशा है। यह प्रयोग विज्ञान के जिस विभाग का आलोच्य विषय है, उसे व्यावहारिक विज्ञान कहा जाता है। व्यावहारिक विज्ञान की प्रगति का इतिहास भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसकी प्रगति के साथ सभ्यता की विकास घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। अब प्रश्न यह है कि विज्ञान के प्रयोग में ग्रीक कितने प्रयत्नशील थे और कहाँ तक सफल हुए? व्यावहारिक विज्ञान में उनकी देन क्या है?

इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर देना सहज नहीं है। इसका एक कारण है ग्रीक-रोमन युग में व्यावहारिक विज्ञान संबंधी पुस्तकों या रचनाओं की कमी। संभवतः इस प्रकार के कुछ कागज-पत्र लापता हो गए होंगे, जैसे तत्त्वीय विज्ञान के अनेक ग्रंथ लापता हो चुके हैं। परंतु यह मान लेने का भी कारण है कि इस विषय में यथेष्ट ग्रंथ लिखे ही नहीं गए। थॉर्नडाइक के मतानुसार* प्राचीन सभ्यता के वातावरण में व्यावहारिक विज्ञान की गति अतिशय शिथिल और मंद थी। पशुशक्ति और दासों की श्रमशक्ति के सिवा और किसी प्रकार की शक्ति का व्यवहार प्राचीन सभ्यता में अज्ञात था और उस प्रकार की शक्ति का व्यवहार अनाविष्कृत होने के कारण, कोई महत्त्वपूर्ण यांत्रिक आविष्कार या मनुष्य की सुख-सुविधा के लिए विज्ञान का प्रयोग संभव नहीं हो सका। भौतिकतावादी, सामाजिक चेतनायुक्त दृष्टिकोण के अभाव में वैज्ञानिक ज्ञान के व्यापक प्रयोग की बात किसी के दिमाग में आई ही नहीं।

प्लेटो और अरस्तू के दार्शनिक मतवाद और दास-प्रथा पर आधारित समाज-व्यवस्था ने व्यावहारिक विज्ञान की प्रगति में बाधा दी। समाज में इस श्रेणी-विभाजन के परिणामस्वरूप हर प्रकार का शारीरिक श्रम और हाथ-पैर से काम करने का भार दासों पर डाल दिया गया। जो काम दास के योग्य है, वह स्वतंत्र नागरिक के अयोग्य और उसके लिए घृण्य है, इसलिए सर्वथा परित्याज्य है, इस भावना की प्रबलता के कारण कारीगरी विद्या का आदर घटा, वह असम्मान और अवज्ञा का विषय बन गई। आर्किमीडिस्

* Thorndike, 'History of Magic and Experimental Science' Vol. 1, p. 182.

स्वयं अनेक मूल्यवान यांत्रिक आविष्कारों के लिए विख्यात हैं। स्वदेश की रक्षा के उद्देश्य से उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण यांत्रिक कौशल आविष्कृत किए और इन आविष्कारों ने कई बार रोमन सेना के घेरे से सायराक्यूज की रक्षा भी की। परंतु उन्होंने यांत्रिक आविष्कारों को कभी ऊँचा स्थान नहीं दिया। ज्यामिति के खेल बताकर वे उन्हें सदा तुच्छ बनाते रहे। ऐसी स्थिति में व्यावहारिक विज्ञान की उन्नति की आशा ही नहीं की जा सकती। इसीलिए ग्रीक तत्त्वीय विज्ञान की दीप्ति के सामने उनके व्यावहारिक विज्ञान का क्षीण प्रकाश बहुत स्पष्ट हो उठता है।

इस अनादृत व्यावहारिक विज्ञान में यदा-कदा थोड़ी-बहुत उन्नति हुई भी हो, तो इस विषय में यथेष्ट गवेषणा न होने के कारण उसकी भी जानकारी हमें नहीं है। तत्त्वीय विज्ञान के इतिहास के उद्धार के लिए जिस प्रकार लंबे अरसे तक अध्ययन किया गया है और पंडितों के बीच लड़ाई हुई है तथा परिणामस्वरूप इस विषय में अनेक समस्याओं का समाधान संभव हो सका है, उस प्रकार की कोई चेष्टा व्यावहारिक विज्ञान के इतिहास के उद्धार के लिए नहीं हुई। टेक्नोलौजी के इतिहास के संबंध में अब तक बहुत थोड़ा काम हुआ है, इसके महत्त्व की उपलब्धि भी आपेक्षिक रूप से आधुनिक घटना है। टेक्नोलौजी और व्यावहारिक विज्ञान के संबंध में व्यापक गवेषणा-द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण अप्रत्याशित तथ्यों का पता मिलेगा, यह आशा युक्ति-विरुद्ध नहीं है।

प्राचीन काल में, साधारणतया, विज्ञान की सामाजिक आवश्यकता की उपलब्धि न होने पर भी, युद्ध और धर्म के सिलसिले में और जादू-विद्या की प्रेरणा से अनेक छोटे-बड़े यांत्रिक आविष्कारों के दृष्टांत मिलते हैं। युद्ध अवश्य ही एक प्रकार की सामाजिक घटना है; धर्म और जादू-विद्या का भी समाज ही आश्रय-स्वरूप है। इस दृष्टि से विचार करने पर युद्ध, धर्म और जादू-विद्या के प्रयोजनार्थ किए जानेवाले व्यावहारिक विज्ञान-संबंधी आविष्कार सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित कहे जाने चाहिए। परंतु इस प्रकार का व्यापक अर्थ न करना ही अच्छा होगा। युद्ध, धर्म या जादू-विद्या के लिए विज्ञान के जो प्रयोग होते देखे गए हैं, उनके उद्देश्य थे आत्म-रक्षा या आक्रमण; प्रतारणा या अर्थलाभ। परंतु यह उद्देश्य चाहे युद्ध में शत्रु का विनाश रहा हो या धर्मांधता का लाभ उठाकर मनुष्य को धोखा देना, परंतु ये यांत्रिक आविष्कार पूर्णतः व्यर्थ नहीं हुए। अंत में किसी-न-किसी उपाय से इन

आविष्कारों ने मनुष्य का उपकार किया, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अलेग्जेंड्रियाई विज्ञान के युग में इस प्रकार के यांत्रिक आविष्कारों-द्वारा जिन्होंने इतिहास में प्रसिद्धि प्राप्त की, उनमें स्टेसिबियस्, फिलो और हीरो सब से आगे थे।

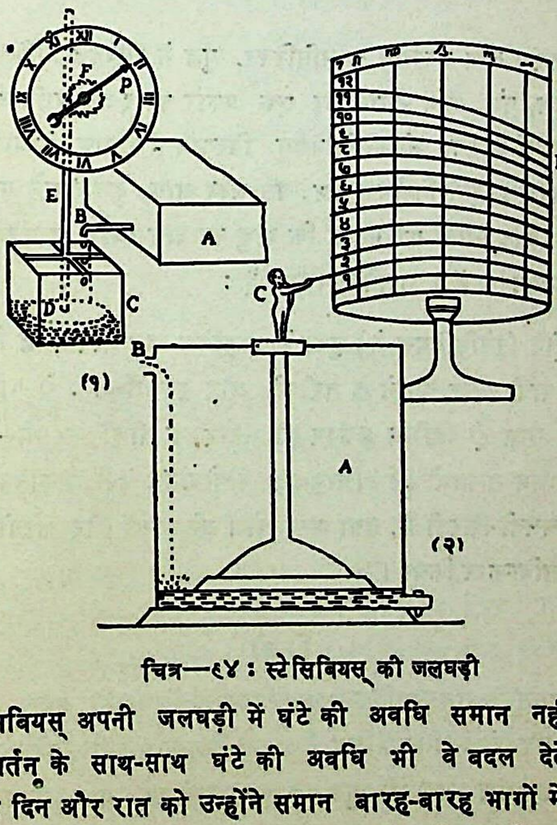
स्टेसिबियस् (अनुमानतः ई० पू० २८५-२२२)

निम्नकुल में पैदा हुए, अलेग्जेंड्रिया के एक नाई के पुत्र, स्टेसिबियस् जल-घड़ी, जल-तरंग तथा अनेक आवश्यक और अनावश्यक यंत्रों के आविष्कार और उन्नति के लिए विख्यात हैं। अलेग्जेंड्रियाई यंत्र-विद्या के वे ही प्रतिष्ठाता थे। उन्होंने जिन ग्रंथों की रचना की, उनमें से कोई भी संरक्षित नहीं है। सुप्रसिद्ध लेखकों, विट्रूवियस् और प्लिनी के ग्रंथों से उनके आविष्कारों की जानकारी मिलती है। बहुत छोटी उम्र में ही उन्होंने अपनी आविष्कार-शक्ति का परिचय दिया था। हजामत की सुविधा के लिए, यांत्रिक उपाय से दर्पण ऊपर उठाने या नीचे उतारने या किसी भी रूप में स्थापित रखने के उद्देश्य से, उन्होंने एक सुतली के सिरे से सीसे का एक टुकड़ा लटकाने की व्यवस्था की। सीसे के इस टुकड़े की सहायता से दर्पण के भार-संतुलन का नियंत्रण किया जाता था। सीसे के इस टुकड़े को एक नली के भीतर से चढ़ाया-उतारा जाता था। इस प्रकार का परीक्षण करते हुए उन्होंने देखा कि सीसे के उतरते समय प्रायः हर बार नली के अंदर से एक प्रकार की ध्वनि निकलती है। इस प्रकार की ध्वनि उन्हें रहस्यमय लगी। इस अभिज्ञता के सूत्र का अवलंबन करके और इस विषय में लगातार परीक्षण-द्वारा उन्होंने अत में एक जल-तरंग का आविष्कार किया। जलतरंग यांत्रिक उपाय से संगीत-सृष्टि का एक नया आविष्कार है। फैरिंगटन ने लिखा है कि सभ्यता के इतिहास में जल-तरंग आदि ध्वनि-यंत्रों का आविष्कार विशेष महत्त्वपूर्ण है। *

जल-घड़ी : स्टेसिबियस् का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार है जलघड़ी। विट्रूवियस् ने डी आर्किटेक्चुरा में इस जलघड़ी का वर्णन किया है। ९४-१ संख्यक चित्र में इस जलघड़ी का यांत्रिक कौशल समझाया गया है। *A* पात्र से *C* पात्र में, एक पतली नली *B* के द्वारा बहुत धीरे, परंतु समान गति से, पानी पहुँचाया जाता है। नली का मुँह घिस न जाय या बंद न हो जाय, इसलिए सोना या

* B. Farrington, 'Greek Science,' part II, p. 61.

अन्य किसी कीमती धातु से नल तैयार किया जाता है। C पात्र में वेलन के आकार का कोई छोटा काग या तैरनेवाला पदार्थ होता है। E, काग के केंद्र-स्थान में खड़ी एक सलाई होती है। सलाई के सिरे का थोड़ा अंश सूक्ष्म दांतेदार है। F, दांतवाला एक छोटा चक्का है, जो घड़ी के वलय के केंद्र-स्थान में अवस्थित रहता है। E सलाई के ऊपरी भाग के दांतों की दूरी इस माप की है कि F चक्के के दांत उनके अंदर ठीक बैठ जाते हैं। नली B के मुंह से निकलता हुआ पानी C पात्र में जमा होता रहने के कारण, तैरता हुआ काग धीरे-धीरे ऊपर उठता जाता है; साथ ही E सलाई भी ऊपर चढ़ती रहती है और उससे संलग्न F चक्का धीरे-धीरे घूमता रहता है। वलय की गोलाई में खरोंचे गए चिह्नों-द्वारा समय अंकित किया जाता है; चक्के से संलग्न सुई P अनायास समय बतला सकती है।



चित्र—९४ : स्टेसिबियस् की जलघड़ी

स्टेसिबियस् अपनी जलघड़ी में घंटे की अवधि समान नहीं रखते थे। ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ घंटे की अवधि भी वे वदल देते थे। इसके अतिरिक्त दिन और रात को उन्होंने समान बारह-बारह भागों में विभाजित किया था। इस लिए गर्मियों में दिन के समय घंटे की अवधि शीत काल के

दिनों के घंटे की अवधि से अधिक लंबी होती थी। ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ घंटे की अवधि आप से आप बदलती रहे, इस उद्देश्य से उन्होंने सिलिंडर के आकार के एक बड़े खोखले बर्तन का व्यवहार किया। इसके गोलाकार पृष्ठ पर, समान दूरी पर, १२ खड़ी सरल रेखाएँ १२ महीनों के लिए खींची गई थीं। इन बारह खड़ी रेखाओं को काटते हुए, बर्तन की गोलाई पर १२ अन्य रेखाएँ होती थीं। इन अनुप्रस्थ रेखाओं की पारस्परिक दूरी प्रायः समान होने पर भी कुछ अंतर था (चित्र ९४-२)। इनसे दिन और रात के १२ घंटों का अर्थ लगाया जाता था। वर्ष के विभिन्न मासों का निर्देश करनेवाली खड़ी रेखाओं पर अवस्थित अनुप्रस्थ रेखाओं की दूरियों में पृथकता के कारण ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ घंटे की अवधि भी घटती-बढ़ती रहती थी।

जल-तरंग और जलघड़ी के अतिरिक्त, युद्ध में व्यवहृत विभिन्न प्रकार के निक्षेपक यंत्र, पंप, आग बुझाने का एक प्रकार का इंजन आदि अनेक प्रकार के आविष्कारों के लिए भी स्टेसिबियस् विख्यात हैं। वायु के दाब के कुशल व्यवहार-द्वारा उन्होंने निक्षेपक यंत्र, पंप और आग बुझानेवाले यंत्र उद्भावित किए। विट्रूवियस का मत है कि वायु का दाब और तत्संबंधी गुणों के वे ही आविष्कारक हैं। उन्होंने लिखा है :

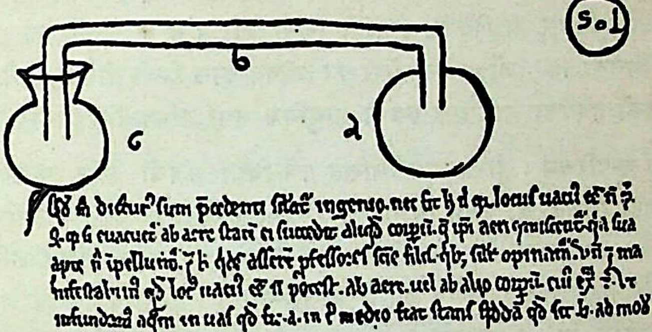
"उन्होंने (स्टेसिबियस् ने) हवा के प्राकृतिक दाब और संबद्ध सिद्धांतों की खोज की...पानी ऊपर चढ़ाने के तरीकों और स्वचालित यंत्रों का उद्भावन किया और साथ ही विभिन्न प्रकार की मनोरंजक चीज़ों का भी—जैसे जल-घड़ी के माध्यम से गाती हुई चिड़िया, 'आंगोबाते', ऐसी आकृतियाँ जो पानी पीती और चलती-फिरती हैं, तथा अन्य चीजें जो आंखों और कानों को सुखदायी हैं—आविष्कार किया।"*

फिलो

स्टेसिबियस् के समसामयिक बाइजांटियम के फिलो भी अनेक प्रकार के यांत्रिक आविष्कारों के लिए प्रसिद्ध हैं। बल-विज्ञान संबंधी उनके एक वृहद् ग्रंथ का कुछ अंश अब भी सुरक्षित है। उत्तोलक, बंदरगाह का निर्माण,

* "Vitruvius, De Architectura, IX; viii, 284; X, vii 4.

स्वचालित यंत्रों का निर्माण, वायु के दाब के व्यवहार-द्वारा विभिन्न प्रकार के यंत्र तैयार करने के कौशल आदि विषयों का इस पुस्तक में वर्णन है।



चित्र—६५ : बारहवीं-तेरहवीं शती में प्रकाशित फिलो के ग्रंथ के एक ग्रीक संस्करण में यह चित्र दिया हुआ है। इस यंत्र-द्वारा दिखाया गया है कि ताप के प्रयोग से हवा किस प्रकार फैलती है।

हीरो या हेरण (अनुमानतः ई० पू० १५० (?), अनुमानतः २५० ई०)

ईसापूर्व तीसरी शती में स्टेसिबियस् और फिलो-जैसे पदार्थविदों और बल-विज्ञान-विशारदों ने यांत्रिक आविष्कार के जिस आदर्श की स्थापना की, उस आदर्श की चरम परिणति हम पाते हैं हीरो की वैज्ञानिक गवेषणाओं और आविष्कारों में। इन गवेषणाओं में उन्होंने स्टेसिबियस् के दिखाए मार्ग का ही अनुसरण किया। वियेना में प्राप्त उनकी पुस्तक 'बेलोपेइका' (Belopoeica) में उन्होंने यह ऋण खुले तौर पर स्वीकार किया है। अनेक क्षेत्रों में उन्होंने अपने गुरु-द्वारा प्रदर्शित नीति तथा पद्धति का हूबहू अनुसरण करने की चेष्टा की। हीरो को एक उन्नत और बना-बनाया बल-विज्ञान मिल गया था और अपनी प्रतिभा-द्वारा उन्होंने उसको नाना प्रकार से अधिक उन्नत और समृद्ध किया। गवेषणा की मौलिकता और प्रचुरता, अगाध पांडित्य और विश्वकोष की भाँति रचनाएँ, आदि विभिन्न दृष्टियों से विचार करने पर देखा जायगा कि यंत्र-विद्या में हीरो प्राचीन ग्रीकों, संभवतः समग्र प्राचीन सभ्य जातियों, में सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक और आविष्कारक थे। उनका ज्यामिति का ज्ञान भी प्रथम श्रेणी का था। व्यावहारिक ज्यामिति ही उनकी गवेषणा का मुख्य विषय थी।

हीरो की तिथि के संबंध में इतिहासकार अभी तक एकमत नहीं हो पाए हैं। एक दल हीरो के जीवन-काल को, अन्य दल की धारणा के विपरीत,

अधिक प्राचीन मानता है। दोनों दलों द्वारा प्रस्तावित तिथियों में लगभग चार सौ वर्षों का अंतर है। पहले दल का मत है कि वे ई० पू० १५० में और दूसरे दल के अनुसार वे ईस्वी तीसरी शताब्दी में जीवित थे। दूसरे दल ने बताया है कि विट्रूवियस् या प्लिनी, दोनों के किसी भी ग्रंथ में हीरो का उल्लेख नहीं मिलता।* जो लोग हीरो का जीवन काल ईस्वी तीसरी शती मानते हैं, उनकी गवेषणा आपेक्षिक रूप से आधुनिक तथा अधिक विश्वसनीय है।

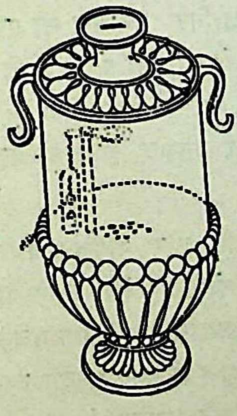
ग्रंथ-परिचय : हीरो द्वारा लिखित यंत्र-विद्या संबंधी जिन पुस्तकों की जानकारी मिलती है, उनमें न्यूमेटिका (Pneumatica), 'ऑटोमोटोपोयटिस' (Automatopoictice), बेलोपेइका (Belopeica), और 'चिरोबालिस्त्रा' (Cheiroballistra) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तीनों ग्रंथ ग्रीक भाषा में है। 'न्यूमेटिका' में साइफन (Syphon) फव्वारा (हीरो का , जल-तरंग, अग्नि-इंजन और भाप शक्ति के प्रयोग-द्वारा उद्भावित अनेक प्रकार के यंत्रों आदि के वर्णन हैं। युद्ध में बलविज्ञान के अनेक प्रकार के प्रयोगों तथा यांत्रिक आविष्कारों की चर्चा 'बेलोपेइका' में की गई है। इस ग्रंथ की रचना मुख्यतः स्टेसिबियस् की गवेषणाओं पर आधारित है। इनके अतिरिक्त 'मेकैनिक्स' (बलविज्ञान) उनका एक और विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह केवल अरबी भाषा में संरक्षित है। अरबी भाषा में इस ग्रंथ का अनुवाद कुस्ता इब्न लूका ने किया। प्राचीन अलेग्जेंड्रिया में जिन पाँच मुख्य यंत्रों का प्रचलन था—जैसे चक्का और उसकी धुरी का डंडा, उत्तोलक, घिरनी, फन्नी और पेंच (Serew)—इस ग्रंथ में इनमें से प्रत्येक की विशद चर्चा की गई है।

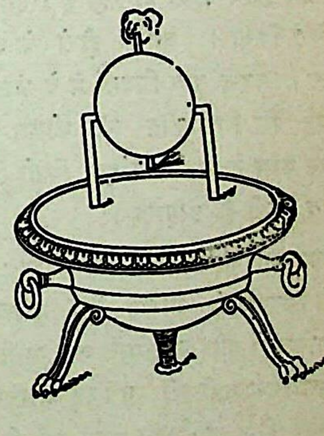
ग्रीकों के यांत्रिक आविष्कारों के मूल उद्देश्य थे युद्ध और रण-कौशल में सहायता प्रदान करना, लोगों का मनोरंजन करना या जादू में जन-साधारण के कुतूहल और अज्ञता से लाभ उठाकर, उन्हें अचरज में डालनेवाले अनेक प्रकार के अचरज-भरे परीक्षण दिखलाकर लोगों को ठगना। धर्म-व्यवसायियों का इस प्रकार के वैज्ञानिक जादू में विशेष अनुराग था और मंदिरों में होनेवाले क्रिया-कलापों में इनके व्यवहार-द्वारा वे बहुत लाभवान

---

* "हीरो का उल्लेख विट्र वियस् या प्लिनी किसी ने नहीं किया है और आधुनिक अध्ययनों के परिणामस्वरूप विद्वानों में अब साधारणतया इस बात पर सहमति है कि ईस्वी तीसरी शती में वे जीवित थे।"—'Lynn Thorndike, A History of Magic and Experimental Science. Vot I; p. 188

होते थे। हीरो के आविष्कार इस प्रकार के प्रयोग के बहुत अच्छे दृष्टांत हैं। लोग इन परीक्षणों के परिणाम देखकर विस्मय से अवाक् रह जायँ, इस उद्देश्य से वे अनेक प्रकार के कौशलों का अवलंबन करते थे और परीक्षण के मूल सिद्धांत को सावधानी के साथ उनकी आंखों की ओट में रखते थे। लोग बाहर की घटनाओं को देखते थे, अंदर क्या हो रहा है, इसका उन्हें कोई पता नहीं चलता था। 'न्यूमेटिका' (Pneumatica) में इस प्रकार के ७०-८० कौशलों की चर्चा की गई है। मिसाल के तौर पर जादू के जलपात्र की बात ले लीजिए। इस पात्र के साथ एक सींग लगा होता है, इस सींग में से मनचाहा कोई पेय पदार्थ मिल जाता है—पानी मांगो तो पानी, इच्छा हो तो शराब या और कोई पेय पदार्थ। उन्होंने एक प्रकार का ऐसा दानवी घड़ा तैयार किया था, जिसमें चाहे जितना पानी डाला जाय, पानी उतरायगा नहीं। जादू का एक जोड़ा घड़ा (harmonious jars) ऐसा था, जिसमें से किसी एक को जब तक पूरा न भरा जाय, तब तक किसी भी घड़े से पानी नहीं निकल सकेगा, लेकिन भर जाने पर एक से पानी और दूसरे से शराब निकलेगी। ये सब साइफन के कारनामे हैं। अनेक प्रकार से एक या एक से अधिक साइफन के व्यवहार-द्वारा और उन्हें कौशल के साथ गुप्त रखकर ये जादू दिखलाए जाते थे।





चित्र—६६ : हीरो-द्वारा उद्भावित कुछ यंत्र

(१) पवित्र-जल वितरक यंत्र—ऊपर छेद से मुद्रा अंदर डालने की व्यवस्था विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। (२) वाष्प-यंत्र या टर्बाइन. नीचे के खोखले गोले में से भाप तेजी के साथ निकलने के कारण गोला घूमता रहता है।

केटॉप्ट्रिका (catoptrica) नाम के एक और ग्रंथ में दर्पण के अनेक प्रकार के जादू का वर्णन है। विभिन्न प्रकार के दर्पणों को तरह-तरह से सजाकर दर्शक को उनके निकट आने दिया जाता तो वह देखता कि उसका सिर नीचे और पैर ऊपर है, आँखें दो के बदले तीन और नाक एक की जगह दो हो गई है और मुख का रूप वीभत्स बन गया है। दर्पण के एक और करतब के परिणामस्वरूप दर्शक को यह दिखलाई पड़ता कि ग्रीक पुराण में वर्णित ज्यूस् देवता के छिन्न मुंड से पाल्लास् निकला जा रहा है।*

दर्पणों को किस प्रकार सजाने पर दर्शक को ऐसा भ्रम हो सकता है, इसका निर्देश इस ग्रंथ में दिया गया है। किसी समय 'केटॉप्ट्रिका' टॉलेमी के ऑप्टिक्स ग्रंथ का एक अंश माना जाता था। अब इस धारणा का परित्याग कर दिया गया है।

हीरो के बल-विज्ञान का सब कुछ केवल जादू ही नहीं है। उपर्युक्त कारनामों के बीच मौलिक और महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक परीक्षणों के अनेक अध्ययन छिपे हुए हैं। हवा एक प्रकार का पदार्थ है और उसका अस्तित्व है, यह प्रमाणित करने के लिए उन्होंने जब एक पात्र के मुँह को नीचे करके उसे पानी में सीधा डुबाना चाहा तो देखा कि वह डूबता नहीं, उसे किसी बाधा का सामना करना पड़ रहा है। उन्होंने बताया कि पात्र के भीतर की हवा बाहर न निकल सकने के कारण इसमें बाधा हो रही है। इस प्रकार उन्होंने वायु के अस्तित्व को प्रमाणित किया। यह है हीरो के आदर्श वैज्ञानिक परीक्षण का एक और दृष्टांत। परंतु कुछ विषयों में वे भ्रांत धारणाओं का भी पोषण करते थे—जैसे यह कि शिलाजीत और कीचड़ से मिट्टी का रूपांतर होता है; किसी जलमग्न पात्र के अंदर की हवा किसी तरह बाहर निकल जाय तो वह फिर जल बन जाती है, इत्यादि।

व्यावहारिक ज्यामिति, क्षेत्रमिति : ज्यामिति और गणित-संबंधी हीरो की गवेषणाएँ भी प्रसिद्ध हैं। युक्लिड्, ऐपोलोनियस्-जैसे उनके पहले के ग्रीक गणितज्ञों की ज्यामिति की भाँति उनकी ज्यामिति अनुमानमूलक और विश्लेषणात्मक नहीं थी; यांत्रिक आविष्कार के ढाँचे में ढलकर उस ज्यामिति को व्यावहारिक सार्थकता प्राप्त हुई थी। उनके लिखे 'मेट्रिका,' (Metrica) 'डेफिनिशिओनस्' (Definitiones), जिओमेट्रिया, (Geometria)

---

* Thorndike, A History of Magic .and Experimental Science', Vol.I; p. 193.

जियोडेसिया (Geodaesia), स्टीरिओमेट्रिका (Stereometrica), मेंसुरी (Mensurae), लिबेर जीपोनिकम् (Liber Giponicus), डाइऑप्ट्रा (Dioptra), ग्रंथों का आलोच्य विषय ज्यामिति है। ये सभी ग्रीक भाषा में लिखे गए हैं और सौभाग्य की बात है कि अभी तक सुरक्षित हैं। 'मेट्रिका' इन ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ है। बाद के लेखकों के गलत समझने और संकलन-दोष के परिणामस्वरूप उनके अन्य ग्रंथ जितने विकृत हुए, इस ग्रंथ में वैसा नहीं हुआ। हीरो कितने बड़े गणितज्ञ थे, यह ग्रंथ इसका एक बड़ा प्रमाण भी है।* सन् १८९६ ई० में शोयेन (R. Schone) ने कुस्तुन्तुनिया में इस ग्रंथ की पांडुलिपि खोज निकाली। जिन संख्याओं के वर्गमूल पूर्णसंख्याएँ नहीं होतीं, उनके वर्गमूल का ठीक निर्णय किस सीमा तक किया जा सकता है, इसकी एक साधारण पद्धति की चर्चा इस ग्रंथ में की गई है। इस पद्धति का नाम है क्रमिक सन्निकटन (Successive approximation)। इस नियम के प्रयोग-द्वारा, जिन संख्याओं के घनमूल पूर्णसंख्या नहीं हैं, उनके घनमूल भी उन्होंने निकाले।

उपर्युक्त अन्य ग्रंथों की विषय वस्तु है विस्तार कलन(Mensuration)। 'डाइऑप्ट्रा' में, जमीन की नाप-जोख के लिए उन दिनों व्यवहृत विभिन्न प्रकार के यंत्रों का वर्णन है। इस प्रकार का एक यंत्र डाइऑप्ट्रा (जिनके नाम पर इस ग्रंथ का नामकरण हुआ है) बहुत कुछ आजकल व्यवहृत थीयोडोलाइट (theodolyte) की तरह है। इस यंत्र में एक दंड पर ८-९ फीट लंबा एक तख्त जड़ा होता है। इस तख्ते को अर्द्धवृत्ताकार घुमाया जा सकता है। पेंच, दांतेदार चक्का इत्यादि की सहायता से उसे घुमाने की व्यवस्था है। तख्ते के लेवेल् (level) के निर्णय के लिए तलमापी के व्यवहार का उल्लेख भी ग्रंथ में किया गया है। सरल रेखा में किसी वस्तु के निरीक्षण के लिए तख्ते के दोनों छोरों पर लेंस का व्यवहार होता था। यह हूबहू एक आधुनिक थीयोडोलाइट का वर्णन है। पहाड़ काटकर सुरंग बनाने, गड्ढा खोदकर उसमें डंडा सीधा खड़ा करने और जमीन के किसी टुकड़े की माप उस टुकड़े के बाहर रहकर ही करने के लिए डाइऑप्ट्रा के व्यवहार का विशद वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है।

---

* Encyclopaedia Britannica में T. N. Heath द्वारा लिखित 'Heron of Allexandria. शीर्षक निबंध देखिए।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के कार्यों में उन्हें सदा ज्यामिति का प्रयोग करना पड़ता था। इस प्रसंग में त्रिभुज के क्षेत्र के निर्माण के लिए उन्होंने एक सूत्र का आविष्कार किया था। यह विख्यात सूत्र है :

$$S = \sqrt{\frac{a+b+c}{2} \times \frac{a+b-c}{2} \times \frac{c+a-b}{2}}$$

इसमें S = क्षेत्रफल और a, b, c, त्रिभुज की तीनों भुजाएँ हैं। युक्लिड में इसका प्रमाण नहीं है। हीरो ने इसे प्रमाणित किया।

उपर्युक्त सूत्र को हीरो इतना अधिक महत्त्व देते थे कि इसका प्रमाण 'डाइऑप्ट्रा' और 'जिओडेसिया' में दिया हुआ है और क्षेत्रमिति संबंधी उनकी प्रायः प्रत्येक पुस्तक में इसका उल्लेख किया गया है। अनेक शतियों तक क्षेत्रमिति संबंधी उनका ग्रंथ प्रामाणिक माना जाता रहा। युग-परंपरा से पर्यवेक्षकगण, माप-जोख के लिए उनकी पद्धति, नियम और सूत्रों का आंख मूंदकर प्रयोग करते आए हैं।

व्यावहारिक विद्या पर हीरो के इस महत्त्वारोपण को लक्ष्य करके बहुत से लोगों की यह धारणा बनी है कि मिस्री विज्ञान और अभिज्ञता ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया था। प्राचीन ग्रीकों के विशुद्ध गणित और दर्शन-मिश्रित-विज्ञान के आदर्श से वे बहुत हट गए थे, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसीलिए दर्शन के प्रति श्रद्धाहीन रोमन लोग युक्लिड और आर्किमीडिस की ज्यामिति की अपेक्षा हीरो की ज्यामिति को अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझते थे। ग्रीक गणित का अध्ययन जब उन्होंने अपरिहार्य समझा, तब उन्होंने बिना द्विधा के हीरो की ज्यामिति को ही चुन लिया।

ग्रीक रसायन : अलेग्जेंड्रियाई कीमिया

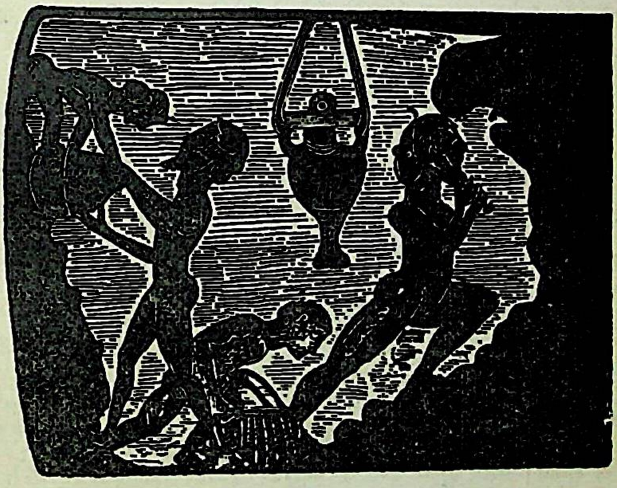
कीमिया का आदि-इतिहास

रसायन में ग्रीकों का पिछड़ना अप्रत्याशित नहीं है। यह विद्या परीक्षण और पर्यवेक्षण पर ही पूर्णतया निर्भर है। जिस देश का ज्ञानी, गुणी और विदग्ध समाज अपने हाथों कामकाज करना हेय समझता है, उसके द्वारा और चाहे जो कुछ हो, रसायन की उन्नति संभव नहीं है।

रसायन का एक सैद्धांतिक पक्ष भी है। वह है वस्तु की गठन-विचित्रता के रहस्य की उपलब्धि का पक्ष। ग्रीक दार्शनिक पहले से ही इस विषय की ओर आकृष्ट हुए थे। वस्तु के प्राथमिक उपादानों के संबंध में माइलेशियाई दार्शनिकों की कल्पना, आयोनी ल्युसिप्पस् और डिमोक्रिटस् का अणु-सिद्धांत,

एंपिडॉक्लेस् और अरस्तू का चार मौलिक-उपादान-तत्व, और अग्नि, वस्तु का दहन आदि विषयों में थिओफ्रेस्टस् की गवेषणा ने रसायन के सैद्धांतिक पक्ष को विशेष रूप से समृद्ध किया था, इसमें कोई संदेह नहीं है।

ग्रीकों के कई हजार वर्ष पहले से वेबीलोनी और मिस्री कारीगर, धातु निकालने के काम में तथा कांच शिल्प और रंगने की अनेक प्रकार की चीजों के उत्पादन में आश्चर्यजनक निपुणता का परिचय देते आए थे। इस प्रकार की कारीगरी की प्रत्यक्ष अभिज्ञता से भूमध्यसागरीय प्रदेश की ग्रीक-पूर्व जातियों ने खनिज तांबा, लोहा और सीसा के आक्साइड घटित नमक और विभिन्न प्रकार के उद्भिज और जैव पदार्थों के संबंध में उन्नत ज्ञान और उनको तैयार करने की प्रणाली के संबंध में दक्षता प्राप्त की थी। ग्रीकों ने भी मिस्रियों से इन व्यावहारिक विद्याओं को ग्रहण किया था। उनका खनिज-शिल्प, विशेष रूप से खनिज-चांदी का शिल्प, इतिहास-प्रसिद्ध है। हिरोडोटस् ने लारियम्, सिफन्नोस् थेसोस्, दामास्तियम्, पायोनिया आदि स्थानों की चांदी



चित्र—६७ : प्राचीन ग्रीस में खनिज कार्य का एक चित्र (वर्तन पर अंकित एक चित्र से)

की खानों का उल्लेख किया है। एथेंस में चांदी की मुद्रा के प्रचलन और मुद्रा-संस्कार के माध्यम से वाणिज्य-व्यवसाय में सफलता-लाभ के पीछे थी एटिका की चांदी की खानों की संपदा। इसी चांदी की मुद्रा की बदौलत थेमिस्टॉक्लस, अपनी नौसेना के निर्माण की योजना को कार्यरूप देकर, सेलामिस् में, फारस के आक्रमण को विफल कर सके थे।

फिर भी धातु-शिल्प या किसी और कारीगरी-विद्या में ग्रीक कभी भी मिस्री, फिनिशियन आदि प्राचीन जातियों की स्वाभाविक दक्षता के अधिकारी नहीं हो पाए। ऐटिका में इन कार्यों का भार मुख्यतः विदेशी कारीगरों और दासों पर डाल दिया गया था। लारियम की प्रसिद्ध चांदी की खान का संचालन मिस्री करते थे। थैसोस् की चांदी की खान के संबंध में हिरोडोटस् ने लिखा है कि इसकी खोज किसी फिनिशियन खान-अनुसंधानकारी ने की थी। उन्होंने यह भी लिखा है कि ऐटिका की मुख्य खानों में से अधिकांश की खोज फिनिशियनों ने की थी।*

धातु शिल्प और व्यावहारिक रसायन में फिनिशियनों, मिस्रियों और बेबिलोनियों की ऐसी उन्नति के बावजूद उनमें कोई डिमोक्रिटस्, एंपिडॉक्लेस्, अरस्तू या थिओफ्रेस्टस् पैदा नहीं हुआ। विज्ञान के केवल सैद्धांतिक पक्ष पर जोर देने से जिस प्रकार विज्ञान की उन्नति संभव नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान जब केवल कारीगरी-विद्या के स्तर पर रुक जाता है, तब भी विज्ञान की उन्नति की आशा नहीं रहती। मनुष्य अभ्यासवश परंपरागत पद्धति का ही अनुकरण करता रहता है; नए ज्ञान का संधान वह नहीं दे पाता।

अलेग्जेंड्रियाई कीमिया

ये दोनों विभिन्न और विपरीतगामी धाराएं तथा दृष्टिकोण अलेग्जेंड्रिया में आकर सम्मिलित हुए। इस महानगरी में, धातु निकालने, रंगने और कांच-निर्माण संबंधी प्राचीन मिस्री कारीगरी-विद्या की शक्तिशाली ऐतिहासिक परंपरा के साथ कल्पनाशील ग्रीकों के विभिन्न दार्शनिक और तत्वीय मतवादों का मिलन हुआ। कारीगरी-विद्या की इतने दिनों की अभिज्ञता से वस्तुओं का बाहरी भेद ही लोगों की दृष्टि आकर्षित करता रहा है। अब, दार्शनिकों के सैद्धांतिक अध्ययन से, धीरे-धीरे वस्तुओं की अंतर्निहित समता और एकता प्रकट होने लगी। यद्यपि प्लेटो ने वस्तु-जगत् को पूर्णतः अवास्तविक और मिथ्या बताकर उड़ा दिया था, परंतु साधारण दृष्टि से हम जिन्हें भिन्न-भिन्न पदार्थ समझते हैं, वे मूलतः एक ही हैं। गुणधर्मों में पृथकता के कारण पदार्थों में भिन्नता का बोध होता है और ये गुण-धर्म परिवर्तनशील हैं। इस प्रकार की युक्ति को और परिवर्धित करके 'नॉस्टिक' नाम के एक और दार्शनिक-संप्रदाय ने यह प्रचार किया कि एक ही धातु से

* T. A. Rickard, 'Man and Metals,' Vol.1; p. 358.

बना देहधारी मनुष्य जिस प्रकार आत्मा की उन्नति-द्वारा अवगुणों का वर्जन करके सद्‌गुणों का अधिकारी होता है, उसी प्रकार सभी धातुएं सोने का उत्कृष्ट गुणधर्म प्राप्त करने की चेष्टा करती हैं। इसलिए गुणधर्मों में परिवर्तन लाकर निकृष्ट धातु का उत्कृष्ट धातु में परिवर्तन होना संभव है। एक उदाहरण से यह बात सहज ही समझ में आ जायगी। उस समय इस बात की जानकारी थी कि रंगने के काम में आनेवाले एक प्रकार के नमक के प्रयोग से निकृष्ट धातु के ऊपर का भाग घिस जाता है। अब किसी निकृष्ट धातु में बहुत थोड़ा सोना मिलाकर, मिश्र धातु के ऊपरी अंश को उस लवण के प्रयोग-द्वारा घिस दिया जाय, तो उस धातु का रंग सुनहला बन जायगा। नॉस्टिकों ने बताया कि निकृष्ट धातु के सोने में रूपांतरण का यह एक बहुत अच्छा दृष्टांत है।

पदार्थों के इस प्रकार से रूपांतरित होने की संभावना एक बहुत ही उत्तेजित करनेवाली घटना है। इससे, कृत्रिम उपाय से दुर्लभ और कीमती धातु, मणि, मोती आदि चीजें तैयार करने की इच्छा बढ़ती है। इस लोभनीय संभावना से प्रबल रूप में आकृष्ट होकर कुछ लोग धातु, नमक और विभिन्न प्रकार के यौगिक पदार्थों के संबंध में परीक्षण और शोध करने लगे। उनका उद्देश्य भले ही सिद्ध न हुआ हो, परंतु इसी प्रयत्न से रसायन की आदिम अवस्था कीमिया की उत्पत्ति हुई।

अँग्रेजी 'केमिस्ट्री', फ्रेंच कीमी आदि विभिन्न यूरोपीय भाषाओं में रसायन के जो पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, उनकी उत्पत्ति ग्रीक 'केमिया' (*Xnμ*1) शब्द से हुई है। २९६ ई० में सम्राट डायोक्लिटियन ने कीमिया संबंधी सभी प्राचीन पोथियों को जला डालने का जो आदेश जारी किया, उसमें कीमिया शब्द का पहली बार व्यवहार हुआ है। यह कोई ग्रीक शब्द नहीं है; संभवतः किसी मिस्री शब्द का ग्रीक रूप है। प्राचीन हेरोग्लिफी में इससे मिलता-जुलता एक शब्द है, जिसका अर्थ है मिस्री विद्या। मिस्रवासियों की यह धारणा थी कि हर्मेस त्रिस्मेजिस्त् नाम के अलौकिक गुण-संपन्न एक दैवज्ञानी महापुरुष ने इस विद्या का आविष्कार किया था। परवर्ती काल में अरबों ने कीमिया शब्द के पहले विशेष्य-वाचक अरबी शब्द 'अल्' जोड़कर इसका अल्‌केमी नामकरण किया।

अलेग्जेंड्रिया में कीमिया की चर्चा संभवतः ईस्वी प्रथम शती में या इसके कुछ पहले शुरू हुई होगी। इस समय के कीमिया-विदों में नकली डिमोक्रिटस्, एक यहूदी महिला वैज्ञानिक मारिया और जौसिमोस् के नाम

उल्लेखनीय हैं। इन तीनों कीमियाविदों द्वारा लिखित ग्रंथों के अतिरिक्त, उनके समसामयिक कुछ पपीरसों का भी पता चला है। इन ग्रंथों तथा पपीरसों से अलेग्जेंड्रियाई कीमिया के विषय में एक स्पष्ट धारणा बनाना अब संभव हो सका है।

डिमोक्रिटस् : कीमियाविद् डिमोक्रिटस् और अणु-सिद्धांत के प्रवर्तक ऐब्डेरा के डिमोक्रिटस् दोनों एक व्यक्ति नहीं है। परमाणुविद् डिमोक्रिटस् का काल है ईसापूर्व पाँचवी शती और कीमियाविद् डिमोक्रिटस् का ईस्वी तीसरी शती। परवर्ती काल के डिमोक्रिटस् नकली डिमोक्रिटस के नाम से भी विख्यात थे। ग्रीक भाषा में लिखा गया उनका ग्रंथ फिजिका एट मिस्टिका (Physica et Mistica) कीमिया संबंधी सर्वप्रथम ग्रंथ है। इस विषय में उन्होंने कुछ और पुस्तकें भी लिखीं। ईस्वी १३वीं शती में उनकी पुस्तकों के कुछ अंशों का लैटिन भाषा में अनुवाद और मुद्रण भी हुआ। प्रसिद्ध फ्रेंच रासायनिक और रसायन के इतिहासकार बेर्थेलो ने, लाइडन तथा स्टॉकहोम पपीरसों में वर्णित विषय से डिमोक्रिटस् की रचनाओं की विषय-वस्तु की समानता देखते हुए यह मत व्यक्त किया है कि इन दोनों पपीरसों के रचयिता और नकली डिमोक्रिटस् समसामयिक हैं—अर्थात् दोनों का काल ईस्वी तीसरी शती है।

मारिया : नकली डिमोक्रिटस् के काल में मारिया नाम की एक यहूदी महिला कीमियाविद के क्रियाकलाप का पता चलता है। उनकी रचना में निक्षेप (deposit) आदि रासायनिक प्रक्रियाओं का उल्लेख है। इन प्रक्रियाओं में जिन यंत्रों का व्यवहार होता है, मारिया ने उनका विवरण भी लिपिबद्ध किया है।

जोसिमोस् : जोसिमोस् अलेग्जेंड्रिया के सर्वश्रेष्ठ कीमियाविद् थे। ईस्वी तीसरी शती में पैनोपोलिस नामक स्थान में उनका जन्म हुआ। ग्रीक भाषा में २८ खंडोंवाले कीमिया संबंधी एक विराट विश्वकोश की उन्होंने रचना की। इस ग्रंथ में उन्होंने स्वयं अपनी खोजों के अतिरिक्त अपने से पहले के और समसामयिक अन्य कीमियाविदों की गवेषणाओं, परीक्षणों और मतवादों की विशद रूप से चर्चा की है। जोसिमोस् के इस विश्वकोश ने परवर्ती काल की कीमिया-चर्चा को विशेष रूप से प्रभावित किया। वास्तव में अलेग्जेंड्रिया तथा मध्य प्राच्य की कीमिया संबंधी जानकारी के लिए इससे अच्छा और कोई प्रामाणिक ग्रंथ नहीं है।

जोसिमोस् ने गलन, निस्तापन, द्रवण, स्राव (secretion) क्रिस्टलीकरण (crystallization), निक्षेप आदि अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं और इन प्रक्रियाओं के संपादन के लिए उपयोगी यंत्रों का वर्णन किया है। उनके ग्रंथ में वर्णित रासायनिक यंत्रों के कुछ नमूने चित्र में दिखाए गए हैं। इस प्रसंग में उन्होंने खुली भट्ठी-द्वारा रेत के ऊपर या जल-पात्र के अंदर रखकर चीजें गरम करने की विधियों की चर्चा भी की है।

DEMOCRITVS
ABDERITA
DE ARTE
MAGNA,

Siue de rebus naturalibus.

Nec non Synesii, & Pelagii, & Stephani Alexandrini, & Michaelis Pselli in eundem commentaria.

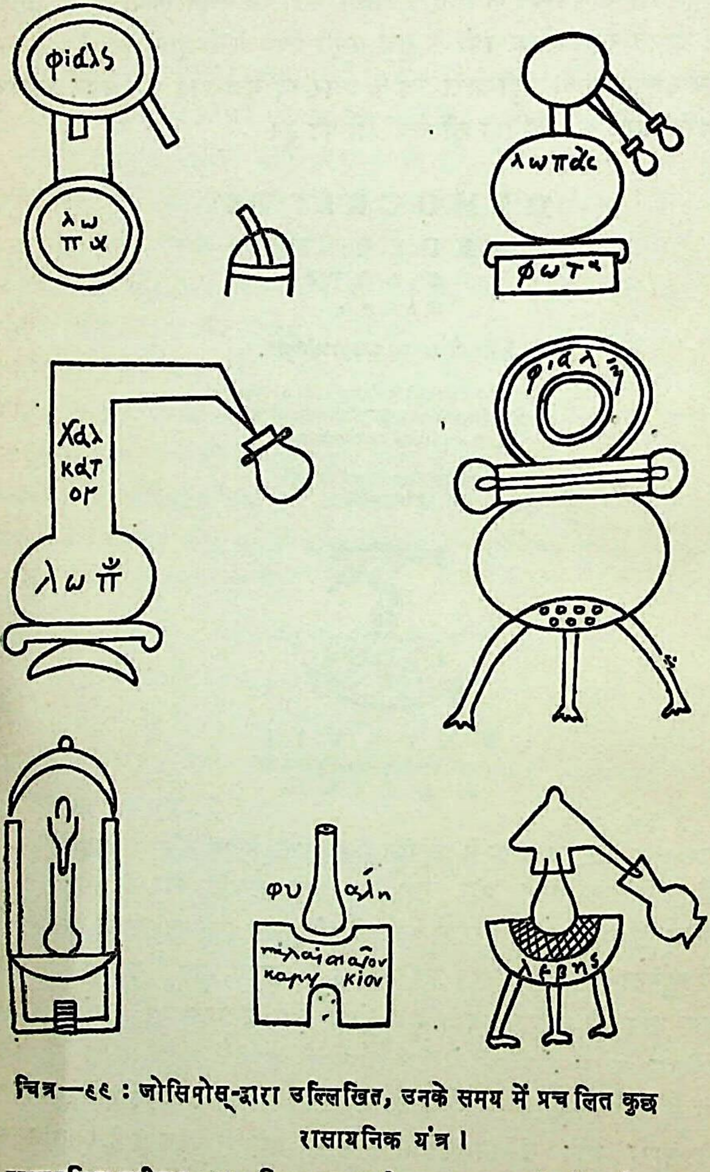
Dominico Pizimentio Vibonensi Interprete.

PATAVII
Apud Simonem Galignanum
M D LXXIII.

चित्र—९८ : लैटिन भाषा में अनूदित डिमोक्रिटस् के एक ग्रंथ का मुख पृष्ठ।

गैस निकालनेवाले और गैस न निकालनेवाले पदार्थों के संबंध में जोसिमोस् ने कुछ अस्पष्ट धारणा वना ली थी। गैस निकालनेवाली वस्तुओं को उन्होंने न्युमेटा नाम दिया था। इन वस्तुओं से अदृश्य भाप निकलती है। अनेक बार इस भाप की धातु पर प्रतिक्रिया होती है। उदाहरणार्थ उन्होंने बताया कि संखिया, गंधक और पारे से निकलनेवाली भाप के संपर्क में आने से अनेक धातुओं में थोड़ा-वहुत परिवर्तन होता है। अपने विश्वकोश में एक स्थान पर उन्होंने पारा और संखिया तैयार करने की प्रणाली बतलाई है। तांबा पर संखिया की रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप तांबा चांदी में बदल जाता है, उनका यह मत उल्लेखनीय है। इससे कॉपर आर्सेनाइड नाम का जो यौगिक

पदार्थ उत्पन्न होता है, चांदी की तरह उसके सफेद रंग को देखकर, संभवतः उन्होंने यह मत बनाया होगा ।



चित्र—६९ : जोसिमोस्-द्वारा उल्लिखित, उनके समय में प्रचलित कुछ रासायनिक यंत्र ।

रासायनिक पपीरस : हम जिस समय की बात बता रहे हैं, उस समय के ग्रीक और अलेग्जेंड्रिया के कीमिया संबन्धी ज्ञान का एक और विश्वसनीय सूत्र

से पता चलता है। वह सूत्र है, लाइडेन और स्टॉकहोम के रासायनिक पपीरस। ये दोनों पपीरस वास्तव में एक ही पपीरस के दो अलग-अलग खंड हैं। १८२८ ई० में थिब्स की एक कब्र के अंदर से ये प्राप्त हुए। आजकल पहला खंड लाइडेन और दूसरा खंड स्टॉकहोम के म्यूजियम में सुरक्षित है। इसलिए मिस्री पपीरस के ये दो अंश लाइडेन और स्टॉकहोम पपीरस के नाम से प्रसिद्ध हैं।

पपीरस की रचना ग्रीक भाषा में है। इसका रचना-काल अनुमानतः ईस्वी तीसरी शती है। इसकी कीमिया संबंधी विषय-वस्तु ही इससे कहीं अधिक प्राचीन है। संभवतः यह कृत्रिम धातु सबंधी वस्तुओं के निर्माण में दक्ष किसी स्वर्णकार की स्मारक-लिपि है। लाइडेन पपीरस में यह निर्देश है कि असली सोना, चांदी और दोनों की मिश्रित धातु के अनुकरण में, कृत्रिम उपाय से, अनुरूप धातु किस प्रकार तैयार की जा सकती है। स्टॉकहोम पपीरस में प्राकृतिक मणि और मोती तथा रंगने के काम आनेवाली मूल्यवान चीजों के अनुकरण में मणि, मोती और रंगनेवाली वैसी ही चीजें तैयार करने की विधि बताई गई है। लाइडेन पपीरस में वर्णित एक पद्धति इस प्रकार है:

'सोना और सीसे का मैदे की तरह महीन चूरा बनाओ; दो भाग सीसे के चूरा के साथ एक भाग स्वर्णचूर्ण मिलाकर उसमें फिर थोड़ा गोंद मिलाना होगा। अब इस प्रलेप को तांबे की एक अंगूठी पर लगाकर उसे बार-बार आग पर गरम करने से वह सोने का रंग पकड़ लेगी और हूबहू सोने की तरह जान पड़ेगी। इस जालसाजी का पता लगाना बहुत कठिन है। इसे पारस पत्थर पर घिसने से भी असली सोने का चिह्न अंकित होगा। इसका कारण यह है कि ताप से सीसा तो समाप्त हो जाता है, परंतु सोना ज्यों का त्यों रहता है।'

स्टॉकहोम पपीरस के एक अंश का अनुवाद इस प्रकार है:*

'दो ग्राम मैलाकाइट (हरा कॉपर कार्बोनेट), दो ग्राम ऐज्यूराइट (नीले रंग का कार्बोनेट-घटित एक और प्रकार का खनिज ताँबा), १३० सें० मी० बालक का मूत्र और १८० घन सें० मी० सांड का पित्त अच्छी तरह मिलाकर एक पात्र में रखो। २४ पत्थर के छोटे टुकड़े, जिनमें से प्रत्येक की तौल ०·२७

*Partington, 'A Short History of Chemistry,' p. 17
बेर्थेलो के प्राचीन तथा मध्यकालीन रसायन के अध्ययन की भूमिका ग्रंथ में (पेरिस, १८८९) उपर्युक्त पपीरस का अनुवाद और विशद समालोचना देखिए।

ग्राम हो, इस पात्र में डालो। अब पात्र के मुँह को ढक्कन से बंद करके उसके चारों ओर मिट्टी का लेप लगाओ। फिर इस पात्र को आंवले की लकड़ी की धीमी आंच में ६ घंटे से अधिक गरम करो। ढक्कन हरा रंग पकड़ ले तो और गरम करने की आवश्यकता नहीं है। पात्र को ठंडा करके पत्थर के टुकडों को बाहर निकालने पर देखोगे कि उनमें से हर एक मरकत मणि बन गया है।

कीमिया और फलित ज्योतिष

फलित ज्योतिष से कीमिया की एक प्रकार की संपर्क-स्थापना का प्रयास ध्यान देने योग्य है। ग्रह-नक्षत्र जिस प्रकार मनुष्य का भाग्य-नियंत्रण करते हैं, उसी प्रकार विभिन्न धातुओं पर स्वास्थ्य और दीर्घायु विशेष रूप से निर्भर है। इसलिए धातुओं से ग्रहों का घनिष्ठ संपर्क होना तनिक भी आश्चर्यजनक

धातु	ग्रह	संकेत
स्वर्ण	सूर्य	☉
चांदी	चन्द्र	☾
सीसा	शनि	♄
ब्रोंज या इलेक्ट्रम	बृहस्पति	♃
मिश्रधातु	मंगल	♂
टिन	शुक्र	♀
लोहा	बुध	☿

मौलिक पदार्थ	संकेत
मिट्टी	🜃
हवा	🜁
आग	🜂
जल	≈

चित्र—१०० : कीमिया-द्वारा व्यवहृत धातुओं और मौलिक पदार्थों के संकेत।

नहीं है। इस प्रकार की धारणा के कारण कीमियाविदों ने एक-एक धातु को एक-एक ग्रह के नाम से संबद्ध कर दिया। सूर्य की धातु है सोना, चंद्र की चांदी, शनि की सीसा, बृहस्पति की ब्रोंज या इलेक्ट्रम्, मंगल की मिश्र धातु, शुक्र की धातु टिन और बुध की धातु लोहा। विभिन्न ग्रहों के निर्देश के लिए जिन संकेतों का व्यवहार होता था, उनसे जुड़ी हुई धातुओं के निर्देश के लिए भी हम उन्हीं संकेतों को व्यवहृत होता देखते हैं। इसी प्रकार चार मौलिक पदार्थों को निर्देशित करने के लिए भी कीमियाविद् संकेतों का व्यवहार करते थे।

विभिन्न समयों में इन संकेतों में कुछ परिवर्तन हुआ है। जैसे पारे के निर्देशन के लिए किसी ने चंद्र और किसी ने बुध के संकेत का व्यवहार किया है। बृहस्पति के संकेत-द्वारा कभी-कभी इलेक्ट्रम् के बदले टिन का बोध कराया जाता था।

कीमिया का जन्मस्थान : चीन

अलेग्जेंड्रिया में कीमिया-चर्चा की प्राचीनता से बहुत से लोगों की यह धारणा है कि कीमिया का प्रथम उद्‌भव वहीं हुआ था। अलेग्जेंड्रिया को भूमध्यसागरीय प्रदेश में कीमिया-चर्चा का प्राचीनतम केंद्र होने की ख्याति अवश्य प्राप्त है, किंतु कीमिया का जन्म यहीं हुआ, इस विषय में अब संदेह होने लगा है। अलेग्जेंड्रिया में तथा समग्र भूमध्यसागरीय अंचल में कीमिया-चर्चा का प्रथम प्रमाण मिलता है ईस्वी प्रथम शती में। चीन में कीमिया-चर्चा का इतिहास इससे कम से कम ३-४ सौ वर्ष पुराना है। इस विषय में आधुनिक शोधों के परिणामस्वरूप जिन तथ्यों पर प्रकाश पड़ा है, उनसे लगता है कि चीन में ही कीमिया की पहली बुनियाद पड़ी थी।

चीनी कीमिया की प्राचीनता : प्राचीन चीन के ऐतिहासिक ग्रंथ 'शी-ची' (Historical Memoirs) में चीनी कीमिया का प्रथम उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ की रचना शुरू की सू-मा टेन ने और इसे समाप्त किया उनके योग्य पुत्र सू-मा चियेन (ई० पू० १४५-८७) ने। इस ग्रंथ में लि-शाओ-चुन नाम के एक जादूगर तथा कीमियागर की आश्चर्यजनक क्षमता का वर्णन है। हान वंशीय सम्राट ऊ-ती (ई० पू० १५६-८७) से एक साक्षात्कार में लि-शाओ-चुन ने उन्हें सूचित किया :*

"हिंगुल (Cinnabar) किस प्रकार अपनी प्रकृति बदलकर पीले रंग के सोने में रूपांतरित होता है, इस तथ्य से मैं अवगत हूँ। मैं उड़ते हुए ड्रेगन पर लगाम डाल सकता हूँ और पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक सभी स्थानों को देख सकता हूँ। वृद्ध बगुले की पीठ पर सवार होकर नवम स्वर्ग में विचरण करना भी मेरे लिए बहुत सहज है।"

एक और स्थान में यह उल्लेख है कि सम्राट से लि शाओ-चुन ने कहा है :—

'अग्नि में आहुति-दान की व्यवस्था करने पर आप हिंगुल को सोने में बदल सकेंगे। इस प्रकार से प्रस्तुत सोने से आप भोजन करने और पीने के उपयोगी पात्रादि तैयार करवा सकेंगे और इन पात्रों से भोजन तथा पेय पदार्थ ग्रहण करने के परिणामस्वरूप आपको दीर्घायु प्राप्त होगी। तब आप मध्य-समुद्र में अवस्थित पेंग-लाइ टापू के अमर ऋषियों से साक्षात्कार कर

* Tenny L. Davis, "The Chinese Beginnings of Alchemy" Endeavour, October, 1943. p. 154-160.

सकेंगे। उनके दर्शन के बाद देवताओं के उद्देश्य में आप आहुति की व्यवस्था करें तो आप भी अमरत्व प्राप्त करेंगे।'

इस विवरण में हम यह देखते हैं कि दीर्घायु और अमरत्व प्राप्ति के उद्देश्य से ही चीन में कीमिया की उत्पत्ति हुई। यह अवश्य ही अकेले चीन की विशेषता नहीं है। अमरत्व-लाभ के लिए विभिन्न भेषजों के व्यवहार तथा उनके गुण-धर्मों के वर्णन से अथर्ववेद भी समृद्ध है।

हुआइ-नान् के राजा ल्यु आन (मृत्यु ई० पू० १२२) कीमिया विद्या के एक विशिष्ट पृष्ठपोषक थे। आठ विख्यात पंडितों में से कई कीमिया विद्या के पारदर्शी थे। कीमिया-संबंधी कुछ ग्रंथों की रचना स्वयं ल्यु आन ने भी की थी। उईपो-यांग (अनुमानतः १४० ई०) और को हुंग (२८१ ई०—३६१ ई०) जैसे परवर्ती काल के प्रख्यात कीमियागरों ने ल्यु आन के ग्रंथों और कीमिया-चर्चा का उल्लेख किया है। उनके ग्रंथ में पारे की चीनी परिभाषा का प्रथम उल्लेख मिलता है। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि पारे के रूपांतरण के फलस्वरूप सोना, सीसा, तांबा, चांदी लोहा आदि धातुओं की उत्पत्ति होती है। इनमें पारे का स्वर्ण में रूपांतरण ही विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि स्वर्ण में ही दीर्घायु और अमरत्व-प्राप्ति के गुप्त तथ्य निहित हैं। कहा जाता है कि स्वयं ल्यु आन ने किसी अमृत का सेवन करके अमरत्व प्राप्त किया था। वास्तविकता यह है कि किसी राजनीतिक षड्यंत्र में लिप्त होने के कारण वे निर्वासित किए गए और निर्वासन में ही संभवतः उन्होंने आत्म-हत्या कर ली।

होमर डब्स ने ल्यु स्यांग (ईस्वी प्रथम शती का प्रथम भाग) नाम के एक कीमियागर की तत्परता का उल्लेख किया है।* हान राजवंश में उनका जन्म हुआ था। साहित्य, ज्योतिष, कीमिया आदि नाना शास्त्रों में वे सुपंडित थे। इस प्रकार की असाधारण विद्वत्ता और पांडित्य के कारण, बहुत थोड़ी अवस्था में ही वे सम्राट सुआन के प्रधान परामर्शदाता के पद पर प्रतिष्ठित हुए। यह पद प्राप्त करने के थोड़े दिनों बाद, कीमिया शास्त्र में सुआन के उत्साह और अनुराग को देखकर, उन्होंने कृत्रिम उपाय से स्वर्ण-निर्माण तथा उससे अमरत्व-प्राप्ति की एक चामत्कारिक औषधि प्रस्तुत करने की

* Homer H. Dubs, 'The Beginnings of Alchemy' Isis, Vol. 38, 1947; p. 62-85.

संभावना में राजकोष से आर्थिक सहायता की व्यवस्था करने के लिए सम्राट को राजी कर लिया। बहुत धन खर्च करने के बाद भी ल्यु स्यांग प्रस्तावित कृत्रिम सोना और अमृत प्रस्तुत करने में विफल रहे। इस विफलता का दंड उन्हें बहुत अच्छी तरह भोगना पड़ा। उन्हें मृत्यु दंड (दिया गया। अंत में सम्राट ने, उनकी विद्योत्साहिता, पांडित्य और विभिन्न गुणों का स्मरण कर, यह आदेश रद्द कर दिया।

अलेग्जेंड्रिया में कीमिया-चर्चा आरंभ होने के बहुत पहले से ही चीन में इस विद्या का अनुशीलन हो रहा था, उपर्युक्त तथ्यों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। कृत्रिम उपाय से स्वर्णोत्पादन और एक प्रकार का अमृत प्रस्तुत करने की संभावना को वास्तविकता में रूपान्वित करने के उद्देश्य से उस देश में अनेक परीक्षण किए गए। ये परीक्षण केवल जादूगरों और धोखाधड़ी करने-वाले लोगों की श्रेणी तक ही सीमित नहीं थे; अनेक ज्ञानी, गुणी पंडितों ने कीमिया-संबंधी परीक्षणों को चरम सीमा तक पहुंचाया।

चीन में ही कीमिया की प्रथम उत्पत्ति हुई, इस तथ्य के पक्ष में होमर डब्स ने कई और तर्क प्रस्तुत किए हैं।* उन्होंने दिखाया है कि जिस देश में सोना यथेष्ट परिमाण में मिलता है और असली सोने के संबंध में उन्नत ज्ञान है, उस देश में कृत्रिम स्वर्णोत्पादन की चेष्टा अंकुर में ही विनष्ट होने की प्रबल संभावना है। कुशल स्वर्णकारों के लिए असली और नकली सोने की पहचान करना तनिक भी कठिन नहीं है। समग्र भूमध्यसागरीय अंचल में सोने की जानकारी बहुत पुराने समय से है। ईसापूर्व १४ वीं शती से ही बेबी-लोनी सोने की खानों पर काम करते आए थे और स्वर्ण-निर्मित वस्तुओं में विशुद्ध सोने के भाग का ठीक-ठीक निर्णय कर सकते थे। समकालीन चीन में सोने का ज्ञान प्रायः नहीं के बराबर था। पुरातात्विक खनन कार्य से चीन में इस काल की जिन वस्तुओं की जानकारी मिली है, उनमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जिसमें सोने का अंश हो। प्राचीन चीनी भाषा में सोने का कोई पारि-भाषिक शब्द तक नहीं मिलता। सोने का वर्तमान चीनी पारिभाषिक शब्द है 'जिन्' (Jin)। पहले इस शब्द-द्वारा साधारणतया किसी भी धातु का बोध होता था। हान-युग के पहले तांबा या ब्रोंज के लिए 'जिन' शब्द का व्यवहार होता था। बाद में सोना-संबंधी जानकारी बढ़ने पर और इस धातु

---

* Homer H. Dubs, loc. Cit.

के लिए एक विशेष शब्द के प्रयोग की आवश्यकता होने पर, हुआंग-जिन (huang-jiu, पीत धातु) शब्द का व्यवहार होता देखा जाता है। हान-युग में सोने का यही नाम प्रचलित था। ईसापूर्व तीसरी या चौथी शती से चीनी साहित्य में सोने का नियमित उल्लेख देखा जाता है। इसलिए प्राकृतिक स्वर्ण की कमी और प्राकृतिक स्वर्ण संबधी ज्ञान के अभाव ने चीन को कृत्रिम स्वर्ण के उत्पादन की चेष्टा के लिए प्रेरित किया होगा।

रोमन और ग्रीको-रोमन विज्ञान, प्राचीन विज्ञान की समाप्ति और यूरोप में अंधकार-युग का आरंभ

सातवां अध्याय

रोमन विज्ञान की विशेषता

रोमन विज्ञान के इतिहास का अप्रिय सत्य यह है कि रोमन एक जाति के रूप में विज्ञान के आदर्श-द्वारा प्रेरित नहीं हुए। लंबे ७ सौ वर्षों के बाधाहीन राजनीतिक प्राधान्य का सुअवसर प्राप्त होने पर भी, रोमन साम्राज्य की विस्तीर्ण भूमि में कहीं भी विज्ञान का अंकुर नहीं जम सका। नए अंकुर जमने का बात तो दूर रही, आयोनी विज्ञान का जो बीज अलेग्जेंड्रिया, एशिया माइनर, दक्षिण इटली तथा दक्षिण फ्रांस के विभिन्न स्थानों में अंकुरित होकर एक विराट वृक्ष में परिणत हुआ था, उसे जीवित रखना भी रोमनों के लिए संभव नहीं हो सका। रोमनों में प्लेटो या अरस्तू की तरह के दार्शनिक और वैज्ञानिक, ऐरिस्टार्कस् और हिपार्कस् की भांति ज्योतिर्विद, युक्लिड, एपोलोनियस् और आर्किमीडिस की तरह ज्यामिति-विशारद और गणितज्ञ या हिपोक्रेटिस् की भांति चिकित्सा-वैज्ञानिक के समकक्ष या कम से कम अंशत: तुलनीय वैज्ञानिक की खोज की चेष्टा व्यर्थ होगी। रोमन साम्राज्य की प्रधानता के समय में जिन थोड़े से वैज्ञानिकों ने भूमध्यसागरीय प्रदेश में विज्ञान का दीप प्रज्ज्वलित रखा था, वे सभी ग्रीक थे। टॉलेमी, डायोफैंटस्, पैपस्, गैलेन ये सभी ग्रीक-वंशज थे। बुझने के पहले दिया जिस प्रकार अंतिम बार दीप्ति के साथ भभक उठता है, ग्रीक विज्ञान के इतिहास में ईस्वी दूसरी शती में टॉलेमी और गैलेन-जैसे वैज्ञानिकों का आविर्भाव बहुत कुछ उसी प्रकार का है।

रोमन विज्ञान की यह दरिद्रता केवल सैद्धांतिक विज्ञान के क्षेत्र में ही व्याप्त थी। व्यावहारिक विज्ञान में रोमन इतने दीन नहीं थे। विज्ञान के जिन विभागों की तनिक भी व्यावहारिक उपयोगिता है, उन विभागों ने रोमनों की दृष्टि आकर्षित की था। गणित और ज्योतिष के प्रति यदि वे उदासीन रहे, तो बल-विज्ञान और यंत्र-विद्या में वे पूरी तरह तत्पर थे और स्थापत्य तथा सार्वजनिक निर्माण में उनका सर्वोच्च स्थान था। वनस्पति विज्ञान और भेषजों के संबंध में उन्होंने उत्साह दिखाया। वास्तुकला और सार्वजनिक निर्माण में विट्रूवियस् और फ्रांटिनस् की प्रतिभा प्रथम श्रेणी की थी। वनस्पति तथा भेषज विज्ञान में डिओस्कोरिडिस् चाहे थिओफ्रेस्टस् के समकक्ष न रहे हों, परंतु प्राचीन काल के वनस्पति-वैज्ञानिकों और भेषज-विशारदों में थिओफ्रेस्टस्

के बाद ही उनका स्थान था। जीव-विज्ञान और चिकित्सा-विज्ञान का सैद्धांतिक पक्ष भले ही उन्हें न भाया हो, परंतु अस्पताल, सेवाश्रम, सेना की चिकित्सा-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन और जन-स्वास्थ्य के विषयों में प्राचीन सभ्य जातियों में रोमन अग्रणी थे। चार्ल्स सिंगर ने लिखा है :

"सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि रोमन-विज्ञान का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रकृति-अध्ययन में देखने को मिलता है। विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में रोमनों की सफलता या विफलता मोटे तौर पर इस बात से मापी जा सकती है कि वह क्षेत्र विज्ञान की उपर्युक्त दोनों श्रेणियों में से किसके निकट है।"*

परंतु जिस प्रतिभा को विज्ञान में विकसित होने का सुयोग नहीं मिला, उसी प्रतिभा का अनोखा विकास हुआ वाग्मिता, साहित्य-इतिहास-रचना, विधि-निर्माण, राष्ट्र-संचालन, स्थापत्य और कला में। सिसेरो, वर्जिल और टैसिटस् किसी भी राष्ट्र के लिए गौरवस्वरूप हैं। इस साहित्य, इतिहास, स्थापत्य और शिल्पकला की सृष्टि के लिए रोमन अवश्य ही ग्रीकों के विशेष रूप से ऋणी हैं। पिछड़ी हुई जाति को ज्ञान-विज्ञान में उन्नत जाति से शिक्षा लेनी ही पड़ती है। ग्रीक विज्ञान की उत्पत्ति भी मुख्यतः प्राचीन बेबीलोनी और मिस्री विज्ञान से ही हुई। रोमनों ने भी ग्रीकों से शिक्षा ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं की। १६८ ई० में पिड्ना-युद्ध के बाद जब अनेक शिक्षित और संभ्रांत ग्रीक अपना पोथी-पत्रा लेकर, स्थायी तौर पर बसने के लिए रोम आ पहुँचे, तो रोमनों ने आदर के साथ उनका स्वागत ही किया था। संगठन-क्षमता, संघ शक्ति और अधिक उन्नत सामरिक नेतृत्व के कारण रोमनों ने दो सौ वर्षों के भीतर पहले वृहत्तर ग्रीक जगत् (Magna grecia), फिर ग्रीस के मूल भू-खंड और अंत में आयोनिया पर राजनीतिक आधिपत्य का विस्तार अवश्य कर लिया था, परंतु उस समय भी संपूर्ण रोमन साम्राज्य में दर्शन, विज्ञान, वास्तुकला और शिल्प में ग्रीकों का ही एकाधिकार था। रोमनों का न तो अपना साहित्य था, न दर्शन, न विज्ञान—यहां तक कि ज्ञान-विज्ञान प्रकाशित करने के उपयुक्त भाषा भी नहीं थी। रोमनों को अपनी इस सांस्कृतिक दुर्बलता को समझने में देर नहीं लगी। ग्रीक राज्य पर विजय प्राप्त करने के साथ ही उन्होंने ग्रीक सभ्यता को जीतने का भी दृढ़ संकल्प कर लिया। ग्रीकों से उनकी राजनीतिक स्वतंत्रता छीनकर उन्हीं के साहित्य, दर्शन

* Singer, "From Magic to Science", London, 1928; p. 5.

और विज्ञान के सामने सिर झुकाना एक स्वाभिमानी जाति के लिए लज्जा-जनक था। इस लज्जा से छुटकारा पाने के लिए कम से कम साहित्य, कला, इतिहास और स्थापत्य में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने की चेष्टा में रोमनों ने कुछ उठा नहीं रखा। इस प्रयास की आरंभिक अवस्था में ग्रीकों का अनुकरण करने पर भी उन्होंने बहुत कुछ नया सृजन भी किया।

व्याकरण और भाषा की बात ही ले लीजिए। भाषा की उन्नति और समृद्धि हुए बिना, दर्शन या विज्ञान या अन्य किसी विषय में उन्नति करना संभव नहीं और व्याकरण का मान निर्धारित न होने तक भाषा की उन्नति और समृद्धि में पग-पग पर बाधाओं की आशंका है। इसलिए रोमनों ने पहले व्याकरण का निर्माण किया। लुसियस् स्टिलो (१५४ ई०-१७४ ई०) से लेकर भारो, डोनाटस् और प्रिसियन-जैसे विश्वविख्यात वैयाकरण, चिर काल के लिए पृथ्वी की एक अन्यतम श्रेष्ठ भाषा की नींव डाल गए हैं। डोनाटस् की गवेषणा को इतनी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि प्राप्त हुई कि मध्ययुगीन यूरोप में व्याकरण का नाम ही पड़ गया था डोनाटॉ। प्रिसियन-रचित १८ खंडों का "इंस्टिट्युशिओन्स् ग्रामेटिके" (Institutiones Grammaticae) लैटिन व्याकरण का श्रेष्ठतम ग्रंथ है। पाणिनि के व्याकरण को छोड़कर इसके जैसा कोई और व्याकरण, प्राचीन काल में, कहीं लिखा ही नहीं गया। मध्य युग में प्रायः प्रत्येक पुस्तकालय में "इंसटिट्यूशिओन्स् ग्रामेटिके" की एक प्रति मिल जाया करती थी। इस समय इस ग्रंथ की लगभग एक हजार प्रतियां विभिन्न ग्रंथागारों में सुरक्षित हैं।*

सिसरो, वर्जिल और टैसिटस् ने प्लेटो, हेसियड और हिरोडोटस्-जैसे ग्रीक लेखकों की पद्धति का हूबहू अनुकरण किया है, यह बात ठीक है और ऊपरी तौर पर, सिसरो और वर्जिल का साहित्य अथवा टैसिटस् का इतिहास, इन विषयों में पूर्ववर्ती ग्रीक मनीषियों की चेष्टा की पुनरावृत्ति जान पड़ेगा, फिर भी इन दोनों साहित्यों की अंतर्वस्तु या इतिहास-संबंधी दृष्टिकोण एक नहीं है। रोमन लेखकों की रचना में एक नए साहित्य और नई सभ्यता का संकेत स्पष्ट है। साहित्य के क्षेत्र में उनकी यह नई सृष्टि है।

ग्रीक लोग साहित्य, कला और स्थापत्य के साथ ही अपने विज्ञान और दर्शन भी रोम लाए थे। ईसापूर्व छठी और पाँचवीं शतियों से ही दक्षिण

* Farrington, 'Greek Science', Vol II; p. 107.

इटली, सिसली और दक्षिण फ्रांस के ग्रीक उपनिवेशों में दर्शन और विज्ञान की पर्याप्त चर्चा और आदर था। दीर्घ काल तक इस प्रकार ग्रीकों के निकट और उनके संपर्क में रहने पर भी और उनके दर्शन और विज्ञान को अपने अधिकार में लाने की पूरी सुविधा होते हुए भी रोमन विज्ञान की इस दीनता और दुर्दशा का कारण क्या है ? रोमन युग में भी, अलेग्जेंड्रिया में बैठकर ग्रीक वैज्ञानिकों ने अपने पूर्वजों के आदर्श का अनुसरण करते हुए, विज्ञान-चर्चा जारी रखी। ई० पू० ५० में टालेमियों के मिस्र पर रोम का अधिकार होने पर भी विज्ञान-चर्चा का अंत नहीं हुआ। ईस्वी पहली और तीसरी शतियों के बीच गणित में निकोमेकस्, गणिन, ज्योतिप और भूगोल में प्राचीन काल के अन्यतम श्रेष्ठ वैज्ञानिक टॉलेमी, ज्यामिति में पैंपस्, बीजगणित में डायोफैंटस् और बल-विज्ञान तथा यांत्रिक गवेषणा में हीरो ने मूल्यवान तथ्यों और सिद्धांतों का प्रवर्तन किया। फिर भी तत्वीय विज्ञान रोम पर अपना प्रभाव क्यों नहीं डाल सका ?

कुछ लोग कहते हैं कि निरंतर युद्ध-विग्रह में लिप्त रहने और साम्राज्य-गठन तथा संरक्षण के कार्य में लगे रहने के कारण विज्ञान में मनोनिवेश करने का उन्हें अवकाश नहीं प्राप्त हुआ।* परंतु युद्ध-विग्रह और साम्राज्य-गठन के बावजूद रोमन जाति ने साहित्य-सृजन किया, इतिहास लिखा और बृहद् विश्वकोश का निर्माण किया।

जिन लोगों का यह विचार है कि राजनीतिक अधिकार और प्राधान्य विज्ञान की प्रगति में सहायक है, उनके लिए रोमन साम्राज्य में विज्ञान की अधोगति समझ में न आनेवाली बात है। फिलिप और अलेग्जेंडर के अभ्युत्थान से जब छोटे-छोटे ग्रीक राष्ट्र पराधीन हुए, तब ज्ञान-विज्ञान और दर्शन में स्वतंत्र चिंतन की उनकी क्षमता और उनकी सृजन-शक्ति का धीरे-धीरे लोप हो गया। अलेग्जेंड्रियाई विज्ञान की प्रगति अनेकांश में टालेमियों की राज्य-स्थापना की बदौलत ही संभव हुई। रोम के विशाल साम्राज्य और ऐश्वर्य के दिनों में भी विज्ञान की यह दीनता देखकर प्लिनी को विशेष आश्चर्य हुआ था और अपने एक ग्रंथ में एक स्थान पर उन्होंने इस पर आक्षेप भी किया था। इस विषय में प्लिनी की टिप्पणी की समालोचना के प्रसंग में थॉर्नडाइक ने लिखा है :

---

* Singer, 'Fom Magic to Science'

"वे (प्लिनी) अपने ग्रंथ (Historia Naturalis, 11·46) के एक स्थान में अतीत के उस समय की ओर, जब कि राजनीतिक क्षेत्र में ग्रीकों में परस्पर फूट और संघर्ष था और युद्ध तथा जल-दस्युओं के कारण विभिन्न भू-भागों के बीच संचार-व्यवस्था अवरुद्ध थी, अनुतप्त दृष्टि डालते हुए कहते हैं कि उस समय भी विज्ञान के प्रति व्यापक दिलचस्पी थी—और अब, जब कि सारे रोमन साम्राज्य में शांति विराजमान है, न केवल कोई नई वैज्ञानिक खोज नहीं होती, बल्कि लोग प्राचीन मनीषियों की कृतियों का गहन अध्ययन तक नहीं करते और ज्ञान-लाभ के स्थान पर अर्थ-लाभ के लिए कृतसंकल्प हैं।"*

विज्ञान के प्रति विमुख होने का प्रधान कारण रोमनों के राष्ट्रीय चरित्र में अंतर्निहित है। पूर्णतः व्यावहारिक दृष्टिकोण इस चरित्र की विशेषता है। भावात्मकता और कल्पना इस चरित्र के अंग नहीं हैं। इसलिए केवल विज्ञान ही नहीं, विज्ञान जिस दर्शन का एक छोटा-सा विभाग-मात्र है, वह दर्शन भी रोमनों के चित्त को गहराई से आंदोलित नहीं कर सका। रोमनों के लिए दर्शन था वागाडंवर, निःसार तर्क, अनावश्यक शब्द-जाल। तत्वीय विज्ञान में भावात्मकता का स्थान है, युक्ति-तर्क यहाँ अपरिहार्य हैं। गणित और ज्यामिति इस प्रकार के विश्लेषणात्मक मनोभाव से उत्पन्न हैं। प्रकृति और ब्रह्मांड के बहुविध दुर्ज्ञेय व्यवहारों का एक सुसंवद्ध चित्र मानस-पट पर अंकित करना और सिद्धांत तथा परिकल्पना की रचना द्वारा इसे समझने की चेष्टा करना, भावात्मक और विश्लेषणात्मक मनोवृत्ति के बिना संभव नहीं। इस प्रकार की मनोवृत्ति का अभाव ही तत्वीय विज्ञान का रस ग्रहण करने में रोमनों की अक्षमता का मुख्य कारण था।

ये दो तरह के दृष्टिकोण और मनोवृत्तियाँ चित्रांकन और स्थापत्य को कितने गहन रूप में प्रभावित करती हैं, ग्रीक और रोमन शिल्प-कला इसके दृष्टांत हैं। ग्रीक शिल्पी ने मनुष्य-मूर्ति गढ़ते हुए देवता की मूर्ति का निर्माण किया है, उसके पशु-पक्षी भी मानो इस पृथ्वी के जीव नहीं हैं। ये चित्र या मूर्तियाँ सर्वथा सुंदर, त्रुटिहीन एक-एक भाव की प्रतिमूर्ति हैं। दूसरी ओर यथार्थवादी रोमन शिल्पी-द्वारा अंकित मनुष्य, पशु-पक्षी या पेड़-पौधे, भला-बुरा, दोष-गुण सब मिले हुए नितांत स्वाभाविक और इसी पृथ्वी के हैं। सहज दृष्टि से, प्राकृतिक वातावरण में वस्तु, प्राणी और वनस्पति को

* Lynn Thorndike, 'A History of Magic and Experimental Science', Vol 1, 1929; p. 47.

जिसने जिस प्रकार देखा, हू-ब-हू उसी प्रकार से उसे रूपान्वित करना रोमन शिल्पियों का आदर्श था। वियना में पत्थर पर खोदे गए एक भेड़ तथा दूध पीते हुए उसके बच्चे के चित्र में और पांपिआई में प्राप्त चांदी के एक पात्र के ऊपर वेलबूटों के निर्दोष तथा कलात्मक कार्य में रोमनों का स्वाभाविक, वास्तविकतावादी दृष्टिकोण प्रस्फुटित है।

स्टोइक और एपिक्युरीय दर्शन—लुक्रेटियस्

प्लेटो और अरस्तू के आदर्शवाद और अध्यात्मवाद का रोमनों पर साधारण रूप से कोई प्रभाव नहीं पड़ा, परंतु ग्रीक दार्शनिक धाराओं ने रोमनों के व्यावहारिक मानस को थोड़ा-बहुत आकृष्ट किया था। हम एपिक्युरीय (Epicurean) और स्टोइक (Stoic) दर्शन की बात कह रहे हैं। अरस्तू की मृत्यु के बाद ग्रीक-विचार-जगत् में जो अनेक प्रकार के द्वंद्व, संशय और अनिश्चितताएँ दिखाई दीं, उसी संशय और अनिश्चितता के बीच इन दोनों की उत्पत्ति हुई। स्टोइक दर्शन के प्रवर्तक जेनो के पूर्वज फिनिशियन थे। साइप्रस द्वीप में उनका जन्म हुआ और एथेंस में अपने दार्शनिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए, ई० पू० ३११ में उन्होंने एक विद्यापीठ की स्थापना की। एपिक्युरीय दर्शन के प्रवर्तक एपिक्युरस् (Epicurus), आयोनी ग्रीकों के विख्यात उपनिवेश, सामोस् द्वीप के निवासी थे। ये दोनों दर्शन नितांत वास्तविकतावादी हैं। मनुष्य को दुःख, दुर्दशा, अशांति और प्रतिकूल अवस्थाओं में जीवन बिताना पड़ता है। उसे किस प्रकार सुख-शांति मिले, इसका मार्ग-निर्देश करना ही स्टोइक और एपिक्युरीय दर्शनों का मूल उद्देश्य है। दोनों दर्शनों में अलौकिकता का, उसके किसी भी रूप में, स्थान नहीं है। इस दर्शन में ईश्वर को स्थान मिलने पर भी, मनुष्य और प्रकृति पर उनका प्रभाव सीमित है। वे मनुष्य के भाग्य या उसके समाज का नियंत्रण नहीं करते, मनुष्य की संपत्ति की रखवाली भी नहीं करते और कोई विपथगामी और नीति-भ्रष्ट हो तो उस पर प्रहार भी नहीं करते। विश्व-ब्रह्मांड स्वयं अपने नियमों से ही बना है और चलता भी है प्राकृतिक नियमों पर। एपिक्युरीय दर्शन पर परमाणुवादियों का विशेष प्रभाव पड़ा है। एपिक्युरस ने डिमोक्रिटस् और ल्युसिप्पस् की रचनाओं का अध्ययन किया था और परमाणुवादियों के वास्तविकतावादी दृष्टिकोण से आकृष्ट होकर, उनके द्वारा प्रस्तावित वस्तु और ब्रह्मांड की व्याख्या को प्रायः ज्यों-का-त्यों ग्रहण भी कर लिया था।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्टोइक और एपिक्युरियों का वास्तविकतावादी दर्शन समयोपयोगी सिद्ध हुआ था और इसी कारण कर्मवीर रोमनों पर इन दोनों का थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ा। पोसिडोनियस् और मार्कस् ऑरेलियस्-जैसे वैज्ञानिकों और लेखकों की बदौलत रोमन विद्वत्-समाज में स्टोइक दर्शन का प्रचार हुआ। इस प्रकार के प्रचार-कार्य में ऐपिक्युरसवादी, स्टोइकों की तरह सफल नहीं हो सके थे, परंतु उन्हीं में से सर्वश्रेष्ठ रोमन कवि तथा दार्शनिक ल्युक्रेटियस् का उद्‌भव हुआ। सुललित कविताओं के माध्यम से, उन्होंने एपिक्युरीय दर्शन की व्याख्या करने के साथ ही, डिमोक्रेटिस् के प्रायः विस्मृत अणु-सिद्धांत का पुनरुद्धार कर, उसका प्रचार भी किया। एपिक्युरीय दर्शन और आणविक सिद्धांत की व्याख्या, उनके ग्रंथ डि-रिरम् नाटुरा (De rerum natura) में लिपिबद्ध है।

'डि रिरम नाटुरा' की प्रत्येक पंक्ति में महाकवि और दार्शनिक का अपूर्व पांडित्य-मंडित, उदार चरित्र परिस्फुट है। इस महाकाव्य के पाठ से यह लगता है कि इसके रचयिता का ज्ञान केवल एपिक्युरस् की रचनाओं तक सीमित नहीं था। आयोनी दार्शनिकों से लेकर अपने से पहले तक के प्रायः प्रत्येक विशिष्ट दार्शनिक रचनाओं से उनका घनिष्ठ परिचय था। हेराक्लिटस्, ऐनाक्सागोरस्, ल्युसिप्पस् तथा डिमोक्रिटस्, हिपोक्रेटिस् और एंपिडॉक्लेस्-जैसे दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की कोई ऐसी रचना नहीं है, जिसका उन्होंने अध्ययन न किया हो। प्लेटो और अरस्तू के दर्शन से भी वे भली-भाँति परिचित थे और अनेक स्थानों में उनके सिद्धांतों की उन्होंने तीखी आलोचना भी की है। ल्युक्रेटिस् ने स्वयं अपने किसी मौलिक दार्शनिक मत का प्रचार नहीं किया और उनकी विषय-वस्तु भी मुख्यतः डिमोक्रिटस् और एपिक्युरस् की रचनाओं से संगृहीत है। फिर भी ग्रीकों के विशाल और कठिन दर्शन-शास्त्र का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर, उस ज्ञान को जनसाधारण के समझने-योग्य अति सुंदर और सुललित भाषा में प्रकट करने के कार्य में उन्होंने जिस अद्‌भुत योग्यता का परिचय दिया है, वह रोमन अध्यवसाय और प्रतिभा का एक और उज्ज्वल दृष्टांत है।

'डि रिरम् नाटुरा' के ६ खंड अभी तक सुरक्षित हैं। संभवतः कवि अपना यह महाकाव्य समाप्त नहीं कर पाए थे। इस महाकाव्य की रचना उनके समग्र जीवन का एकमात्र व्रत थी और इसे वे पूरा नहीं कर सके। यह विफलता, उनके जीवन की अंतिम अवस्था में उन्हें बहुत चुभती थी। इस विषय में फैरिंगटन ने टिप्पणी की है, 'ऐसा लगता है कि बकस् की भाँति

लुक्रेटियस् ने भी 'मेरी पुस्तक, मेरी पुस्तक', इन शब्दों के साथ ही प्राण-त्याग किया होगा'।

ग्रंथ के पहले दो खंडों में परमाणु-तत्त्व की चर्चा है। परमाणुओं की सहायता से ब्रह्मांड के स्वरूप और प्रकृति की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है, लुक्रेटियस् ने यह समझाने की चेष्टा की है। तीसरे खंड की विषय-वस्तु है आत्मा का स्वरूप और प्रकृति तथा आत्मा के साथ शरीर का संपर्क। आत्मा नितांत पार्थिव है और शरीर के साथ ही इसकी मृत्यु भी अनिवार्य है, इस मत की उन्होंने व्याख्या की है। इंद्रियों-द्वारा होनेवाले विभिन्न अनुभवों और जीव-विज्ञान संबंधी कुछ बातों की चर्चा चौथे खंड में की गई है। पाँचवें खंड के आलोच्य विषय हैं—पृथ्वी, उसका इतिहास तथा उसकी गठन की विशेषताएँ, ज्योतिष्क, नैसर्गिक वस्तुओं की प्रकृति और गति, पृथ्वी में जीव का आविर्भाव, सभ्यता का विकास, इत्यादि। विज्ञान के इतिहास में 'डि रिरम् नाटुरा' का यह पाँचवाँ खंड विशेष महत्त्वपूर्ण है। छठे खंड में वायु-मंडल और भू-विज्ञान संबंधी अनेक प्रकार के तथ्यों और पर्यवेक्षणों के परिणाम लिपिबद्ध किए गए हैं। पेलोपोनेशियाई युद्ध के समय एथेंस में प्लेग की महामारी व्यापक रूप से फैल गई थी; इस खंड में उसका भी विवरण है। इतने विविध विषयों की अवतारणा और चर्चा के कारण यह ग्रंथ वास्तव में एक विराट विश्वकोश जैसा बन गया है, तथापि यह विश्वकोश नहीं है। विभिन्न विषयों और तथ्यों की चर्चा में उन्होंने बराबर एक ही सिद्धांत, विचारधारा और दृष्टिकोण बनाए रखा है। एपिक्युरीय दर्शन के प्रचार और प्रतिष्ठा के जिस महान उद्देश्य को लेकर वे इस महाकाव्य की रचना में प्रवृत्त हुए थे, विभिन्न तथा ऊपरी तौर से असंलग्न, विषयों की अवतारणा के बावजूद, उस केंद्रीय उद्देश्य से वे तनिक भी विचलित नहीं हुए।

आणविक सिद्धांत : विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए लुक्रेटियस् विशेषतः आणविक सिद्धांत की व्याख्या के लिए प्रसिद्ध हैं। अणु-सिद्धांत के आधार पर, उन्होंने न केवल वस्तु की गठन बल्कि विश्व-ब्रह्मांड-संबंधी, पार्थिव-अपार्थिव नाना रहस्यों के उद्घाटन का प्रयास किया है। अणु-परमाणुओं के अविराम संघर्ष तथा क्रिया और प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ब्रह्मांड अपरिवर्त्तनीय और असीम है। वस्तु और शून्यता को मिलाकर ब्रह्मांड का निर्माण हुआ है। वस्तु के अस्तित्व का हम अनुभव कर सकते हैं; वस्तु की गति, उसका आपेक्षिक भारीपन या हल्कापन आदि उसके बाहरी गुणों की जानकारी के लिए शून्यता

का अस्तित्व अपरिहार्य है। वस्तुओं की गति अविराम है और उनके निरंतर पारस्परिक संघर्ष के परिणामस्वरूप तथाकथित ठोस पदार्थ की उत्पत्ति होती है। आत्मा के संबंध में लुक्रेटियस् ने कहा कि वह धारणातीत, अति-सूक्ष्म परमाणुओं-द्वारा गठित है। आत्मा सारे शरीर में व्याप्त रहती है, शरीर को छोड़कर उसका अस्तित्व असंभव है। मृत्यु के साथ ही आत्मा पुनः प्राथमिक परमाणुओं में विभक्त होकर विलीन हो जाती है। देवताओं के संबंध में एपिक्युरियों की धारणा का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि देवता भी अति सूक्ष्म परमाणुओं-द्वारा गठित हैं। वे स्वतंत्र रूप से जीवन व्यतीत करते हैं, मनुष्यों की भाँति ही नश्वर हैं और मनुष्यों के किसी मामले में हस्तक्षेप नहीं करते, इत्यादि।*

ऊपरी तौर पर प्राचीन ग्रीक अणु-तत्त्व से आधुनिक आणविक सिद्धांत का बहुत मेल दिखाई पड़ने पर भी यह स्मरण रखना होगा कि आधुनिक अणु-सिद्धांत जिस प्रकार रासायनिक परीक्षण और पर्यवेक्षण की दृढ़ बुनियाद पर प्रतिष्ठित है, डिमोक्रिटस्-लुक्रेटियस् प्रवर्तित आणविक तत्त्व की उस प्रकार की बुनियाद नहीं है। परमाणुओं के संयोग से किस प्रकार अणु का उद्भव होता है और परमाणुओं की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप किस प्रकार बहुविध रासायनिक प्रक्रियाएँ घटित होती हैं, इस संबंध में जॉन डाल्टन के पहले किसी की कोई धारणा नहीं थी। एक और बात यह है कि आधुनिक आणविक सिद्धांत के उद्भावन में ग्रीक अणु-तत्त्व तनिक भी सहायक नहीं रहा है। इस अणु-तत्त्व के प्रधान धारक और वाहक, एपिक्युरीय दर्शन ने विज्ञान की उन्नति और प्रगति पर कोई विशेष प्रभाव डाला हो, इतिहास के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर, ऐसा नहीं जान पड़ता। मध्ययुग में, यहाँ तक कि डाल्टन (१७६६-१८४४) के पहले तक १८वीं शती में, अणु-तत्त्व पर परदा पड़ा हुआ था। बीच-बीच में अवश्य ही दो-एक वैज्ञानिकों या दार्शनिकों को अणु-तत्त्व के पक्ष में लिखते और तत्संबंधी मत का पोषण करते देखा जाता है। मिसाल के तौर पर मुस्लिम दार्शनिक आवेरस् (११२६-९८) और यहूदी दार्शनिक माइमोनिड्स (११३५-१२०४) आणविक तत्त्व में विश्वास रखते थे। १४१८ ई० में पोगिओं ने मध्य युग के विस्मरण के अंधकार से लुक्रेटियस् के आणविक तत्त्व का उद्धार और उसका प्रचार किया और अनेक व्यक्तियों का यह मत है कि उनकी चेष्टा के फलस्वरूप ही पुनर्जागरण-काल में लुक्रेटियस् का विशेष

* Encyclopaedia Britannica में Lucretius शीर्षक निबंध देखिए।

प्रभाव पड़ा ।+ परंतु, मध्य युग के इन दार्शनिकों की छिट-फुट समालोचनाओं ने आधुनिक आणविक सिद्धांत की नींव डालने में उल्लेखनीय सहायता प्रदान की हो, ऐसा बिलकुल नहीं जान पड़ता । वास्तव में डाल्टन ने अपने रासायनिक परीक्षणों तथा गवेषणाओं-द्वारा, स्वतंत्र रूप से ही, आणविक मतवाद की पुनः प्रतिष्ठा की । उनकी इस गवेषणा और परिकल्पना-रचना पर डिमोक्रिटस् या लुक्रेटियस् का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता ।

रोमन युग में गणित और ज्योतिष-चर्चा

रोमनों की गणित संबंधी गवेषणा का विवरण देते हुए फ्लोरियन कैजरी ने यह टिप्पणी की है :

'ग्रीक और रोमन मानसों का प्रभेद इतना स्पष्ट और कहीं नहीं दिखाई देता, जितना गणित के प्रति उनके दृष्टिकोणों में । ग्रीक प्रभाव का काल गणित के फलने-फूलने का काल था, जब कि रोमन-युग गणित के बंध्यापन का । दर्शन, काव्य और कला में रोमन अनुकरणकारी थे । लेकिन गणित में अनुकरण-वृत्ति भी वे नहीं अपना सके । ग्रीक प्रतिभा के गणितीय फल उनके सामने अनास्वादित ही पड़े रहे ।'*

गणितीय गवेषणा के प्रति रोमनों की यह वितृष्णा और विमुखता ग्रीक और रोमन मनोवृत्तियों तथा दृष्टिकोणों के मौलिक भेद को स्पष्ट कर देती है । युक्लिड-ऐपोलोनियस्-आर्किमीडिस् की ज्यामिति, अथवा पाइथागोरियों के अंकगणित अथवा युडॉक्सस्-ऐरिस्टार्कस्-हिपार्कस् के ज्योतिष का रस ग्रहण करने में रोमन सदा असमर्थ रहे । अकेले बोएथियस् के सिवा और किसी रोमन गणितज्ञ का नाम उल्लेखयोग्य नहीं है । ये बोएथियस् भी वृक्ष-रहित देश में एरंड की भाँति हैं । युक्लिड, ऐपोलोनियस्, आर्किमीडिस्-जैसों से उनकी तुलना नहीं की जा सकती । इसलिए इतिहासकारों ने रोमन युग को गणितीय गवेषणा के बंध्यापन का युग कहा है ।

परंतु रोमन-प्राधान्य के काल में साम्राज्य में कहीं भी गणित की चर्चा हुई ही न हो, ऐसी बात नहीं है । ग्रीक गणित का मध्याह्न ऐपोलोनियस् और आर्किमीडिस् के साथ ही ढल जाने पर भी सूर्य तब तक अस्त नहीं हुआ था । ज्योतिष में पोसिडोनियस्, जेमिनस् तथा क्लॉडियस् टॉलेमी, अंकगणित में निकोमेकस्, थिओन ऑफ स्मर्ना तथा आयांब्लिकस्, बीजगणित में डायोफैं-

+ Singer, 'From Magic to Science': p. 7.

* F. Cajori, 'A History of Mathematics, Macmillan, 1926; p. 63.

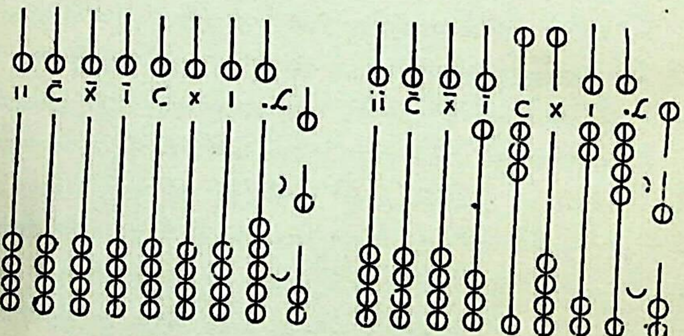
टस् और ज्यामिति में पैपस्, थिओन ऑफ अलेग्जेंड्रिया और हाइपेसिया-जैसे ज्योतिर्विदों और गणितज्ञों ने रोमन साम्राज्य के एक छोर पर अलेग्जेंड्रिया में रहते हुए प्रायः ५ सौ वर्षों तक ज्योतिष और गणित की चर्चा जारी रखी। ज्योतिष और गणित की यह चर्चा रोमनों के राजनीतिक प्राधान्य के काल में होने पर भी पूर्णतः ग्रीक चर्चा थी। पूर्ववर्ती ग्रीक गणित और ज्योतिष के इतिहास से इसका अविच्छिन्न संबंध था। राष्ट्रीयता की दृष्टि से इस गवेषणा में रोमनों का कोई योगदान नहीं था। रोमन युग में ग्रीकों के ज्योतिष और गणित के संबंध में कुछ कहने से पहले, रोमनों के निजी गणित और गणना-पद्धति के विषय में जो थोड़ी-बहुत जानकारी मिलती है, हम उसका उल्लेख करेंगे।

रोमनों का अपना गणित

गणना और संख्या-लेखन-पद्धति : रोमनों का अपना गणित ग्रीक गणित से नहीं उत्पन्न हुआ। संभवतः ग्रीकों से अधिक प्राचीन किसी एक या एकाधिक देशों से रोमनों को गणित-संबंधी प्राथमिक ज्ञान प्राप्त हुआ था। ठीक किस देश से और किस प्रकार गणित के साथ रोमनों का प्रथम परिचय हुआ, यह प्रायः पूर्णत अज्ञात है। रोमनों को, बहुत प्राचीन काल से ही, संख्या-लेखन और व्यावहारिक ज्यामिति के संबंध में जो जानकारी थी, वह ज्ञान उन्होंने संभवतः अपने पूर्वजों, टिवे की घाटी के निवासी एट्रुस्कनों से प्राप्त किया होगा। वर्ष-गणना के उद्देश्य से ये एट्रुस्कन मिनर्वा के मंदिर की दीवार पर प्रतिवर्ष एक कील गाड़ दिया करते थे; रोमन बहुत दिनों तक इसी प्रथा का अनुसरण करते रहे। रोमन संख्या-लेखन-पद्धति का आरंभ एट्रुस्कनों के काल में ही हुआ। इस पद्धति में घटाने की क्रिया का प्रयोग होता है, यह सभी जानते हैं; जैसे, किसी बृहत्तर संख्या-संकेत के पहले एक और संख्या-संकेत बैठाकर, एक लघुतर संख्या का निर्देश किया जाता है (X = 10; IX = 9)। इस प्रकार की संख्या-लेखन-पद्धति शायद ही किसी और देश में दीख पड़ती है। किसी भी संख्या के ऊपर एक छोटी-सी सरल रेखा खींचकर, उससे हजार-गुनी बड़ी संख्या निर्देशित करने की पद्धति भी रोमनों की एक और विशेषता है।

रोमन आबाकस् : साधारण गणना-कार्य में उंगलियों के निशान, आबाकस् और पहाड़ा, इन तीन पद्धतियों का व्यवहार रोमनों में चालू था। एक समय आबाकस् की गिनती गणना-कार्य में अपरिहार्य सहायक के रूप में की जाती

थी और बच्चों के लिए यह सर्वत्र प्रचलित था। आवाकस् की अनेक किस्मों के व्यवहार किए जाने का पता चलता है। आवाकस् में इकाई, दहाई, सैकड़ा आदि अंक निर्देशित करने के लिए कुछ समांतर सरल रेखाओं की पंक्तियों में कंकड़ियों या उसी तरह की अन्य वस्तुओं का व्यवहार होता है। गणना-कार्य में व्यवहृत इस प्रकार की कंकड़ियों या पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों को 'कैलकुलि' (Calculi) कहा जाता था। इस कैलकुलि शब्द से ही 'कॅल्कुलेशॅन' (Calculation), 'कैल्कुलस' (Calculus-अवकलन) आदि यूरोपीय शब्दों की उत्पत्ति हुई है। कभी-कभी जमीन पर धूल या रेत फैलाकर इकाई, दहाई आदि के निर्देशन के लिए चिह्न खींच दिए जाते थे। स्थायी व्यवस्था के लिए धातु की किसी पत्ती पर समांतर पट्टियां बना दी जाती थीं और उन पट्टियों में इस प्रकार के कुछ बटन डाल दिए जाते थे, जिन्हें ऊपर-नीचे सरकाया जा सकता हो। १०१ संख्यक चित्र पर दृष्टि डालने से आवाकस् प्रयोग की मूल पद्धति सहज ही समझ में आ जायगी।



(१) (२)

चित्र—१०१ : रोमन आवाकस् की सहायता से गणना।

१०१ (१) संख्यक चित्र में, प्रयोग के पहले आवाकस् की स्थिति दिखाई गई है। बाएं से दाहिने, और ऊपर तथा नीचे, ८ समांतर रेखाएं खींची हुई हैं; दाहिने की अंतिम अर्थात् नवीं पंक्ति में ३ छोटी-छोटी रेखाएं हैं। नीचे की पंक्तियों में पहली से सातवीं तक ४-४ और आठवीं पंक्ति में ५ बटन हैं। नवीं पंक्ति में सबसे ऊपर बीच में एक-एक बटन है और इससे नीचे दो बटन हैं। आठवीं और नवीं पंक्तियों का प्रयोग भिन्नों के लिए किया जाता है। नवीं पंक्ति में सब से ऊपर के बटन से १।२४, उसके बादवाले से १।४८ और सबसे नीचे के बटन-द्वारा १।७२ का बोध कराया जाता है। आठवीं

पंक्ति में नीचे के ५ बटनों में से प्रत्येक १।१२ और इसी पंक्ति की ऊपरवाली रेखा में जो एक बटन है, वह ६।१२ यानी १।२ का निर्देश करता है। सातवीं से पहली तक पंक्तियाँ, क्रमानुसार, इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार, दस हजार, लाख और दस लाख निर्देशित करती हैं। इन सात पंक्तियों में से प्रत्येक के ठीक ऊपर एक-एक छोटी रेखा है। इन रेखाओं पर के बटन, ठीक नीचे की पंक्ति के बटन की पाँच गुनी संख्या के बोधक हैं।

अब मान लीजिए कि आबाकस् की सहायता से १८५२ १।३ १।२४ संख्या का निर्देश करना है। १०१ (२) संख्यक चित्र में इसे दिखाया गया है। इसमें विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि बटनों को किस प्रकार हटाकर पंक्ति के सिरे पर रखा गया है।

नीचे की	चौथी पंक्ति	१०००
ऊपर की	पांचवीं पंक्ति	५००
नीचे की	पांचवीं पंक्ति	३००
ऊपर की	छठीं पंक्ति	५०
नीचे की	सातवीं पंक्ति	२
नीचे की	आठवीं पंक्ति	१/३
सर्वोच्च	नवीं पंक्ति	१/२४
	संख्या पंक्ति	१,८५२ १।३ १।२४

आबाकस् की सहायता से जोड़, बाकी, गुणा और भाग, इन चार नियमों को सहज ही काम में लाया जा सकता है। गुणा और भाग, विभिन्न क्रमों से योग और व्यवकलन (substraction) द्वारा संपन्न किए जाते थे।

आबाकस्-द्वारा गणना की पद्धति इतनी जटिल है कि अभिज्ञ और निपुण गणितज्ञों के सिवा साधारण लोगों के लिए आबाकस् का व्यवहार बहुत कठिन था। सिसेरो इन गणितज्ञों के लिए कहते थे 'cruditum attigisse pulverem' अर्थात रेत-गणना के कार्य में निपुण। इसीलिए साधारण लोग व्यावहारिक गणना और हिसाब की सुविधा के लिए गुणा और भाग के तरह-तरह के पहाड़े कंठस्थ रखते थे।

रोमन कानून में, संपत्ति के उत्तराधिकार-संबंधी अनेक प्रकार की गणितीय समस्याओं का उल्लेख है। इन समस्याओं के संबंध में कानून पेशेवालों को प्रायः न्यायालयों में कठिनाई का सामना करना पड़ता था। एक बार एक मृत व्यक्ति की वसीयत (Will) के अनुसार संपत्ति का बटवारा करते समय

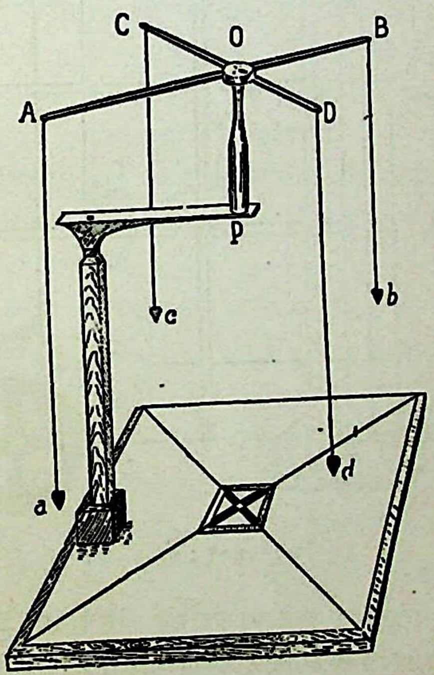
एक जटिल गणितीय समस्या आ पड़ी। मृत्यु-शय्या पर वसीयत लिखे जाने के समय उस व्यक्ति की पत्नी को बच्चा होनेवाला था। इसलिए वसीयत में लिखा गया कि लड़का पैदा होने पर लड़के को संपत्ति का २।३ भाग और पत्नी को १।३ भाग मिलेगा, परंतु लड़की पैदा हो तो उसे संपत्ति का १।३ भाग और पत्नी को २।३ भाग मिलेगा। उस महिला को जुड़वां बच्चा पैदा हुआ—एक लड़का और दूसरी लड़की। अब बटवारा किस तरह हो? विख्यात रोमन विधि-विशेषज्ञ सैल्वियांस् जुलियानस् ने राय दी कि लड़के को मिलना चाहिए संपत्ति का ४।७ भाग, पत्नी को २।७ और लड़की को १।७ भाग।

ज्यामिति : जमीन की नाप-जोख के लिए, रोमन लोग ज्यामिति का व्यवहार करना जानते थे, परंतु यह ज्यामिति प्रारंभिक किस्म की थी। एट्रुस्कनों के काल से ही रोमनों में इस प्रकार की व्यावहारिक ज्यामिति का प्रचलन था। त्रिभुज का क्षेत्र वे निकाल सकते थे। रोमन-ज्यामिति पर मिस्री-ज्यामिति का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। इस प्रभाव का आरंभ संभवतः जूलियस सीजर के काल से हुआ। सीजर ने मिस्री पद्धति से संपूर्ण रोमन साम्राज्य की नाप-जोख करने का एक आदेश जारी किया था। उनके नाम से प्रचलित विख्यात जूलियस-पंचांग की रचना के लिए उन्होंने सोसिजेनिस् नाम के एक अलेग्जेंड्रियाई ग्रीक ज्योतिर्विद को नियुक्त किया था। रोमन व्यावहारिक ज्यामिति में हीरो की ज्यामिति का प्रयोग होता देखा जाता है।

रोमन व्यावहारिक ज्यामिति और अंकगणित नितांत प्राथमिक स्तर के थे, परंतु रोम ने गणित के इन विभागों को कुछ उन्नत अवश्य किया था और उनका यह कार्य महत्त्वपूर्ण था। ग्रीक गणितज्ञ अंकगणित, व्यावहारिक ज्यामिति आदि गणित के कुछ विभागों को बहुत निकृष्ट श्रेणी का समझते थे। उनकी यह धारणा थी कि गणना का काम केवल दासों के उपयुक्त है। परिणामस्वरूप ग्रीक संख्या-लेखक और गणना-पद्धति जटिल और असुविधा-जनक हो गई थी। ग्रीक-पद्धति की तुलना में रोमनों की अंक-लेखन और गणना-पद्धति बहुत सहज और सरल थी।

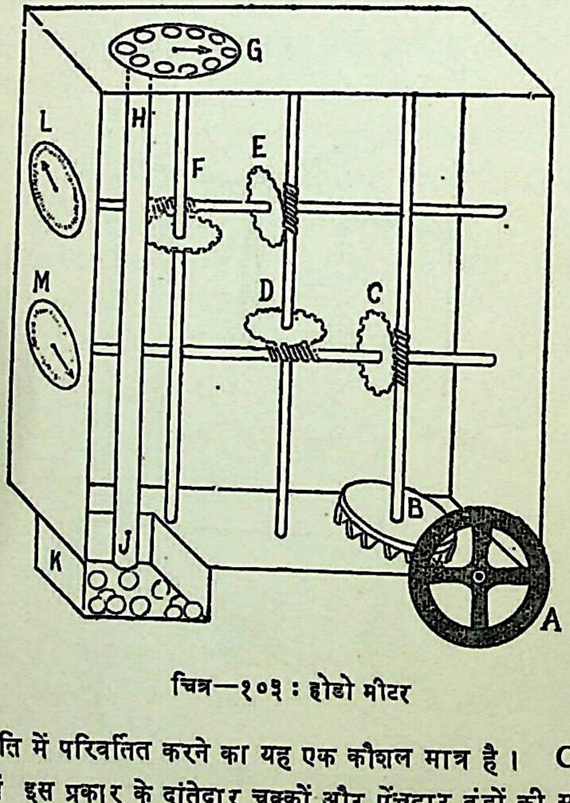
क्षेत्रमिति और नापजोख में व्यवहृत कुछ औजार : क्षेत्रमिति और नाप-जोख के काम में रोमन विशेष रूप से दक्ष थे। वास्तुकला से इनका घनिष्ठ योग होने के कारण रोमन स्थापत्य की स्वाभाविक प्रगति के साथ-साथ व्यावहारिक गणित के इन दोनों विभागों में भी बड़ी उन्नति हुई। पांदियाई

के खंडहरों में क्षेत्रमिति और नापजोख संबंधी प्राचीन रोमनों-द्वारा व्यवहृत जिन औजारों का पता चला है, उनसे इस विद्या में उनकी पारदर्शिता प्रमाणित होती है। इन खडहरों में, ग्रोमा' (groma) नाम का एक यंत्र मिला है। नापजोख के काम में ग्रोमा के व्यापक व्यवहार के अनेक उल्लेख मिलते हैं। एक लंब कीलक (Pivot) के दो अनुप्रस्थ दंड, एक दूसरे को काटते हुए, एक के ऊपर एक, परस्पर लंब के रूप में अवस्थित हैं (चित्र—१०२)। ये दोनों अनुप्रस्थ खंड क्षैतिज समतल (horizontal plane) पर घूम सकते हैं। प्रत्येक दंड के दोनों सिरों पर से एक-एक साहुल-सूत्र (plumb-line) लटकते रहते हैं। रोमन साधारणतया आयताकार नगर, ग्राम या कृषि-क्षेत्र की परिकल्पना करते थे, इसलिए ग्रोमा का व्यापक प्रयोग होता था।



चित्र—१०२ : ग्रोमा। पांपियाई में किसी मापक की कब्र में प्राप्त, एक ग्रोमा के अनुकरण में अंकित। OP= लंब कीलक; AB, CD= अनुप्रस्थ-दंड; Aa, Bb—साहुल-सूत्र।

दुर्गम स्थानों की दूरी के निर्णय के लिए होडोमीटर (hodometer) नाम के एक यंत्र का व्यवहार होता था। होडोमीटर की सहायता से सर्वेक्षक नदी की चौड़ाई या अन्य किसी स्थान की दूरी का अनायास निर्णय कर सकता था। विट्रूवियस ने इस प्रकार के एक होडोमीटर का वर्णन किया है। 'A' पहिए की सहायता से होडोमीटर को जमीन पर चलाया जा सकता है (चित्र—१०३)। इस पहिए की धुरी से संलग्न दांतेदार एक चक्के के साथ एक और दांतेदार चक्का 'B' इस प्रकार जुड़ा होता है कि 'A' धुरीदंड क्षैतिज समतल पर घूमता हो तो 'B' से संलग्न धुरी लंबवत: घूमती रहेगी। वास्तव में, अनुप्रस्थ दंड की चक्राकार गति को, लंबवत: अवस्थित दंड की



चित्र—१०३ : होडो मीटर

चक्राकार गति में परिवर्तित करने का यह एक कौशल मात्र है। C, D, E और F में इस प्रकार के दांतेदार चक्कों और पेंचदार दंडों की सहायता से दिशा की गति को भिन्न दिशा की गति में परिवर्तित करने की व्यवस्था है। अंतिम लंब दंड F के सिरे पर गोल चक्का G की गोलाई में कुछ छिद्रों की व्यवस्था ध्यान देने योग्य है। HJ एक खोखली नली है। यह नली इस

तरह लगाई गई है कि G चक्के के घूमते समय इसका प्रत्येक छिद्र HJ नली के मुँह पर से होकर जायगा। अब चक्के के हर छिद्र पर एक-एक कंकड़ी रखी हो तो छिद्रों की नली के मुँह पर से जाते समय, कंकड़ियां, एक-एक करके, नली के भीतर से K पात्र में जमा होती रहेंगी। होडोमीटर के B, C, D, E, F चक्के और उनसे संलग्न दंड इस प्रकार सजाए होते हैं कि हर मील पर एक कंकड़ी K पात्र में जा गिरेगी। इसलिए कंकड़ियों के गिने जाने पर यह पता लग जायगा कि होडोमीटर कितनी दूर चला।

विषमभुज-तुला (steelyard), पुली, क्रेन आदि अनेक प्रकार के यंत्रों से रोमन भली-भांति परिचित थे। सर्वेक्षक और स्थापत्य-कलाविद् इन यंत्रों की क्रिया-विधियों को अच्छी तरह जानते थे और उनके हाथों, बीच-बीच में, इन यंत्रों की महत्त्वपूर्ण उन्नति हुई, इसके अनेक दृष्टांत मिले हैं।

रोमन युग में ज्योतिष और गणित संबंधी ग्रीक-गवेषणा

उच्चकोटि की ज्योतिषीय और गणितीय गवेषणा में रोमनों की देन नहीं के समान है, यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी। उनके युग में अर्थात् ईसापूर्व दूसरी शती से ईस्वी पाँचवीं शती तक, केवल ग्रीक वैज्ञानिकों ने गणित और ज्योतिष संबंधी गवेषणा का दरवाजा खोल रखा था, यह बात पहले ही बताई जा चुकी है। इसलिए, इस काल की ज्योतिष और गणित-चर्चा की बात कहनी हो तो पुनः ग्रीक वैज्ञानिकों के संबंध में ही कुछ कहना होगा।

पोसिडोनियस् (ई० पू० १३५-५१)

स्टोइकपंथी पोसिडोनियस् भूगोल-वेत्ता होने के साथ ही ज्योतिर्विद् और गणितज्ञ भी थे। 'समुद्र के विषय में' नामक ग्रंथ में उन्होंने समुद्र के ज्वार-भाटे की व्याख्या दी है। उनके मत से ज्वार-भाटे का कारण सूर्य और चंद्र का आकर्षण है। फलित ज्योतिष में पोसिडोनियस् का गहरा विश्वास था और उनका कहना था कि पृथ्वी में मनुष्य की गतिविधि और भाग्य ग्रहों, नक्षत्रों और ज्योतिष्कों-द्वारा नियंत्रित होते हैं। फलित ज्योतिष में इस प्रकार के विश्वास के फलस्वरूप ही, संभवतः उन्होंने समुद्र पर सूर्य और चंद्र के प्रभाव के संबंध में विचार किया होगा।

पोसिडोनियस् ने पृथ्वी की परिधि की एक माप निर्धारित की। यह माप थी १८०००० स्टाडिया। इराटोस्थेनिस् ने पृथ्वी की परिधि का निर्णय किया था २५२,००० स्टाडिया। पोसिडोनियस् को यह लगा कि उनसे पहले के अन्य भूगोल-वेत्ताओं तथा इराटोस्थेनिस् ने जो माप तय की, वह बहुत

अधिक थी और पृथ्वी की परिधि की वास्तविक माप उससे कहीं कम है और यह उस माप के निकट है, जिसका निर्णय उन्होंने किया। उनकी भ्रम-पूर्ण माप ने किस प्रकार कोलंवस्-जैसे नाविकों को समुद्र-यात्रा के लिए प्रेरित किया, इसकी चर्चा एक अन्य स्थान पर की जा चुकी है।

ज्यामिति के संबंध में भी पोसिडोनियस् ने कुछ गवेषणाएँ कीं। उनकी ज्यामितीय गवेषणाओं में समानांतर रेखाओं की परिभाषा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह परिभाषा इस प्रकार है—

एक ही समतल पर यदि दो सरल रेखाएँ इस प्रकार खींची जायँ कि दोनों के वीच दूरी हमेशा समान रहे तो ये रेखाएँ समांतर होंगी।

जेमिनस् (७० ई०)

पोसिडोनियस् के शिष्य, रोड्स्द्वीप-निवासी जेमिनस् ने 'ज्योतिष की भूमिका' और 'गणित का व्यवस्थापन' नामक ज्योतिष और गणित के दो ग्रंथों की रचना की। जिन प्राचीन वैज्ञानिकों ने ज्योतिष को सहज और सुपाठ्य रूप में प्रकट करने की चेष्टा की, जेमिनस् उनमें अन्यतम थे। 'ज्योतिष की भूमिका' एक मनोरम रचना है। इसके अतिरिक्त, ज्योतिष के इतिहास के रूप में भी यह मूल्यवान ग्रंथ है। आगे चलकर, प्रोक्लस्-जैसे विज्ञान के इतिहासकारों ने इसी ग्रंथ का अवलंवन करके ज्योतिष और गणित के इतिहास लिखे। समय के साथ, अनेक व्यक्तियों-द्वारा सपादित होने के कारण, इस ग्रंथ में थोड़ा-बहुत परिवर्तन हुआ, यहां तक कि उसे एक विकृत रूप भी प्राप्त हुआ। इस पुस्तक के वैज्ञानिक मूल्य के संबंध में भी मतभेद है। पॉल टेनरी का मत है कि जो प्राचीन वैज्ञानिक ग्रंथ इस समय संरक्षित हैं, उनमें जेमिनस् का ग्रंथ सबसे अच्छा है। वेलमैन के मतानुसार, इस पुस्तक की रचना में, जेमिनस् केवल अन्य व्यक्तियों की गवेषणाओं पर निर्भर नहीं रहे, वल्कि स्वयं अपनी अनेक गवेषणाओं के परिणाम भी उन्होंने इसमें सम्मिलित किए। उधर सर टॉमस हीथ का कहना है कि 'ज्योतिष की भूमिका' ज्योतिष की एक प्रारंभिक पाठ्य पुस्तक-जैसी है।

जेमिनस् के ज्योतिष-ग्रंथ में निम्नलिखित विषयों की चर्चा है—राशिचक्र, द्वादश राशियों के क्रमिक स्थान, राशियों की आकृतियां, अक्षांश रेखा और ध्रुव, खगोल, दिन और रात, द्वादश राशियों के उदय-काल, मास, चंद्रकला, सूर्यग्रहण, चंद्रग्रहण, ब्रह्मांड की गति की विपरीत दिशा में ग्रहों की दृष्ट गति, स्थिर नक्षत्र का वृत्त, पृथ्वी-मंडल, नक्षत्र के

अवस्थान के साथ जलवायु का संबंध, संयुतिकाल इत्यादि। सब से अंत में, रविमार्ग में सूर्य के अवस्थान-काल का निर्देश करते हुए, उन्होंने एक वर्ष-पंचांग की चर्चा की है।*

मेनेलाउस्, (अनुमानतः ९८ ई०)

मेनेलाउस् की प्रसिद्धि ज्यामिति में हुई। उनके ग्रंथ 'स्फेरिका' (Sphaerica) का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ। गोलीय त्रिभुज और त्रिकोणमिति के अनेक साध्यों की 'स्फेरिका' में चर्चा की गई है। किस अवस्था में दो गोलीय त्रिभुज सर्वसम होते हैं, इसका अध्ययन किया गया है और गोलीय त्रिभुज के तीन कोणों का योग दो समकोणों से अधिक है, इस साध्य का प्रमाण भी 'स्फेरिका' में मिलता है।

निकोमेकस् (अनुमानतः १०० ई०)

ईस्वी प्रथम शती के अंतिम भाग और ईस्वी दूसरी शती के प्रथम भाग में नवीन पाइथागोरस-पंथी निकोमेकस् अंकगणित संबंधी गवेषणा के लिए प्रसिद्ध हुए। ग्रीक गणितीय गवेषणा के इतिहास के प्रथम भाग में पाइथागोरस तथा पाइथागोरी गणितज्ञों ने और उनके बाद आर्किमीडिस् ने अंकगणित-संबंधी कुछ गवेषणाएँ कीं। परंतु ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में ग्रीक प्राधान्य के काल में ज्यामितीय गवेषणा का इतना अधिक सम्मान था कि अंकगणित में माथापच्ची करना, उनमें से किसी ने आवश्यक नहीं समझा। हिप्सिक्लस् के बाद निकोमेकस् के आविर्भाव तक, दो सौ वर्षों की अवधि में, ग्रीकों में अंकगणित-चर्चा का कोई दृष्टांत नहीं मिलता। निकोमेकस् ने ही पहले-पहल गणित के इस विभाग में नए सिरे से और नए उत्साह के साथ गवेषणा शुरू की। उनके द्वारा रचित 'इंट्रोडक्शिओं एरिथ्मेटिका' (Introduction Arithmetica) अंकगणित का एक विख्यात और अतिसम्मानित ग्रंथ है। उनके समय में और मध्य युग में इस ग्रंथ का व्यापक प्रचार होने के प्रमाण मिलते हैं। रोमन गणितज्ञ बार्येथियस् ने मूल ग्रीक पांडुलिपि से इस ग्रंथ का लैटिन भाषा में अनुवाद किया था।

ज्यामिति को अलग रखकर अंकगणित की चर्चा इस ग्रंथ की विशेषता है। निकोमेकस् के पहले, अंकगणित को इतना सम्मान कभी प्राप्त नहीं हुआ था। पाइथागोरस और पाइथागोरी गणितज्ञों की संख्या-संबंधी गवेषणा की

* Manitius (Ed), 'Gemini Elementa Astronomiae', Leipzig, 1898.

इस ग्रंथ में विशद चर्चा है। स्वयं निकोमेकस् ने भी संख्या के गुण-धर्मों के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण नियम और साध्य आविष्कृत किए। उनका इस प्रकार का एक साध्य है—घन संख्याएँ (Cubical numbers) हर समय क्रमागत विषम संख्याओं के योग के समान हैं। जैसे—

$$८ = २^३ = ३ + ५;$$
$$२७ = ३^३ = ७ + ९ + ११;$$
$$६४ = ४^३ = १३ + १५ + १७ + १९$$

इस साध्य को एक और रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। आरंभ से विषम संख्याएँ, एक के बाद एक, इस प्रकार हैं—१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७, १९,...। अब सहज ही यह देखा जा सकता है कि प्रथम विषम संख्या (१) १ का घन है, इसके बाद की दो विषम संख्याओं का योग (३+५), २ का घन है, इसके बाद तीन विषम संख्याओं का योग (७ + ९ + ११), ३ का घन है इसके बाद की चार विषम संख्याओं का जोड़ (१३ + १५ + १७ + १९), ४ का घन है, इत्यादि। परवर्ती काल में घन संख्याओं के योग के निर्णय में यह साध्य विशेष रूप से सहायक हुआ था। वर्ग-संख्याओं के विषय में भी उन्होंने इस प्रकार के कुछ साध्यों की चर्चा की है।

निकोमेकस् के अंकगणित में ध्यान देने की बात यह है कि वे आगमनिक पद्धति (Inductive method) की सहायता से इन साध्यों पर पहुँचे; निगमनिक (deductive) ज्यामिति की सहायता से ये साध्य प्रमाणित नहीं किए जा सकते थे। इस प्रकार की गवेषणा में संकेतों और संस्थाओं के व्यवहार की आवश्यकता का विशेष रूप से अनुभव होता है। रेखागणित या ज्यामिति इस कार्य में प्रायः ठप्प हो जाती है। ५ के वर्ग, घन या उच्चतर घात के निर्णय-द्वारा चाहे जो संख्या उत्पन्न हो, उसके इकाई के स्थान में ५ संख्या अवश्य होगी, ज्यामिति की सहायता से यह प्रमाणित करना कठिन है। आगमनिक अंकगणित में गवेषणाओं के फलस्वरूप गणित में धीरे-धीरे सांकेतिकता का प्रवेश हुआ और आगे चलकर डायोफैंटस्-जैसे गणितज्ञों के हाथों बीजगणित का उद्भव और विकास संभव हुआ। जे० गाओ ने लिखा है :

"यद्यपि, ज्यामिति कुछ हद तक संकेतों का व्यवहार करने में समर्थ थी, परंतु ठीक उन साध्यों के लिए, जिनमें निकोमेकस् की सब से अधिक रुचि

थी, ज्यामिति बिलकुल बेकार चीज थी। उदाहरणार्थ, युक्लिडीय सांकेतिकता यह नहीं प्रदर्शित कर सकती कि संख्या ५ के सभी घातों के निर्णय से उत्पन्न संख्याएँ, संख्या ५ पर ही समाप्त होती हैं, अर्थात् ५ का चाहे जितनी बार ५ द्वारा गुणन किया जाय, गुणनफल के इकाई के स्थान में संख्या (५) अवश्य होगी; वह यह भी नहीं प्रदर्शित कर सकती कि वर्ग-संख्याएँ विषम संख्याओं की श्रेणी का योग हैं। आवश्यकता एक ऐसी सांकेतिकता की थी, जो साधारण सांख्यिक क़िस्म के अनुरूप हो, और इस प्रकार आगमनिक अंकगणित ने बीजगणित के उद्भव का मार्ग प्रशस्त किया।"

निकोमेकस् के बाद से ज्यामिति की अपेक्षा अंकगणित की गवेषणा ने ही अधिकांश ग्रीक गणितज्ञों की दृष्टि आकर्षित की। थिओन ऑफ स्मर्ना और आयाम्ब्लिकस्-जैसे ग्रीक गणितज्ञों ने निकोमेकस् के दृष्टांत का अनुसरण कर संख्या-संबंधी विभिन्न प्रकार के साध्य प्रस्तावित किए। आयाम्ब्लिकस् का एक साध्य बहुत लोकप्रिय हुआ। किन्हीं तीन ऐसी क्रमागत संख्याओं को ले लीजिए, जिनमें से बृहत्तम संख्या ३ द्वारा विभाज्य हो। इन तीन संख्याओं का जो योग हो, उसके इकाई, दहाई आदि स्थानों के अंकों को जोड़कर उस योगफल के इकाई, दहाई आदि स्थानों के अंकों को पुनः जोड़ो। इस प्रकार आगे बढ़ते रहने पर अंतिम योगफल हर समय ६ होगा। जैसे, ९७, ९८ और ९९ तीन क्रमागत संख्याएँ हैं; बृहत्तम संख्या ९९, ३ द्वारा विभाज्य है। इन तीन संख्याओं का योगफल है २९४; २, ९ और ४ का जोड़ है १५, और १ और ५ का योगफल है ६। दशमलव स्थानिक अंक-लेखन-पद्धति में अंकों की इस प्रकार की करामात कोई बड़ी बात नहीं है। परंतु ग्रीक उस समय तक इस पद्धति से पूर्णतः अपरिचित थे; वर्णमाला की सहायता से संख्या प्रकाशित करने में ही वे अभ्यस्त थे। ऐसी स्थिति में इस प्रकार की आंकिक समस्याओं की उद्भावना और समाधान निश्चय ही उनकी योग्यता के परिचायक हैं।

डायोफैंटस् (ईस्वी तीसरी शती)

संक्षिप्त जीवनी : डायोफैंटस् * अलेग्जेंड्रिया के विद्यालय के अंतिम प्रतिभाशाली गणितज्ञ और ग्रीको-रोमन युग के सर्वश्रेष्ठ बीजगणितज्ञ थे। ईस्वी तीसरी शती के मध्यभाग में उनके कार्यों का उल्लेख मिलता है।

---

* Encyclopaedia Britannica, 14th Ed, 1917; Diophantus शीर्षक निबंध देखिए।

माइकेल सेलास के एक विवरण में यह कहा गया है कि डायोफैंटस का जीवन-काल लाओडिसिया के बिशप एनाटोलियस् (२७० ई०) के बाद का काल नहीं है। उधर, निकोमेकस् (१०० ई०) या स्मर्ना के थिओन (१३० ई०) के लेखों में उनका कोई उल्लेख नहीं है। अलेग्जेंड्रिया के थिओन (३६५ ई०) और उनकी विदुषी कन्या हाइपेसिया (मृत्यु ४१५ ई०) ने डायोफैंटस् के गणित का उल्लेख और समालोचना की। इन तथ्यों को सामने रखते हुए, निस्संदेह इतना ही कहा जा सकता है कि वे ईस्वी तीसरी शती में जीवित थे और अलेग्जेंड्रिया में गणितीय गवेषणा के कार्य में लगे हुए थे। डायोफैंटस् की समाधि-लिपि से पता चलता है कि वे ८४ वर्ष तक जीवित थे; उन्होंने अपने जीवन का १।६ भाग बाल्यावस्था में, १।१२ भाग युवावस्था में और १।७ भाग पत्नी-हीन अवस्था में विताया; विवाह के पाँच वर्ष बाद उनके एक पुत्र हुआ; पिता की मृत्यु से ४ वर्ष पहले पुत्र का देहावसान हुआ; उस समय उसकी आयु पिता की आयु की आधी थी। यह समाधि-लिपि उस विख्यात बीजगणितज्ञ के उपयुक्त ही है।

रचनावली : डायोफैंटस् को मुख्यतः उनके विख्यात ग्रंथ 'एरिथ्मेटिका' ने ही प्रसिद्ध बनाया। १३ खंडों का यह ग्रंथ ग्रीक भाषा में लिखा गया था। मूल ग्रीक पांडुलिपि के ६ से अधिक खंडों का पता अभी तक नहीं लग सका है। 'एरिथ्मेटिका' का अनुवाद अरबी भाषा में भी हुआ था, परंतु अरबी अनुवाद में भी ६ से अधिक खंडों का उल्लेख नहीं है। इससे ऐसा लगता है कि 'एरिथ्मेटिका' के अन्य खंड बहुत पहले ही लुप्त हो गए थे। इस ग्रंथ के अतिरिक्त डायोफैंटस् ने 'पालिगोनल नंबर्स' और 'पोरिज्म्स' नाम की दो और पुस्तकें लिखीं। इनमें से पहली का सामान्य अंश अभी तक संरक्षित है। दूसरी पुस्तक का बिलकुल ही पता नहीं चलता। बहुतों का मत है कि 'पोरिज्म्स' कोई अलग ग्रंथ नहीं है, बल्कि 'एरिथ्मेटिका' के ही किसी लुप्त खंड का एक अंशमात्र है।

बीज गणित : ग्रीक गणितज्ञों ने ज्यामिति को ही मुख्य स्थान दिया था; गणित नाम से वे प्रधानतः ज्यामिति का ही अर्थ लगाते थे। इसलिए केवल ज्यामिति की सहायता से गणित के सभी विभागों की समस्याओं के समाधान की चेष्टा ग्रीक गणितज्ञों की विशेषता थी। डायोफैंटस् की गवेषणा में इस ग्रीक विशेषता का व्यतिक्रम विशेष रूप से ध्यान में रखने की बात है। उन्होंने, ज्यामिति को पूर्णतः अलग रखकर, सांकेतिक और गणनात्मक पद्धति

से, समीकरण, सर्वसमिका (Identity) आदि से संबंधित समस्याओं के समाधान किए। बीजगणितीय संकेतों की सहायता से समीकरण लिखने और ज्यामितीय पद्धति के स्थान पर निगमनिक पद्धति से समीकरणों के समाधान-निर्णय के विषय में उन्होंने ही पहले मार्ग-प्रदर्शन किया। उनसे पहले युक्लिड ने ज्यामिति की सहायता से,

$$a(a+b) = a^2 + ab$$
$$(a+b)^2 = a^2 + 2ab + b^2$$

आदि सरल सर्वसमिकाएँ प्रस्तुत की थीं। हीरो ने भी कुछ द्विघात समीकरणों के समाधान दिए, परंतु उनकी पद्धति बहुत-कुछ बीजगणितीय पद्धति के समान होने पर भी, उसमें संकेतों का व्यवहार नहीं दीख पड़ता। इसलिए, ऐसा तो नहीं है कि डायोफैंटस् के ग्रंथ में बीजगणित का जो विकास दिखाई देता है, वह अकस्मात् किसी दिन उत्पन्न हो गया, परंतु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि ग्रीक बीजगणित को अंतिम सीमा तक विकसित करने का कार्य डायोफैंटस् ने ही किया।

बीजगणित के विकास के इतिहास का जिन्होंने विशद अध्ययन किया है, उनका मत है कि यह विकास तीन स्पष्ट स्तरों में हुआ : *

(१) शब्दबाहुल्य (Rhetorical) : बीजगणित की इस अवस्था में किसी प्रकार के संकेत का व्यवहार नहीं दीख पड़ता; जो कुछ करना होता है, उसे भाषा में व्यक्त किया जाता है। डायोफैंटस् के पहले और पश्चिमी यूरोप में अंधकार युग में, १५ वीं शती तक, बीजगणित को हम इसी स्तर पर सीमित पाते हैं।

(२) शब्द-संक्षेप (Syncopation) : पूरे शब्दों के स्थान पर संक्षिप्त शब्दों के प्रयोग-द्वारा बीजगणितीय विषय की अवतारणा और प्रकाशन इस स्तर की विशेषता है। इसका अर्थ यह है कि गणितीय समस्या को मोटे तौर पर भाषा में प्रकाशित किया जाता था, लेकिन सुविधानुसार विशेष स्थानों में पूरे शब्दों के बदले संक्षिप्त शब्दों का व्यवहार होता था। डायोफैंटस् ने इसी पद्धति का अनुसरण किया।

(३) प्रतीकात्मक (Symbolical) : यह आधुनिक पद्धति है, जिसमें शब्दों के बदले संकेतों का व्यवहार होता है।

---

* W. T. Sedgwick & H. W. Tylor, 'A Short History of Science', Macmillan, 1918; p. 134.

टॉमस हीथ ने 'डायोफैंटस् ऑफ अलेग्जेंड्रिया' नामक अपनी पुस्तक में शब्द-संक्षेप-पद्धति के अनेक उदाहरण दिए हैं। एक उदाहरण यह है :—

'यह प्रस्ताव किया जाता है कि 16 को दो वर्गों में विभाजित करना होगा। अब प्रथम वर्ग को *IS* माना जाय तो दूसरा होगा 16*U*—*IS*। इसलिए 16*U*—*IS* एक वर्ग के समान होगा। 16*U* की बाहु में जितने *U* हैं, ठीक उतने ही *U*, *N* की किसी भी संख्या से घटाकर, मैं इस वर्ग का निर्माण कर सकता हूँ। मान लीजिए, यह है 2*N*—4*U*। इसलिए वर्ग होगा 4*S*16*U*—16 *N* इत्यादि।'

डायोफैंटस् के कुछ संकेत : डायोफैंटस् के 'एरिथ्मेटिका' को बहुत लोग बीजगणित का प्राचीनतम ग्रंथ मानते हैं।* उनके चलाए बीजगणितीय संकेतों की सहायता से समीकरण, सर्व-समिका आदि लिखने की पद्धति का उल्लेख किया जा चुका है।

वे अज्ञात राशि, अज्ञात राशि के वर्ग और घन, व्यवकलन (substraction), समता आदि के निर्देश के लिए जिन संकेतों का व्यवहार करते थे, उनके नमूने नीचे दिए गए हैं :

अज्ञात राशि का संकेत (x) — *S*
अज्ञात राशि के वर्ग का संकेत (x^2) - Δr
अज्ञात राशि के घन का संकेत (x^3) — *K*r
व्यवकलन निर्देशक चिह्न(—) - (—)— ↑
समता निर्देशक चिह्न (=) — (=)—*s*

बीजगणितीय राशियों के योगफल या व्यवकलन-फल के साथ अनुरूप राशियों के योगफल या व्यवकलन-फल का गुणन, अर्थात् $(x+1)(x-2)$ का गुणन-फल डायोफैंटस् ज्यामिति की सहायता के बिना ही निकाल सकते थे। उन्होंने $(a+b)^2 = a^2 + 2ab + b^2$, इस सर्वसमिका को प्रमाणित किया था। ग्रीक गणितज्ञों ने ज्यामिति की सहायता से इस प्रकार के समाधान बहुत पहले ही निकाल लिए थे और इस प्रकार की समस्या को वे उच्चकोटि की ज्यामिति के अंतर्गत मानते थे। परंतु बीजगणितीय नियमों की सहायता से इनका समाधान डायोफैंटस ने ही सब से पहले किया।

ऋणात्मक राशियों के संबंध में डायोफैंटस् की कोई धारणा नहीं थी। दो राशियों के व्यवकलन-फल को वे सदा धनात्मक ही समझते थे; अर्थात्

* Encyclopaedia Britannica, 'Diophantus'.

$a-b=+c$ । b कभी a से बड़ा भी हो सकता है, यह कल्पना वे नहीं कर सके थे। उनका विश्वास था कि इससे अद्‌भुत और असंभव परिस्थिति पैदा होती है।

समीकरण-समाधान : डायोफैंटस् ने अनेक प्रकार के समीकरणों के समाधान किए। इनमें निर्णेय (determinate) एक-घात तथा द्विघात और अनिर्णेय (indeterminate) एकघात तथा द्विघात समीकरण उल्लेखनीय हैं। इन समीकरणों में एक, एकाधिक, यहाँ तक कि चार परिवर्ती (variable) तक होते थे। अमिश्र समीकरण के समाधान के लिए उन्होंने एक नियम निर्देशित किया। वह नियम इस प्रकार है :

'यदि किसी प्रश्न से एक ऐसा समीकरण बनता हो, जिसकेदोनों ओर समघात (Same powers) राशियां हों, परंतु उन राशियों के गुणांक भिन्न-भिन्न हों, तो समघात राशियों में से एक को दूसरी राशि से घटाना होगा। यदि किसी समीकरण के एक ओर या दोनों ओर ऋणात्मक राशि हो तो समताचिह्न के दोनों ओर ऋणात्मक राशियों में योग द्वारा समीकरण की सभी राशियों को धनात्मक बनाना होगा। इस प्रकार सभी राशियों को धनात्मक राशियों में परिणत करने के बाद समघात राशियों में से एक को दूसरे से घटाना होगा

डायोफैंटस् किसी समीकरण का पूरा समाधान प्रकाशित नहीं करते थे; समीकरण लिखकर, संक्षेप में उसका उत्तर बैठा देते थे। जैसे

$$84x^2+7x=7$$

अब यह सहज ही प्रमाणित किया जा सकता है कि

$$x=\frac{1}{4}$$

उन्होंने तीन प्रकार के समीकरणों की चर्चा की है, जैसे,

$$ax^2+bx=c$$
$$ax^2=bx+c$$
$$ax^2+c=bx$$

प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने x के एक ही मूल का निर्देश किया है। द्विघात समीकरणों में मूल दो होते हैं, इस पर उन्होंने बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया; यहाँ तक कि जिन क्षेत्रों में दोनों मूल धनात्मक हैं, उन पर भी उनकी दृष्टि नहीं पड़ी। इसके अतिरिक्त, किसी समीकरण के समाधान के तौर पर किसी

अपरिमेय (Irrational) राशि को वे ग्रहण नहीं करते थे, ऋणात्मक और अपरिमेय राशि का महत्व ग्रीक गणितज्ञ कभी नहीं समझ पाए।

किसी भी समस्या को बीजगणितीय रूप देने में डायोफैंटस् बड़े दक्ष थे। एक उदाहरण ले लीजिए। 'ऐसी तीन संख्याएँ निकालो, जिनमें से किन्हीं दो के गुणनफल के साथ उन दोनों संख्याओं का योगफल जोड़ने से एक प्रदत्त संख्या बन जाए। मान लो कि ये प्रदत्त संख्याएँ हैं ८,१५ और २४। वे तीन संख्याएँ क्या हैं ?'

आधुनिक संकेतों की सहायता से लिखने पर समस्या का यह रूप होगा :

$$xy+x+y=8$$
$$yz+y+z=15$$
$$zx+z+x=24$$

व्यवकलन-द्वारा इसे अनायास लिखा जा सकता है

$$x(z-y)+z-y=16$$
$$x+1=\frac{16}{z-y}$$
$$z+1=\frac{9}{x-y}$$

डायोफैंटस् ने निर्णय तीन संख्याओं में से एक को मान लिया $a-1$; इससे उन्होंने दिखाया कि अन्य दो संख्याएँ $9/a-1$ और $16/a-1$। फिर उन्होंने a का मूल्य निकाला 12/5।

डायोफैंटस् ने निर्णय समीकरणों का चर्चा केवल एक खंड में की है; अन्य खंडों का मुख्य आलोच्य विषय है अनिर्णेय द्विघात समीकरण। साधारणतः ये इस प्रकार के हैं :—

$$Ax^2+Bx+C=y^2$$

इस प्रकार के समीकरणों के अनेक रूप है। उन्होंने बहुतों के समाधान की चेष्टा करते हुए भी हर-एक के समाधान का प्रयत्न नहीं किया। इस श्रेणी के अंतर्गत जिन समीकरणों में द्विघात अथवा परम (absolute) राशि नहीं होती, उन विशेष समीकरणों का पूर्णांग समाधान हम डायोफैंटस् के ग्रंथ में पाते हैं। अन्य अनिर्णेय समीकरणों का कोई उत्तम समाधान उन्होंने नहीं किया और किया भी है तो उसका रूप बहुत जटिल और पेचीदा है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि अनिर्णेय समीकरणों के समाधान के विषय में आर्यभट्ट

और ब्रह्मगुप्त-जैसे भारतीय गणितज्ञों ने डायोफैंटस् की अपेक्षा कहीं अधिक योग्यता का परिचय दिया। गणित के इस विभाग में भारतीय तत्परता भी ग्रीकों की तत्परता से प्राचीन है।

डायोफैंटस् की प्रतिभा और मौलिकता के विषय में मतभेद है। वे किस हद तक मौलिक थे और किस अंश तक उनकी गवेषणा उनसे पहले के ग्रीक गणितज्ञों से ली हुई है, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। उनके बीज-गणित पर बेबीलोनी गणित का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। सांकेतिकता के प्रवर्तन द्वारा बीजगणित की गवेषणा में उन्होंने क्रांति ला दी, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। समीकरण का एकाधिक समाधान, ऋणात्मक राशि का अस्तित्व आदि महत्त्वपूर्ण विषय उनकी पकड़ में नहीं आए, यह निस्संदेह बहुत बड़ी कमी थी। अनेक समीकरणों की अपूर्णता और समाधानों की अयौक्तिकता ने किसी-किसी क्षेत्र में उनकी प्रतिभा को धूमिल किया है। परंतु साथ ही अनिर्णेय समीकरणों के समाधान के विषय में अन्होंने पटुता प्रदर्शित की है। सब दृष्टियों से विचार करने पर इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि प्राचीन काल के इने-गिने प्रतिभाशाली गणितज्ञों में डायोफैंटस् अन्यतम थे।

पैपस् (अनुमानतः तीसरी-चौथी शती)

निकोमेकस् और डायोफैंटस् के समय से, या उससे कुछ पहले से ही ग्रीक-गणितीय-गवेषणा ज्यामिति के मार्ग से धीरे-धीरे हटकर अंकगणित और बीजगणित के मार्ग पर बढ़ चली थी। परंतु गणित के जिस विभाग में ग्रीकों ने असाधारण श्रेष्ठता प्रदर्शित की और जो विभाग वास्तव में उन्हीं का आविष्कार था, उस ज्यामिति का आदर घटते-घटते भी बहुत-कुछ बाकी रह गया था। ग्रीक ज्ञान-विज्ञान की अवनति का काल भी कुछ प्रतिभाशाली ज्यामिति-विशारदों से रिक्त नहीं था। अलेग्जेंड्रिया के पैपस् संभवतः ग्रीक ज्यामितीय प्रतिभा के अंतिम चिह्न थे। पैपस् को युक्लिड, ऐपोलोनियस् या आर्किमीडिस के समकक्ष तो नहीं कहा जा सकता, परंतु उनके सगोत्र वे अवश्य थे। गणित के इतिहासकार जेम्स गाओ ने लिखा है :—

"परंतु अपने समकालीन विद्वानों में वे अतलांतक महासागर में टेनेरिफ के शिखर की भांति हैं। अपना समकक्ष ढूंढ़ने के लिए उन्हें ५०० वर्ष पीछे एपोलोनियस् पर निगाह डालनी पड़ती है।*

---

* J. Gow, 'A Short History of Greek Mathematics' Cambridge, 1884,

पैपस् के जन्म या मृत्यु की ठीक तिथि का पता नहीं चलना। अपनी रचनाओं में, एक टॉलेमी को छोड़कर, उन्होंने अपने से पहले के किसी लेखक या वैज्ञानिक का उल्लेख नहीं किया है; टॉलेमी के प्रसंग में वे बराबर १४० ई० का उल्लेख करते गए हैं। इससे इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे टॉलेमी के परवर्ती काल के थे। डायोक्लिटियन के शासन-काल (२८५-३०५) में रचित एक पांडुलिपि में यह उल्लेख है कि पैपस् इस काल में, अर्थात् ईस्वी तीसरी शती के अंतिम भाग में या चौथी शती के प्रथम भाग में, अलेग्जेंड्रिया में गणितीय गवेषणा में लगे हुए थे।* स्विडस् का यह मत है कि पैपस् अलेग्जेंड्रिया के थिओन के समकालीन थे। यह मत ठीक हो तो पैसस् का काल ईस्वी चौथी शती है।

उन्होंने टॉलेमी के 'ऐलमाजेस्ट' और युक्लिड के 'एलिमेंटस्' के संबंध में कुछ टीकाओं की रचना की। 'गणितीय संग्रह' उनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। ऐलमाजेस्ट या एलिमेंटस् की टीकाएँ लुप्त हो गई हैं। प्रोक्लस् की रचना में ऐलमाजेस्ट और अरबी अनुवाद में एलिमेंटस् की टीकाओं के उल्लेख मिलते हैं। 'गणितीय संग्रह' के आठ खंडों में से पहले और दूसरे खंड के कुछ अंशों को छोड़कर शेष सभी खंड अब भी पूर्णतः सुरक्षित हैं। आधुनिक काल में फ्रेडरिक हुल्श-जैसे पंडितों की चेष्टा से इस गणितीय संग्रह का संकलन हुआ है। इस संग्रह में पैपस् की निजी गवेषणाओं के अतिरिक्त, प्राचीन काल के समग्र गणित के इतिहास और विकास की बड़ी मनोरम चर्चा की गई है। यह अध्ययन सुव्यवस्थित है और इसकी भाषा भी बहुत सुंदर है।

अनुमान किया जाता है कि लुप्त प्रथम खंड का आलोच्य विषय था अंकगणित। इस अनुमान का आधार यह है कि दूसरे खंड में अंकगणित की प्रचुर चर्चा है, जो बीच से ही आरंभ हुई है।

तीसरे से लेकर सातवें तक ५ खंडों में मुख्यतः ज्यामिति की चर्चा की गई है। तीसरे खंड में दी हुई ज्यामिति की एक समस्या ध्यान देने योग्य है। यह समस्या है दो प्रदत्त रेखाओं के दो मध्य समानुपातों (two mean proportions between two given lines) का निर्णय।

किसी घन के दुगुने आकार का घन अंकित करने के प्रसंग में हिपोक्रेटिस् ऑफ चिओस् ने इस प्रकार के माध्य समानुपातों के संबंध में गवेषणा की थी। पैपस् ने इस प्रश्न के कई समाधान निकाले; उनमें से एक पूर्णतः उनका

* Encyclopaedia Britannica; 14 th Ed., 'Pappus,"

निजी और स्वतंत्र समाधान था। माध्यों के साधारण गुणधर्मों की भी इस खंड में चर्चा हुई है। दो सरल रेखाओं के समांतर, गुणोत्तर और हरात्मक (harmonic) माध्यों, और इन तीन प्रकार के माध्यों को एक साथ तथा एक ही ज्यामितीय आरेख-द्वारा प्रकाशित करने की पद्धति के संबंध में पैपस् ने चर्चा की है। एकाधिक ऐसे वृत्तों को किस प्रकार अंकित किया जाय कि प्रत्येक वृत्त दूसरे वृत्तों को स्पर्श करता रहे, इस संबंध की चर्चा चौथे खंड में की गई है। जैसे, तीन वृत्त खींचे गए हैं, जिनमें से प्रत्येक बाकी दो को स्पर्श कर रहा है; अब इन तीनों वृत्तों को घेरकर एक परिवृत्त (Circumscribed circle) बनाना होगा। उन्होंने गोले के ऊपर अंकित कुंडलिनी (helix) के विभिन्न ज्यामितीय गुण-धर्मों की चर्चा की। इस कुंडलिनी की अंकन-प्रणाली बहुत कुछ समतल क्षेत्र पर अंकित आर्किमीडीय सर्पिल (Spiral) जैसी है। किसी कोण के तीन समान भाग करने के प्राचीन और कठिन प्रश्न का समाधान भी इसी खंड में किया गया है।

पांचवें खंड में सम बहुभुज संबंधी अध्ययन है। इसमें विभिन्न प्रकार के घनों के आयतनों का निर्णय किया गया है। एक स्थान पर उन्होंने १३ बहुतलीय घनों के विवरण दिए हैं। बहुतलीय घन की विशेषता यह है कि इसके तल या तो समबाहु (equilateral) या फिर समकोणीय (equi-angular) बहुभुज होते हैं, परंतु समरूप बहुभुज (similar polygon) नहीं होते। इस प्रकार के बहुतलीय घनों की सहायता से उन्होंने गोले का घन और गोले के पृष्ठ के क्षेत्र निकाले।

छठें खंड में ज्योतिष संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है। इस चर्चा में स्वयं पैपस् की अपनी कोई देन नहीं है; यह मुख्यतः पूर्ववर्ती ज्योतिर्विदों की गवेषणाओं पर अवलंबित है, जैसे सूर्य और चंद्र की दूरी और आयतन के संबंध में ऐरिस्टार्कस् की गवेषणा, प्रकाश और उसके प्रवाह के संबंध में युक्लिड का मत, दिन और रात-संबंधी थिओडोसियस् का वैज्ञानिक विवरण आदि विषयों की पैपस् ने इस ग्रंथ में चर्चा की है।

सातवें खंड में ज्यामिति के कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक साध्यों के समाधान दिए गए हैं। पैपस् के लगभग एक हजार वर्ष बाद पॉल गुल्डिन (Guldin) ने इन साध्यों का नए सिरे से आविष्कार किया और भ्रमवश ये साध्य उन्हीं के नाम से चल पड़े। वास्तव में इन ज्यामितीय साध्यों का आविष्कार पैपस् ने ही किया था।

न्यूटन और देकार्त की बदौलत पैपस् के एक और ज्यामितीय साध्य को गणित के इतिहास में विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई है। यह 'पैपस् के साध्य' नाम से प्रसिद्ध है। किसी समतल क्षेत्र पर अनेक सरल रेखाएं खींची हुई हैं। अब एक विंदु का पथ (locus) इस प्रकार खींचना होगा कि उस विंदु से विभिन्न सरल रेखाओं पर लंब अंकित करने से कुछ लंबों के गुणनफल और अवशिष्ट लंबों के गुणनफल का अनुपात सदा एक प्रदत्त अनुपात होगा। विंदु के स्थान-परिवर्तन संबंधी इस प्रकार की गवेषणा के सूत्र का अवलंबन कर पैपस् अधिचक्र की नाभि (focus) का निर्णय करने में समर्थ हुए। पैपस् ने यह मत भी प्रकट किया कि नियता (directrix) और नाभि से दूरी का एक ही अनुपात कायम रखकर एक विंदु के पथ की रचना की जाय तो यह पथ शांकव रेखा की सृष्टि करता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शांकव रेखा की यह एक साधारण परिभाषा है।

आठवें खंड का मुख्य आलोच्य विषय है बलविज्ञान संबंधी विभिन्न प्रश्न। गुरुत्व-केंद्र के गुण-धर्मों के विषय में इस ग्रंथ में विशद चर्चा की गई है।

पैपस् की ज्यामिति और गणित उनके समकालीन अधिकांश गणितज्ञों के लिए दुरूह और दुर्बोध्य थे। समसामयिक गणितज्ञों में उनकी ज्यामिति समझने की बुद्धि या पांडित्य प्रायः था ही नहीं। इसलिए बहुत दिनों तक उनकी रचनाओं में माथापच्ची करने की किसी ने आवश्यकता नहीं समझी। चर्चा के अभाव में पैपस् की प्रतिभा का उचित समादर भी नहीं हो पाया। मनन-शीलता की साधारण अवनति के युग में प्रतिभा की इसी प्रकार दुर्दशा होती है।

थिओन ऑफ अलेग्जेंड्रिया और हाइपेसिया

पैपस् के समकालीन (स्विडस् के मतानुसार) अलेग्जेंड्रिया के गणितज्ञ थिओन को प्रसिद्धि प्राप्त हुई युक्लिड और टॉलेमी के टीकाकार के रूप में। 'ऐलमाजेस्ट' पर रचित उनकी टीका में अनेक मूल्यवान ऐतिहासिक तथ्य छिपे हुए हैं। परवर्ती काल में विज्ञान के इतिहास के रचना-कार्य में ये तथ्य बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। थिओन पंडित थे, परंतु प्रतिभाशाली नहीं। स्वयं उनकी किसी मौलिक गवेषणा का प्रमाण नहीं मिलता।

थिओन की विदुषी कन्या हाइपेसिया में वास्तविक प्रतिभा थी। हाइपे-सिया प्राचीन ग्रीको-रोमन सभ्यता की एकमात्र उल्लेखनीय महिला वैज्ञानिक थीं। ऐपोलोनियस् की शांकव ज्यामिति और डायोफैंटस् के बीजगणित की उन्होंने कई

समालोचनाएँ लिखीं। अब उनकी अधिकांश रचनाओं का पता नहीं है। हाइपेसिया केवल विदुषी ही नहीं, असाधारण सुंदरी भी थीं। यह रूप और गुण ही उनका काल बन गया। एक मूर्तिपूजक, विधर्मी, ग्रीक महिला का इतना पांडित्य और रूप धर्मांध ईसाइयों के लिए असहनीय हो गया। विधर्मी हाइपेसिया के प्रभाव के कारण ईसाई धर्म संकट-ग्रस्त हो रहा है, यह नारा देकर ४१५ ई० में पादरियों के एक दल ने निर्मम और अमानुषिक रूप से उनकी हत्या कर डाली। इस घृणित हत्याकांड के पीछे आर्कबिशप सेंट सिरिल की प्रेरणा थी, ऐसा संदेह किया जाता है। इसी सेंट सिरिल के चचेरे भाई, आर्क बिशप थिओफिलस् ने ३९० ई० में अलेग्जेंड्रिया के विश्वविख्यात ग्रंथागार के एक विशाल अंश को विध्वस्त करने का आदेश दिया था, जिसके संबंध में प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन ने लिखा है—'सद्गुण और शांति के चिरकालीन शत्रु, एक साहसी और निकृष्ट व्यक्ति, जिसके हाथ बारी-बारी से स्वर्ण और शोणित-द्वारा कलुषित थे।'*

बोयेथियस् (४७५-५२४)

हाइपेसिया अलेग्जेंड्रिया की अंतिम उल्लेखयोग्य गणितज्ञ थीं। उनकी दुखद मृत्यु के बाद प्राचीन शिक्षा, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान-चर्चा के प्रधान केंद्र अलेग्जेंड्रिया में विद्याध्ययन की परंपरा समाप्त हो गई। जो थोड़े से विद्यानुरागी व्यक्ति रह गए थे, उनमें से किसी ने एथेंस में और किसी ने कुस्तुंतुनिया में आश्रय ग्रहण किया।

उधर रोमन साम्राज्य के भी बुरे दिन आ गए। बहुत पहले से ही, विभिन्न दिशाओं से, साम्राज्य के टूटने के लक्षण दिखाई पड़ रहे थे। पांचवीं शती में यह साम्राज्य ढह पड़ा और इसके टुकड़े-टुकड़े हो गए। स्पेन, गाल और उत्तर अफ्रीका के प्रदेश, एक-एक करके, बर्बरों के अधिकार में चले गए। चौथी शती के अंतिम भाग में रोमन साम्राज्य दो भागों में बँट गया—ग्रीक-भाषी पूर्वी साम्राज्य और लैटिन-भाषी पश्चिमी साम्राज्य। साम्राज्य के इस विभाजन का बर्बरों ने पूरा लाभ उठाया। विजिगाथों और ऑस्ट्रोगाथों के आक्रमण से पश्चिमी साम्राज्य शीघ्र ही विध्वस्त हो गया। ४७६ ई० में ओडोआसेर के नेतृत्व में विजिगाथों ने पश्चिमी साम्राज्य पर कब्जा जमा लिया और इसके कुछ ही समय बाद ऑस्ट्रोगाथ थियोडोरिक ने समग्र इटली और सिसीली पर अपनी प्रभुता स्थापित की।

* Gibbon, 'Decline and Fall of the Roman Empire,' Chap. 37.

अचरज की बात यह है कि इस राजनीतिक संकट और उथल-पुथल के समय इटली में ग्रीक विज्ञान, गणित आदि नाना विद्याओं का अधिक मनोयोग के साथ अध्ययन करने और उन विद्याओं पर अधिकार स्थापित करने की एक नई इच्छा जागृत हुई। रोमन युग में, इटली के निवासियों ने, जिस ग्रीक गणित के प्रति परम उदासीनता प्रदर्शित की थी, ५ वीं शती के दुर्दिन में, वही गणित श्रद्धा के साथ पढ़ा जाता है तथा उसकी आलोचना होती है। ग्रीक गणित का अवलंबन कर, इस समय, लैटिन भाषा में अनेक पाठ्य पुस्तकों का संकलन हुआ।

बोयेथियस् इस समय के सर्वश्रेष्ठ रोमन गणितज्ञ थे। उनके पांडित्य से मुग्ध होकर ऑस्ट्रोगॉथ सम्राट थियोडोरिक ने पहले तो उन्हें विद्याध्ययन की बहुतेरी सुविधाएँ प्रदान कीं, परंतु बाद में, राजनीतिक कारणों से, संभवतः उनसे डाह करनेवाले किसी प्रभावशाली सभासद् के बहकाने से, उनके विरुद्ध षड्यंत्र का आरोप लगाया गया और अंत में उन्हें मृत्यु दंड दिया गया।

बोयेथियस् का विख्यात ग्रंथ ऑन दि कांसोलेशंस ऑफ फिलासफी (On the Consolations of Philosophy) उनके कारावास-काल में लिखा गया था। 'इंस्टिट्युटिस् एरिथ्मेटिका' (Institutis Arithmetica) उनकी सर्वश्रेष्ठ गणितीय रचना है। प्राचीन ग्रीक गणितज्ञों की रचनाओं की तुलना में यह एक सहज पाठ्य-पुस्तक मात्र है। परंतु पांचवीं शती के अंतिम और छठी शती के प्रथम भाग में यूरोप में गणित-संबंधी इससे अधिक उत्कृष्ट किसी और ग्रंथ की रचना नहीं हुई। 'इंस्टिट युटिस् एरिथ्मेटिका' मुख्यतः निकोमेकस् के अंकगणित का अनुवाद है। ज्यामिति-संबंधी बोयेथियस् का एक और ग्रंथ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ में युक्लिड-द्वारा प्रस्तावित अनेक ज्यामितीय साध्यों और प्रमेयों की चर्चा है। बोयेथियस् ने किसी साध्य या प्रमेय का प्रमाण प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की। इससे बहुतों की यह धारणा बनी है कि 'एलिमेंटस्' की कोई असंपूर्ण प्रतिलिपि उनके हाथ लगी होगी और उसके आधार पर ही उन्होंने इस ज्यामिति की रचना की। किसी-किसी का यह मत है कि थिओन-द्वारा संकलित 'एलिमेंटस्' की एक प्रतिलिपि के आधार पर उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की।

गूबा की संख्या : बोयेथियस् की ज्यामिति को एक और कारण से ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। इस ग्रंथ में गूबा की संख्या की तरह की एक प्रकार की संख्या का व्यवहार दीख पड़ता है। एक समय पश्चिम देशीय अरबों

में गूबा की संख्या प्रचलित थी। गूबा की उत्पत्ति भारतीय संख्या से हुई थी। बोयेथियस् को इस संख्या की जानकारी कैसे मिली और पांचवी शती की इटली में इस अभिनव संख्या-लेखन-पद्धति का प्रचलन किस प्रकार हुआ, इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिल पाया है। संख्या के इतिहासकारों में इस धारणा की उत्पत्ति हुई थी कि पाइथागोरस संभवतः एक बार भारत आए होंगे और भारतीय गणित से परिचित होने के बाद यूरोप लौटकर उन्होंने अपने शिष्यों में भारतीय अंक-विन्यास-पद्धति का प्रचार किया होगा। अब यह धारणा दूर हो चुकी है। भारतीय अंक-लेखन-पद्धति इतनी प्राचीन है, इस का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

इतिहासकारों के एक और दल का यह मत है कि यह ज्यामिति बोयेथियस् की लिखी है ही नहीं; १० वीं शती से पहले इस ज्यामिति की रचना नहीं हुई; भ्रमवश या जानबूझ कर इसे बोयेथियस् के नाम पर प्रचलित किया गया। उनका तर्क इस प्रकार है : (१) ग्रंथ के मूल आलोच्य विषय ज्यामिति से संख्या का कोई संबंध नहीं है, (२) 'इंस्टिट्युटिस एरिथ्मेटिका' या उनके द्वारा रचित और किसी ग्रंथ में संख्या का कोई उल्लेख नहीं मिलता; (३) बोयेथियस् के समकालीन कैपेला (अनुमानतः ४७५ ई०) की रचना में या उनकी रचनाओं से परिचित, मध्ययुगीन किसी अन्य लेखक की रचना या समालोचना में इस संख्या का उल्लेख नहीं है; (४) हिंदू अंक-लेखन-पद्धति ईस्वी पांचवीं शती के पहले संशोधित या विकसित नहीं हुई; इसलिए बोयेथियस् के काल में या उनसे पहले यूरोप में भारतीय संख्या के प्रचलित होने का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं है।

उपर्युक्त तर्कों में से कई, निश्चित तथ्यों पर आधारित नहीं हैं। भारतीय अंक-लेखन-पद्धति ईस्वी प्रथम शती के आरंभ में ही एक विशेष उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी थी। शून्य का व्यवहार उसी समय शुरू हुआ। इसलिए वाणिज्य-व्यवसाय के माध्यम से, ईस्वी पांचवीं शती या उससे भी पहले, यूरोप में हिंदू अंक-लेखन-पद्धति का प्रचलन होना बिलकुल असंभव नहीं। सेवेरस् सेवक्त (अनुमानतः ६५० ई०) ने लिखा है कि हिंदू संख्या यूरोप में प्रचलित होने के बहुत पहले ही इस पद्धति की उच्च प्रशंसा और उसके माहात्म्य की बात वहां पहुंच चुकी थी।* वोयेप्के का कहना है कि अलेग्जेंड्रिया के

---

* Datta and Singh, 'History of Hindu Mathematics,' 1935, Part I.

निवासी हिंदुओं की पहली ९ संख्याओं से अनुमानतः ईस्वी दूसरी शती में परिचित हुए। बाद में, पश्चिम देशीय अरवों और संभवतः रोमनों को हिंदू अंक-लेखन-पद्धति की जानकारी अलेग्जेंड्रिया-निवासियों से मिली। फ्लोरियन कैजोरी का मत है कि वोयेप्के की व्याख्या ही अधिक तर्कसम्मत है।*

वनस्पति-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान और जीव-विज्ञान

कैटो, व्हारो प्लिनी और डिओस्कोडिस्

कृषि, वनस्पति और प्राणि-विज्ञान में रोमनों की अनेक महत्त्वपूर्ण गवेषणाओं का पता चलता है। कर्मठ रोमनों का कृषि, वनस्पति-विज्ञान आदि व्यावहारिक विद्याओं के अनुशीलन में मनोयोग होना स्वाभाविक ही था। कृषि, रोमनों की जीविका का मुख्य साधन थी और रोमन जाति की समृद्धि का प्रधान कारण भी। रोमन, तलवार और हल समान दक्षता के साथ चलाते थे।

मार्क्स् पोसियस् कैटो (ई० पू० २३४-१४९)

मार्क्स् पोसियस् कैटो लैटिन भाषा में लिखित कृषि-विद्या की प्रथम पुस्तक 'डी री रस्टिका' (De re rustica) के रचयिता के रूप में ख्यात हुए। इस पुस्तक में उन्होंने १२० वनस्पतियों के नाम और वर्णन दिए हैं। इसके अतिरिक्त चिकित्सकों-द्वारा व्यवहृत कुछ भेषजों के विवरण भी इसमें मिलते हैं। वैज्ञानिक प्रणाली से इन पेड़-पौधों का श्रेणी-विभाजन करने की चेष्टा उन्होंने नहीं की। कृषि-कार्य और फल, सब्जी तथा फूलों के बगीचे तैयार करने की सुविधा के लिए, इन फार्मों के लिए उपयोगी विभिन्न पेड़-पौधों का एक प्रकार से उन्होंने श्रेणी-विभाजन किया था।

मार्क्स् टेरेंटियस् व्हारो (ई० पू० ११६-२७)

रोमन अभ्युत्थान के प्रथम युग में कृषि-विद्या, प्राणि-विज्ञान तथा विज्ञान के अन्य विभागों-संबंधी मूल्यवान ग्रंथावली के प्रणेता के रूप में कैटो के बाद मार्क्स् टेरेंटियस् व्हारो का नाम समान रूप से उल्लेखनीय है। वे विख्यात लैटिन भाषाविद् स्टिलो के शिष्य थे। ग्रीक साहित्य और विज्ञान में व्हारो सुपंडित थे। उनकी रचना पर प्लेटो का प्रभाव पड़ा है। परंतु साधारण रूप से स्टोइक दर्शन ही उनकी अधिकांश रचनाओं का मूल आधार है।

---

* Cajori, loc cit; p. 68

व्हारो-लिखित ग्रंथावली में, इस समय केवल दो ग्रंथ संरक्षित है—'रेस् रस्टिके' (Res rusticae) और 'डि लिंगुआ लैटिना' (De lingua Latina) 'रेस् रस्टिके' उनकी वृद्धावस्था की रचना है। कृषि-विद्या, कृषि-कार्य के काम आनेवाले गौ आदि पशु, मधुमक्खी, मछली और कई तरह के जंगली जानवरों के संबंध में इस ग्रंथ में चर्चा की गई है। इसमें स्वयं उनके पर्यवेक्षणों और गवेषणाओं के कुछ परिणाम सम्मिलित होने पर भी अधिकांश सामग्रियाँ दूसरों के ग्रंथों और पर्यवेक्षणों से ली गई हैं। रेस् रस्टिका में मधुमक्खियों के जीवन का मनोहर वर्णन है। वैज्ञानिक तथ्य की दृष्टि से बेशक इसमें कोई नई चीज नहीं है। 'हिस्टोरिया ऐनिमैलियम (Historia animalium) में अरस्तू ने मधुमक्खियों के संबंध में जो प्रकाश डाला है, उसकी तुलना में व्हारो का विवरण हल्का है, परंतु भाषा-सौंदर्य व्हारो की रचना में कहीं अधिक है। मधुमक्खियों की जीवनी ने वर्जिल के कवि-मानस को भी आकृष्ट किया था। व्हारो के वर्णन पर अवलंबित मधुमक्खी-संबंधी वर्जिल की कविता लैटिन-साहित्य की एक अनमोल संपदा है।

हम जिस समय की बात कह रहे हैं, उस समय इटली में मलेरिया का विशेष प्रकोप था। प्राचीन रोमन इस रोग का कारण ठीक-ठीक निर्णय न कर पाए हों, परंतु उनका यह विश्वास था कि कीट-पतंगों के माध्यम से यह व्याधि फैलती है। इस विषय में व्हारो का एक मत ध्यान देने योग्य है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—'घरों का निर्माण गीली जमीन से हटकर किया जाना चाहिए, क्योंकि गीली जमीन सूखते समय असंख्य अदृश्य कीट पैदा होते हैं। ये कीट मुंह के भीतर से या नासिकारंध्र के द्वारा श्वास-प्रश्वास के साथ शरीर में प्रविष्ट होकर घातक रोगों की सृष्टि करते हैं।'

अनुमानतः १४ वीं शती के प्रथम भाग में व्हारो की रचनाओं ने लैटिन यूरोपीय पंडितों का ध्यान आकृष्ट किया। १३२३ ई० में वेरोना के किसी अज्ञात-नाम पंडित ने व्हारों के ग्रंथों के प्रकाशन की व्यवस्था की। परवर्ती लैटिन लेखकों और वैज्ञानिकों ने व्हारों के साथ ही कैटो, कल्युमेला और पैल्डियस् की कृषि-विद्या संबंधी रचनाओं को एकत्रित करके 'स्क्रप्टोरेस् राइ रस्टिके' नाम से एक विशाल संग्रह-ग्रंथ का प्रणयन किया। पुनर्जागरण के समय यह ग्रंथ बहुत लोकप्रिय हुआ था। १४७२ ई० में 'राइ रस्टिके' का प्रथम खंड वेनिस से प्रकाशित हुआ।

प्लिनी (ई० २३-७९)

प्लिनियस् सिकंदम् या संक्षेप में प्लिनी सर्वश्रेष्ठ रोमन विश्वकोश-प्रणेता थे। ३७ खंडोंवाला उनका 'नाटुरालिस् हिस्टोरिया' (Naturalis Historia—प्रकृति का इतिहास), विश्वकोश-रचना के इतिहास में अकेले व्यक्ति को चेष्टा का संभवतः अद्वितीय दृष्टांत है। ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विभागों पर रचित २ हजार से अधिक ग्रंथों से तथ्य संग्रह कर प्लिनी ने इस विश्वकोश की रचना की। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उनके वर्षों के कठिन श्रम, अध्यवसाय और एकाग्र साधना का फल था। सभी प्रकार के प्राकृतिक विज्ञानों की चर्चा इस ग्रंथ का उद्देश्य होने पर भी विश्वकोश के ३७ में से १६ खंडों का आलोच्य विषय है कृषि-विद्या, वनस्पति तथा प्राणि-विज्ञान और सामान्य रूप से जीव-विज्ञान। इसमें वनस्पति-विज्ञान और जीव-विज्ञान की प्रधानता होने के कारण, 'नाटुरालिस् हिस्टोरिया' ने रोमनों के युग से लेकर संपूर्ण युग, यहाँ तक कि प्रायः १९ वीं शती तक, जीव-विज्ञान-संबंधी उन्नततर गवेषणा को मुख्य प्रेरणा दी थी। प्राध्यापक हावर्ड रीड ने लिखा है :

'इसका, रोमन साम्राज्य के काल से लेकर संपूर्ण मध्ययुग में और प्रायः उन्नीसवीं शती के प्रारंभ होने तक, जीववैज्ञानिक समस्याओं के विद्यार्थियों पर गहरा प्रभाव पड़ा था।" *

संक्षिप्त जीवनी : २३ ई० में कोमो नामक स्थान में प्लिनी का जन्म हुआ। उनका कर्ममय जीवन निरंतर लेखन कार्य, और विभिन्न प्रकार के तथ्यों के संग्रह के उद्देश्य से व्यापक देशाटन में व्यतीत हुआ। उन्होंने ग्रीस, मिस्र और अफ्रीका महाद्वीप के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया। इतिहासकारों ने प्लिनी की असाधारण श्रम-सहिष्णुता और अध्यवसाय का उल्लेख किया है। 'नाटुरालिस् हिस्टोरिया' के रचयिता के लिए यह अवश्य ही अपरिहार्य गुण था। प्रकृति के संबंध में उनमें असीम उत्सुकता थी और यह उत्सुकता ही उनकी मृत्यु का कारण बनी। ७९ ई० में, विसूवियस् के ज्वालामुखी उद्भेदन का अवलोकन करने के उद्देश्य से, अपना जीवन संकट-ग्रस्त कर, विसूवियस् के समीपस्थ होने के कारण उनकी मृत्यु हुई। कहा जाता है कि समुद्र-पथ से मिसेनम् या आधुनिक मिसेनो के पास से जाते हुए, जहाज पर से उन्होंने विसूवियस् का उद्भेदन देखा और जहाज पांपियाई के किनारे

* Howard. S. Reed, 'A Short History of the Plant Sciences,' Chronica Botonica Company, 1942; p. 41.

लगाने का आदेश दिया। अपने मित्रों के परामर्श की उपेक्षा कर वे तट पर उतरे और अपने सेक्रेटरी से उद्‌भेदन का प्रत्यक्ष विवरण लिखते जाने को कहा। देखते-देखते उद्‌भेदन ने प्रचंड रूप धारण कर लिया, भूकंप शुरू हो गया और तटवर्ती समुद्र में भीषण हलचल ने प्रलय का दृश्य उपस्थित कर दिया। चारों ओर भयभीत स्त्री-पुरुष शोर मचाते हुए भाग-दौड़ रहे थे। परंतु प्लिनी तब भी, निर्विकार हृदय और शांत चित्त से, अपने अवलोकनों के परिणाम अपने सेक्रेटरी को लिखाते ही रहे। यह वर्णन वे समाप्त नहीं कर सके। विसूवियस् की जलती राख में उनका नश्वर शरीर समाधिस्थ हुआ।

प्लिनी का विश्वकोश (Naturalis Historia) : नाटुरालिस् हिस्टोरिया में उन्होंने अपने समय तक की सभी प्रकार की विद्याओं की चर्चा की है। यह विश्वकोश आरंभ होता है ज्योतिष की चर्चा के साथ। इसमें सूर्य, ग्रह-नक्षत्र और ब्रह्मांड-संबंधी सभी प्रकार के तथ्यों और सिद्धांतों की विशद चर्चा की गई है। रहस्यपूर्ण नक्षत्र-लोक की चर्चा के बाद उन्होंने पृथ्वी की उत्पत्ति और उसकी गठन की विशेषताओं का वर्णन किया है, फिर वे पृथ्वी से भूगोल और भूगोल से प्राणि-विज्ञान पर आए हैं। प्राणि-विज्ञान के प्रसंग में अनेक प्रकार के जीव-जंतुओं, मछली, कीट-पतंग और पक्षियों का अध्ययन किया गया है। प्राणि-विज्ञान के बाद उन्होंने वनस्पति का विषय उठाया है। यह चर्चा विशद और विस्तृत है। केवल वृक्ष के संबंध में ही उन्होंने ४ खंड लिखे; कृषि-संबंधी तीन और भेषज-संबंधी ९ खंडों की रचना की। विश्वकोश के अंतिम कुछ खंडों में खनिज पदार्थ, धातु निकालने की पद्धति, रसायन, प्राचीन चित्रकला और स्थापत्य की चर्चा की गई है।

किसी एक व्यक्ति के लिए, चाहे वे जितने बड़े पंडित हों, वैज्ञानिक तथ्यों और सिद्धांतों को सदा यथावत् और अविकृत रखते हुए, बिना किसी त्रुटि के, ज्ञान-विज्ञान के समग्र विभागों की इस प्रकार विशद चर्चा संभव नहीं है। ऐसे क्षेत्र में भूल-चूक, असंबद्धता और जगह-जगह वैज्ञानिक सत्य का उल्लंघन होना कोई विचित्र बात नहीं है। प्लिनी के 'प्रकृति के इतिहास' में ऐसी बहुतेरी भूल-चूक, असंबद्धता, अध्ययन का खोखलापन और वैज्ञानिक तथ्यों तथा सत्यों की विकृति हुई है। परवर्ती काल के अनेक पंडितों ने इन सब त्रुटियों की समालोचना की है। विख्यात फ्रेंच पंडित और समालोचक लित्रे ने इस विश्वकोश की भरपूर प्रशंसा करते हुए अंत में यह मत व्यक्त किया है कि समग्र रचना में वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि का नितांत अभाव है। दूसरी ओर

फ्रेंच प्राणि-वैज्ञानिक बूफों ने न केवल इस विश्वकोश की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, वल्कि यह मत प्रकट किया है कि प्लिनी ने समग्र विषय की चर्चा में एक महान और व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इसी प्रकार के दृष्टिकोण से विज्ञान की प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है। प्लिनी की रचना में उनकी जो स्वतंत्र और निर्भीक विचारधारा प्रकाश में आई है, उसका भी उल्लेख करते हुए बूफों ने कहा है कि यह निर्भीकता और स्वतंत्रता ही दर्शन के स्रोतस्वरूप हैं। बूफों की यह उक्ति अनेकांश में सत्य है। 'नाटुरालिस् हिस्टोरिया' वैज्ञानिक तथ्यों का नीरस वर्णनमात्र नहीं है। अनेक विषयों में प्लिनी ने स्वयं अपने मत व्यक्त किए हैं और जहाँ प्राचीन सिद्धांतों से उनके निजी विश्वास का संघर्ष हुआ है, वहाँ हँसी-मजाक में और कौशल के साथ, उसे प्रकट भी किया है। इसका एक उदाहरण यहाँ अप्रासंगिक न होगा। प्लिनी ने लिखा है :

"मनुष्य में प्रकृति की अपूर्णता का जो परिचय हमें मिलता है, उसमें सांत्वना की बात यह है कि स्वयं ईश्वर भी सब कुछ नहीं कर सकते। जैसे, इच्छा होने पर भी वे आत्महत्या नहीं कर सकते; हमारे नश्वर जीवन की विडंबनाओं से मुक्ति प्राप्त करने के उपायस्वरूप, यह मनुष्य के प्रति ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट दान है। इसके अतिरिक्त, वे नश्वर मनुष्य को अमर नहीं बना सकते, मुर्दे को जीवित नहीं कर सकते; जिसने एक बार जीवन धारण किया है, वे ऐसा नहीं कर सकते कि जैसे उसने कभी जीवन धारण किया ही न हो.........। अतीत पर विस्मरण का परदा डालने के अतिरिक्त उनकी और कोई क्षमता नहीं है, और मेरा अपराध क्षमा करें तो ईश्वर के साथ मनुष्य की स्वजातीयता का एक और छोटा-सा दृष्टांत मैं दे सकता हूँ, जैसे यह कि, दस का दुगुना बीस नहीं होगा, उनके लिए ऐसा करना असाध्य है, इत्यादि।" (दूसरा खंड, पृष्ठ २७)†

प्लिनी के विश्वकोश की एक और विशेषता यह है कि उन्होंने मनुष्य को केंद्र में रखकर समग्र विषयों का अध्ययन किया। मनुष्य (ईश्वर या कोई देवता नहीं) ने सभी प्रकार के ज्ञान का आविष्कार किया, इस परम सत्य को उन्होंने सदा सामने रखा। 'प्रकृति के इतिहास' का अर्थ प्राकृतिक वस्तु-समूह के संबंध में मनुष्य की दीर्घकालीन अभिज्ञता और गवेषणा का क्रमबद्ध इतिहास है, इस

---

† B Farrington, "Greek Science." Part II, p. 136—में दिए गए अनुवाद का हिंदी रूपांतर।

सत्य की उपलब्धि उनके विश्वकोश में प्रारंभ से अंत तक विद्यमान है। इसीलिए धातु के विषय में कहते हुए उन्होंने मुद्रा, अंगूठी, सरकारी काम में व्यवहृत विभिन्न प्रकार की मुहरों आदि विषयों की अवतारणा की है। प्राणियों का वृत्तांत लिखते हुए, प्राणि-देह से प्राप्त विभिन्न रोगों की प्रतिरोधक कुछ औषधियों की चर्चा में उन्होंने अपना वक्तव्य समाप्त किया है। प्लिनी के पहले किसी-किसी ग्रीक वैज्ञानिक-द्वारा रचित प्रकृति के इतिहास में भी इस प्रकार के दृष्टिकोण का आभास मिलता है। थिओफ्रेस्टस् ने वनस्पति और रसायन की इतिहास-रचना के प्रसंग में विभिन्न शिल्पों में लकड़ी और पत्थर के व्यवहार का उल्लेख किया है। परंतु इस विषय पर प्लिनी ने जो महत्व आरोपित किया, वैसा उनसे पहले की किसी रचना में दिखाई नहीं देता।

७९ ई० से १४६९ ई० तक नाटुरालिस् हिस्टोरिया की कुछ ही प्रतिलिपियाँ संपूर्ण यूरोप में संरक्षित थीं। मध्ययुग में प्लिनी की रचनावली के प्रति विद्वज्जनों की दृष्टि आकर्षित होने पर हिस्टोरिया का प्रचार और मांग बढ़ी और उस समय इसकी अनेक प्रतिलिपियों का संकलन हुआ। नाटुरालिस् हिस्टोरिया की इस प्रकार की कोई २०० प्रतिलिपियाँ विभिन्न देशों के पुस्तकालयों में अभी तक सुरक्षित हैं। विश्वकोश प्रणेताओं के लिए प्लिनी ने एक महान् आदर्श स्थापित किया था। बार्थोलोम्युस्, ऐंग्लिकस्, कॉन्राड् जैसे परवर्ती काल के विख्यात विश्वकोश प्रणेताओं ने उस आदर्श का अनुसरण किया।

पेंडानिओस् डिओस्कोरिडिस् (अनुमानतः ईस्वी प्रथम शती)

प्राचीन वनस्पति-वैज्ञानिकों में थिओफ्रेस्टस् के बाद ही पेंडानिओस् डिओस्कोरिडिस् का नाम प्रसिद्ध है। ईस्वी ९ वीं, १० वीं और ११वीं शती में अरब वनस्पति-वैज्ञानिकों में और मध्ययुग में यूरोपीय वनस्पति वैज्ञानिकों में डिओस्कोरिडिस् ग्रंथावली को विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। इस प्रकार का सम्मान और लोकप्रियता थिओफ्रेस्टस् भी नहीं प्राप्त कर सके थे, यद्यपि वैज्ञानिक के रूप में थिओफ्रेस्टस् डिओस्कोरिडिस् की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिभाशाली थे।

आनाजार्बोस् के निवासी डिओस्कोरिडिस् सिसलीय ग्रीक थे। उनके जन्म या मृत्यु के संबंध में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती; परंतु वे ईस्वी प्रथम

शती में जीवित थे, यह अनुमान ठीक जान पड़ता है। नीरो के शासनकाल में वे रोमन सैनिक विभाग में चिकित्सक के पद पर नियुक्त हुए। सामरिक विभाग में काम करने के कारण उन्हें देशाटन का विशेष अवसर प्राप्त हुआ था। इस अवसर का उपयोग कर उन्होंने लंबी अवधि तक वनस्पति संबंधी गवेषणाएँ कीं और विभिन्न रोगों के उपचार में आनेवाली अनेक वनस्पतियों के गुणों का पता लगाया। भेषज और जंगली जड़ी-बूटियों संबंधी खोज-बीन के लिए ही उन्हें प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

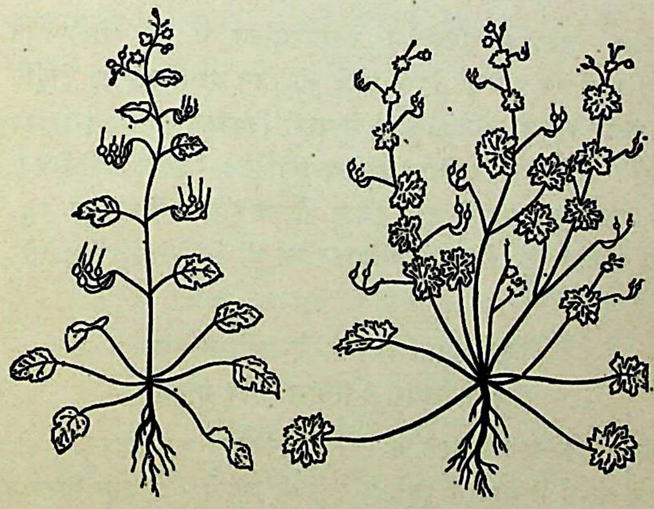
वनस्पति-विज्ञान : औषधि के रूप में वनस्पतियों के गुणों के परीक्षण और पर्यवेक्षण के सिलसिले में वनस्पतियों के आकृति-विज्ञान (morphology) के संबध में भी डिओस्कोरिडिस् ने मूल्यवान खोज की। लगभग ६०० विभिन्न पेड़-पौधों के मूल, शाखाओं और पत्तों की बाह्याकृति और गठन-विशेषता के संबंध में उन्होंने त्रुटिहीन विवरण लिपिबद्ध किए। अधिकांश क्षेत्रों में उन्होंने पेड़-पौधों के स्थानीय नामों का व्यवहार किया है, साथ ही अनेक वनस्पतियों के लैटिन, प्युनिक, मिस्री, डेसियन और गोलदेशीय प्रतिशब्द भी उन्होंने दिए हैं।

विज्ञानसम्मत उपाय से वनस्पतियों के श्रेणी-विभाजन के विषय में उन्होंने कोई विशेष चेष्टा नहीं की। मोटे तौर पर, (१) सुगंधियुक्त, (२) पकाने के उपयुक्त और (३) औषधि के रूप में व्यवहार करने योग्य, इन तीन श्रेणियों की वनस्पतियों का उन्होंने उल्लेख किया है। पुष्पों के आकार-भेद का अध्ययन करके उन्होंने वनस्पतियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया था :

(१) छत्रपुष्पी या अंबेलिफेरी (umbelliferous); (२) शिंबी या फलीदार (leguminous), और (३) तुलसी कुल या लैबिएटी (labiateae) वनस्पति। डिओस्कोरिडिस् से पहले वनस्पति-वैज्ञानिकों ने समग्र वनस्पति-जगत् को वृक्ष, गुल्म और वीरुध, इन तीन प्रधान श्रेणियों में विभाजित किया था। यह श्रेणी-विभाजन ही अधिक विज्ञान-सम्मत है, क्योंकि सुगंधित (aromatic) वनस्पति, वृक्ष, गुल्म या वीरुध इन तीनों में से किसी भी श्रेणी के अंतर्गत हो सकती है। पकाने के लायक (culinary) या औषधिधर्मी वनस्पतियों के लिए भी इसी युक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। डिओस्कोरिडिस् श्रेणी-विभाजन के विषय में अपनी दुर्बलता से परिचित थे और अपने से पहले के वनस्पति-वैज्ञानिकों के उपर्युक्त श्रेणी-विभाजन की बात भी जानते थे।

कारण जो भी हो, श्रेणी-विभाजन के महत्त्व ने उनका ध्यान आकर्षित नहीं किया।

डिओस्कोरिडिस्-रचित औषधि-संबंधी ग्रंथ में अनेक प्रकार की वनस्पतियों का सचित्र वर्णन है। वनस्पतियों के ये चित्र बहुत निपुण हाथों-द्वारा अंकित हैं। प्राचीन मिस्री और असीरिया के प्राधान्य के काल में समाधि-प्रस्तरों या अट्टालिकाओं की दीवारों पर कई प्रकार के पेड़-पौधों के अंकित या खुदाई किए हुए चित्र दिखाई अवश्य पड़ते हैं, परंतु जहाँ तक जानकारी मिलती है, वनौषधि का संभवत: सर्वप्रथम सचित्र ग्रंथ डिओस्कोरिडिस् का ही है। मध्ययुग में यह ग्रंथ वनौषधि का प्रामाणिक ग्रंथ गिना जाता था। डिओस्कोरिडिस् द्वारा चित्रित या वर्णित पेड़-पौधों या जड़ी बूटियों से जब तक मेल नहीं दिखाई देता, तब तक किसी औषधि को असली नहीं माना जाता था। डिओस्कोरिडिस् के ग्रंथ में भारतीय वनौषधियों का भी थोड़ा-बहुत विवरण मिलता है। रोम और भारत के बीच वाणिज्य संपर्क के सूत्र से उन्हें भारतीय वनौषधियों के संबंध में जानकारी प्राप्त हुई।



चित्र—१०४ : डिओस्कोरिडिस्-द्वारा अंकित दो पौधे—इरोडियम मेलाकॉयडिस् (Erodium melachoides) और जिरैनियम मोले (Geranium molle) जुलियाना ऐनिसिया की पांडुलिपि में प्रदत्त।

डिओस्कोरिडिस् ग्रीक भाषा में लिखते थे। बाद में उनके ग्रंथों का लैटिन भाषा में अनुवाद हुआ। इस लैटिन अनुवाद के माध्यम से ही उनके ग्रंथों

को व्यापक लोकप्रियता प्राप्त हुई और उनका प्रसार संभव हुआ। वाइ-जेंटाइन सम्राट फ्लेवियस् ऐनिसियस् आॅलिब्रायस् की विदुषी कन्या राजकुमारी ऐनिसिया जुलियाना (मृत्यु ५२७ ई०) ने छठी शती में डिओस्कोरिडिस् की ओषधि-संबंधी ग्रंथावली का लैटिन भाषा में अनुवाद किया। बहुतों का मत है कि लैटिन भाषा में डिओस्कोरिडिस् के ग्रंथों का यही सर्वप्रथम अनुवाद था। १०वीं शती (९४९) में, स्पेन में खलीफा तृतीय अब्दुर्रहमान के शासन-काल में, वाइजेंटाइन सम्राट सातवें कांस्टैंटाइन ने निकोलस नाम के एक पादरी की मारफत डिओस्कोरिडिस् का वनौषधि-ग्रंथ उपहारस्वरूप काॅर्डोवा भेजा। इस ग्रंथ ने स्पेन के मुसलमानों को वनस्पति-चर्चा में विशेष रूप से प्रोत्साहित किया और थोड़े ही दिनों में डिओस्कोरिडिस् का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ। अरबी भाषा में इस ग्रंथ का मनोहर अनुवाद और इसके चित्रों का त्रुटिहीन अनुकरण मुसलिम वैज्ञानिकों के सराहनीय धैर्य तथा अध्यवसाय का परिचय देते हैं। डिओस्कोरिडिस् का यह अरबी अनुवाद एक समय पृथ्वी के प्रायः प्रत्येक पुस्तकालय का एक अति मूल्यवान संग्रह गिना जाता था।

रसायन : डिओस्कोरिडिस् ने रसायनशास्त्र में भी थोड़ा-बहुत शोध किया था। यौगिक पदार्थ तैयार करने की जिन प्रणालियों का उन्होंने वर्णन किया है, उनमें हिंगुल (cinnabar) से पारा निकालने, टार्टर (tartar) से शोरा बनाने आदि की प्रणालियाँ उल्लेखयोग्य हैं। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के रासायनिक पदार्थों का उल्लेख भी उनके ग्रंथ में मिलता है। इससे यह जान पड़ता है कि रसायनशास्त्र का भी डिओस्कोरिडिस् को यथेष्ट ज्ञान था।

चिकित्सा विज्ञान—ऐस्लपियाडिस्, ओफिडियस्, सेल्सस् और गैलेन

रोमन चिकित्सा-विज्ञान ग्रीक चिकित्सा-विज्ञान का प्रसारमात्र था। ग्रीक संस्कृति के संपर्क में आने से पहले रोमनों की अपनी चिकित्सा-विद्या नाम की जो कुछ चीज थी, वह बहुत निकृष्ट किस्म की थी और उसमें विज्ञान-सम्मत पद्धति का नाम-निशान तक नहीं था। ध्यान देने की एक और बात यह है कि रोमन युग में लैटिनभाषी जातियों में एक भी ख्यातिप्राप्त चिकित्सक या चिकित्सा-वैज्ञानिक नहीं हुआ। एस्लपियाडिस्, औफिडियस्, सेल्सस्, गैलेन-जैसे कुछ यशस्वी चिकित्सा-वैज्ञानिकों के जो नाम रोमन युग में मिलते हैं,

उनमें से अधिकांश ग्रीक थे। चिकित्साविद्या में व्यक्तिगत रूप से रोमन प्रतिभा का चाहे कोई दृष्टांत न हो, परंतु अन्य प्रकारों से रोमनों ने इस विद्या की यथेष्ट उन्नति की थी। रोमन ही यूरोप में पहले-पहल अस्पतालों की व्यवस्था का सूत्रपात करनेवाले थे। जनस्वास्थ्य-व्यवस्था का प्रथम प्रवर्तन भी रोमन जाति ने ही किया। इस अस्पताल और जनस्वास्थ्य-व्यवस्था के माध्यम से रोमनों ने चिकित्सा-विज्ञान में क्रांति ला दी। चिकित्सा-विज्ञान के विकास के इतिहास में रोमनों की यह एक श्रेष्ठ देन है। रोमन जाति की संगठन-क्षमता का भी यह एक उत्तम दृष्टांत है।

एस्लपियाडिस् (मृत्यु ई० पू० ४०)

विथिनिया के ग्रीक चिकित्सक ऐस्लपियाडिस् के समय से रोम में चिकित्सा-विद्या की चर्चा और अध्यापन-कार्य का आरंभ हुआ। ऐस्लपियाडिस् रोमन कवि और दार्शनिक लुक्रेटियस् के समकालीन थे और उनकी तरह एपिक्युरीय दर्शन में उनका विश्वास था। इरासिस्ट्रेटस् के अनुकरण पर उन्होंने चिकित्साविद्या में आणविक सिद्धांत के प्रयोग की चेष्टा की। रोम में, नियमित रूप से, चिकित्साविद्या की शिक्षा के उद्देश्य से उन्होंने एक विद्यापीठ की स्थापना की। उनकी मृत्यु के बाद भी यह विद्यापीठ बहुत दिनों तक चलता रहा।

ऐस्लपियाडिस् सुचिकित्सक ही नहीं, अच्छे शिक्षक भी थे। विभिन्न देशों से शिक्षार्थी उनके पास चिकित्साविद्या के अध्ययन और अभ्यास के लिए आते थे। इस शिष्यवर्ग ने बाद में कई समितियाँ स्थापित कीं और गोष्ठियों का आयोजन किया। समितियों या गोष्ठियों में चिकित्सा-संबंधी विभिन्न विषयों की चर्चा होती या उन पर वाद-विवाद होता। थोड़े ही दिनों में ये पाठ-चक्र बहुत लोकप्रिय हो गए। सम्राट ऑगस्टस के शासनकाल (ई० पू० २७-२४) के अंतिम भाग में या सम्राट टिबेरियस् के राजत्व के समय (ई० १४-३७) इन समितियों ने सम्मिलित रूप से रोम की एस्क्विलिन पहाड़ी पर एक सभागृह का निर्माण किया, जो न बहुत बड़ा था और न छोटा। यह सभा-भवन ही रोमन चिकित्साविज्ञान के इतिहास में 'स्कोला-मेडिकोरम् (Schola medicorum) नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'स्कोला-मेडिकोरम्' को, उसकी स्थापना के थोड़े ही समय बाद, रोमन सम्राटों की पृष्ठपोषकता और आर्थिक सहायता प्राप्त हुई और फलस्वरूप वहाँ नियमित रूप से चिकित्साविद्या का अध्यापन और चर्चा आरंभ हो गई। शुरू-शुरू में

सभा-भवन के अध्यापक, छात्रों के वेतनों से ही अपने पारिश्रमिक लिया करते थे। सम्राट वेस्पासियन (७०-७९) ने सबसे पहले राजकोष से इन अध्यापकों को मासिक भत्ता दिए जाने की व्यवस्था की और परवर्ती काल में यही स्थायी व्यवस्था वन गई।

इस प्रकार-ईस्वी प्रथम शती में रोम, चिकित्साविद्या के अध्ययन और चर्चा का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र वन गया। थोड़े समय में इटली के अन्य नगरों ने रोम के दृष्टांत का अनुकरण करके चिकित्साविद्या के अध्ययन-चक्रों या समितियों की स्थापना की। धीरे-धीरे इटली के बाहर कार्सेई, वॉर्दो, आर्ल, निम्, लियों, सारागोसा आदि स्थानों में इस प्रकार के अध्ययन-चक्रों और शिक्षा-केंद्रों की स्थापना हुई। इन केंद्रों में मुख्यतः व्यावहारिक चिकित्साविद्या की शिक्षा दी जाती थी। सेना में चिकित्सक का पद प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति इन केंद्रों में चिकित्साविद्या का अध्ययन और अभ्यास करने के लिए जाते थे और इस दृष्टि से इन प्रतिष्ठानों ने साम्राज्य की सेना की एक विशाल आवश्यकता की पूर्ति में विशेष सहायता प्रदान की। चिकित्सा-विज्ञान में गवेषणा की दृष्टि से इस प्रकार के केंद्र सफल नहीं रहे।

औफिडियस्

सिसली-निवासी, ग्रीक-वंशीय, टाइटस् औफिडियस् ऐस्लपियाडिस् के छात्र थे। चिकित्सा-शास्त्र में उनके पांडित्य और प्रतिभा के विषय में फैरिंगटन ने लिखा है, 'औफिडिस् की प्रतिभा निराली थी।'* इतिहासकारों को वहुत दिनों तक उनकी प्रतिभा की कोई जानकारी नहीं थी। विख्यात रोमन चिकित्सक और लेखक सेलसस् की पुस्तकों की छानवीन से पता चला कि वे स्वयं अपनी रचनाओं के लिए अनेकांश में औफिडियस् के ऋणी थे। औफिडियस् अच्छे चिकित्सक थे। वे रोग से अधिक रोगी की अवस्था के अध्ययन पर अपना ध्यान केंद्रित करते थे। उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ इस मत का प्रचार किया कि प्रत्येक रोगी के लिए स्वतंत्र चिकित्सा-व्यवस्था होनी चाहिए और चिकित्सा के मामले में सामान्यीकरण हानिकर है। रोगी के पथ्य और उसके उचित प्रयोग को वे विशेष महत्त्व देते थे। उनका कहना था कि 'उचित समय पर रोगी को भोजन दिया जाय, इससे अच्छी कोई दवा नहीं हो सकती। अनेक प्राचीन चिकित्सकों का मत है कि रोगी को पाँचवें या छठे दिन के पहले भोजन दिया जाना उचित नहीं है। ऐस्लपियाडिस् रोगी को

* B. Farrington, "Greek Science" Part II, Pelican, p. 128.

तीन दिन पूर्णतः भूखा रखकर चौथे दिन उसके आहार की व्यवस्था करते थे।......इन नियमों में से कोई भी सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू नहीं किया जा सकता। आवश्यकतानुसार पहले, दूसरे या तीसरे दिन भोजन दिया जा सकता है, फिर, आवश्यक होने पर, चौथे या पाँचवें दिन भी पथ्य बंद रखा जा सकता है।...आहार कब देना होगा, यह रोग, शरीर की अवस्था, जलवायु, रोगी की उम्र और ऋतु पर निर्भर है।' औफिडियस् का एक और मत ध्यान देने योग्य है। उनका कहना था कि चिकित्सक को बार-बार रोगी की परीक्षा और देखभाल करनी चाहिए। साथ ही यह भी कि रोगी की चिकित्सा कई चिकित्सकों को सौंपना अनुचित है।

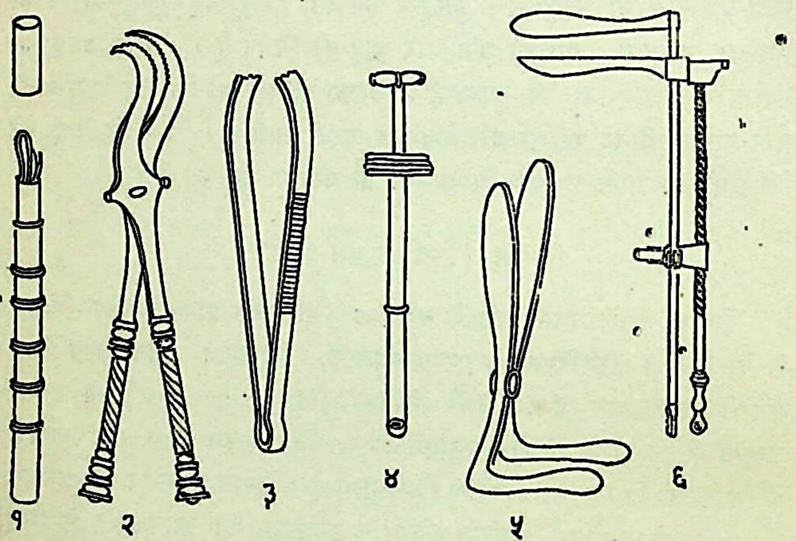
सेल्सस् (ईस्वी प्रथम शती)

सेल्सस्, ईस्वी प्रथम शती के सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक और चिकित्सा-विज्ञान के लेखक थे। टिबेरियस् के शासनकाल में, चिकित्सा और शल्य-क्रिया संबंधी एक विशाल ग्रंथ, 'डी रि मेडिका' (De re medica) की रचना उन्होंने लैटिन भाषा में की (अनुमानतः ३० ई०)। इस ग्रंथ के प्रथम अंश में चिकित्सा-विज्ञान का इतिहास दिया हुआ है। सेल्सस् के समय तक प्राचीन ग्रीक और ग्रीको-रोमन चिकित्साविद्या के इतिहास की जानकारी के लिए यही एकमात्र प्रामाणिक ग्रंथ है। ग्रंथ के अवशिष्ट अंश में अनेक प्रकार के रोग तथा उनके कारण, पथ्य, औषध और अंत में शल्य-क्रिया के संबंध में अनेक तथ्यों की चर्चा और समालोचना भी है।

'डी रि मेडिका' सेल्सस् की मौलिक रचना नहीं है। इसकी सामग्री प्रायः पूर्णतः पूर्ववर्ती ग्रीक चिकित्सकों के ग्रंथों और रचनाओं से ली गई है। इस संग्रह के लिए वे औफिडियस् के ही ऋणी हैं, अन्य किसी के नहीं, यद्यपि औफिडियस् के नाम का उन्होंने कभी-कभी ही उल्लेख किया है। प्रवाह-युक्त भाषा और मधुर रचना के कारण, सेल्सस् को प्राचीन ग्रंथकारों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। छपाई का आविष्कार होने पर, चिकित्सा-संबंधी प्राचीन ग्रंथों में से 'डी रि मेडिका' का ही सर्वप्रथम मुद्रण १४७८ ई० में हुआ था।

'डी रि मेडिका' में दिए गए शल्य-चिकित्सक संबंधी वृत्तांत ने चिकित्सा-विज्ञान के इतिहासकारों की दृष्टि विशेष रूप से आकृष्ट की है। अनेक कठिन शल्य-क्रियाओं के विशद विवरण इस ग्रंथ में मिलते हैं। उदाहरण के रूप में

घेघा और गलसुआ की शल्य-क्रिया, मुँह के भीतर की या चेहरे की विकृति दूर करने के लिए शल्य-क्रिया, अर्थात् आधुनिक प्लास्टिक शल्य-क्रिया, शल्य-क्रिया की सहायता से नासारंध्र की झिल्ली बाहर निकालना आदि का उल्लेख किया



चित्र---१०५ : पांपियाई में प्राप्त रोमन युग के शल्य-क्रिया यंत्र । (१) तेज धार-वाली छुरी, चम्मच आदि रखने के उपयुक्त एक छोटा खोखा; (२) दाँत उखाड़ने की संडसी; (३) सूक्ष्म दाँतवाली संडसी; (४) जठर या अंडकोषादि में जमा हुआ पानी निकालने की सूची-शलाका (Trocar तथा Cannula); (५) शरीर के रंध्रयुक्त स्थानों के प्रसारण और परीक्षण के लिए स्पेकुलम् यंत्र (६) परीक्षण की सुविधा के लिए जख्मी स्थान को प्रसारित करनेवाला यंत्र ।

जा सकता है । दंतरोग और दाँत-संबंधी शल्य-क्रिया की चर्चा भी इसमें है । उनके समय में शल्य-क्रिया में जिस प्रकार के यंत्रों का व्यवहार होता था, सेल्सस् ने उनका विशद वर्णन किया है । इन यंत्रों के कुछ नमूने पुरातात्विकों ने पांपियाई खंडहरों की खुदाई में पाए हैं, चित्र में कुछ नमूने दिखाए गए है । अंतड़ियों से शल्य-क्रिया-द्वारा पथरी निकालने की प्राचीन भारतीत पद्धति (lithotomy) का विवरण भी इस ग्रंथ में मिलता है । सुश्रुत में इस पद्धति की चर्चा की गई है । भारत और यूरोप के बीच ज्ञान-विनिमय का यह एक दृष्टांत है ।

गैलेन (१३०-२०० ई०)

प्राचीन चिकित्सा-वैज्ञानिकों में पार्गामम्-निवासी गैलेन का स्थान हिप्पोक्रेटिस् के बाद ही है। ज्योतिष और भूगोल के इतिहास में क्लॉडियस् टॉलेमी का जो स्थान है, वही चिकित्सा विज्ञान के इतिहास में क्लॉडियस् गैलेन को प्राप्त है। इन दोनों प्रख्यात वैज्ञानिकों की गवेषणा-प्रणालियों में भी बहुत मेल है। कोपर्निकस्, टाइकोब्राहो, केप्लर आदि पुनर्जागरणकालीन वैज्ञानिकों ने जिस प्रकार टॉलेमी के ज्योषति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार-विश्लेषण-द्वारा, इस विद्या की अंतर्निहित भूलों से सचेत होकर, ब्रह्मांड-संबंधी एक नई परिकल्पना को जन्म दिया, उसी प्रकार वेसालियस्, हार्वी-जैसे पुनर्जागरणकालीन चिकित्सा-शास्त्रियों ने भी शरीर और शरीर-क्रिया के संबंध में गैलेन की भूलों और असंगतियों से अवगत होकर समग्र शरीर-क्रिया विज्ञान के रूप और धारा को ही बदल दिया। टॉलेमी और गैलेन दोनों का कार्यकाल ईस्वी दूसरी शती है। दोनों ने अपने-अपने शास्त्र में, पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों की गवेषणाओं और सिद्धांतों को, स्वयं अपनी गवेषणाओं तथा दीर्घकालीन अभिज्ञता और विचारधारा की कसौटी पर कसकर, उस शास्त्र का जो समन्वित मतवाद प्रचारित किया, उसके बाद डेढ़ हजार वर्षों की अवधि में कोई वैज्ञानिक उस मतवाद का खंडन नहीं कर सका। इस लंबी अवधि में लोगों को पक्का विश्वास हो गया था कि ज्योतिष में टॉलेमी और शरीर-रचना तथा क्रिया के संबंध में गेलेन ने जो कुछ लिखा, इन विषयों के लिए वह अंतिम सत्य था।

संक्षिप्त जीवनी : एशिया माइनर में १३० ई० में पार्गामम् नामक स्थान में गैलेन का जन्म हुआ। उनके पिता स्थपति और गणितज्ञ थे। बहुत थोड़ी अवस्था से ही उन्होंने चिकित्सा-विद्या का अध्ययन किया। स्मर्ना कोरिंथ, अलेग्जेंड्रिया आदि स्थानों में बड़े परिश्रम से शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने इस विद्या का विशेष ज्ञान प्राप्त किया। अलेग्जेंड्रिया में रहते समय उन्हें एक बार एक नर-कंकाल के परीक्षण का अवसर मिला। मानव शरीर की भीतरी गठन से यही उनका प्रथम और अंतिम प्रत्यक्ष परिचय था, क्योंकि मनुष्य-शरीर का व्यवच्छेदन उनके समय में निषिद्ध था। हिरोफिलस् और इरासिस्ट्रेटस् के काल में अलेग्जेंड्रिया में नरदेह-विच्छेदन की व्यवस्था थी। ईसापूर्व प्रथम शती में भी इस प्रकार के विच्छेदन का उल्लेख मिलता है। परंतु जनमत धीरे-धीरे इसके बहुत विरुद्ध होता गया और विच्छेदन पर रोक लगा

दी गई। शरीर-रचना और क्रिया विज्ञान के संबंध में गैलन ने जिस सिद्धांत का पोषण और प्रचार किया, वह प्राणिदेह के विच्छेदन की अभिज्ञता पर आधारित था।

अपने कार्यकाल के प्रारंभ में गैलेन ने पार्गामम् में मल्लयोद्धाओं के शल्य-चिकित्सक के पद पर चार वर्ष विताए। उन दिनों प्रदेश का प्रत्येक उच्चाभिलाषी व्यक्ति भाग्यान्वेषण के लिए रोम जाकर वहीं निवास करता था। गैलेन ने भी रोम में अपना चिकित्सा-व्यवसाय आरंभ कर दिया। थोड़े ही दिनों में वे रोम के चोटी के चिकित्सक गिने जाने लगे। सम्राट मार्कस् ऑरेलियस् को जब उनके पांडित्य और चिकित्सा-पटुता का परिचय मिला, तब उन्होंने गैलेन को राज-चिकित्सक के पद पर नियुक्त किया। जर्मन-विरोधी एक अभियान में गैलेन मार्कस् के साथ थे। राज-चिकित्सक का भारी दायित्व निभाते हुए, अवकाशविहीन जीवन में भी उन्होंने गवेषणा के लिए समय निकाला, जीवों के शरीरों के विच्छेदन किए और विश्वकोश जैसी ग्रंथावली की रचना की।

गैलेन की रचनाओं में से अब तक सौ पुस्तकें संरक्षित हैं। १८२१ ई० और १८३१ ई० के बीच कून ने उनकी समस्त रचनाओं का संकलन कर उन्हें प्रकाशित किया। २० बड़े-बड़े खंडों में यह संकलन पूरा हुआ। इस संकलन में केवल वे ही ग्रंथ शामिल किए गए, जिनके संबंध में यह विचार किया गया कि वे निस्संदेह गैलन-द्वारा ही रचे गए थे। उन्होंने इनके अतिरिक्त और भी बहुत से ग्रंथ लिखे होंगे, यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

उनकी गवेषणाओं को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है : (१) शरीर-रचना-संबंधी और (२) शरीर-क्रिया-संबंधी।

शरीर-रचना : शरीर-रचना-संबंधी उनकी गवेषणाओं में पहले हड्डियों की बात ले लीजिए। अलेग्जेंड्रिया में नर-कंकाल का परीक्षण करने के बाद से, मनुष्य-शरीर के अस्थि-संस्थान के संबंध में, गैलेन के मन में कुतूहल उत्पन्न हुआ। उन्होंने अस्थियों के दो मुख्य भाग किए—(१) लंबी हड्डियाँ, जिनके अंदर से एक पतली नली बराबर चली गई है और (२) बिना नली की चिपटी हड्डियाँ। उन्होंने कशेरुकों को चिह्नित किया और उनके सही-सही वर्णन लिपिबद्ध किए। पसली, जांघ, हंसली तथा अंग-प्रत्यंगों की अस्थियों का भी उन्होंने विवरण दिया। उनके मतानुसार जोड़ और संधि-बंधन दो प्रकार के

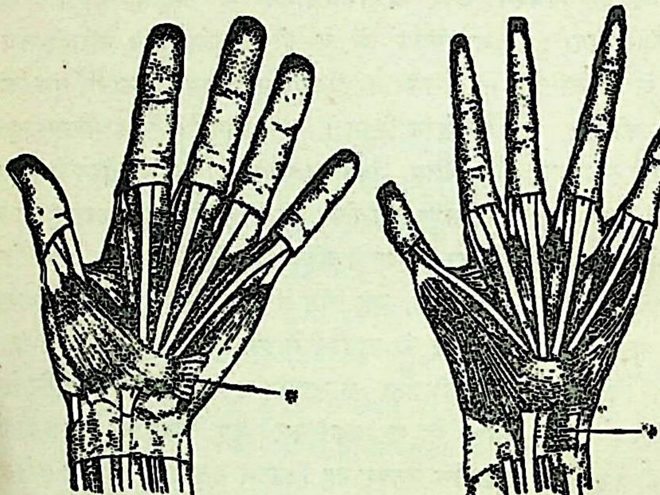
हैं—गतिसंपन्न और गतिहीन। इन अस्थियों और संधियों के उन्होंने जो नामकरण किए, अधिकांश क्षेत्रों में वे नाम आज भी चले आ रहे हैं। 'अस्थियों के विषय में' नामक पुस्तक में हड्डियों की चर्चा की गई है।

पेशियों के विवरण और श्रेणी-विभाजन में उन्होंने अपनी श्रेष्ठता का परिचय दिया। इस विषय में वे ही अगुआ थे। पेशियों-संबंधी गवेषणा के सिलसिले में गैलेन ने 'मेकाकस् इनुअस्' नामक एक जाति के वानर की देह का विच्छेदन किया। इस वानर के साथ मानव-देह की बहुत बाहरी समानता थी इसलिए, मैकाकस् वानर के देह-विच्छेदन से पेशियों संबंधी जो तथ्य मिलेंगे, वे मनुष्य के लिए भी लागू होंगे, इस धारणा के वश में गैलेन ने इस जाति के बंदर को अपने शोध-कार्य के लिए चुना। इस विषय में उनकी दृष्टि कितनी ठीक थी, यह चित्र में दिए गए मनुष्य और मैकाकस् बंदर की हथेलियों की पेशियों के सादृश्य से प्रमाणित हो जाता है। प्राणि-शरीर के विच्छेदन की अभिज्ञता के आधार पर मानव-देह की पेशियों की गठन-विशेषताओं के संबंध में मत प्रकट करते हुए, गैलेन ने अनेक क्षेत्रों में पाठकों को सावधान किया कि उनका यह विवरण मनुष्य के क्षेत्र में पूरी तरह लागू नहीं होगा।

गैलेन ने मस्तिष्क और रक्तवाहिनी धमनियों के विशद विवरण लिखे। अस्थि और पेशियों-संबंधी शोध और वर्णन की तुलना में मस्तिष्क और धमनियों का उनका विवरण बहुत साधारण है। जो भी हो, गैलेन की गवेषणाओं के परिणामस्वरूप शरीर-रचना के संबंध में मनुष्य के ज्ञान में पर्याप्त वृद्धि हुई। मनुष्य-शरीर के विच्छेदन की सुविधा उन्हें मिली होती तो उनकी रचनाओं में बीच-बीच में जो खामियां और असंगतियां दिखाई पड़ती हैं, संभवतः उनका निराकरण हो गया होता। परंतु अनिवार्य कारणों से यह संभव नहीं हुआ। गैलन-द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करके ही १६ वीं शती में वेसालियस् (१५१४-६४ ई०), नर-शरीर-विच्छेदन की प्रत्यक्ष अभिज्ञता से, गैलेन की भूलों को पकड़ने में समर्थ हुए।

तंत्रिका-तंत्र के विषय में गैलेन के पर्यवेक्षण और गवेषणा विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। रीढ़-रज्जु संबंधी कुछ परीक्षणों-द्वारा उन्होंने देखा कि पहली और दूसरी कशेरुका के बीच रीढ़-रज्जु पर चोट लगने से श्वासरोध होता है और छठी तथा सातवीं कशेरुका के बीच लगने पर वक्ष की पेशियों पर लकवा मार जाता है। इससे भी नीचे लगे तो वह मूत्राशय, अंत्र तथा निचले भाग के अंग-

प्रत्यंग के पक्षाघात का कारण बन सकती है। इस प्रकार प्रायः समग्र रीढ़-रज्जु की जैविक-क्रिया के विषय में उन्होंने विशद रूप से और अत्यंत दक्षता के साथ गवेषणाएँ कीं और उनके विवरण भी दिए।



चित्र—१०६ : मनुष्य और मैकाकस् वंदर की हथेलियों की पेशियों के चित्र।

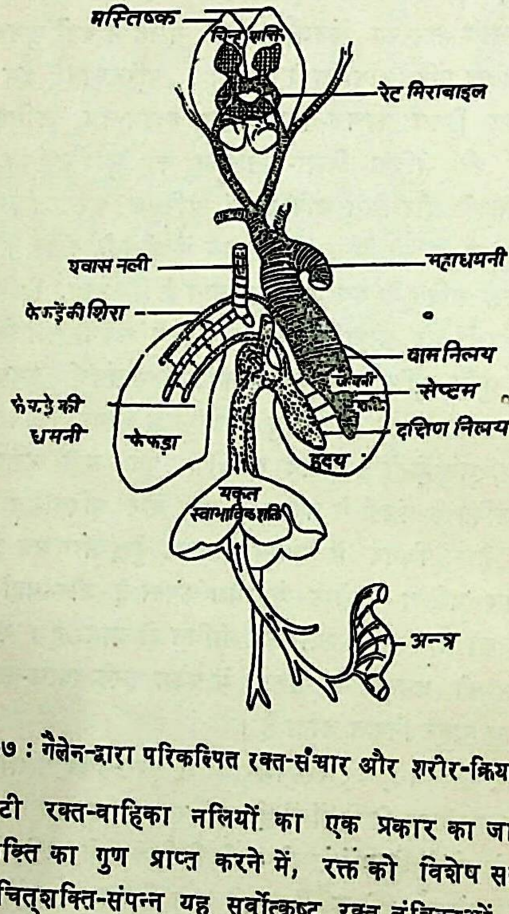
शरीर-क्रिया : गैलेन ने शरीर-क्रिया की जो विख्यात प्राक्कल्पना प्रस्तावित की, अब मैं उसकी चर्चा कर रहा हूँ। चिकित्सा-जगत् पर शरीर-क्रिया संबंधी उनके मत का आधिपत्य डेढ़ हजार वर्षों तक बना रहा। उनका मत अंशतः तो पर्यवेक्षणों पर आधारित था और अंशतः उन्होंने प्रचलित सृष्टितत्त्व तथा दार्शनिक मतवाद से अपने मत का सामंजस्य बनाए रखा। गैलेन से बहुत पहले जीव-जगत् को तीन मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया गया था - वनस्पति, प्राणी और मनुष्य। वनस्पति का गुण धर्म है वृद्धि, प्राणि का धर्म है वृद्धि और गति तथा मनुष्य का गुण-धर्म है वृद्धि, गति और मनन-शक्ति। स्टोइक दार्शनिक यह प्रचार करते थे कि कॉस्मॉस-जात न्यूमा (pneuma) या प्राण-वायु से उपर्युक्त तीन प्रकार के जैविक धर्मों की उत्पत्ति हुई है; यह न्यूमा ही जीवनी शक्ति का मूल स्रोत है। न्यूमा के जिस रूपांतरण के फलस्वरूप जैविक धर्म की वृद्धि संभव होती है, उसका नाम है स्वाभाविक शक्ति (Natural Spirit)। न्यूमा के एक और रूपांतरण के फलस्वरूप प्राणि वर्ग गतिशील होता है। इस रूपांतरित न्यूमा का नाम है जैव शक्ति (Vital

Spirit)। पुनः न्यूमा चित् शक्ति (Animal Spirit) का रूप धारण करे तो उसके प्रभाव से जीव में मनन-शक्ति पैदा होती है।

जैविक धर्म संबंधी स्टोइकों के इस न्यूमा-सिद्धांत पर गैलेन का विश्वास था। इस सिद्धांत से, शरीर की भीतरी गठन के संबंध में अध्ययन-अवलोकन और परीक्षण-लब्ध ज्ञान का मेलजोल करके, गैलेन ने बड़ी कुशलता के साथ एक अत्यंत मौलिक परिकल्पना खड़ी कर दी। परिकल्पना इस प्रकार है। शरीर के भीतर स्थित पाचक-तंत्र, यकृत् श्वास-तंत्र, तंत्रिका-तंत्र आदि विभिन्न तंत्रों की जैविक क्रिया-प्रतिक्रिया का मुख्य उद्देश्य है न्यूमा को स्वाभाविक, जीवनी और चित् शक्तियों में परिणत करना। यकृत में यह न्यूमा स्वाभाविक शक्ति के रूप में, हृदय में जीवनी शक्ति के रूप में और मस्तिष्क में चित् शक्ति के रूप में विराजमान है। रक्त, विभिन्न स्तरों पर इन तीनों शक्तियों को प्राप्त करके, शरीर में सर्वत्र संचारित होता है और मनुष्य में वृद्धि, पुष्टि, गति और मननशीलता संबंधी गुणधर्मों की सृष्टि करता है। खाद्य पदार्थ की सार वस्तु अंतड़ियों से जिगर में प्रवेश करके पहले वहाँ रक्त में परिणत होती है (चित्र १०७)। पुनः यही रक्त यकृत्-स्थित स्वाभाविक शक्ति के संपर्क से शरीर को पुष्ट और परिवर्द्धित करने का गुण प्राप्त करता है। जिगर में उत्पन्न रक्त का कुछ अंश अब हृदय की ओर प्रवाहित होकर दक्षिण प्रकोष्ठ में प्रवेश करता है और वहाँ अपना दूषित पदार्थ फेफड़े की धमनियों में त्यागकर शोधित हो जाता है। रक्त का दूषित पदार्थ फेफड़े की धमनी से फेफड़े में प्रवेश करके श्वास-नली के मार्ग से प्रश्वास के साथ बाहर निकल जाता है।

इस प्रकार शोधित होकर रक्त शिराओं में इधर-उधर संचालित होता है। शिराओं का सारा रक्त शिराओं में ही नहीं रहता; इसका बहुत थोड़ा-सा भाग हृदय के दोनों निलयों के बीच की भित्तिका की पेशियों के अतिसूक्ष्म छिद्र-पथों में से होकर, दक्षिण निलय से वाम निलय में प्रवेश करता है। हृदय के इस वाम निलय में जीवनी शक्ति के रूप में न्यूमा विद्यमान है। श्वास के साथ वायु या न्यूमा श्वासनली से फेफड़े में तथा फेफड़े की शिरा से होकर हृदय के वाम निलय में प्रवेश करता है और वहाँ जीवनी-शक्ति में बदल जाता है। रक्त, दक्षिण निलय में प्रवेश करने के बाद, जीवनी शक्ति के संपर्क में आकर नए गुणों का अधिकारी होता है। जीवनी शक्ति-संपन्न यह उत्कृष्ट रक्त धमनियों में संचालित होकर शरीर के विभिन्न

अंगों को क्रियाशील बनाए रखता है। धमनी में प्रवाहित रक्त का कुछ अंश, पुनः महा-धमनी मार्ग से मस्तिष्क में प्रवेश करके मस्तिष्क-स्थित चित्-शक्ति प्राप्त करता है। मस्तिष्क में, रेट् मिराबाइल (rete mirabile) नाम



चित्र—१०७ : गैलेन-द्वारा परिकल्पित रक्त-संचार और शरीर-क्रिया प्रणाली।

का, बहुत छोटी रक्त-वाहिका नलियों का एक प्रकार का जाल (केशिका-जाल) चित्-शक्ति का गुण प्राप्त करने में, रक्त को विशेष सहायता प्रदान करता है। चित्शक्ति-संपन्न यह सर्वोत्कृष्ट रक्त तंत्रिकाओं के माध्यम से सारे शरीर में फैल जाता है और अंग-प्रत्यंगों में गति तथा अनुभूति की सृष्टि करता है।

इस प्रकार गैलेन ने जैविक क्रिया की बहुत सुंदर और संपूर्ण व्याख्या की। यह व्याख्या शरीर-रचना तथा शरीर-क्रिया संबंधी परीक्षण तथा अध्ययन-लब्ध अनेक तथ्यों पर आधारित है। इसके अतिरिक्त इस व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने जिस दर्शन की सहायता ली थी, उसकी सत्यता को कई

युगों के अनेक ज्ञानी तथा विचारशील मनीषी स्वीकार करते आए थे। इसलिए उनके बाद अनेक शतियों तक उनकी इस व्याख्या को त्रुटिहीन और अभ्रांत माना जाने और उसे व्यापक समर्थन मिलने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज बेशक हम जानते हैं कि उनकी यह व्याख्या गलत है; इसमें छोटी-बड़ी अनेक मौलिक त्रुटियाँ भरी पड़ी हैं। जैसे, भित्तिका को पार करके, शिरा से धमनी में रक्त प्रवाहित होने की धारणा बिलकुल गलत है, क्योंकि भित्तिका, हृदय के दोनों निलयों के बीच एक कठिन और अभेद्य दीवार-जैसी है। रेट मिरावाइल (कोशिका जाल) नलियों की सहायता से रक्त के चित्-शक्ति प्राप्त करने की कल्पना भी भ्रमपूर्ण है, क्योंकि ये नलियाँ मनुष्य के मस्तिष्क में नहीं होतीं; गैलेन ने इन्हें पागुर करनेवाले मवेशियों के मस्तिष्क में देखा था। फिर, तीन प्रकार के रक्त का उल्लेख कर और उनके भेद को विशेष महत्व देकर रक्त-संचार के वास्तविक तथ्य के उद्घाटन के मार्ग में उन्होंने एक बहुत बड़ी बाधा खड़ी कर दी थी। इस कारण, अनेक इतिहासकारों का मत है कि उन्होंने शरीर-क्रिया-विज्ञान के हित की अपेक्षा अहित ही अधिक किया था। उनकी सहज और सरल व्याख्या ने इस परिकल्पना की घातक त्रुटियों तथा भ्रांतियों को वैज्ञानिकों की दृष्टि से ओझल बनाए रखा था। उनके काल से लगभग डेढ़ हजार वर्ष बाद, अंग्रेज चिकित्सा-वैज्ञानिक विलियम हार्वी (१५७८ ई० १६५७ ई०) ने रक्त-परिवहन के क्रांतिकारी सिद्धांत का आविष्कार करके गैलेन की सारी परिकल्पना को उखाड़ फेंका और शरीर-क्रिया विज्ञान की एक पूर्णतः नई बुनियाद डाली। फैरिंगटन के शब्दों में :

'फिर भी वह गैलेन ही थे, जिन्होंने गैलेन पर विजय प्राप्त की, वैज्ञानिक गैलेन ने दार्शनिक गैलेन पर विजय प्राप्त की, क्योंकि हार्वी ने पेडुआ में गैलेन की तकनीक ही सीखी थी।'*

गैलेन की रचना और चिंतन-प्रक्रिया पर हिपोक्रेटिस् की नीति और आदर्श की काफी छाप है। हिपोक्रेटिस् के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। परंतु हिपोक्रेटीय संग्रह में इस रचनावली के प्रथम प्रणेता का जो महान चित्र, एक आदर्शवादी महापुरुष का चरित्र, हमारे मानस-पट पर अंकित होता है, गैलेन की रचनाओं के पाठ से वैसा नहीं होता। इसके बदले, गैलेन की

---

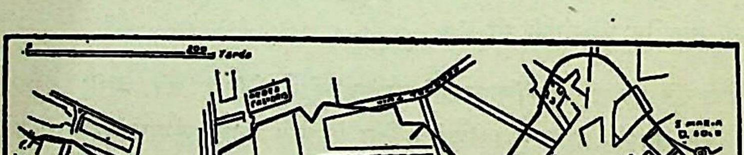
* 'Greek Science', part II; p. 60

रचना से एक अति श्रमशील, कर्मठ, दक्ष, अभिज्ञ और व्यवहार-कुशल चिकित्सा-वैज्ञानिक का चित्र हमारी आंखों के सामने खड़ा हो जाता है। केवल इतना ही नहीं, गैलेन अतिशय धार्मिक प्रवृत्तिवाले व्यक्ति थे। प्राणियों की गठन-विशेषताओं में उन्हें सदा ईश्वर का अभिप्राय दिखाई पड़ता था। उन्हें अरस्तू के इस मतवाद पर, कि ईश्वर ने विना किसी उद्देश्य के किसी भी चीज की सृष्टि नहीं की, पूरा विश्वास था।

गैलेन ने किसी चिकित्सा-संस्था की स्थापना नहीं की थी। उनके अनुगामी शिष्यों की संख्या बहुत थी, ऐसा नहीं जान पड़ता। २०० ई० में उनकी मृत्यु के साथ ही यूरोप में चिकित्सा-संबंधी गवेषणा का प्रायः पूर्ण गतिरोध हो गया। प्राचीन ग्रीक चिकित्सा-विज्ञान के वे अंतिम प्रदीप थे। इस दीप के बुझ जाने पर यूरोप में इस विज्ञान पर कई शतियों तक अंधकार रहा।

रोमनों की जन-स्वास्थ्य तथा अस्पताल-व्यवस्था

चिकित्सा-विज्ञान-संबंधी व्यक्तिगत गवेषणा में रोमनों ने उल्लेखयोग्य कृतित्व का कोई परिचय चाहे न दिया हो, परंतु वास्तुकला-विशारद रोमन जाति ने, अपनी अनोखी संगठन-दक्षता-द्वारा, परोक्ष रूप में, चिकित्सा-व्यवस्था को बहुत उन्नत किया, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जन-स्वास्थ्य तथा अस्पताल-व्यवस्था का प्रथम उद्भावन रोमनों ने ही किया। नागरिकों की स्वास्थ्यरक्षा की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही, रोमन वास्तुकला-विद् नगरों, सड़कों, भवनों के निर्माण, तथा कुएँ खोदने आदि कार्यों की परिकल्पना तैयार करते थे। यदि यह कहा जाय कि स्वास्थ्य-प्रेम रोमनों की एक राष्ट्रीय विशेषता थी, तो अत्युक्ति न होगी। ईसापूर्व छठी शती में ही, टार्क्विनों के काल में रोम में गंदे पानी के निकास के लिए



चित्र—१०८ : रोम के मुख्य क्लोसिए का नक्शा।

जमीन के नीचे नालियों की व्यवस्था थी। जमीन के नीचे की इस प्रकार की नालियों का लैटिन नाम है क्लोसिए (cloacae)। क्लोसिए की मुख्य शाखा

का आज भी व्यवहार हो रहा है। रोम के मुख्य क्लोसिए का नक्शा चित्र में दिखाया गया है। जलवाहिकाओं (aqueducts) की सहायता से समग्र रोम में जल-वितरण-व्यवस्था इतिहास-प्रसिद्ध है। इन वाहिनियों की सहायता से रोम में प्रतिदिन ३० करोड़ गैलन जल वितरित किया जाता था। इस प्रकार की १४ जल-वाहिकाओं के ध्वंसावशेष आज भी उस प्राचीन व्यवस्था की गवाही दे रहे हैं। फ्रांटिनस् (४० ई०-१०३ ई०) द्वारा रचित 'डि ऐक्विस् अर्बिस् रोमेइ' (De aquis urbis Romae) नामक ग्रंथ में इन जल-वाहिकाओं के विवरण दिए गए हैं।

मुर्दों को दफ़नाना, रास्ता साफ रखना, जल-वितरण आदि के संबंध में रोमन राष्ट्रपतियों ने बहुत प्राचीन काल से ही अनेक नियम बनाए थे। रोमन नियमों में, मरणासन्न गर्भवती नारी के बच्चे के जीवन-रक्षार्थ, शल्य-क्रिया-द्वारा गर्भ खोलने की व्यवस्था बहुत प्राचीन काल से ही देखी जाती है। बहुतों का विश्वास है कि जूलियस सीजर का जन्म इसी प्रकार हुआ और इसके स्मारक के रूप में यह शल्य-क्रिया आज भी सीजरीय शल्य-क्रिया के नाम से विदित है।

जन-स्वास्थ्य की रक्षा राष्ट्र की एक जिम्मेदारी है, इस विषय में रोमन राष्ट्रपति विशेष रूप से सचेत थे। रोमन साम्राज्य की नींव पड़ने के समय से ही सरकारी चिकित्सकों की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है। रोम के सरकारी चिकित्सकों को आर्कियात्रि (archiatri) कहा जाता था। पहले केवल उच्चपदस्थ राज्याधिकारियों के लिए सरकारी चिकित्सकों की नियुक्ति होती थी; बाद में इस व्यवस्था में सुधार करके जन साधारण को भी सरकारी चिकित्सकों-द्वारा उपचार की सुविधा दी गई। सम्राट एंटोनिनस् ने अनुमानतः १६० ई० में, यह कानून बना दिया कि दरिद्र जनता की चिकित्सा करना सरकारी चिकित्सकों का कर्त्तव्य है। सम्राट जस्टिनियन ने सरकारी चिकित्सकों को यह निर्देश दिया कि धनिकों की अपेक्षा दरिद्रों की चिकित्सा में उन्हें अधिक ध्यान देना और प्रयत्नशील रहना चाहिए। इन चिकित्सकों को नगर निगम वेतन देते थे। नगरों के महत्त्व और जनसंख्या के अनुपात से चिकित्सकों की संख्या निर्धारित होती थी; जैसे प्रादेशिक राजधानी आदि बड़े नगरों में १०, उन नगरों में जहाँ अदालतें थीं ७, और उनसे छोटे नगरों में ५ आर्कियात्रियों की व्यवस्था थी। आर्कियात्रियों को आयकर नहीं देना पड़ता था।

सामरिक विभाग में स्वास्थ्य-रक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था के संबंध में भी रोमन अग्रणी थे। अलेग्जेंडर अपनी सेना में चिकित्सक, इंजीनियर आदि विशेषज्ञ रखते थे, परंतु रोमनों की पद्धति कहीं अधिक व्यवस्थित थी। प्रत्येक रोमन सेना में चिकित्सकों के एक दल और आवश्यक संख्या में उनके सहकारियों का अनिवार्य प्रबंध होता था। रोमनों की सामरिक सफलता में इस व्यवस्था की देन कम नहीं थी। अ-सामरिक तथा सामरिक चिकित्सा-व्यवस्था का प्रचलन होते हुए भी, साधारणतया रोमन चिकित्सा-वैज्ञानिकों में मौलिकता और उद्‌भावनी शक्ति के अभाव का तर्क-सम्मत कारण यह है कि उन्होंने चिकित्साशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष पर ही अधिक ध्यान दिया, परंतु इस शास्त्र के विषय में नई जानकारी करना और इस उद्देश्य से गवेषणा कार्य में लगना रोमनों ने न तो आवश्यक समझा और न इस दिशा में कोई चेष्टा ही की। कारण जो भी हो, हम यह देखते हैं कि सभी प्रकार के तत्वज्ञान के प्रति रोमन जाति नितांत विमुख और उदासीन थी। साथ ही व्यावहारिक विद्यार्जन के लिए उसने असीम अध्यवसाय के साथ अथक परिश्रम किया था।

यही कारण है कि हमें अस्पताल-स्थापना के विषय में रोमनों की आश्चर्यजनक संगठन-शक्ति का परिचय मिलता है। ग्रीकों के पास अस्पताल-जैसी कोई चीज नहीं थी। चिकित्सा उनके लिए एक नितांत वैयक्तिक विषय थी। प्राचीन ग्रीस में कुछ स्थानों में, एस्कुलापियस् को केंद्रित करके, छोटे-बड़े चिकित्सा-केंद्रों की स्थापना अवश्य हुई थी, परंतु उन प्रतिष्ठानों को जनसाधारण के व्यवहार के उपयुक्त अस्पताल नहीं कहा जा सकता। गणतंत्र के युग में रोमनों के पास भी अस्पताल नाम की कोई चीज नहीं थी। इस गणराज्य में दासों की एक बड़ी संख्या थी, परंतु अस्वस्थ या रोगग्रस्त होने पर उन अभागों के लिए दैव-शक्ति पर निर्भर करने के सिवा और कोई चारा नहीं था। ग्रीकों के अनुकरण में गणतंत्रीय रोमनों ने टिब द्वीप में एस्कुलापियस मंदिर का निर्माण किया। काम करने के अयोग्य, अस्वस्थ तथा रोगग्रस्त दासों की चिकित्सा की जिम्मेदारी और बखेड़े से बचने के लिए, उन्हें टिब द्वीप के इस मंदिर में एक प्रकार से आजीवन निर्वासित कर दिया जाता था। वास्तविकता यह है कि निर्वासित होने के थोड़े ही दिनों बाद इन अभागे दासों का जीवन समाप्त हो जाता था। ४१ ई० और ५४ ई० के बीच सम्राट क्लॉडियस ने एक आदेश-द्वारा ऐसे रोगग्रस्त दासों को स्वतंत्र घोषित

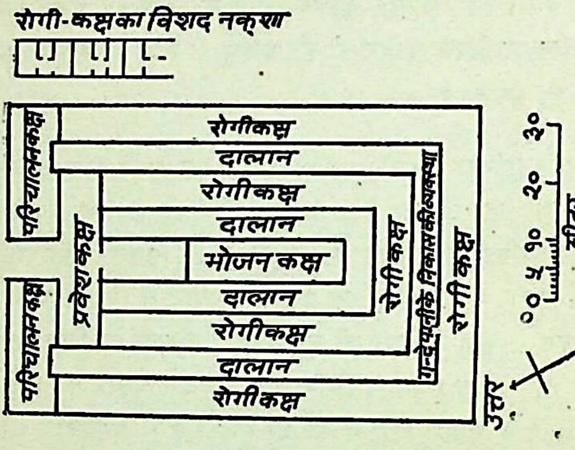
कर दिया। उनके लिए यह जरूरी नहीं रहा कि स्वस्थ होने पर वे अपने पुराने मालिकों के पास लौट जायं। इस मंदिर-निर्माण के पीछे चाहे जिस उद्देश्य की प्रेरणा रही हो, समय की गति के साथ यही मंदिर दरिद्र, अभागे, निराश्रित दासों का एकमात्र आश्रय-स्थान बन गया। प्राध्यापक सिंगर के मतानुसार एस्कुलापियस मंदिर को ही जनता के लिए अस्पताल का प्रारंभिक रूप माना जा सकता है।*

वैलिटुडिमारिया (valetudimaria) या एक प्रकार के स्वास्थ्य-गृहों के होने का भी पता मिलता है। अस्वस्थ होने पर इन स्वास्थ्य-गृहों में दास, या स्वाधीन व्यक्ति भी, आश्रय ले सकते थे। इसके अतिरिक्त चिकित्सक भी अपने गृहों का निर्माण इस प्रकार करवाते थे कि आवश्यक होने पर सामयिक रूप से कुछ रोगियों को हर समय चिकित्सा के लिए आश्रय दिया जा सकता था। उस समय के चिकित्सकों के इस प्रकार के गृहों की तुलना आधुनिक काल के नर्सिंग होम से की जा सकती है। पांपियाई की खुदाई में खंडहरों के परीक्षण से इस तथ्य का पता चला है।

संभवतः सेना विभाग के अधिकारियों ने भी विभिन्न स्थानों में अस्पताल बनाए जाने की आवश्यकता का विशेष रूप से अनुभव किया था। पहले, जब कोई सैनिक युद्ध-क्षेत्र में अस्वस्थ या रोगग्रस्त हो जाता तो उसे उसके घर भेजने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। बहुधा, रोग की गंभीरता के अनुसार कुछ सैनिक घर लौटने की जगह निकटस्थ किसी स्वास्थ्यगृह में चिकित्सा के लिए आश्रय ग्रहण करते थे। यह देखकर साम्राज्य के विभिन्न स्थानों में सैनिकों के लिए विशेष प्रकार के स्वास्थ्य-गृहों के निर्माण की परिकल्पना, सर्वप्रथम सेनाधिकारियों के दिमाग में आई। कुछ समय बाद इस परिकल्पना ने सामरिक स्वास्थ्य-गृह या अस्पताल का रूप ग्रहण किया। यूरोप के विभिन्न स्थानों में, रोमनों के काल में निर्मित, इस प्रकार के सामरिक अस्पतालों के अनेक खंडहरों का पता लगा है। उनमें डुसेलडॉर्फ के निकट नोवेसियम स्थान में प्राप्त, और अनुमानतः १०० ई० में स्थापित, एक सामरिक अस्पताल का ध्वंसावशेष विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस अस्पताल का एक नक्शा चित्र में दिखाया गया है। उत्तर दिशा में अस्पताल का प्रवेश-मार्ग है, इसके दोनों ओर परिचालन-कक्ष या दफ्तर हैं। इसके बाद ही एक

* Singer, 'A Short History of Medicine'; p. 49.

बड़ा कमरा आगंतुकों के विश्राम और प्रतीक्षा के लिए है। उसके बाद एक छोटे दरवाजे से भोजन-कक्ष में जाने की व्यवस्था है। अस्पताल की तीन दिशाओं में दालानों की दो-दो कतारें हैं और इन दालानों के दोनों ओर



चित्र—१०६ : खंडहरों में परिणत, रोमन युग के सामरिक अस्पताल का एक नमूना।

रोगी-कक्षों की पंक्तियां हैं। दक्षिण दिशा में बाहरी दालान के नीचे से गंदे पानी के निकास की व्यवस्था है। समग्र नक्शे पर आधुनिकता की स्पष्ट छाप है और आधुनिक काल से पहले इससे अधिक उन्नत प्रकार के अस्पताल की व्यवस्था का और कोई दृष्टांत नहीं मिलता।

जनहित-निर्माण-कार्य तथा स्थापत्य विज्ञान

विट्रूवियस और फ्रांटिनस्

सार्वजनिक कल्याण संबंधी कार्यों और स्थापत्य विज्ञान को रोमनों की देन प्राचीन सभ्य जातियों में अतुलनीय है। इन विद्याओं में रोमन जाति की दक्षता और उद्‌भावनी-शक्ति के सामने अन्य प्राचीन सभ्य जातियों की चेष्टा नगण्य-मात्र थी। केवल इतना ही नहीं, बल्कि अधुना इस विज्ञान की क्रांतिकारी प्रगति होने से पहले कोई और जाति इन विद्याओं में रोमनों की बराबरी नहीं कर पाई। रोमनों की यह प्रतिभा, सामरिक और असामरिक, दोनों प्रकार के निर्माण-कार्यों में समान रूप से प्रकट हुई है। उनके द्वारा निर्मित नगर-प्राचीर, दुर्ग-वेष्टनी खाई, सड़कें, जलसेतु, जल-वाहिकाएं, रंगमंच, स्नानागार, पुल आदि के खंडहर आज भी उस

असामान्य प्रतिभा की गवाही दे रहे हैं। युद्धकाल में और शांतिकाल में, प्रजा की सुविधा के लिए, पृथ्वी के बहुत थोड़े-से साम्राज्यों ने इस प्रकार के विराट और व्यापक निर्माण-कार्य में हाथ डाला है। दक्षिण यूरोप, पश्चिम एशिया और उत्तर अफ्रीका में रोमनों की इन कीर्तियों के अनेक दृष्टांत अब भी विद्यमान हैं, संभवत: और भी दो हजार वर्षों तक ये चिह्न रोमन स्थापत्य विद्या के गौरव की घोषणा करते रहेंगे।

विट्रूवियस् (ई० पू० प्रथम शती)

विट्रूवियस् का जीवन-काल था ईसापूर्व प्रथम शती का शेष भाग। ऑगस्टस् उस समय रोम के सर्वेसर्वा थे। उन्होंने अपना विख्यात ग्रंथ 'डी आर्किटैक्टुरा (De architectura) ऑगस्टस् को समर्पित किया था। उन्होंने इस ग्रंथ में कहीं-कहीं अपने जीवन की दो-एक घटनाओं और अपने मत का जो उल्लेख किया है, उससे पता चलता है कि उन्हें उस काल के श्रेष्ठ विद्यालय के उच्च शिक्षा की पूरी सुविधा प्राप्त हुई थी। विट्रूवियस् की रचना में उनकी उच्च शिक्षा और रुचि की स्पष्ट छाप है। 'डी आर्किटेक्टुरा' में मुख्यतः सार्वजनिक निर्माण और स्थापत्य-विज्ञान की चर्चा की गई है, फिर भी, साधारण रूप से यह प्राचीन ज्ञान-विज्ञान और सभ्यता का एक उत्कृष्ट ऐतिहासिक ग्रंथ भी है।

दस खंडों का 'डी आर्किटेक्टुरा' स्थापत्य-विद्या का सर्वश्रेष्ठ प्राचीन ग्रंथ है। स्थापत्य-संबंधी साधारण सिद्धांतों, गृहादि-निर्माण का क्रम-विकास, विभिन्न उपकरणों और मसालों का प्रयोग, आयोना, डोरिक, कोरिंथीय आदि विभिन्न पद्धतियों से मंदिर-निर्माण, जन-साधारण के उपयोगी स्नानागार, रंगमंच आदि का निर्माण-कौशल, नगर तथा बंदरगाह-परिकल्पना, जल-वितरण-व्यवस्था, सूर्य-घड़ी, यंत्र-विद्या, सामरिक स्थापत्य आदि नाना विषयों की चर्चा से यह ग्रंथ समृद्ध है। इन चर्चाओं की सामग्री प्रधानतया ग्रीक ग्रंथों से ली गई है, परंतु सार्वजनिक निर्माण और स्थापत्य-विद्या की चर्चा के प्रसग में विट्रूवियस् ने स्वयं अपनी व्यावहारिक अभिज्ञताओं के परिणामों का भी पर्याप्त विवरण दिया है। इस प्रकार के कठिन विषय के संबंध में सरल और व्यवस्थित रूप में लिखकर उन्होंने अपनी श्रेष्ठता का परिचय दिया है। उन्होंने यह पुस्तक स्थापत्य तथा सार्वजनिक निर्माण कार्य में नियुक्त उच्च श्रेणी के कारीगरों और प्रबंधकों के लिए लिखी थी।

बहुत दिनों तक यह सार्वजनिक कल्याण संबंधी निर्माण और व्यावहारिक स्थापत्य का एक आदर्श ग्रंथ माना जाता रहा। सारे मध्ययुग में और पुनर्जागरण काल में, सार्वजनिक कल्याण संबंधी निर्माण कार्य और व्यावहारिक स्थापत्य के किसी विद्यार्थी की शिक्षा तब तक पूरी नहीं मानी जाती थी, जब तक वह विट्रूवियस का पूरा ज्ञान न प्राप्त कर लेता था। इस विद्या में विट्रूवियस के बताए हुए समाधान को ही अंतिम समाधान समझा जाता था। ब्रामांते, मिकेलांजेलो, पालाडिओ, विग्नोला-जैसे विख्यात प्राचीन स्थापत्य-विशारदों में से प्रत्येक को 'डी आर्किटेक्टुरा' से प्रेरणा मिली थी।

इस ग्रंथ में सार्वजनिक निर्माण और स्थापत्य के अतिरिक्त सामान्यतः प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के इतिहास से संबद्ध अनेक मूल्यवान् उपादान होने के कारण भी इसका विशेष महत्त्व है। उदाहरण के तौर पर, दूसरे खंड में, अग्नि के आविष्कार, भाषा की उत्पत्ति, आदिम मानव की कहानी और सभ्यता के विकास की चर्चा है। स्थापत्य के इतिहास के संबंध में उन्होंने जो कुछ लिखा, वह भी महत्त्वपूर्ण है। गॉल, स्पेन, पुर्तगाल आदि देशों के प्राचीन गृह-प्रासाद आदि के निर्माण की पद्धति तथा पांटुस के कोल्चियानों की सार्वजनिक-निर्माण-विद्या की जानकारी के लिए विट्रूवियस् का ग्रंथ ही सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक है।

ग्रंथ के दूसरे खंड में, गृहादि निर्माण के लिए किस प्रकार की लकड़ी उपयोगी है और किस प्रकार कठिन और उत्कृष्ट लकड़ी तैयार की जाती है, इसका विवरण दिया गया है। उन्होंने लिखा है कि पेड़ काटते समय पहले ही उसे पूरा-पूरा काट डालना उचित नहीं; प्रथम स्तर पर पेड़ को तने के मध्य भाग तक काटकर, उसी अवस्था में उसे कुछ दिन छोड़ देना चाहिए। इससे वृक्ष-रस तथा अन्य प्रकार के तरल पदार्थ निकल जाते हैं और भीतर रहकर लकड़ी की हानि नहीं कर सकते। इस प्रकार वृक्ष रस और तरल पदार्थ पूरी तरह निकल जाने पर तने के अवशिष्ट अंश को काटा जाना चाहिए। वैसे, है यह बहुत प्राचीन पद्धति; विट्रूवियस ने संभवतः थिओफ्रेस्टस् के ग्रंथ से इस प्रकार के तथ्य संग्रह किए होंगे।

वैज्ञानिक परीक्षा : वैज्ञानिक परीक्षा पर विट्रूवियस ने बराबर जोर दिया। 'डी आर्किटेक्टुरा' के नवें खंड की भूमिका में उन्होंने वस्तुओं के आपेक्षिक घनत्व के संबंध में आर्किमीडिस के परीक्षणों का विवरण दिया है। सातवें खंड में उन्होंने जल के बदले पारे के व्यवहार-द्वारा आर्किमीडिस के

परीक्षणों को फिर से करने का परामर्श दिया है। संभवतः उन्होंने स्वयं भी इस प्रकार के परीक्षण किए होंगे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि पारे में सौ पौंड वजन का पत्थर का एक बड़ा टुकड़ा भी तैरता रहेगा, जब कि सोने का एक बहुत छोटा टुकड़ा, पानी में डाले जाने के साथ ही डूब जायगा।

बीच-बीच में उन्होंने ऊपरी तौर से परीक्षित सत्यों का भी पर्याप्त अपव्यवहार किया। पहले से निर्धारित धारणा और मतवाद के समर्थन के उद्देश्य से, अनेक क्षेत्रों में उन्होंने भ्रमात्मक परीक्षणों का आश्रय लिया। इस प्रसंग में वायु-प्रवाह के विषय में उनका मतवाद उल्लेखयोग्य है। वायु की गति ही वायु-प्रवाह का कारण है, यह वे नहीं जानते थे। उनकी यह धारणा थी कि नवीन वायु की सृष्टि के कारण ही वायु का प्रवाह होता है। गर्मी और नमी का परस्पर संपर्क होने पर अतिरिक्त वायु की सृष्टि होती है और उसके परिणामस्वरूप हवा तेज बहने लगती है। विट्रूवियस की इस प्रकार की भ्रमात्मक धारणाओं के और भी दृष्टांत हैं। उत्तरी देशों के लोगों का कंठस्वर गंभीर होता है और दक्षिणी देशों के लोगों का कर्कश और तीक्ष्ण होता है, मानव-कंठ में इस प्रकार का भौगोलिक भेद बताकर, इसकी एक वैज्ञानिक व्याख्या प्रदान करने की उन्होंने चेष्टा की है।

फ्रांटिनस् (४० ई०—१०३ ई०)

ईस्वी प्रथम शती के शेष भाग में रोमन योद्धा और सार्वजनिक कल्याण संबंधी निर्माण-विशेषज्ञ सेक्सटस् जूलियस् फ्रांटिनस् ने रोम की जल-व्यवस्था के संबंध में 'डी ऐक्विस् अर्बिस् रोमेइ' (De aquis urbis Romae) नामक एक ग्रंथ की रचना की। सार्वजनिक निर्माण तथा स्थापत्य-विज्ञान संबंधी प्राचीन श्रेष्ठ ग्रंथों में 'डी आर्किटेक्टुरा' के बाद ही 'डी एक्विस्' का स्थान है। वेस्पासियन के शासन-काल में फ्रांटिनस् रोम के 'प्रिटर' (praetor) नियुक्त हुए। इसके कुछ दिनों बाद वे इंगलैंड के प्रशासक नियुक्त किए गए और वहाँ उन्होंने सिलुरेस तथा अन्य उपजातियों का दमन किया। ७८ ई० में जब एग्रिकोला इंगलैंड के प्रशासक बनाए गए, तो वे रोम लौट आए और विभिन्न सरकारी कार्यों में कुछ दिन बिताने के बाद ९७ ई० में रोम की जल-परिवहन-व्यवस्था के मुख्य प्रबंधक के पद पर प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार के कर्मव्यस्त जीवन के अत्यल्प अवकाश-

काल में उन्होंने जो थोड़े से श्रेष्ठ ग्रंथ लिखे, उनमें 'डी ऐक्विस' सर्वोत्तम है। उनके दो और विख्यात ग्रंथ हैं—'डी री मिलिटारि' (De re militari) और 'स्ट्रैटिजिमैटिकन लिब्राइ' (Strategematicon libri)। ये दोनों सामरिक कला-कौशल संबंधी पुस्तकें हैं; पहली का अब कोई पता नहीं और दूसरी संरक्षित है। 'स्ट्रैटिजिमैटिकन्' में ग्रीक और रोमन रण-कौशल के विशद विवरण मिलते हैं। फ्रांटिनस् स्वयं कुशल योद्धा और सेनापति थे।

विज्ञान के इतिहास में फ्रांटिनस् 'डी ऐक्विस अर्बिस् रोमेइ' के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हुए। जल-व्यवस्था के अध्यक्ष-पद पर नियुक्त होने से पहले इस विषय में उन्हें कोई विशेष ज्ञान या अभिज्ञता नहीं थी। पद-प्राप्ति के बाद उन्होंने बड़े अध्यवसाय के साथ इस विद्या पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास किया। आवश्यकतानुसार समग्र जल-व्यवस्था की परिचालना वे स्वतंत्र रूप से कर सकें और इसके लिए उन्हें अधीनस्थ कर्मचारियों से जानकारी या परामर्श न लेना पड़े, इसी उद्देश्य से उन्होंने इस विद्यार्जन का व्रत लिया। 'ऐक्विस अर्बिस रोमेइ' उनके इसी अध्ययन और व्यावहारिक अभिज्ञता का फल है। फ्रांटिनस् ने लिखा है—"रोम की स्थापना से कोई साढ़े चार सौ वर्ष तक रोमन टिब नदी के जल की स्थापना से ही संतुष्ट थे। धीरे-धीरे, नहरों के द्वारा दूरवर्ती स्थानों से जल आपूर्ति की सुविधा की बात उनकी समझ में आई। इस समय आप्पियन, प्राचीन आनिओ, मार्सिया, टेपुला, जुलिया, विर्गो, आगस्टा, क्लाडिया तथा नवीन आनिओ की नहरों की सहायता से रोम में जल-आपूर्ति की व्यवस्था है।" इन नहरों की लंबाई तथा ऊँचाई, जल-संरक्षण के लिए बृहदाकार हौज और विभिन्न जलवाहिकाओं के जल के गुणों का उन्होंने विशद वर्णन किया है। इन जलवाहिकाओं की सहायता से किस परिमाण में जल उपलब्ध होता था, 'आजुटाज' (ajutage) या स्वल्प छिद्रोंवाली एक प्रकार की नली की सहायता से उसे मापने की पद्धति का भी उन्होंने वर्णन किया। जल आपूर्ति में चोरी, जालसाजी, धोखा आदि बुराइयों की रोक-थाम के लिए 'आजुटाज' की व्यवस्था की गई थी और केवल सरकारी मुहर लगे आजुटाज का ही व्यवहार होता था। इस व्यवस्था से सभी क्षेत्रों में चोरी और जालसाजी बंद हुई, ऐसी बात नहीं है, और इस विषय में फ्रांटिनस् विशेष सतर्क रहे।

जलवाहिकाओं की सहायता से जल-व्यवस्था चालू होने पर रोमनिवासी साधारण जनता के स्वास्थ्य में विशेष उन्नति हुई। स्वच्छ और विशुद्ध पेय जल की व्यवस्था के कारण संक्रामक रोगों का प्रकोप घटा, नगर भी पहले से कहीं अधिक साफ-सुथरे दिखाई पड़ने लगे। 'डी एक्विस' में फ्रांटिनस् ने जनता की इस स्वास्थ्योन्नति की बात का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

भूगोल—स्ट्राबो, मेला और टॉलेमी

विज्ञान के अन्य विभागों की भांति भूगोल को सुसंबद्ध विज्ञान के रूप में उन्नत करने का श्रेय भी मुख्यत: ग्रीकों को प्राप्त है। प्राचीन जातियों में ग्रीकों ने पृथ्वी के भूगोल की ज्ञान-वृद्धि की विशेष चेष्टा की थी। ग्रीकों से पहले भूमध्यसागरीय अंचल में एक समय फ़िनिशियनों का व्यापक वाणिज्य और यातायात था। इसलिए, स्वभावत: फ़िनिशियनों से ही पृथ्वी के भौगोलिक ज्ञान की वृद्धि की आशा की जा सकती थी। परंतु इस ज्ञान-वृद्धि में वे आशानुरूप सहायता नहीं कर सके। इसमें कोई संदेह नहीं कि भूमध्यसागरीय प्रदेश तथा उसके आस-पास के स्थानों के संबंध में उन्हें विशेष ज्ञान था, परंतु व्यावसायिक स्वार्थ के हेतु इस ज्ञान को उन्होंने यथासंभव अपने ही तक सीमित रखा था, अन्य जातियों में उसके प्रचार की उन्होंने कोई चेष्टा नहीं की। बल्कि, इसके विपरीत, विभिन्न देशों तथा जातियों के संबंध में तरह-तरह की अजीब कहानियाँ गढ़कर उन्होंने वास्तविकता को छिपाने की ही चेष्टा की।

इस विषय में औपनिवेशिक आयोनी ग्रीकों का दृष्टिकोण भिन्न था। वे जब भूमध्यसागर के अनेक टापुओं और तटवर्ती विभिन्न स्थानों में उपनिवेश-स्थापना के उद्देश्य से अपनी पर्वतीय वनभूमि छोड़कर निकल पड़े तो उन्हें भूगोल का बहुत ही थोड़ा ज्ञान होने के कारण, बहुत असुविधाओं का सामना करना पड़ा। इसलिए, उपनिवेश-स्थापना के प्रारंभ से ही भूगोल के संबंध में वे बहुत सचेत हुए। उन्होंने, देशाटन की बहुविध और विचित्र अभिज्ञताओं को एकत्रित करके, एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान की नींव डाली। ग्रीकों ने ही पहले-पहल भूगोल को चार मुख्य विभागों में बांटा—गणितीय या ज्योतिषीय, प्राकृतिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक। इन चारों विभागों में उनकी महत्त्वपूर्ण देन हैं। प्रथम मानचित्र के निर्माता ऐनाक्सिमांडर ने ज्योतिषीय

भूगोल की नींव डाली; प्राकृतिक भूगोल की नींव डाली कवि तथा दार्शनिक जेनोफोन ने; हिरोडोटस् राजनीतिक भूगोल के और थुसिडाइड्स् ऐतिहासिक भूगोल के प्रवर्तक थे। इस प्रकार आयोनी ग्रीकों ने इस विज्ञान को जन्म दिया और अलेग्ज़ेंड्रियाई वैज्ञानिकों ने इसे पूर्णतः विकसित किया। इराटोस्थेनिस्, हिपार्कस् और टॉलेमी ने ज्योतिषीय भूगोल के मान को इतना ऊँचा उठाया कि अनेक शतियों तक उस मान का अतिक्रमण कोई नहीं कर सका।

साम्राज्य-विस्तार की अभिज्ञता स्वभावतः भौगोलिक ज्ञान-वृद्धि के अनुकूल होती है। अलेग्ज़ेंडर और उनके अनुगामियों का साम्राज्य भूगोल-वेत्ताओं के लिए विशेष रूप से सहायक हुआ था। ठीक इसी कारण से रोमन भी कुछ अंश तक भूगोल के प्रति सचेत थे। परंतु इस विज्ञान की उन्नति के लिए रोमनों को जितना प्रयास करना चाहिए था, वह उन्होंने नहीं किया। केवल राजनीतिक और ऐतिहासिक भूगोल के संबंध में वे उत्साहित थे और उस उत्साह की भी मूल प्रेरणा थी सामरिक आवश्यकता। राजनीतिक और ऐतिहासिक भूगोल-रचना में रोमनों की चेष्टा के उल्लेखनीय दृष्टांत हैं प्युटिंगा तथा पांपोनियस् मेला के मानचित्र, सिसेरो, प्लिनी, सेनेका, स्युटोनियस् और विट्रूवियस् की रचनाएँ और स्ट्राबा का विश्वविख्यात भूगोल। इसी युग में प्राचीन काल के श्रेष्ठतम भूगोलवेत्ता क्लॉडियस् टॉलेमी भी हुए। परंतु उनकी प्रतिभा पूर्णतः ग्रीक प्रतिभा थी, जिसका विकास अलेग्ज़ेंड्रिया के आदर्श पर हुआ और उनकी देन ग्रीक प्रतिभा का ही एक दृष्टांत है।

जूलियस सीजर की साम्राज्य-सर्वेक्षण परिकल्पना

जूलियस सीजर ने अपने साम्राज्य के सर्वेक्षण और नापजोख की जो परिकल्पना बनाई, वहीं से रोमन भूगोल-वेत्ताओं की तत्परता शुरू होती है। इसके पहले सुसंबद्ध और सुचिंतित रूप में भूगोल-रचना-कार्य में रोमनों में कोई उत्साह नहीं दिखाई पड़ता। सीजर की परिकल्पना के अनुसार साम्राज्य को विभिन्न प्रदेशों और जिलों में विभाजित करने की आवश्यकता पड़ी। वाणिज्य तथा सेना के यातायात के लिए त्रुटिहीन और उन्नत प्रकार का मानचित्र बनाया जाना अनिवार्य हो गया। सीजर स्वयं इस परिकल्पना को कार्य रूप में परिणत होता नहीं देख पाए; इसका भार ऑगस्टस् पर आ पड़ा और

उनके योग्य जामाता विप्सानियस् एग्रिप्पा (मृत्यु ई० पू० १२) के तत्वावधान में यह कार्य शुरू हुआ। ३० वर्ष के कठोर श्रम और चेष्टा के बाद ई० पू० २० में यह सर्वेक्षण कार्य समाप्त हुआ। ऐग्रिप्पा ने इस सिलसिले में कुछ मानचित्र तैयार किए थे। उन मानचित्रों का तो पता नहीं है, परंतु प्लिनी-मार्सनिलस्-जैसे लेखकों की बदौलत ये मानचित्र विस्मरण के गर्भ में लुप्त नहीं हुए।

प्युटिंगा का मानचित्र : सर्वेक्षण कार्य में नियुक्त सर्वेक्षकों को 'एग्रिमेंसोर' (agrimensore) कहा जाता था। साम्राज्य के विभिन्न स्थानों में फैले हुए, रोमन एग्रिमेंसोरों ने सेना तथा प्रशासकों के भरपूर सहयोग से प्रचुर तथ्य संग्रह किए। इन तथ्यों को एकत्रित करके रोमनों ने बड़े-बड़े मानचित्र तैयार किए। ये मानचित्र प्रादेशिक प्रशासकों के दफ्तर के एक बहुत बड़े कमरे में टंगे रहते थे। १६ वीं शती में प्युटिंगा नाम के एक विद्यानुरागी व्यक्ति ने इस प्रकार के कुछ मानचित्रों को संशोधित और प्रकाशित किया। उनके नाम पर इन मानचित्रों को प्युटिंगा के मानचित्र कहा गया। प्युटिंगा के मानचित्र में सेना के यातायात के लिए उपयोगी मुख्य मार्गों का प्रदर्शन किया गया था। उन मार्गों पर प्रति दिन कितनी दूर जाया जा सकता है, चिह्न खींचकर यह भी दिखलाया गया था। इसके अतिरिक्त सड़कों की पहचान के लिए और किसी निर्दिष्ट स्थान से दूरी बताने के उद्देश्य से मुख्य मार्गों पर विभिन्न प्रकार के स्मारक स्तंभों का निर्माण किया गया था। स्मारक-स्तंभों पर दूरी तथा अन्य आवश्यक तथ्य खुदे होते थे। जैसे ओतुन से रोम जाने के मार्ग पर ओसिओद्रम् (आजकल का ओक्सेर), बोनोनिया (अधुना बोलोना), म्युटिना (आधुनिक समय का मोदेना) आदि स्थानों में इस प्रकार के स्तंभ बनाए गए थे। समय के साथ इनमें से अधिकांश का अब नामोनिशान भी नहीं रहा। स्तंभों के अलावा दूरी बतानेवाले प्रस्तर-खंडों का भी व्यवहार होता था। बेलजियम, लुक्सेंबुर्ग, वैलेंसिया आदि स्थानों में ऐसे प्रस्तर-खंड मिले हैं। १७२५ ई० में विल्टशायर में प्राप्त रोमन युग की एक पीतल की थाली के चारों ओर इंगलैंड के उत्तरी भाग के कुछ स्थानों के नाम अंकित मिलते हैं।

उन दिनों, पर्यटकों की सुविधा के लिए, मानचित्रों के अलावा एक प्रकार की संदर्शिका (guide book) भी प्रचलित थी। इसमें सड़कों के नाम, रास्ते पर अवस्थित ग्रामों तथा नगरों के नाम, उनकी दूरी आदि आवश्यक

जानकारी होती थो। यहाँ तक कि एक संदर्शिका ऐसी भी तैयार की गई थी, जिसमें संपूर्ण रोमन साम्राज्य के मार्गों के ब्यौरे सम्मिलित किए गए थे। इस प्रकार की संदर्शिका का लैटिन नाम था 'इटिनेरारिया एड्नोटाटा' (itineraria adnotata)। ईस्वी तीसरी शती में रचित 'इटिनेरेरियम एंटोनिन' इस प्रकार की एक लोकप्रिय संदर्शिका थी। तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिए एक और प्रकार की पुस्तक का भी पता चलता है, जिसमें मार्ग संबंधी हर प्रकार के तथ्य एकत्रित होते थे। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है 'इटिनिरेरियम बुर्डिगालेंस'। यह पुस्तक ३३३ ई० में लिखी गई और इसमें बताया गया है कि बोर्दो से यरूशलम किस प्रकार जाया जा सकता है।*

यह, रोमन युग के भौगोलिक ज्ञान का एक साधारण विवरण है। इस काल के थोड़े से यशस्वी भूगोल-वेत्ताओं के संबंध में जो जानकारी मिलती है, उस विषय में कुछ कहना आवश्यक है। स्ट्रावो, पांपीनियस् मेला और क्लॉडियस् टॉलेमी रोमन युग के श्रेष्ठ और विशिष्ट भूगोल-वेत्ता थे। उनमें से टॉलेमी को, केवल रोमन युग ही नहीं, बल्कि संपूर्ण प्राचीन काल का सर्वश्रेष्ठ भूगोल-वेत्ता कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

स्ट्राबो (जन्म ई० पू० ६३)

एशिया माइनर में, पांटुस के अंतर्गत आमासिया के निवामी स्ट्राबो ग्रीक जाति के थे। उनकी 'जिओग्राफी' (geography) प्राचीन काल का सर्वश्रेष्ठ भौगोलिक ग्रंथ है—'उस विज्ञान की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति, जो पुराकाल ने हमें दी है।† आश्चर्य की वात यह है कि स्ट्राबो के भूगोल ने रोमनों की दृष्टि आकर्षित नहीं की। यहाँ तक कि प्लिनी को भी इस पुस्तक की कोई जानकारी नहीं थी। पुस्तक का प्रथम प्रकाशन पांटुस् से हुआ। संभवतः यही कारण है कि रोमनों में इस ग्रंथ का प्रचार नहीं हुआ। कुस्तुंतुनिया की स्थापना के बाद से इस ग्रंथ का उल्लेख मिलता है और यह भी पता चलता है कि बाइजांटियम में उनकी पुस्तक भूगोल की सर्वश्रेष्ठ रचना के रूप में गिनी जाती थी। पुनर्जागरण काल में स्ट्रावो की ख्याति बाइजांटियम से पश्चिम यूरोप में फैली।

---

* Charles Singer, 'From Magic to Science', Ernest Benn, 1928; p. 44.

† Encyclopaedia Britannica : स्ट्राबो शीर्षक निबंध देखिए।

स्ट्राबो का भूगोल : 'जिओग्राफी' १७ खंडों में है। पहले दो खंड भूमिका-भाग हैं। इन दोनों खंडों में भूगोल की प्रारंभिक बातों की चर्चा की गई है। बाद के ८ खंडों का विषय है यूरोपीय भूगोल—स्पेन और गॉल (फ्रांस) के विषय में २ खंड, इटली और सिसली के बारे में २ खंड, उत्तर और पूर्वी यूरोप-संबंधित १ खंड और ग्रीस तथा ग्रीक-प्रभावित देशों के विषय में ३ खंड। ११वें खंड में एशिया तथा दूर-पूर्व देशों के भूगोल की चर्चा है। १२वें, १३वें और १४वें खंड में एशिया माइनर, १५वें खंड में फारस और भारत, १६वें खंड में असीरिया, बेबीलोनिया, सीरिया और अरब तथा १७वें खंड में मिस्र और अफ्रीका के भूगोल का वर्णन है। समग्र प्राचीन गोलार्द्ध का यह एक संपूर्ण और विशद भूगोल है। इस ग्रंथ की रचना में उन्होंने इराटोस्थेनिस् के पद-चिह्नों का अनुसरण किया है। ग्रंथ के तथ्य और उपादान मुख्यत: पूर्ववर्ती ग्रीक भूगोलवेत्ताओं से लिए अवश्य गए हैं, परंतु राजनीतिक और ऐतिहासिक भूगोल का यह एक परिपूर्ण रूप है। उनसे पहले ऐसे व्यापक और विशद रूप में भूगोल के रचना-कार्य में किसी ने हाथ नहीं डाला था। होमर के प्रति स्ट्राबो की अगाध श्रद्धा और भक्ति थी, परंतु हिरोडोटस् को उन्होंने कोई विशेष ऊँचा स्थान नहीं दिया। उनका यह मत था कि हिरोडोटस् की रचना में अतिशयोक्ति भरी पड़ी है।

स्ट्राबो के भूगोल की एक विशेषता यह है कि यह विभिन्न महादेशों, देशों, प्रदेशों आदि की नीरस प्राकृतिक अथवा राजनीतिक सीमाओं का निर्देश-मात्र नहीं है। भौगोलिक स्थिति के साथ किसी जाति के भाग्य का कितना घनिष्ठ संबंध होता है, या सभ्यता के विकास से भूगोल का कोई संबंध है या नहीं, इस प्रकार के प्रश्नों की उन्होंने अनेक स्थानों पर चर्चा की है। इस प्रसंग में यूरोपीय भूगोल के साथ यूरोपीय जातियों के उत्थान और पतन के घनिष्ठ संबंध के विषय में उनका अभिमत ध्यान देने योग्य है। उन्होंने लिखा है :

'यूरोपीय भूखंड के निवास-योग्य अंचलों में, पर्वतीय ठंडे देशों के निवासियों को, स्वाभाविक कारणों से ही, दुस्सह और दुर्भाग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है। योग्य शासकों के अधीन इन अंचलों की दरिद्र और दुर्वृत्त जातियां, तस्कर-वृत्ति छोड़कर सभ्य हो गई हैं। ग्रीक इसके एक दृष्टांत हैं। उनकी निवास-भूमि पर्वतीय प्रदेश है, परंतु राजनीति, उत्पादन-विद्या और सभ्य जीवन बिताने के कौशल पर अधिकार प्राप्त करने के कारण, ग्रीक बहुत अच्छी तरह रहे। ऐसे पर्वतीय देशों में, जहाँ बंदरगाह नहीं हैं, जहाँ ठंड

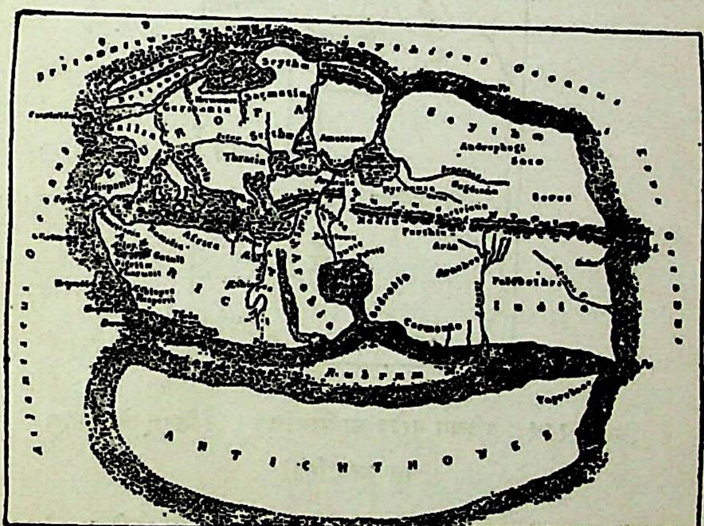
अधिक पड़ती है और जो बहुसंख्यक लोगों के निवास के अनुपयुक्त है, वहां असभ्य और बर्बर जातियां रोमनों के अधीन तथा अन्य सभ्य जातियों के संपर्क में आकर सभ्य हुई हैं। यूरोप के समतल और शीतोष्ण भागों में, स्वाभाविक कारणों से सभ्यता का विकास सहज रूप में हुआ है, प्रकृति के बिन-मांगे अनुग्रह और आशीर्वाद से सब कुछ वहाँ शांतिपूर्ण है। दूसरी ओर प्रकृति के आशीर्वाद से वंचित देशों के निवासी स्वभावतः साहसी और युद्धप्रिय हैं। ये दोनों प्रकार के देश एक दूसरे से उपकार और सहायता लाभ कर सकते हैं। कृषि, शिल्प और चरित्र-गठन प्रथमोक्त देशों की विशेषता है और शेपोक्त देश साहसी सैनिकों तथा योद्धाओं की व्यवस्था-द्वारा सहायता दे सकते हैं। जहाँ भी इन दोनों प्रकार के देशों में परस्पर आदान-प्रदान और सहायता-विनिमय का अभाव है, वहीं अनेक प्रकार की हानियों की प्रबल आशंका है। परंतु इस प्रकार की विपत्ति से यूरोप की रक्षा के लिए प्रकृति ने स्वयं व्यवस्था की है। यूरोप में प्रायः सर्वत्र समतल भूमि तथा पर्वत्तीय प्रदेश का वैचित्र्य विद्यमान है। इसलिए सभी स्थानों में हम कृषिजीवी, शांतिप्रिय जातियों के पास ही युद्धप्रिय जातियों का निवास देख पाते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि शांतिप्रिय जातियों की जनसंख्या अधिक होने के कारण समग्र रूप से उन्हीं का प्रभुत्व विराजमान है। सभ्यता के इस प्रसार-कार्य में, एक के बाद एक, ग्रीकों, मेसिडोनियों और रोमनों ने नेतृत्व किया है। इन कारणों से युद्ध और शांति दोनों के लिए यूरोप विशेष रूप से आत्मनिर्भर है।............उसकी (यूरोप की) एक और सुविधा यह है कि सब से अच्छे और आवश्यक फल यहाँ पैदा होते हैं और सब प्रकार की आवश्यक धातुएँ यहां मिलती हैं। जो वस्तुएँ उसे मंगानी पड़ती हैं, वे हैं मसाले, कीमती पत्थर और हीरे-जवाहरात आदि अनावश्यक विलासिता की सामग्रियां। इसके अतिरिक्त घरेलू पशुओं की भी यथेष्ट संख्या है, उनकी तुलना में जंगली जानवर मुश्किल से मिलते हैं। यही इस महाद्वीप का साधारण विवरण है।' (दूसरा खंड)

स्ट्राबो के भूगोल में सर्वत्र इस प्रकार का दृष्टिकोण विद्यमान है। मनुष्य जाति की आशाओं-आकांक्षाओं, पतनोत्थान, एक शब्द में उसके विचित्र इतिहास को पृथ्वी की नद-नदियों, गिरि-उपत्यकाओं, अरण्य, समतल, उपजाऊ भूमि, मरुभूमि, जलवायु आदि नैसर्गिक कारणों ने किस प्रकार प्रभावित किया

है, स्ट्राबो यह कहानी, बड़ी भावुकता के साथ, अपने विश्वविख्यात ग्रंथ में लिख गए हैं।

पांपोनियस् मेला

पांपोनियस् मेला स्पेन में पैदा हुए। उनका समय ईस्वी प्रथम शती था। उन्होंने साधारण रूप से समस्त पृथ्वी की भौगोलिक स्थिति के संबंध में चर्चा की है। उनकी रचना का मुख्य उद्देश्य जन-साधारण में भौगोलिक ज्ञान को प्रसारित करना था। मेला के अधिकांश तथ्य ग्रीक भूगोल से लिए गए हैं; इराटोस्थेनिस् के वे विशेष रूप से ऋणी थे। उन्होंने पहले ही यह मान लिया कि पृथ्वी गोल है और चारों ओर से महासागर से घिरी हुई है। पृथ्वी-पृष्ठ को उन्होंने पंच विशिष्ट मंडलों (Zones) में विभाजित किया। मध्य-मंडल सूर्य के ताप से झुलसा हुआ और मानव-निवास के अयोग्य है।



चित्र—११० : पृथ्वी का मानचित्र—पांपोनियस् मेला ;

अत्यधिक शीत के कारण उत्तर और दक्षिण के दोनों मंडल भी निवास के अनुपयुक्त हैं। केवल उत्तप्त (उष्णकटिबंधी) मंडल और हिम-मंडलों के अंतर्वर्ती दो शीतोष्ण मंडल ही बसने के योग्य हैं और इन्हीं दोनों अंचलों में पृथ्वी के अधिकांश लोग रहते हैं। पृथ्वी के जिस गोलार्द्ध में हम रहते हैं, वह महासागर से घिरा हुआ है। इस महासागर से चार सागर या उपसागर भूखंड में प्रवृष्ट हुए हैं; उत्तर में कैस्पियन सागर, दक्षिण में फारस-उपसागर और

लाल सागर, और पश्चिम में भूमध्य सागर, इस प्रकार के चार सागर है। मेला-द्वारा अंकित मानचित्र का एक आरेख नीचे दिखाया गया है। इस मानचित्र से, पृष्ठ ३३८ (चित्र--८७) पर दिए गए मानचित्र की तुलना करने पर, यह समझने में देर नहीं लगती कि मेला का मानचित्र मुख्यतः इराटोस्थेनिस् के मानचित्र के अवलंबन मे ही बनाया गया।



चित्र—१११ : पश्चिम यूरोप का मानचित्र। (टैसिटस् के विवरण पर आधारित)

सागरों का विवरण देने के बाद, मेला ने यूरोप, अफ्रीका और एशिया महाद्वीपों का वर्णन किया है। इन तीनों महाद्वीपों का उन्होंने जो सीमांकन किया है, वह ध्यान देने योग्य है। उनके मतानुसार यूरोप और एशिया के बीच की सीमा-रेखा ताने नदी (आजकल की डॉन नदी), मेओटिस झील या एज़ॉब सागर और युक्सिन या कृष्ण सागर-द्वारा निर्धारित होती है। एशिया-अफ्रीका को नील नदी विभाजित करती है। इसके अतिरिक्त अकेले एशिया का क्षेत्र यूरोप और अफ्रीका के सम्मिलित क्षेत्र के समान है। भूमध्यसागरीय अंचल और रोमन साम्राज्य के भौगोलिक अवस्थान का उन्होंने विशुद्ध वर्णन किया है; परंतु इस क्षेत्र के बाहर, ज्यों-ज्यों वे दूर गए, त्यों-त्यों उनके विवरण

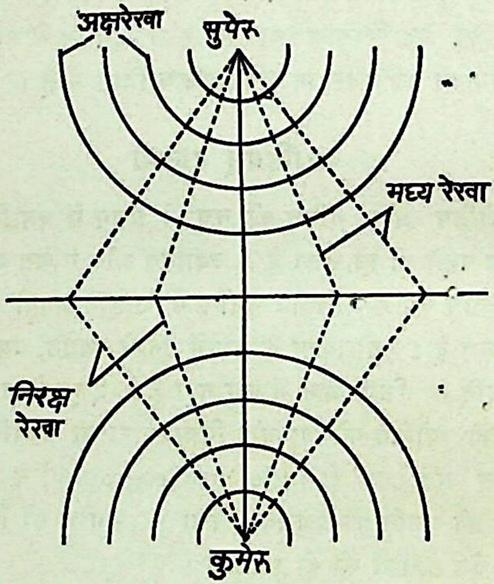
और तथ्यों की दरिद्रता प्रकट होती गई है। यहाँ तक कि मध्य-यूरोप के भूगोल का भी, सही और संतोषजनक रूप से वर्णन करने की चेष्टा उन्होंने नहीं की। यह त्रुटि प्रायः सभी रोमन लेखकों में दिखाई देती है। टैसिटस् और प्लिनी का यह विश्वास था कि स्पेन, इंगलैंड के पश्चिम में है और पिरेनीज पर्वतमाला का अवस्थान उत्तर-दक्षिण दिशा में है।

क्लॉडियस् टॉलेमी

ग्रीक ज्योतिष और गणित की चर्चा के प्रसंग में क्लॉडियस् टॉलेमी से हमारा परिचय पहले ही हो चुका है। ज्योतिष और गणित शास्त्र की भाँति भूगोल और विशेष रूप से गणितीय भूगोल में उन्होंने अपनी अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया है। भूगोलवेत्ता के रूप में उनकी ख्याति, ज्योतिर्विद के रूप में उनकी ख्याति से किसी अंश में कम नहीं है। ऐल्माजेस्ट ने जिस प्रकार परवर्ती काल की ज्योतिष गवेषणा और विचारधारा को प्रभावित किया था, उनकी 'भूगोल संदर्शिका' (Guide to Geography) ने भी उसी प्रकार भूगोल-विज्ञान की प्रगति को प्रभावित किया। भूगोल को विज्ञान का रूप देने का मुख्य श्रेय टॉलेमी को ही प्राप्त है।

अक्षांश और देशांतर की सहायता से मानचित्र-रचना : टॉलेमी के भूगोल की विशेषता है अक्षांश और देशांतर की सहायता से भूपृष्ठ के किसी भी स्थान की भौगोलिक स्थिति का निर्देश करते हुए मानचित्र की रचना। टॉलेमी से तीन सौ वर्ष पहले हिपार्कस् ने इस पद्धति से भूगोल की चर्चा और मान-चित्र प्रस्तुत करने का परामर्श अवश्य दिया था, परंतु पृथ्वी के अधिकांश स्थानों के अक्षांशों और देशांतरों की जानकारी न होने के कारण हिपार्कस् के परामर्श के अनुसार मानचित्र की रचना संभव नहीं हो सकी। टॉलेमी से कुछ पहले मेरिनस् ऑफ टायर नामक एक उत्साही भूगोलवेत्ता ने हिपार्कस् की पद्धति के अनुसार मानचित्र की रचना करने की चेष्टा की थी। अक्षांश और देशांतर की जानकारी न होने की असुविधा मेरिनस् को भी भुगतनी पड़ी थी। इसके अतिरिक्त इन दोनों प्रकार की मापों के निर्णय का कोई अच्छा उपाय भी उस समय ज्ञात नहीं था। इसलिए पर्यटकों के भ्रमण-वृत्तांत, मार्गों के विवरण आदि के सहारे, पृथ्वी के विभिन्न स्थानों के अक्षांशों और देशांतरों का उन्होंने एक प्रकार से अनुमान कर लिया, और उसी अनुमान के अनुसार, हिपार्कस् की पद्धति से पृथ्वी का मानचित्र

तैयार किया। उनका अध्यवसाय और चेष्टा निश्चय ही प्रशंसा-योग्य है। परंतु दुर्भाग्य की बात है कि उनकी अपनी रचनाएँ और ग्रंथ लुप्त हो चुके

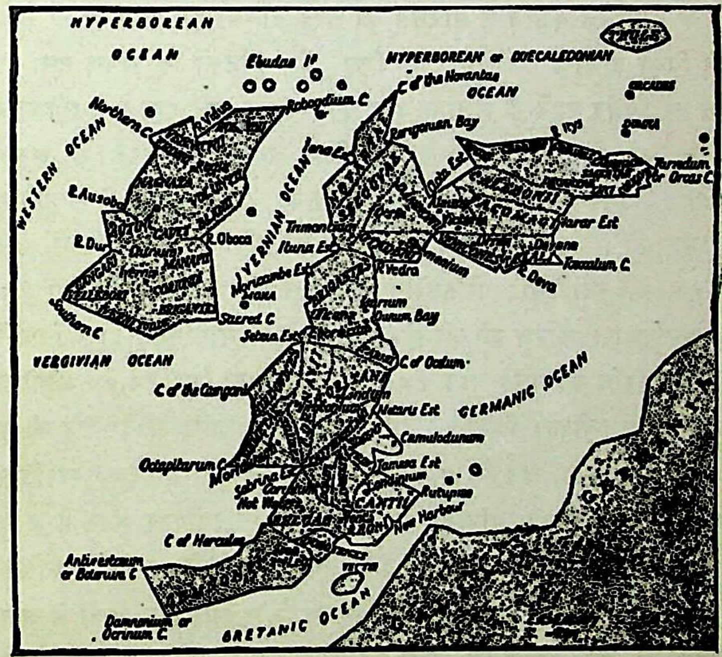


चित्र—११२ : विषुवत् रेखा, अक्ष रेखा और याम्योत्तर रेखा की सहायता से मानचित्रांकन-पद्धति—टॉलेमी।

हैं। उनके इस प्रयत्न का पता टॉलेमी के लेखों से चलता है। इसके अतिरिक्त स्वयं टॉलेमी भी, हिपार्कस् तथा मेरिनस्-द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करते हुए, भौगोलिक गवेषणा में लगे थे। बहुतों का खयाल है कि टॉलेमी का भूगोल मेरिनस् की गवेषणाओं के परिणामों का विस्तार मात्र है। उन्होंने स्वयं भी अनेक स्थानों में मेरिनस् की बातों का उल्लेख करके उस भूगोलवेत्ता के प्रति अपना ऋण स्वीकार किया है। परंतु यह बात सही नहीं है कि टॉलेमी का भूगोल मेरिनस् की चेष्टा का विस्तार मात्र है। उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों के असंपूर्ण और असंबद्ध कार्य को संपूर्ण और व्यवस्थित किया। अक्षांश तथा देशांतर की सहायता से और विज्ञान-सम्मत उपायों से पृथ्वी तथा पृथक् और विशद रूप में पृथ्वी के विभिन्न अंचलों के मानचित्र प्रस्तुत करके भूगोल को उन्होंने सही मार्ग पर परिचालित किया।

टॉलेमी ने भूमध्य रेखा (equator) तथा भूमध्य रेखा के समांतर अनेक अक्ष-रेखाओं की परिकल्पना की। इन अक्ष-रेखाओं में से एक उत्तर दिशा

में गई है थ्यूल के बीच से, दूसरी रोड्स द्वीप के निकट से तीसरी मेरो के ऊपर होकर, इत्यादि। पुनः, भूमध्य रेखा को उन्होंने ३६० डिग्रियों में (भागों में) विभाजित किया। भूमध्य रेखा को लंब रूप में काटते हुए तथा उत्तर और दक्षिण ध्रुव के बीच से पृथ्वी को घेरे हुए कुछ वृत्तों या याम्योत्तर (meridian) रेखाओं की उन्होंने कल्पना की। देशांतर निर्धारित करने के उद्देश्य से, जो याम्योत्तर रेखा कैनरी द्वीपसमूह के निकट होकर गई है, उसे उन्होंने प्रथम याम्योत्तर मान लिया। यहाँ एक और प्रश्न उठता है।



चित्र—११३ : अक्षांश और देशांतर की सहायता से अंकित ग्रेट ब्रिटेन का चित्र—टॉलेमी।

पृथ्वी का ऊपरी भाग सपतल नहीं, गोलाकार है; परंतु मानचित्र आंकना होगा किसी समतल कागज या वैसी ही किसी वस्तु पर। इसलिए, जिस प्रकार किसी गोले पर अक्ष रेखा या याम्योत्तर रेखा खींची जाती है, किसी समतल वस्तु पर उन्हें खींचना हो तो उससे भिन्न पद्धति का सहारा लेना पड़ेगा। टॉलेमी की पद्धति में मानचित्र के मध्य स्थान में पूरब से पश्चिम एक सरल रेखा खींचकर उससे भूमध्य रेखा मान लिया जाता था। इसके

बाद, उत्तर या दक्षिण ध्रुव को केंद्र बनाकर, वृत्तांशों को अंकित करके अक्षांश रेखाओं का बोध कराया जाता था और उत्तर या दक्षिण ध्रुव से भूमध्य रेखा पर प्रक्षिप्त सरल रेखाओं-द्वारा याम्योत्तर को निर्देशित किया जाता था (चित्र—११२)। इस प्रकार भूमध्य रेखा, अक्ष-रेखा और याम्योत्तर रेखा का एक जटिल ढाँचा तैयार करके टॉलेमी पृथ्वी के मानचित्र के रचनाकार्य में जुटे थे।

पृथ्वी के विभिन्न स्थानों के अक्षांश और देशांतर के संबंध में विश्वसनीय तथ्यों के अत्यधिक अभाव ने मेरिनस् की तरह टॉलेमी की चेष्टा में भी विशेष रूप से विघ्न डाला। टॉलेमी के लिए भी, पर्यटकों के भ्रमण तथा पथ-वृत्तांत पर निर्भर रहने के अलावा और कोई उपाय नहीं रहा। नतीजा यह हुआ कि उनके लिए भी विश्वसनीय मानचित्र बनाना एक तरह से असंभव हो गया। इसके अलावा पृथ्वी की परिधि की माप के विषय में उन्होंने एक भारी भूल की। इराटोस्थेनिस् ने पृथ्वी की परिधि की माप निर्धारित की थी २५०,००० स्टाडिया; पोसिडोनियस् ने इस माप का निर्णय किया १८०,००० स्टाडिया। कारण जो भी हो, टॉलेमी ने पोसिडोनियस्-द्वारा निर्धारित पृथ्वी की परिधि की गलत माप १८०,००० स्टाडिया (या १८,०० भौगोलिक मील) को ही स्वीकार किया। इससे एक-एक अक्षांश या देशांतर की दूरी बैठी ५०० स्टाडिया, जब कि प्रति डिग्री वास्तविक दूरी है ६०० स्टाडिया। इस प्रकार, पृथ्वी की परिधि का लघुतर मान स्वीकार करने के कारण, मानचित्र में, पृथ्वी के एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी का निर्देश अधिकांश क्षेत्रों में गलत हुआ। इस भूल के कारण, और अधिकांश क्षत्रों में अक्षांश और देशांतर की वास्तविक माप की जानकारी न होने के कारण, विज्ञान सम्मत पद्धति का अवलंबन करने पर भी, टॉलेमी के मानचित्र ने जगह-जगह एक अद्भुत और अस्वाभाविक आकार धारण किया है। उपर्युक्त पद्धति और टॉलेमी-प्रदत्त अक्षांश और देशांतर के आधार पर अंकित ग्रेट ब्रिटेन के मानचित्र का रूप किस प्रकार का हुआ, इसे चित्र संख्या ११३ में देखा जा सकता है। स्कॉटलैंड, इंग्लैंड के सिर पर सीधा खड़ा रहने की बजाय बिलकुल पूरब की ओर झुका हुआ है, अर्थात् स्कॉटलैंड का अक्ष, इंगलैंड के अक्ष से समांतर होने के स्थान पर, दोनों अक्षों के बीच एक समकोण उत्पन्न हुआ है।

टॉलेमी ने उत्तर-दक्षिण तथा पूर्व-पश्चिम में पृथ्वी के स्थल भाग का विस्तार भी निर्धारित किया। पूर्ववर्ती ग्रीक भूगोलवेत्ताओं के अनुमानों और अभिज्ञता की जांच करके उन्होंने थ्यूल को पृथ्वी के स्थल भाग की सर्वोच्च सीमा मान लिया। स्काटलैंड से कुछ उत्तर-पूर्व आधुनिक जेटलैंड टापू प्राचीन-काल में थ्यूल के नाम से परिचित था। टॉलेमी की गणना के अनुसार थ्यूल का अक्षांश है ६३°; इस गणना से थ्यूल के अधुना-निर्णीत अक्षांश का बहुत अधिक अंतर नहीं है। इसी प्रकार दक्षिण स्थल भाग की अंतिम सीमा-रेखा उन्होंने खींची इथिओपिया (अफ्रीका) के आगिसिंबा नामक स्थान पर। भूमध्य-रेखा से आगिसिंबा का अक्षांश प्रायः १७° है। इसलिए थ्यूल से आगिसिंबा की दूरी बैठती है ८०° या ४०,००० स्टाडिया (४००० मील)। उत्तर-दक्षिण में स्थल भाग का यही विस्तार हुआ। पूर्व-पश्चिम में स्थल भाग का विस्तार निर्धारित करने के उद्देश्य से टॉलेमी ने कैनरी द्वीप-समूह को अंतिम पश्चिमी सीमा और चीन में सेरि नामक स्थान को अंतिम पूर्वी सीमा माना। मेरिनस् ने कैनरी द्वीप-समूह से सेरि की दूरी का निर्णय किया था ९१,२८० स्टाडिया; टॉलेमी के अनुसार यह दूरी थी ७०,९०० स्टाडिया (७०९० मील)। टॉलेमी के समय भूगोलवेत्ताओं की यह धारणा थी कि मोटे तौर पर पृथ्वी का विस्तार लंबाई में ७००० मील और चौड़ाई में ४००० मील है।

होमर के काल में ग्रीक भूगोलवेत्ताओं की यह दृढ़ धारणा बन गई थी कि पृथ्वी का स्थल-भाग चारों ओर महासागर से घिरा हुआ है। हिरोडोटस्, इराटोस्थेनिस्, पांपोनियस् मेला आदि प्रख्यात भूगोलवेत्ताओं की यही धारणा थी। केवल हिपार्कस् ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा था कि उनके समय तक ज्ञात भूखंड के बाहर भी एक अपरिचित भूखंड का अस्तित्व संभव है। टॉलेमी को हिपार्कस् के इस कथन पर विश्वास था। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि यूरोप का पूर्वी भाग लगातार उत्तर की ओर प्रसारित है। एशिया के भूखंड का उत्तर-पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व में इतनी लापरवाही से विस्तार हुआ है कि कहां उसका अंत होता है, यह निर्णय करना सहज नहीं है और अफ्रीका भी अनिश्चित रूप से दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम तथा दक्षिण-पूर्वी दिशाओं में विस्तृत है। दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्वी दिशाओं में अफ्रीका के इस प्रसार का अनुमान करने के कारण, टॉलेमी के मानचित्र में इस महाद्वीप का एक भाग दक्षिण-पूर्वी एशिया से प्रायः मिला हुआ होना चाहिए, और ऐसी स्थिति में भारत महासागर एक विशाल झील में परिणत हो जाता है और अफ्रीका तथा

एशिया की तट-रेखा एक अद्‌भुत आकार धारण करती है। इधर एशिया के विशाल पूर्वी विस्तार की कल्पना के परिणामस्वरूप, टॉलेमी की गणना के अनुसार, अतलांतक महासागर की चौड़ाई ५०° या २,५०० मील होती है। अतलांतक महासागर के इस स्वल्प विस्तार के अनुमान के आधार पर ही कोलंबस को यह दृढ़ विश्वास हुआ कि इस महासागर को पार करना बहुत कठिन नहीं है और इसे पार करते ही चीन, भारत आदि विस्मयकर देशों में पहुंचा जा सकता है।

'यह ध्यान देने की बात है कि एशिया के पूर्वी विस्तार संबंधी टॉलेमी की कल्पना ने ही, जो एशिया के सर्वाधिक पूर्वी स्थान और यूरोप के सर्वाधिक पश्चिमी स्थान के बीच की दूरी ५०° देशांतर घटा देती है, कोलंबस के मन में इस विश्वास को जन्म दिया कि अतलांतक पार करके, सीधे जहाज-द्वारा पश्चिमी यूरोप से पूर्वी एशिया पहुंचा जा सकता है।'—एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका।

टॉलेमी ने अपने भूगोल की रचना, आरंभ से अंत तर्क, गणित और ज्योतिष के आधार पर की। यही कारण है कि उनकी भूगोल-संदर्शिका में विभिन्न देशों का वर्णन, उनकी जलवायु, प्राकृतिक संपदा, उनमें बसनेवाली जातियों का परिचय आदि विषयों की चर्चा बहुत ही अव्यवस्थित रूप में की गई है। इस विषय में वे स्ट्राबो के ठीक विपरीत थे। नदियों तथा पर्वतों की स्थिति आदि के संबंध में स्ट्राबो सदा सजग और सचेत थे। उनका यह मत था कि प्राकृतिक संपदा तथा वैचित्र्य ही देश की भौगोलिक विशेषता है। इसके विपरीत टॉलेमी इस विषय में पूर्णतः उदासीन थे। गॉल देश के भूगोल की चर्चा के प्रसंग में उन्होंने महत्त्वपूर्ण नदियों की बिलकुल उपेक्षा कर दी, यहां तक कि राइन नदी की बड़ी-बड़ी सहायक नदियों में से भी किसी का उन्होंने उल्लेख नहीं किया।

इन त्रुटियों के होते हुए भी टॉलेमी प्राचीन काल के सर्वश्रेष्ठ भूगोलवेत्ता थे, जिनका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। आठ खंडों के अपने विशाल ग्रंथ में प्राचीन भौगोलिक ज्ञान का उन्होंने एक अपूर्व समन्वय किया और भूगोल को विज्ञान की एक महत्वपूर्ण शाखा के रूप में प्रतिष्ठित किया। १५ वीं शती के प्रथम भाग में इस भूगोल का लैटिन भाषा में पहला अनुवाद किया माँ पेलिए विश्वविद्यालय के कुलपति गियाकोमो एंजेलो ने। १४७२ ई० में इसका प्रथम मुद्रण बोलोना से हुआ है। कोलंबस को इस मुद्रित लैटिन संस्करण के अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ था।

लैटिन यूरोप में अंधकार युग के कुछ वैज्ञानिक और दार्शनिक

ईस्वी दूसरी शती में गैलेन और टॉलेमी के बाद यूरोप में, एक मात्र गणित को छोड़कर, विज्ञान के किसी अन्य विभाग में गवेषणा होती नहीं दीखती। इस समय की ज्ञान-चर्चा प्राचीन पोथी-पत्रों की टीका तथा व्याख्या तक ही सीमित थी। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में दूसरी या तीसरी श्रेणी के कुछ दार्शनिकों की चेष्टा के अतिरिक्त इस युग के विषय में लिखने योग्य कुछ नहीं है। तथापि, अंधकार-युग के यूरोप में, चारों ओर ज्ञानानुशीलन की नितांत अवहेलना के बीच, उन्होंने दर्शन तथा विज्ञान की चर्चा-द्वारा विद्यार्जन के क्षेत्र में जो भी थोड़ा-बहुत उत्साह दिखलाया, वह परिमाण में चाहे जितना कम रहा हो, उसका मूल्य कम नहीं था। आखिर, उस काली-अंधेरी रात में उन्होंने ही तो ज्ञान की बुझती हुई दीप-शिखा को अंत तक बचाकर रखा था।

कैल्सिडियस् (चौथी शती का प्रथम भाग)

मध्य युग में नव-प्लेटो-वाद को लोकप्रिय बनाने में कैल्सिडियस् का प्रयास विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लैटिन भाषा में प्लेटो-लिखित 'टीमियस' (Timaeus) ग्रंथ का एक भाष्य उन्होंने प्रस्तुत किया। यह भाष्य मुख्यतः दूसरी शती में ऐप्युलियस्-द्वारा अनूदित 'टीमियस' के एक संस्करण पर आधारित है। इस भाष्य का महत्त्व यह है कि मध्य युग में १२ वीं शती के प्रायः अंत तक विद्वज्जनों को प्लेटो का परिचय केवल कैल्सिडियस् के इस भाष्य के माध्यम से ही प्राप्त हुआ था। ज्योतिष शास्त्र पर भी उनका कुछ अधिकार था।

मैक्रोबियस् (९५ ई०-४२३ ई०)

नव-प्लेटो-वादी मैक्रोबियस् को ख्याति प्राप्त हुई मुख्यतः उनकी दो रचनाओं के कारण—'सैटर्नेलिया' (Saturnalia) और सिसेरो-रचित 'सौम्नियम सिपिओनिस' (Somnium Scipionis) की एक टीका। इन दोनों पुस्तकों का मुख्य आलोच्य विषय है नव-प्लेटो-वाद, परंतु प्रसंगतः इनमें पदार्थ-विज्ञान, ज्योतिष, भूगोल तथा गणित-संबंधी अनेक विषयों की चर्चा है। मैक्रोबियस् के समय साधारण शिक्षित-समाज किस प्रकार का ज्ञान अर्जित करता था, ये दोनों पुस्तकें इसका उदाहरण हैं।

मार्सेलस् एंपिरिकस्

बॉर्दो-निवासी मार्सेलस् एंपिरिकस् चिकित्सा तथा भेषज-विद थे। उनका जीवन काल चौथी शती का शेष भाग और पाँचवीं शती का प्रथम

भाग था। उनका लिखा हुआ 'डी मेडिकामेंटिस' भेषज तथा चिकित्सा-विद्या का उल्लेखनीय ग्रंथ है। इस ग्रंथ में जिस प्रकार वैज्ञानिक तथ्यों का कुछ समावेश है, उसी प्रकार झाड़-फूंक, अनाड़ी चिकित्सा और कुसंस्कार-जनित वैसी ही चिकित्साप्रणाली के वर्णन का भी अभाव नहीं है। पदार्थों के गुणों-संबंधी विवरण में उन्होंने अनेक वनस्पतियों का उल्लेख किया है।

प्रोक्लस् (४१० ई०-४८५ ई०)

नव प्लेटोवादी दार्शनिक प्रोक्लस् गणित और ज्योतिष में पारदर्शी थे। युक्लिड के 'एलिमेंट्स' पर उन्होंने एक विशेष टीका लिखी थी। इस टीका के सिलसिले में उन्होंने ऐसे अनेक ऐतिहासिक तथ्य दिए हैं, जो ग्रीक ज्यामिति के इतिहास को समझने के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। ये ऐतिहासिक तथ्य, आजकल लुप्त युडिमस् तथा जेमिनस् के ग्रंथों से लिए गए थे। इसके अतिरिक्त हिपार्कस् और टॉलेमी के ज्योतिष की उन्होंने एक सुंदर भूमिका लिखी थी। इस भूमिका की विशेषता यह है कि इसमें जल-घड़ी की सहायता से सूर्य के दीखनेवाले व्यास के निर्धारण की एक पद्धति, सूर्य के वलय-ग्रास का उल्लेख तथा कुछ और नए विषयों की चर्चा है। इससे लगता है कि प्रोक्लस् केवल टीकाकार ही नहीं थे, बल्कि उनके विचारों में यथेष्ट मौलिकता भी थी।

मार्टिआनस् कैंपेला (अनुमानतः ४७० ई०)

प्रोक्लस् के समकालीन मार्टिआनस् कैंपेला कार्थेज के गौरवस्वरूप थे। उनका ग्रंथ 'सैटायरिकन' (Satyricon) या De nuptiis Philologiae et Mercurii et de septem artibus liberalibus libri novem विश्वकोश के समान है। नौ खंडों का यह ग्रंथ गद्य तथा पद्य में रचित है। इसका पहला और दूसरा खंड रूपक के रूप में लिखित एक प्रकार की भूमिका है। बाद के सात खंडों में क्रमानुसार व्याकरण, न्याय, अलंकार, ज्यामिति तथा भूगोल, अंकगणित, ज्योतिष और संगीत तथा काव्य की चर्चा है। ग्रंथ के ८वें खंड में ज्योतिष-चर्चा की विशेषता यह है कि इसमें एक असंपूर्ण सूर्यकेंद्रीय विश्व-परिकल्पना का आभास मिलता है। इस परिकल्पना के बावजूद उनका ब्रह्मांड का चित्र नव-प्लेटोवादी दर्शन के ढांचे में ही गढ़ा हुआ है। कैल्सिडियस् और मैक्रोवियस् की भाँति कैंपेला की रचनाओं का भी, मध्य युग में पाठ और अध्ययन किया जाता था।

इसिडोर ऑफ सेविल (अनुमानतः ५६०-६३६ ई०)

प्रारंभिक युग के ईसाई पंडितों में से किसी ऐसे व्यक्ति का नाम लेना हो, जिन्होंने वैज्ञानिक विषयों पर विशेष ध्यान दिया था तो सबसे पहले इसिडोर का ही नाम लिया जाना चाहिए। स्पेन में सेविल या कार्तजिना में उनका जन्म हुआ और अनुमानतः ६०० ई० से मृत्युकाल तक वे बिशप के पद पर प्रतिष्ठित थे। उनका मुख्य ग्रंथ 'एटिमोलोजिएरम् साइव ओरिजिनम् लिब्राई xx' मध्य युगीन विश्वकोश के आदर्श पर ही लिखा गया, परंतु उसमें वैज्ञानिक विषयों को जो महत्व दिया गया है, वह द्रष्टव्य है। इस ग्रंथ में अंकगणित, संगीत, ज्यामिति और ज्योतिष, इन्हीं चार विषयों की चर्चा है। उनके दृष्टिकोण और मतवाद पर साधारणतया ईसाई धर्म का प्रभाव पड़ा था, फिर भी बीच-बीच में वैज्ञानिक विषयों को धर्म से अलग करके उन पर विचार करने की एक चेष्टा भी उनमें दिखाई पड़ती है।* विज्ञान की दृष्टि से इसका मूल्य नहीं के बराबर है, फिर भी उनके समय के वैज्ञानिक पिछड़ेपन की पृष्ठभूमि में इसिडोर का यह विज्ञान-प्रेम ही यथेष्ट जान पड़ेगा। उनका एक और ग्रंथ 'डी नाटुरा रीरम्' ज्योतिष, मौसम-विज्ञान और ब्रह्मांड-तत्व के संबंध में है। मध्य युग में इस पुस्तक के विशेष लोकप्रिय होने का पता चलता है।

स्टिफानस् (६१०-६४१ ई०)

७ वीं शती के प्रथम भाग में इस नाम के दो व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। एक का जन्मस्थान था अलेग्जेंड्रिया और दूसरे का एथेंस। दोनों की कर्मभूमि थी कुस्तुंतुनिया। अलेग्जेंड्रिया-निवासी स्टिफानस् दार्शनिक, गणितज्ञ और ज्योतिर्विद थे। अरस्तू पर उनकी एक टीका है। ज्योतिष के संबंध में भी उन्होंने एक ग्रंथ की रचना की और कीमिया-संबंधी उनका एक ग्रंथ था, यह भी पता चलता है। एथेंस-निवासी स्टिफानस् चिकित्सा-शास्त्री थे। हिपोक्रेटिस् और गैलन पर कई टीकाओं और ज्वर तथा मूत्राशय की पीड़ा के संबंध में कुछ ग्रंथों के संबंध में यह अनुमान किया जाता है कि ये उन्हीं की रचनाएँ हैं। परंतु ज्योतिर्विद् और चिकित्सा-विद् स्टिफानस् दो अलग व्यक्ति थे या एक ही व्यक्ति, इसका अभी तक इतिहासकार निश्चय नहीं कर पाए हैं।

---

* "ओरिजिनस में ज्ञानाभाव भले ही हो, परंतु उसमें, धर्मतत्व से पृथक् रूप में विज्ञान के प्रति वास्तविक दिलचस्पी दिखाई देती है।"—Sarton, Introduction to the History of Science', p. 471.

कैलिनिकस् (अनुमानतः ६७३ ई०)

कहा जाता है कि 'ग्रीक अग्नि' का आविष्कार किया कैलिनिकस् ने और उनके विषय में विज्ञान के इतिहासकारों में कुतूहल होने का यही मुख्य कारण है। लोकोक्ति के अनुसार ६७३ ई० में जब अरबों ने कुस्तुंतुनिया पर घेरा डाला, तब बाइजांटाइनों ने 'ग्रीक अग्नि' फेंककर उनके जहाजों को विनष्ट किया और उन्हें भाग जाने को मजबूर किया। बाइजांटाइन इतिहासकारों का कहना है कि ग्रीक अग्नि के आविष्कारक कैलिनिकस् थे। सार्टन ने लिखा है कि यह ग्रीक अग्नि संभवतः कली चूना, नैप्था, डामर और गंधक का मिश्रण थी। इस मिश्रण में शोरा था या नहीं, इसकी जानकारी नहीं मिलती। इस मिश्रण से पानी के भीतर भी आग लग सकती है।

बीड (६७३-७३५ ई०)

अंग्रेज इतिहासकार, वैज्ञानिक तथा धर्म तत्त्वविद् बीड, वैज्ञानिक से अधिक इतिहासकार के रूप में ही प्रसिद्ध थे। वे अंग्रेज इतिहासकारों के निर्माता और मध्ययुग के इतिहासकारों में संभवतः सर्वश्रेष्ठ थे। विज्ञान में उनका विशेष उत्साह था और इस विषय में उनका पांडित्य इसिडोर के पांडित्य से निस्संदेह अधिक था। इसका प्रधान कारण यह है कि प्लिनी के 'हिस्टोरिया नाटुरालिस् (Historia Naturalis) की उन्हें अच्छी जानकारी थी। इसके अतिरिक्त उन्हें ग्रीक और हिब्रू भाषा का भी ज्ञान था। उनका वैज्ञानिक ग्रंथ 'डी नाटुरा रीरम' (De Natura Rerum) कुछ अंश तक प्लिनी के ग्रंथ के अनुकरण में लिखा गया है। 'डी टेंपोरम् राटिओन' नामक एक और ग्रंथ में उन्होंने ज्वारभाटा के बारे में लिखा है। इसमें बंदरगाह बनाने की परिकल्पना के संबंध में भी अनेक परामर्श दिए गए हैं। वे प्लिनी के मत के समर्थक थे। अकगणित के संबंध में भी उनकी कुछ पुस्तकें हैं।

ऐल्क्विन् (७३५-८०४ ई०)

आठवीं शती के यूरोप में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी और पंडित एक और ऐल्क्विन थे। उनका जन्म यार्क में अनुमानतः ७३५ ई० में हुआ। बीड के आदर्श ने उन्हें विशेष रूप से प्रेरित किया। धर्म-तत्त्वज्ञ और शिक्षाव्रती ऐल्क्विन की प्रधान कीर्ति थी सम्राट शार्लेमाइन की सहायता से पश्चिम यूरोप में शिक्षा के आदर्श की नए सिरे से प्रतिष्ठा। साधारण अज्ञान और शिक्षा-क्षेत्र में

अव्यवस्था से शार्लेमाइन बहुत विचलित हुए और इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए, शिक्षा के सुधार की एक योजना बनाने का उन्होंने निश्चय किया। यह भार उस युग के श्रेष्ठतम ज्ञानी और पंडित ऐल्क्विन को दिया गया। ऐल्क्विन ने प्रत्येक धार्मिक संस्था के साथ एक शिक्षण-संस्था खोलने का प्रस्ताव किया। इसके अतिरिक्त राजभवन में ही उन्होंने एक पुस्तकालय, शिक्षायतन और एक तरह के विद्यापीठ या अकादमी की स्थापना की। शार्लेमाइन से 'डी लिटरिस कोलेंडिस्' (De litteris Colendis) नाम से शिक्षा-संबंधी जो विशेष आज्ञा जारी की, उस पर ऐल्क्विन का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। मध्ययुगीन यूरोप में विद्यानुराग के पुनर्जागरण की यह प्रथम चेष्टा थी और इतिहास में यह चेष्टा 'कैरोलिंगीय पुनर्जागरण' के नाम से विख्यात है। यह विद्यानुराग अधिक दिन तक नहीं रहा। शार्लेमाइन की मृत्यु के बाद उनके साम्राज्य के पतन के साथ ही अज्ञान का अंधकार पुनः छा गया।

स्वयं ऐल्क्विन ने अधिकांश पुस्तकें लिखीं धर्मतत्त्व और दर्शन के संबंध में और कुछ व्याकरण तथा अंकगणित के संबंध में। अपने अंकगणित में उन्होंने अनेक प्रकार की जटिल समस्याओं की अवतारणा की। एक उदाहरण इस प्रकार है—सौ बोरा अनाज सौ परिवारों में इस प्रकार बाँटा गया कि प्रत्येक पुरुष को ३ बोरा, प्रत्येक स्त्री को २ बोरा और प्रत्येक शिशु को आधा बोरा अनाज मिला; उन परिवारों में कुल मिलाकर कितने पुरुष, कितनी स्त्रियाँ और कितने शिशु थे ?

बीड और ऐल्क्विन के बाद रॉबानस् मोरेस (७७६-८५६ ई०) ने यूरोप में इस नए विद्यानुराग को कुछ दिनों तक बनाए रखा। उनके द्वारा स्थापित फुल्डा का विद्यापीठ उस समय का एक विशिष्ट शिक्षा-केंद्र बन गया था।

लिओन ऑफ थेसालोनिका (ईस्वी ९ वीं शती)

नवीं शती में बाइजांटाइनी दार्शनिक लिओन ऑफ थेसालोनिका का नाम उल्लेखनीय है। वे थेसालोनिका के आर्कबिशप और कुस्तुंतुनिया के राजकीय विश्वविद्यालय के प्राध्यापक थे। अनेक प्रकार के यांत्रिक कौशलों के आविष्कार के लिए वे विख्यात हुए। ऑटोमेंटा उनका मुख्य आविष्कार था। आलोक-संकेत-द्वारा संदेश भेजने की एक प्रकार की व्यवस्था (Optical Telegraph) का उन्होंने आविष्कार किया। गणित, चिकित्सा-शास्त्र, ज्योतिष और भाग्य-गणना के संबंध में भी उन्होंने कुछ ग्रंथों की रचना की। सात खंडों का चिकित्सा शास्त्र का एक विश्वकोश

उनका श्रेष्ठ ग्रंथ है। इस ग्रंथ में शल्य क्रिया की विशद चर्चा है। बाइजांटाइन में उन्होंने विद्यानुराग के प्रोत्साहन की विशेष चेष्टा की और बाइजांटाइन-पुनर्जागरण के साथ उनका नाम घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। बाइजांटाइन में विद्यानुराग के इस पुनर्जागरण-काल में ग्रीक पोथी-पत्रों को कुछ संरक्षण प्राप्त हुआ। इसी काल में आर्किमीडिस की कुछ महत्त्वपूर्ण पांडुलिपियाँ फिर से ढूंढ़ निकाली गईं।

एरिगेना (ईस्वी ९ वीं शती)

नवीं शती के एक और ईसाई पंडित का उल्लेख करके हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। एरिगेना या जॉन स्कॉट्स (८००-८७७ ई०) मध्य युग के एक विशिष्ट और प्रतिभाशाली दार्शनिक थे। सार्टन के अनुसार वे 'मध्य युग के सब से मौलिक दार्शनिकों में से एक थे'। विद्वत्ता से अधिक उन्होंने स्वतंत्र विचार और युक्ति पर बल दिया। ग्रीक भाषा में वे सुपंडित थे और कई ग्रीक ग्रंथों के उन्होंने लैटिन भाषा में अनुवाद किए। कैल्सिडियस् के ग्रंथों से उन्हें प्लेटो के संबंध में जानकारी हुई। अपने ज्योतिषीय ज्ञान के लिए भी वे मुख्यमः कैल्सिडियस् और कैपेला के ग्रंथों के ऋणी थे। हेराक्लिडिस की कल्पना थी कि बुध और शुक्र ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। एरिगेना ने यह अनुमान किया कि बृहस्पति और मंगल भी सूर्य को केंद्र बनाकर, वृत्तमार्ग में उसकी परिक्रमा करते हैं। उनकी मुख्य रचनाएँ धर्म-दर्शन संबंधी हैं; विज्ञान के विषय में उनकी रचनाएँ थोड़ी ही हैं। 'डी डिवीसिओन नाटुरे' (De divisione naturae) उनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है, जिसकी रचना ८६७ ई० में हुई। इस ग्रंथ का मूल प्रतिपाद्य विषय है, प्रकृति की एकता। यह एकता ईश्वर से उत्पन्न हुई है और ईश्वर में ही उसकी समाप्ति होती है।

आठवां अध्याय

प्राचीन विज्ञान की समाप्ति और यूरोप में अंधकार-युग की सूचना

ईसापूर्व छठी शती में माइलेटस् के थालेस् के समय से ईस्वी चौथी शती के अंतिम और पाँचवीं शती के प्रथम भाग में अलेग्जेंड्रिया की प्रख्यात वैज्ञानिक और प्राचीन काल की सर्वश्रेष्ठ विदुषी महिला हाइपेसिया के काल तक, एक हजार वर्ष के ग्रीक और ग्रीको-रोमन विज्ञान के इतिहास की प्रायः विशद चर्चा की गई है। गणित, ज्योतिष तथा भूगोल, वनस्पति-विज्ञान, प्राणि-शास्त्र और जीव-शास्त्र, चिकित्सा तथा भेषज-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, यंत्र-विद्या, सार्वजनिक-निर्माण तथा स्थापत्य आदि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में प्राचीन भूमध्यसागरीय जातियाँ एक हजार वर्ष की अपनी साधना से जो अनूठा अवदान छोड़ गई थीं तथा उन्होंने जिस विस्मयजनक उद्भावनी शक्ति का परिचय दिया था, इस चर्चा मे उस पर यथेष्ट प्रकाश पड़ा है। इस काल में ज्यामिति, अंकगणित की बुनियाद दृढ़ हुई; ज्योतिष संबंधी ग्रीक सिद्धांतों का परित्याग करने पर भी, पर्यवेक्षण और परीक्षण की तत्कालीन सीमाओं के भीतर, हिपार्कस् और टॉलेमी के द्वारा ज्योतिर्विद्या की चरम उन्नति हुई; सब कालों में श्रेष्ठ माने जानेवाले वैज्ञानिक हिपोक्रेटिस्, अरस्तू, थिओफ्रेस्टस् और गैलेन ने चिकित्सा विज्ञान, प्राणि-विद्या, वनस्पति-विज्ञान और जीव-शास्त्र की नींव डाली और उनके ढाँचे बनाए। इराटोस्थेनिस्, स्ट्राबो और टॉलेमी के मस्तिष्कों से भूगोल की उत्पत्ति हुई।

मानव-सभ्यता के इतिहास में इस एक हजार वर्ष के ज्ञान-विज्ञान का इतिहास बहुत महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक विज्ञान के स्रोत का पता लगाना हो तो इस ग्रीक और ग्रीको-रोमन विज्ञान में ही उसे ढूँढ़ना पड़ेगा, क्योंकि आधुनिक विज्ञान से इस प्राचीन विज्ञान का अविच्छिन्न संपर्क है। प्राचीन विज्ञान के सूत्र से ही आधुनिक विज्ञान की उत्पत्ति हुई है। १५वीं और १६वीं शतियों में वैसालियस्, हार्वी, कोपर्निकस् और पैरासेल्सस्-जैसे वैज्ञानिक, प्राचीन विज्ञान से गहरी प्रेरणा प्राप्त करके ही आधुनिक विज्ञान की सूचना देने में समर्थ हुए थे। पुनर्जागरण का एक अन्यतम कारण था यूरोपीय जातियों

में प्राचीन ग्रीक ज्ञान-विज्ञान और पोथी-पत्रों के प्रति प्रेम और अनुराग का पुनर्जन्म। इन पोथी-पत्रों की छान-बीन करके और उनमें प्राचीन मनीषियों की विस्मयोत्पादक बुद्धि का परिचय पाकर यूरोप पुनः नए उद्यम से विज्ञान-साधना में प्रवृत्त हुआ। हिपार्कस् और टॉलेमी ने जहाँ छोड़ा था, ठीक वहीं से कोपर्निकस् ने अपनी ज्योतिषीय गवेषणा शुरू की। वेसालियस् और हार्वी की गवेषणाएँ क्रांतिकारी अवश्य थीं, परंतु एक दृष्टि से विचार किया जाय, तो इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने गैलेन की गवेषणाओं को ही और विस्तार दिया। इस प्रकार विज्ञान के प्रत्येक विभाग में यह देखा जा सकता है कि प्राचीन वैज्ञानिकों ने जहाँ पर अपनी यात्रा स्थगित की थी, वहीं से आधुनिक विज्ञान की यात्रा शुरू हुई।

परंतु यह समाप्ति और प्रारंभ साथ-साथ नहीं हुए। दोनों के बीच हम हजार बारह-सौ वर्षों का दीर्घ व्यवधान पाते हैं। गौरवमय अतीत के ग्रीक और ग्रीको-रोमन सभ्यता को आधुनिक सभ्यता से अलग और विच्छिन्न कर रखा है एक घोर अंधकारमय युग ने। इस युग का अंधकार यूरोपीय मानस का अंधकार है। एक अज्ञेय क्लांति और विह्वलता ने उस मानस को मानो आच्छादित कर दिया। उसकी हर प्रकार की उन्नति, चिंतन शक्ति, मननशीलता और उद्भावनी शक्ति लुप्त हो गई। उस मानस ने अपनी गतिशीलता खोकर सामने की बजाय पीछे की ओर अपनी दृष्टि निबद्ध की। नए ज्ञान और तथ्यों का संधान देना तो दूर रहा, इस युग के यूरोप को, हर प्रकार के ज्ञानार्जन में, हम नितांत निस्पृह और निष्क्रिय पाते हैं, मानो विचार-जगत् में यूरोप को, सहसा अंधकार के कारण, कोई रास्ता ढूँढ़ नहीं मिला।

प्राचीन विज्ञान की समाप्ति और यूरोप में अंधकार-युग का प्रसार

यूरोप में अंधकार-युग ठीक किस समय आरंभ हुआ और कितने समय तक इसका अस्तित्व बना रहा, इस विषय में बहुत मतभेद और तर्क-वितर्क हैं। थालेस के काल से विज्ञान की जिस प्रगति का हमने अब तक अध्ययन किया है, उसमें बीच-बीच में गतिरोध उत्पन्न होने और कभी-कभी गंभीर संकट आ पड़ने पर भी, ईस्वी दूसरी शती के अंतिम भाग तक हम इस प्राचीन विज्ञान की सक्रियता और सर्जन शक्ति को बराबर देख पाते हैं। विज्ञान की दृष्टि से इस दूसरी शती को दो अद्भुत प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों ने इतिहास के पृष्ठों में सदा के लिए अमर और दीप्तिमान बना दिया है। टॉलेमी ने अलेग्जेंड्रिया में

अपनी गवेषणाएँ अनुमानतः १२७ ई० से १५१ ई० तक कीं और गैलेन की मृत्यु २०० ई० में हुई। ये दोनों ही वैज्ञानिक प्राचीन विज्ञान के अंतिम समन्वयकारी उज्ज्वल प्रदीप थे। इसलिए, सृजन-शक्ति की दृष्टि से प्राचीन विज्ञान की समाप्ति की सीमा-रेखा खींचनी हो तो गैलेन की मृत्यु के वर्ष २०० ई० पर ही यह सीमा अंकित की जानी चाहिए। परंतु दूसरी शती के अंतिम भाग या तीसरी शती के प्रथम भाग में विज्ञान की साधारण प्रगति रुक जाने पर भी, गणितीय गवेषणा कुछ और समय तक सक्रिय रही। डायोफैंटस्, पेपस्, थिओन ऑफ अलेग्जेंड्रिया और हाइपेसिया की गणितीय गवेषणाओं का काल तीसरी और चौथी शती है। बल-विद्या-विशारद हीरो भी संभवतः इस समय जीवित थे। ३९० ई० में आर्क बिशप थियोफिलस् ने अलेग्जेंड्रिया के लगभग सात सौ वर्ष पुराने और प्राचीन पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथागार के एक अंश को ध्वस्त करके ग्रीक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के मूल पर कुठाराघात किया। ४१५ ई० में उन्मत्त ईसाई पादरियों ने हाइपेसिया की नृशंस रूप से हत्या की। पुनः, यही तीसरी और चौथी शती का काल, टेर्टुलियन, लैक्टाटियस् और सेंट जेरोम-जैसे ईसाई धर्मज्ञों का प्रचार-काल और ग्रीक ज्ञान-विज्ञान के विरुद्ध उग्र जेहाद का काल था। इन बातों को ध्यान में रखते हुए अनेक इतिहासकार इस बात के पक्ष में हैं कि प्राचीन विज्ञान की अवनति की अंतिम सीमा-रेखा चौथी शती के शेष भाग या पाँचवीं शती के प्रथम भाग पर खींची जानी चाहिए।* उनका यह मत है कि यूरोपीय अंधकार-युग का आरंभ पाँचवीं शती के प्रथम भाग से हुआ।

इस अंधकार-युग की समाप्ति कहाँ पर हुई? विचार-जगत् का यह सर्वग्रासी घोर कालिमामय अंधकार क्या शतियों तक बना रहा? क्या बीच-बीच में किसी प्रकाश-किरण ने इस जड़ता और अवसाद से मुक्ति की कोई सूचना नहीं दी? कब, कहाँ और किस प्रकार इस दीर्घ रात्रि का अवसान हुआ एवं अरुणोदय की नई किरणों से उसका चिंतन जगत् चमक उठा और ज्ञान-विज्ञान का द्वार उद्घाटित करने की खोई हुई कुंजी यूरोप ने फिर ढूँढ़ निकाली? प्रश्न विचारणीय है।

यह अंधकार अकस्मात् किसी दिन समाप्त नहीं हुआ। जिस प्रकार धीरे-धीरे यह व्याप्त हुआ था, उसी प्रकार धीरे-धीरे दूर भी हुआ। ठीक किस समय

* F. S. Marvin द्वारा संपादित Science and Civilization नामक पुस्तक में चार्ल्स सिंगर का निबंध देखें। Oxford University Press, 1923. p 11 ·5.

इस अंधकार-युग का अवसान हुआ, यूरोपीय जातियों ने नए ज्ञान के अन्वेषण के लिए, पीछे की बजाय फिर सामने की ओर दृष्टि डाली और प्राकृतिक घटनाओं के विचार-विश्लेषण में प्राचीन प्रयोग के स्थान पर अपनी निजी और क्रांतिकारी मनोवृत्ति का परिचय देना शुरू किया, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। १६वीं शती में किसी समय, संभवतः शती के अंतिम भाग में, मध्ययुगीन मनोवृत्ति की समाप्ति हुई, इस तथ्य को आज साधारण रूप से स्वीकार कर लिया गया है। यदि इसी काल का कोई विशेष वर्ष बताना हो, तो १५४३ ई० को ही मध्य युग का अंतिम वर्ष गिना जाना चाहिए। इसी वर्ष कोपर्निकस् का क्रांतिकारी ज्योतिषीय ग्रंथ 'डी रेवोल्युशियोनिबस् ऑर्बियम् सेलेस्टियम्' (De Revolutionibus Orbium Coelestium) और शरीर-क्रिया संबंधी वेसालियस् का उससे भी क्रांतिकारी ग्रंथ 'डी फेब्रिका कॉर्पोरिस् ह्यूमेनी' (De Fabrica Corporis Humani) प्रकाशित हुआ। प्रथमोक्त ग्रंथ में टॉलेमी द्वारा रूपान्वित प्राचीन ज्योतिष की नींव खोदने की व्यवस्था हुई और दूसरे में गैलेन-द्वारा प्रस्तावित शरीर-तत्त्व तथा जैव-क्रिया-तत्त्व को गलत सिद्ध करके एक पूर्णतः नए क्रियाविज्ञान को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गई। दोनों ग्रंथों की मूल बात एक है : प्राचीन विज्ञान ने सही तथा शाश्वत ज्ञान और सत्य का पता दिया है, इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। उस विज्ञान में अनेक त्रुटियाँ और भ्रांतियाँ हैं। परीक्षण तथा शोध के द्वारा अधिक उन्नत तथा विश्वसनीय वैज्ञानिक सिद्धांतों पर पहुँचना संभव है। संक्षेप में इन दोनों ग्रंथों के माध्यम से, पहली बार खुले रूप में प्राचीन वैज्ञानिक मतवाद का विरोध और उससे अधिक उन्नत मतवाद का प्रस्ताव किया गया है। इससे पहले, एक हजार वर्षों के बीच टॉलेमी के ज्योतिष अथवा गैलेन के क्रियाविज्ञान के प्रति संदेह प्रकट करने का विचार भी किसी के मन में नहीं आया था। प्रत्येक व्यक्ति की यह निश्चित धारणा बन गई थी कि प्राचीन वैज्ञानिकों की गवेषणाएँ और मत अभ्रांत हैं, और वे जो कुछ कह गए हैं, उस विषय में उनकी बात ही अंतिम है। बीच-बीच में दो-एक व्यक्ति के मन में भी संदेह उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसी बात नहीं है। परंतु ऋषि-वाक्य का प्रतिवाद करने की स्पर्धा या साहस किसी को नहीं हुआ। कोपार्निकस् ने भी निश्चिंत होकर अपने ग्रंथ 'डी रेवल्युशिओनियस ऑर्बियम् सेलेस्टियम्' (De Revolutionibus Orbium Coelestium) को छापने की अनुमति नहीं दी। तीस वर्ष की लंबी अवधि तक उन्होंने इस पांडुलिपि की बात, अपने कुछ घनिष्ठ मित्रों को छोड़कर, किसी और को नहीं बताई। १५१२ ई० में 'कॉमेंटेरिओलस'

(Commentariolus) नामक एक छोटी पुस्तिका में, संक्षेप में अपना मत व्यक्त करके, उन्होंने कुछ इने-गिने मित्रों में उसका गुप्त रूप से प्रचार किया। इसके लगभग ३० वर्षों के बाद, अपने मित्रों के विशेष अनुरोध पर, कोपर्निकस् जब अपना मूल ग्रंथ प्रकाशित करने को राजी हुए, तब उनकी आयु ७० वर्ष की थी। प्राचीन वैज्ञानिक मतवाद का विरोध करने की मुसीबत और गंभीरता के संबंध में वेसालियस् भी सचेत थे। 'डी फेब्रिका' (De Fabrica) में उन्होंने लिखा है—'थोड़े दिनों पहले भी, गैलेन से तिलभर इधर-उधर हटने का मुझे साहस नहीं होता। परंतु हृदय में अवस्थित सेप्टम् का पर्दा, हृदय के अवशिष्ट भाग की तरह ही मोटा और घना है। यह बिलकुल ही मेरी समझ में नहीं आता कि किसी क्षुद्रतम कण के लिए भी, सेप्टम् का भेद करके दक्षिण निलय से वाम निलय में प्रवेश करना कैसे संभव है।' एक लंबी अवधि के वैज्ञानिक परीक्षणों-द्वारा उपलब्ध विश्वास का उन्होंने निर्भीक होकर प्रकट किया। लगातार तेरह सौ वर्षों तक यूरोप में ठीक इसी बात का अभाव था।

कोपर्निकस् और वेसालियस् के इन दो ग्रंथों के प्रकाशन के साथ ही लोगों ने झटपट टॉलेमी और गैलेन के वैज्ञानिक मतवाद का परित्याग कर दिया और कोपर्निकस् तथा वेसालियस् द्वारा प्रस्तावित वैज्ञानिक मतवाद को स्वीकार कर लिया, ऐसी बात नहीं है। अधिकांश लोगों ने पहले इस मतवाद की उपेक्षा की, उसके प्रति व्यंग्य और उपहास किए और किसी-किसी ने उसे अधार्मिक तथा अशास्त्रीय बताकर उसके प्रति कटाक्ष किया या डराया-धमकाया। परंतु धीरे-धीरे इस मतवाद ने विचारशील व्यक्तियों की दृष्टि आकर्षित की, हर प्रकार के अवैज्ञानिक प्रतिवाद और विरोध पर विजय उसकी अकाट्य युक्ति और सत्यता की हुई, और प्राचीन विज्ञान की सत्यता के संबंध में संदेह उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। इस कारण, विज्ञान के इतिहास में १५४३ ई० को मध्य युग और आधुनिक वैज्ञानिक युग के बीच सीमा-निर्देशक के तौर पर माना जा सकता है।

इसी प्रसंग में यह बात भी सत्य है कि ४०० से १५४३ ई० तक, एक हजार वर्षों से कुछ अधिक का समय ज्ञान-विज्ञान-चर्चा की दृष्टि से पूर्णतः निश्चेष्टता का युग नहीं था। इस बीच ज्ञानान्वेषण और ज्ञान-चर्चा में उतार-चढ़ाव हुए। परंतु ईस्वी पाँचवीं से दसवीं शती तक यूरोप में प्रायः सर्वत्र ज्ञान-चर्चा स्थगित ही रही। अज्ञान व्यापक रूप में फैला हुआ था और उससे भी घातक बात यह थी कि इस अज्ञता को दूर करने की कोई इच्छा भी नहीं

थी। यह पाँच सौ वर्षों का काल ही वास्तव में अंधकार युग है। ११ वीं शती से ज्ञान-चर्चा और विद्यानुराग का कुछ आभास पुन: दिखाई पड़ता है। गेवेंर्ट, आदेलार्द, रॉवर्ट ऑफ चेस्टर, जेरार्ड ऑफ क्रेमोना, माइकेल स्कॉट अलेग्जेंडर ऑफ नेकम् आदि पंडित ११ वीं और १२ वीं शतियों के विद्यानुराग और ज्ञान-विज्ञान-चर्चा के मुख्य प्रतिनिधि थे। आठवीं और नवीं शतियों में यूरोपीय मननशीलता निश्चित रूप से कम होती गई; ग्यारहवीं और बारहवीं शतियों में यह अवनति बढ़ने नहीं पाई; उसका गतिरोध हुआ; यूरोपीय मानस में ज्ञानार्जन की उत्सुकता बढ़ी, उसकी चिंतन शक्ति ऊर्ध्वमुखी हुई। १३ वीं शती में रॉजर वेकन के आविर्भाव के बाद से विद्यानुराग का वेग प्रबल हुआ, ज्ञान का मूल्य बढ़ने लगा और ज्ञानी व्यक्तियों का समाज तथा राजदरबार में समादर होने लगा। इस युग के लोग प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के प्रति अतीव श्रद्धाशील थे; प्राचीन ग्रंथों तथा ज्ञान-विज्ञान पर जिसका जितना अधिक अधिकार था, वह उतना ही बड़ा ज्ञानी और पंडित माना जाता था। यह पांडित्य-प्रीति ही १३ वीं और १४ वीं शतियों की विशेषता थी।

ग्रीक और लैटिन भाषा में लिखित वैज्ञानिक ग्रंथों का १५ वीं शती में बहुत प्रचार हुआ। ईसाइयों के तीव्र विरोध के कारण एक ऐसा भी समय आया था, जब विधर्मियों के ज्ञान-विज्ञान के ही समान ग्रीक ज्ञान-विज्ञान की अवहेलना हुई थी और उसका परित्याग किया गया था। विद्यानुराग और ज्ञान-चर्चा का स्वास्थ्यकर वातावरण जब पुन: लौटा तो सबसे पहले विज्ञान के उद्गम की तलाश शुरू हुई। साथ ही मूल ग्रीक पांडुलिपियों की खोज होने लगी। एक विराट और व्यापक अनुसंधान-पर्व आरंभ हो गया। इतने मनो-निवेश, धैर्य और सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्योरों के साथ विज्ञान का अध्ययन न पहले कभी किया गया था और न बाद में ही हुआ। विद्या-चर्चा को एक नई प्रेरणा और उत्तेजना मिली।

तो फिर मध्य युग का अवसान-काल ११ वीं, १३ वीं या १५ वीं शती मान लेने में हानि क्या है? यदि ११ वीं शती को छोड़ भी दें तो अनेक इतिहासकारों का मत है कि कम-से-कम १३ वीं या १५ वीं शती के प्रथम भाग को आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा और दृष्टिकोण का जन्मकाल मान लेना चाहिए। इतिहासकारों का एक और दल इस मत का इस लिए विरोधी है कि नवीं शती के अंतिम भाग में, अधकार युग के अवसान के साथ, मनुष्य की विचार-धारा के ऊर्ध्वमुखी होने और विज्ञान-चर्चा तथा

विद्यानुराग के लिए एक स्वास्थ्यकर वातावरण की सृष्टि होने पर भी, १६ वीं शती के पहले यूरोपीय वैज्ञानिक विचारधारा नितांत प्राचीन ज्ञान-विज्ञान पर आश्रित रही। आयोनिया, एथेंस या अलेग्जेंड्रिया के विश्व-विश्रुत ग्रीक वैज्ञानिकों के विश्वास, मतवाद और अध्ययनों के फलों को अभ्रांत मानते हुए, पंद्रहवीं शती के अधिकांश पंडितों को हम उस विज्ञान के गुणगान में तन्मय पाते हैं। उनका मन अतीत से बँधा हुआ था। उस बंधन को तोड़कर, निर्भय होकर, भविष्य पर दृष्टि डालने की स्थिति तब तक नहीं आई थी, और इस लिए नहीं आई थी कि मध्ययुगीन विचारधारा और दृष्टिकोण का अवसान तब तक नहीं हुआ था। इस मत के प्रधान समर्थक डाक्टर चार्ल्स सिंगर ने इसी लिए लिखा है :

"तथापि हजार, बारह सौ या चौदह सौ ईस्वी-जैसी किसी तिथि पर यह महत्त्वपूर्ण सीमा-रेखा खींचनी भूल होगी, क्योंकि बहुत थोड़े अपवादों को छोड़कर, ग्यारहवीं शती के विश्वकोशकार (encyclopaedist), तेरहवीं शती के धर्मतत्वज्ञ (scholastic) और पंद्रहवीं शती के विद्वान का दृष्टिकोण सामान्य रूप से मूलतः अतीत की ओर लौटने की एक चेष्टा था। वे प्राचीन काल की भाषा और साहित्य, अपने पूर्वजों, कवियों या दार्शनिकों के प्राचीन काल को पुनर्जीवित करने की असफल चेष्टा कर रहे थे।

यह सच है कि दार्शनिक व्याख्या की भूलों के बावजूद धर्मज्ञों के लेखों में वैज्ञानिक तत्वों का पूर्णतः अभाव नहीं था। फिर भी उस युग में, 'ज्ञेय विश्व असीम है' इस तथ्य की बड़े उत्साह के साथ व्याख्या की जाती थी, दृष्टिकोण की मौलिकता को आप्त-वचन के आवरण में छिपाया जाता था और ज्ञान— जैसा कि स्वयं ज्ञानियों का दावा था—सदा प्राचीन बुद्धिमत्ता पर ही आधारित था। पंद्रहवीं शती के सबसे अधिक उत्साही विद्वानों की मानसिक वृत्ति भी मौलिकता की ओर न होकर अनुकरण की थी।" (एफ० एस० मार्विन-द्वारा संपादित, साइंस ऐंड सिविलिजेशन का दि डार्क एजेज़ ऐंड दि डॉन शीर्षक अध्याय)

कोपर्निकस् और वेसालियस् इस मध्ययुगीन मानसिक अवस्था से ऊपर उठकर, अतीत के बदले भविष्य की ओर अपनी दृष्टि मोड़ने में समर्थ हुए थे। वे टॉलेमी और गैलेन के अत्यधिक ऋणी थे, परंतु इन दोनों प्राचीन गुरुओं का उन्होंने अनुकरण नहीं किया। स्वतंत्र रूप से परीक्षण, प्रेक्षण और मनन-द्वारा वे जिस सत्य को पा सके, एक लंबी अवधि से प्रचलित धारणा और

विश्वास से उसका मेल न होने के कारण, वे पीछे नहीं हटे। अपनी अभिज्ञता और सत्योपलब्धि को उन्होंने बिना हिचकिचाहट के, खुले तौर पर, व्यक्त किया। जिस प्रकार की मनोवृत्ति ने इस तरह के स्वतंत्र चिंतन को संभव बनाया, वही आधुनिक मनोवृत्ति है। 'डि रेवोल्युशिओनिबस' और 'डि फ़ेब्रिका' इस प्रकार की मनोवृत्ति के प्रथम लिखित प्रमाण हैं। इसी लिए, सोलहवीं शती में कोपर्निकस् और वेसालियस् का काल विज्ञान के मध्य युग के अंत और आधुनिक युग के आरंभ का काल है।

यह तो हुआ मध्ययुगीन ज्ञान-विज्ञान-चर्चा का स्तर-विभाजन। अब प्रश्न यह है कि विचार-जगत् में इस प्रकार की शिथिलता और दरिद्रता आई क्यों? उसकी उद्भावनकारी और सृजनकारी प्रतिभा का विकास इस प्रकार से अवरुद्ध क्यों हुआ? क्या यह मानव-मन की आवर्तनशील स्वाभाविक क्लांति और विह्वलता है? अथवा, इसके साथ तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का कोई प्रत्यक्ष संबंध है? इतिहासकारों की एक श्रेणी का यह मत है कि राजनीतिक और सामाजिक अवस्था का विज्ञान की प्रगति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मनुष्य के दुर्ज्ञेय कौतूहल से विज्ञान का जन्म और उन्नति होती है। यह कौतूहल न तो किन्हीं नियमों से बंधा है, न राजनीतिक और सामाजिक अवस्था के अधीन है। इस कौतूहल का अभाव या अधिकता अनिर्णेय और अनिश्चित है। इस प्रकार के मत में विश्वास रखनेवाले इतिहासकारों की संख्या अवश्य ही बराबर घटती जा रही है। विज्ञान के अधिकांश इतिहासकारों और वैज्ञानिकों का अब इस मत में विश्वास है कि मनुष्य की क्रिया और विचारधारा पर राजनीतिक और सामाजिक अवस्था तथा प्रचलित जीवनादर्श और धर्म-विश्वास का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है और ज्ञान-विज्ञान, शिल्प-कला, साहित्य तथा साधारण रूप से सभ्यता का विकास, इस राजनीतिक और सामाजिक अवस्था तथा जीवनादर्श और धर्म-विश्वास से घनिष्ठ रूप में जुड़ा हुआ है। अंधकार युग के यूरोप में, राजनीतिक उलट-फेर और अशांति, सामाजिक गतिहीनता और कुसंस्कारपूर्ण धार्मिक अंध-विश्वास, विज्ञान की इस अवनति के कारणस्वरूप थे। प्रथमावस्था में ईसाई धर्म बिलकुल ही प्रगतिवादी नहीं था। उस काल के ईसाई महंतों ने जीवन और विश्व-ब्रह्मांड के संबंध में जिस विश्वास और दर्शन के प्रचार की चेष्टा की, उसका विज्ञान से मौलिक विरोध है। वास्तव में इस विश्वास और दर्शन ने विज्ञान का गला घोट दिया था।

ग्रीको-रोमन विज्ञान के अधःपतन के राजनीतिक, आर्थिक और रोग-महामारी-लोकक्षय-जनित कारण

पश्चिमी रोमन साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के साथ ही यूरोपीय सभ्यता का यह संकट दीख पड़ा, परंतु इस संकट के लक्षण पहले ही प्रकट हो चुके थे। बहुतों का यह मत है कि ग्रीक नगर-राष्ट्रों के पतन के बाद से ही प्राचीन विज्ञान का पतन शुरू हो गया था। अर्थात् अलेग्जेंडर का साम्राज्य-विस्तार इसका एक कारण था। परंतु अलेग्जेंडर के साम्राज्य-विस्तार के बाद, ग्रीक विज्ञान के अन्यत्र प्रसार, और विशेष रूप से अलेग्जेंड्रिया में ग्रीक विज्ञान के नए रूप में आत्मप्रकाश करने-जैसी घटनाओं का विश्लेषण करने पर, उपर्युक्त मत स्वीकार्य नहीं जान पड़ता। इस पतन का वास्तविक प्रारंभ रोमन साम्राज्य के विस्तार के बाद से हुआ। रोमनों ने ग्रीक साम्राज्य या 'मैग्ना ग्रेसिया' पर अधिकार करके ग्रीक ज्ञान-विज्ञान को भी आत्मसात् कर लिया। इसमें कोई हानि नहीं थी, यदि उन्होंने उस ज्ञान-भांडार को और परिपूर्ण तथा वर्धित करने की उपयुक्त चेष्टा की होती। रोमन साम्राज्य में ग्रीक विज्ञान केवल सजावट अथवा मर्यादा के लिए था। केवल ज्ञान के लिए ज्ञान-चर्चा की एक बड़ी आवश्यकता और सार्थकता है, रोमन यह कभी अच्छी तरह नहीं समझ पाए। इसलिए, रोमन साम्राज्य का पराक्रम जब तक बना रहा, ग्रीक विज्ञान की शोभा भी तब तक कायम रही। इस पराक्रम के खत्म होने के साथ ही विज्ञान का क्रम भी समाप्त हो गया और रोमन साम्राज्य का ज्ञान-भांडार बिल्कुल ही समाप्त हो गया। जे० सी० मॉरिसन ने अपने ग्रंथ 'दि सर्विस ऑफ मैन' में लिखा है :

"एक बर्बर रोमन सैनिक ने वैज्ञानिक समस्या के समाधान में तल्लीन आर्किमीडिस् की हत्या की, यह केवल एक उदाहरण मात्र है कि किस प्रकार रोम ने हमेशा और हर जगह ग्रीक कला, सभ्यता और विज्ञान का विनाश किया। यह साम्राज्य पूर्व युगों में संचित पूंजी पर जीता रहा, उसका व्यय करता रहा, किंतु उस पूंजी को उसने कभी बढ़ाया नहीं। जनसंख्या, उत्पादन, ज्ञान, सभी घटते गए और धीरे-धीरे उनका नाम-निशान मिट गया।"

ईस्वी तीसरी शती से ही रोमन साम्राज्य के विरुद्ध बर्बर जातियों के आक्रमण और अभियान शुरू हो गए थे। २३६ ई० में फ्रांक और आलामान्नि नामक दो जातियों ने राइन नदी के निचले हिस्से और आल्सास अंचल को

विध्वस्त करना आरंभ किया। इस समय गॉथ भी पूर्वी यूरोप और कृष्ण सागर के तटवर्ती प्रदेशों में प्रबल हो उठे और २४७ ई० में, डैन्यूब नदी पार करके उन्होंने रोमन साम्राज्य पर हमला किया। फ्रांक, आलामान्नि और गॉथों के इस प्रकार के आक्रमण और लूट की सामयिक रूप से रोक-थाम होने पर भी, चौथी शती से उनके आक्रमणों की प्रबलता और बढ़ गई। इसी शती में वैंडल और हूण उठे और उनके निरंतर आक्रमणों से पश्चिमी रोमन साम्राज्य बिलकुल ढह पड़ा। ४१० ई० में गॉथों के नेता आलारिक एक विराट सेना के साथ दक्षिण इटली की ओर चल पड़े और रोमन सेना को विध्वस्त करके उन्होंने रोम पर अधिकार कर लिया। रोमन साम्राज्य इसके पहले ही, पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्य के रूप में बँट चुका था। पूर्वी साम्राज्य की राजधानी थी कुस्तुंतुनिया। पश्चिमी साम्राज्य बर्बर जातियों-द्वारा पूर्णतः विध्वस्त होने पर भी पूर्वी साम्राज्य बहुत दिनों तक किसी प्रकार बर्बरों के आक्रमण की रोक-थाम करने में समर्थ रहा। प्राचीन ग्रीक और रोमन सभ्यता जब इटली और पश्चिमी यूरोप में खत्म हो गई, तब भी पूर्वी साम्राज्य के आश्रय में किसी प्रकार जीवित रही। ईस्वी पांचवीं शती के अंतिम भाग में यूरोप का मानचित्र इसे स्पष्ट कर देता है। उस समय दक्षिण-पूर्वी इंगलैंड पर बर्बर ट्यूटन, ऐंग्ल, सैक्शन और जूट जातियों का अधिकार था; हालैंड, राइन नदी-घाटी के अधिकांश भाग और प्रायः समग्र गॉल देश पर फ्रांक जाति का राजत्व था; रोन नदी की घाटी पर बुर्गुंडी की जातियों ने कब्जा कर रखा था। उधर स्पेन में विजीगॉथों ने, उत्तर अफ्रीका में वैंडलों ने और इटली डाल्मेशिया और सर्बिया में ऑस्ट्रोगॉथों ने अपने-अपने राज्य की स्थापना कर ली थी।

तीन सौ वर्षों के अविराम युद्ध-विग्रह और राजनीतिक क्षमता के बार-बार हस्तांतरित होते रहने के परिणामस्वरूप, सब प्रकार की ज्ञान-चर्चा का रुक जाना अनिवार्य था। इन तीन सौ वर्षों में यूरोप में शांति और सुरक्षा-जैसी कोई चीज नहीं थी। मनुष्य का जीवन, धन, संपत्ति सदा संकटग्रस्त थी। भविष्य के संबंध में किसी के मन में आशा या भरोसा नहीं रहा। बहुतेरे लोगों को, सब कुछ खोकर एक राज्य से भागकर दूसरे राज्य में शरण लेनी पड़ी। सारा यूरोप अनगिनत अभागे विस्थापित नर-नारियों के शिविर में परिणत हुआ। राजनीतिक उलट-फेर के साथ ही समाज-जीवन में भी भीषण अव्यवस्था, असंतोष और व्यापक निराशा फैल गई।

आर्थिक कारण

इतिहासकार सर आर्किबाल्ड ऐलिसन ने बताया है कि इस सामाजिक अव्यवस्था का एक और प्रधान कारण था मुद्रा-आकुंचन। * रोमन साम्राज्य के अंतिम दिनों में स्पेन और ग्रीस की खानों से सोना और चाँदी का उत्पादन बहुत घट गया था। ऑगस्टस् के समय राजकोष में मुद्रा तैयार करने के लिए अनुमानतः केवल ३८ करोड़ पौंड मूल्य का सोना था। जस्टिनियन के समय यह सोना घटकर ८ करोड़ पौंड मूल्य का रह गया। मुद्रा-स्फीति की चेष्टा बीच-बीच में की गई, परंतु साधारणतया मुद्रा-आकुंचन की रोक-थाम नहीं की जा सकी। परिणामस्वरूप वस्तुओं के दाम बेहद घट गए और शिल्प तथा कृषि-जात वस्तुओं का उत्पादन लाभजनक नहीं रहा। उत्पादकों ने देखा कि अपने देश में माल प्रस्तुत करने के स्थान पर विदेशों से माल मंगाना अधिक लाभजनक था। इससे शिल्प की अवनति हुई और खेती की बहुत-सी जमीन परती पड़ी रही। इसके अतिरिक्त युद्ध का खर्च पूरा करने के लिए शासकों को कर बढ़ाना पड़ा। यह कर-वृद्धि अंततः जनता के लिए एक असहनीय भार बन गई। इस प्रकार रोमन साम्राज्य की अंतिम घड़ियों में यह घोर आर्थिक संकट साम्राज्य के पतन को और निकट लाने में विशेष रूप से सहायक हुआ। संप्रति, इस प्रकार के मुद्रा-आकुंचन के परिणामस्वरूप, इंगलैंड में १८७३ ई० और १९०० ई० के बीच, पुनः १९२१ से १९२८ ई० के बीच जो आर्थिक संकट पैदा हुए, उसमें हजारों एकड़ जमीन परती पड़ी रही।

रोग, महामारी और लोकक्षय-जनित कारण

राजनीतिक अव्यवस्था, आर्थिक संकट, शिल्प, वाणिज्य और कृषि की अवनति तथा दुर्भिक्ष पर सवार होकर अस्वस्थता, रोग, महामारी और लोक-क्षय यूरोप में सर्वत्र व्याप्त हो गया। चारों ओर हजारों लोग मरने लगे और मृत्युभय सारे समाज पर छा गया। प्लेग के आक्रमण से यूरोपीय समाज तेजी के साथ विनाश की ओर बढ़ने लगा। इस प्लेग ने एक समय पेरिक्लिस के प्रिय और सुसज्जित नगर एथेंस को लगभग नेस्त-नाबूद कर दिया था। पांचवीं, छठीं और सातवीं शतियों में इस महामारी का उग्र और प्रचंड रूप हमें फिर देखने को मिलता है। ५४२ ई० में उत्तर इटली में इस रोग के

* Sir Archibald Alison, 'History of Europe,' Vol 1, Edinburgh & London, 1853; p. 31.

आविर्भाव के कारण ऐटिला की सेना की प्रगति रुक गई। सम्राट जस्टिनियन के शासन के अंतिम भाग में (५६५ ई०) इस महामारी का प्रकोप और बढ़ जाने से इटली की सामरिक शक्ति अत्यंत क्षीण हो गई और लांवार्डों के आक्रमण का प्रतिरोध करने में समर्थ नहीं हुई। ५४३ ई० के प्लेग में कुस्तुंतुनिया में प्रतिदिन औसतन दस हजार व्यक्तियों की मृत्यु हुई। ५९० ई० के प्लेग में रोम प्रायः उजड़ गया। सातवीं शती में इंगलैंड में ६६४, ६७२, ६७८ और ६८४ ई० में, अर्थात् बीस वर्षों में चार बार प्लेग के आक्रमण हुए। यह तो हुआ प्लेग का उपद्रव। मलेरिया तथा अन्य रोगों का उपद्रव भी कम नहीं था। शासन-व्यवस्था की शिथिलता के साथ नगरों और शहरों की जल-निकासी की व्यवस्था भी धीरे-धीरे खराब होने लगी और शहरों के चारों ओर दलदल और जंगल के फैलाव से वे मलेरिया रोग के उर्वर केंद्रों में परिणत हुए। इस प्रकार, महामारी-जनित व्यापक मानव-ह्रास ने प्राचीन यूरोपीय समाज-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने और उसे विनाश की ओर बढ़ाने में विशेष रूप से योग दिया था।

विज्ञान को अधोगति में दास-प्रथा का प्रभाव

प्राचीन समाज-व्यवस्था के नष्ट-भ्रष्ट होने का एक और कारण था दास-प्रथा की वृद्धि और प्रसार। दास-प्रथा की अधिकता के कारण रोम साम्राज्य की नींव हिल गई। केवल इतना ही नहीं, बल्कि समग्र प्राचीन काल में यह प्रथा विज्ञान की प्रगति के मार्ग का प्रधान रोड़ा बनी रही। दास-प्रथा के कारण प्राचीन काल में यांत्रिक उन्नति और शिल्पोन्नति विशेष रूप से बाधा-ग्रस्त हुई और यंत्र-शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता की उपलब्धि नहीं हो सकी। हाथ-पैर से काम करना स्वतंत्र नागरिक के लिए हेय और असम्मानजनक है, यह धारणा मन में बंध जाने से विज्ञान में परीक्षण का आदर्श प्रतिष्ठित नहीं हो सका। हम पहले भी इस प्रसंग की कुछ चर्चा कर चुके हैं। मानवता-विरोधी यह उग्र दास प्रथा, ग्रीको-रोमन सभ्यता और साथ ही ग्रीको-रोमन विज्ञान के पतन का एक मुख्य कारण थी, इसे आज सभी इतिहासकार एकमत से स्वीकार करते हैं। इसलिए प्राचीन काल में दास-प्रथा के स्वरूप, प्रकृति और विस्तार, तथा इस प्रथा से विज्ञान के संबंध के विषय में अधिक चर्चा की आवश्यकता है।

आधुनिक यांत्रिक सभ्यता की उत्पत्ति के बाद से, अर्थात् पिछले डेढ़ सौ वर्षों में लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि दास-प्रथा साधारण रूप से निंदनीय

और मानवता-विरोधी है और आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति के लिए पूर्णतः प्रतिकूल है! वर्तमान काल में दास-प्रथा के विरुद्ध इस प्रकार का मनोभाव नितांत युक्तिसंगत और न्यायोचित है। परंतु अतीत में, डेढ़ सौ वर्षों के पहले कोई पाँच हजार वर्षों तक, दास-प्रथा के विरुद्ध आज का यह मनोभाव साधारणतया प्रचलित या सर्वजनग्राह्य बिलकुल नहीं था। अनिवार्य कारणों से दास-प्रथा का उद्भव हुआ था और मानव-सभ्यता के विकास में इस प्रथा का एक विशिष्ट अंश था। यदि इस विपुल दास-शक्ति का व्यवस्थापन और नियोजन न हुआ होता, तो मिस्री, बेबीलोनी, ग्रीक या रोमन आदि किसी भी प्राचीन सभ्यता का विकास नहीं हो सकता था, यह ऐतिहासिक सत्य है। जो उत्पादन-व्यवस्था एकमात्र मनुष्य की शारीरिक शक्ति पर निर्भर हो, उसमें दासों की गणना बिलकुल यंत्र के रूप में होना अनिवार्य है। आधुनिक उत्पादन-व्यवस्था में सफलता का मूलमंत्र है यंत्र पर पूर्ण आधिपत्य। प्राचीनकाल में दास पर पूर्ण प्रभुता और अधिकार, उसी प्रकार से अपरिहार्य माना गया था। वास्तव में दास की गिनती होती थी द्रव्य या सामग्री के रूप में, मनुष्य के रूप में नहीं। रोमन कानून में दास को 'रेस्' श्रेणी के अंतर्गत रखा गया था। इस 'रेस्' शब्द का अर्थ है द्रव्य।

दास का यंत्र के रूप में व्यवहार होने पर भी दास और मशीन में अंतर है। स्वतंत्र ग्रीक या रोमन नागरिक की भाँति दास भी मनुष्य था। प्राचीन दास-प्रथा में इस मानवता के संबंध में अनेक मतभेद और विरोध हुए। यह मानवता जब तक ग्राह्य और स्वीकृति होती है और दासों के प्रति आचरण और व्यवहार जब तक उस आदर्श-द्वारा नियंत्रित होता है, तब तक दास-प्रथा समाज, राष्ट्र और अर्थ-व्यवस्था में सहायक होती है। परंतु जब भी यह मानवता अग्राह्य हुई और दास-प्रथा का निर्मम असद्‌व्यवहार हुआ, तभी इस प्रथा ने समाज और राष्ट्र की भयंकर समस्याओं का कारण बनकर उथल-पुथल मचा दी।

यद्यपि ग्रीक समाज-व्यवस्था दास-प्रथा पर आधारित थी, फिर भी ग्रीक राजनीतिक प्रधानता के काल में इसने निर्मम रूप धारण नहीं किया था। इस प्रथा की विशेषता ही थी दासों के प्रति उदार मनोभावना। एथेंस के दासों को अपने जीवन-यापन की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पर्याप्त अवसर प्राप्त था। फिर, दासों की एक ऐसी श्रेणी का पता चलता है, जिन्हें किराए पर दूसरों के कामों में लगाया जाता था। इसके बदले मालिक को अपने दासों

की आमदनी का एक अंश प्रतिदिन मिला करता था। इस प्रकार के श्रम में दासों को कुछ स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे नगर के वाणिज्य-व्यवसाय आदि क्षेत्रों में, शारीरिक श्रम के कार्य में, इच्छानुसार अपने को नियोजित कर सकते थे। वे साधारणतया बुनकारी के कार्य में नियुक्त होते थे। विभिन्न कुटीर-शिल्पों, दूकानों और हाट-बाजार के कार्य में भी बहुतेरों की नियुक्ति होती थी। यहाँ तक कि एक बार एथेंस में थ्रेस-देशीय अनेक दास पुलिस के काम में नियुक्त किए गए थे। रोमन व्यवस्था में पुलिस-विभाग में दासों की नियुक्ति कल्पनातीत बात थी। दास पुलिस-द्वारा स्वतंत्र नागरिकों की गिरफ्तारी की कोई कल्पना तक नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त ग्रीक पुरोहितों ने दास-जीवन से लोगों को छुटकारा दिलाने का एक अच्छा उपाय निकाला था। दास अपनी धन-संपत्ति देवता को भेंट चढ़ाकर स्वतंत्र हो सकता था। ऐसे दासों को अधिकारियों द्वारा स्वतंत्रता के प्रमाण-पत्र दिए जाते थे।

अलेग्जेंड्रिया और रोमन साम्राज्य के विस्तार के साथ ही दास-प्रथा का भी प्रसार हुआ और धीरे-धीरे उसने निर्मम रूप धारण कर लिया। प्रारंभिक युग के रोमन मुख्यतः कृषिजीवी थे। इन रोमन किसानों ने ही तलवार के बल से एक के बाद एक राज्य जीतकर साम्राज्य-गठन किया था। साम्राज्य स्थापित होने पर कृषि-कार्य के स्थान में युद्ध-विग्रह और शासन चलाने का काम अधिक आवश्यक हो गया। किसानों के अभाव में, लगातार महीनों, यहाँ तक कि वर्षों तक खेती की जमीन परती पड़ी रह जाती थी। ऐसी अवस्था में स्वाभाविक कारणों से ही रोमनों ने बंदी सैनिकों और अधिकृत देशों के अभागे निवासियों को दासों के रूप में कृषि-कार्य में नियुक्त किया। कृषि कार्य में नियुक्त दासों को 'लैटिफंडिया' (Latifundia) कहा जाता था। इस प्रकार धीरे-धीरे साम्राज्य के अधिकांश कृषि-कार्य का भार विदेशी दासों पर डाल दिया गया। परंतु भूमि का मालिकाना हक थोड़े से असली रोमन नागरिकों के हाथों में ही केंद्रित रहा। इसके बाद साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ, युद्ध तथा अन्य कारणों से बहुतेरे भूस्वामी नागरिकों की मृत्यु होने पर यह जमीन अरक्षित अवस्था में पड़ी रही। इस अवसर से लाभ उठाकर धनी और क्षमताशील भूस्वामियों ने वह जमीन खरीद ली, या अवैध रूप से उस पर कब्जा जमा लिया और इस प्रकार अपनी संपत्ति की वृद्धि की। इससे एक-एक रोमन नागरिक बहुत अधिक भू-संपत्ति का अधिकारी बन गया। कहा जाता है कि किसी-किसी भूस्वामी का इलाका रोमन साम्राज्य के एक-एक प्रदेश से भी अधिक विस्तृत हो गया था। एक-एक भू-स्वामी हजारों

दासों का मालिक होता था। रोमन साम्राज्य की वृद्धि के साथ ही ,दासों की संख्या में तेजी से जो वृद्धि हुई, वैसी घटना इसके पहले या बाद में कभी नहीं देखी गई। ई० पू० २५० और १५० ई० के बीच दासों की संख्या इतनी बढ़ी कि वे समग्र जनसंख्या के तीन-चौथाई भाग हो गए। उन दिनों डेलस के बाजार में प्रतिदिन दस हजार दासों की खरीद-बिक्री होती थी, ऐसी जानकारी मिलती है।*

दासों के प्रति रोमनों का व्यवहार कितना निर्मम और निष्ठुर होता था, कैटो की रचना में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। कैटो स्वयं भी एक निर्दय मालिक थे। कोई रसोइया दास यदि अरुचिकर भोजन बना देता तो राँधने के उसके इस अक्षम्य दोष के लिए, या परोसनेवाला कोई दास यदि थाली, गिलास आदि कोई चीज गिरा देता, तो उसकी इस असावधानी के दंड स्वरूप कैटो उसे बेंत लगाने का आदेश देते थे। कृषि-कार्य संबंधी ग्रंथ में कैटो ने दासों के नियंत्रण के विषय में और भी अनेक बातें लिखी हैं। जैसे, दासों के भोजन का परिमाण उनके काम के परिमाण पर निर्भर होता था। वर्ष में जिस समय कृषि-कार्य में सब से अधिक मिहनत करनी पड़ती है, उस समय दासों को अधिक भोजन मिलता था और जब श्रम कम करना पड़ता, उस समय उनकी खूराक घटा दी जाती थी। बगीचों और खेतों के मालिकों को पुरानी चीजों की नीलामी की व्यवस्था के संबंध में, कैटो ने यह परामर्श दिया :

'बागान-मालिक को चाहिए कि वह बूढ़े बैलों, रोगी एवं अपाहिज मवेशियों, ऊन, चमड़ा, घिसे हुए लोहे के औजार, बूढ़े और बीमार दासों और जिस किसी और चीज की उसे जरूरत न हो, उन्हें वह नीलाम करके बेच डाले।'**

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कैटो की दृष्टि में दास एक आवश्यक यंत्र मात्र था। उसका तब तक मूल्य है, जब तक वह काम करने के लिए उपयोगी है; काम करने के उपयुक्त न हो तो नीलाम में उसे बेच देना चाहिए। सिसेरो-जैसे पंडित और सहानुभूति-संपन्न लेखक भी दासों के प्रति निष्ठुर आचरण के समर्थक थे। 'कर्त्तव्य के विषय में' नामक पुस्तक में, तूफान आने पर जहाज को हल्का करने के लिए प्रिय घोड़े को समुद्र में फेंकना चाहिए या दास को, इस प्रसंग की चर्चा में उन्होंने यह अभिमत प्रकट किया है कि दास को ही पहले समुद्र में फेंका जाना चाहिए। सिसेरो कैटो के इस मत का समर्थन करते

* J. G. Crowther, 'The Social Relations of Science; p.169

** Prof. William Linn Westermann, 'Ancient Slavery', Scientific American, June, 1949.

थे कि अकाल पड़ने पर रोगी और बूढ़े दासों को या तो बेच डालना चाहिए, नहीं तो भोजन न देकर उन्हें मरने देना चाहिए। पिंडार और होरेस-जैसे बहुतेरे विख्यात व्यक्ति इस प्रकार के निर्दय आचरण के समर्थक थे। शेषोक्त लेखकों ने स्वाधीन रोमन युवकों की सुविधा के लिए दासियों को वेश्यावृत्ति अपनाने की सलाह दी है।* यह कहना आवश्यक नहीं कि इस प्रकार के कथन और लेखन इन ख्याति-प्राप्त लेखकों के व्यक्तिगत विचार-मात्र नहीं थे ; ये तत्कालीन रोमन शासकवर्ग के दृष्टिकोण के ही परिचायक हैं। इस दृष्टिकोण में, रोमन समाज में दासों के हीन, निष्फल और अवहेलित जीवन का अभ्रांत इंगित है।

दासों के विषय में विस्मय की बात यह है कि किसी दास ने अपने या अपने-जैसे लोगों के हीन और दुस्सह जीवन का वर्णन करके उल्लेखयोग्य किसी ग्रंथ की रचना नहीं की और न कोई अन्य स्मारक-लिपि ही छोड़ी। दास-जीवन के संबंध में जो थोड़ा-बहुत साहित्य हमें मिलता है, वह मुख्यत: स्वाधीन रोमन लेखकों-द्वारा ही लिखा गया है। परंतु संख्या में विशाल इस दास-सेना में बुद्धिमान, वित्तशाली अथवा शिक्षित लोगों का अभाव नहीं था। उनकी इस प्रकार की अक्षमता का कारण उद्देश्यहीन और निरर्थक दास-जीवन की स्वाभाविक उदासीनता और उत्साहहीनता थी। इस उद्देश्यहीन, निरर्थक, व्यर्थ जीवन के विषय में लिखने की कोई चीज हो सकती है, यह विचार ही दास के मन में नहीं उठता था। उसका एकमात्र लक्ष्य था इस विडंबनापूर्ण जीवन से मुक्ति-लाभ, दास-जीवन के स्थान पर स्वाधीन नागरिक-जीवन का आस्वादन। इस दिशा में दासों की चेष्टा पूर्णत: विकसित हुई। अपना सारा धन गँवाकर, उसके बदले स्वतंत्र जीवन प्राप्त करने के उद्देश्य से दासों की अद्भुत तत्परता के अनेक दृष्टांत मिलते हैं।

दास-निर्भर रोमन समाज की इस अंतर्निहित दीनता, असंगति और घुमड़ती असंतोष की आग ने ही एक दिन रोमन सभ्यता को विनष्ट कर डाला। जिस साम्राज्य की चौथाई जनसंख्या स्वाधीन हो और तीन-चौथाई भाग दास हो, उस साम्राज्य की आयु लंबी नहीं हो सकती। वह भीतर से खोखला होता जाता है और बाहरी चोट से डगमगाने लगता है। जब फ्रांक, गॉथ और वैंडलों ने आक्रमण किया, तब रोमन साम्राज्य की साधारण जनता ने राहत की सांस ली। बर्बरों के विरुद्ध संगठित रूप में खड़े होकर, उनके आक्रमण का प्रतिरोध करने की उन्होंने कहीं भी चेष्टा नहीं की। रोमन उत्तर

* Crowther, loc. cit. p. 115.

अफ्रीका पर आक्रमण करते समय, वैंडलों की संख्या ८० हजार से अधिक नहीं थी; फिर भी उत्तर अफ्रीका का विशाल भू-खंड, एक तरह से बिना बाधा के ही, वैंडलों के अधिकार में चला गया। यह केवल एक दृष्टांत मात्र है। साम्राज्य के पतन के अंतिम समय में सब जगह ऐसा ही हुआ।

यह दास-प्रथा अगर प्राचीन यूरोपीय सभ्यता की मृत्यु का कारण बनी, तो इसी के भारी पत्थर के बोझ से विज्ञान की भी अकाल मृत्यु हुई। विज्ञान, केवल विलासिता और प्रचुरता के बीच प्रतिपालित मुट्ठीभर अवसरवादी धनिकों के संप्रदाय की शोभा अथवा परजीवी के रूप में जीवित नहीं रह सकता। ज्ञान के एक स्वाभाविक सामाजिक प्रयोजन की भी उपलब्धि होनी चाहिए। वह प्रयोजन, जीवन संग्राम में मानव-समाज की सहायता का प्रयोजन है। समग्र रूप में समाज के प्रत्येक व्यक्ति की सुख-स्वच्छंदता की व्यवस्था के लिए ज्ञान-विज्ञान के प्रयोग का प्रयोजन है। वस्तुतः ज्ञान-विज्ञान के प्रयोग का प्रश्न तब उठता है, जब समाज का लक्ष्य जनसाधारण की सहज जीवन-यात्रा, समृद्धि और कल्याण हो। कारण यह है कि केवल इसी प्रकार के समाज में श्रम-भार घटाने का प्रश्न पैदा होता है। प्रश्न यह उठता है कि कम परिश्रम से अधिक उत्पादन कैसे हो और विश्राम तथा सुशिक्षा का प्रबंध किस प्रकार किया जाय? यदि देखा जाए तो श्रम-लाघव और अल्पायास से अधिक परिमाण में उत्पादन की चेष्टा से ही विज्ञान-चर्चा को प्रेरणा मिलती है।

परंतु ग्रीको-रोमन-युग के दास-निर्भर समाज का उद्देश्य जन-साधारण का कल्याण नहीं; बल्कि अभिजात-श्रेणी के मुट्ठी-भर लोगों का कल्याण और संपदा-वृद्धि था। एक-चौथाई लोगों की समृद्धि के लिए तीन-चौथाई दासों की कमरतोड़ मेहनत पर्याप्त है। इस अमानुषिक शारीरिक श्रम और पेशी-शक्ति के व्यय से जो संपदा उत्पन्न हुई, उसका बहुत ही थोड़ा भाग दासों के भोजन आदि में खर्च होता था, शेष अधिकांश भाग एक-चौथाई अभिजात-वर्ग के भरण-पोषण, विलास-व्यसन और अपव्यय के कार्यों में लगता था। समय के साथ इस व्यवस्था ने ऐसा स्थायी रूप ग्रहण किया कि समाज और राष्ट्र के चोटी के लोगों में से प्रत्येक की यह दृढ़ धारणा बनी कि दास-निर्भर सभ्यता ही एकमात्र उन्नत और शाश्वत सभ्यता है। इस धारणा के फलस्वरूप, शारीरिक-शक्ति के बदले यंत्र-शक्ति के उद्भावन और प्रयोग की आवश्यकता का किसी को बोध ही नहीं हुआ। कम-से-कम, दासों को इस आवश्यकता का बोध होना चाहिए था, परंतु तत्कालीन समाज-व्यवस्था में वह भी संभव नहीं

हुआ। दास-जीवन की निष्फलता और अक्षमता संक्रामक निश्चेष्टा और उद्यम-हीनता की सृष्टि करती है। हजारों वर्षों तक दास-श्रेणी के लोग खानों में काम करते और इस काम में, एकरस, कड़वा जीवन व्यतीत करते आए थे, परंतु इस दीर्घ अभिज्ञता के बावजूद खानों के उत्पादन-कार्य में तनिक भी यांत्रिक उन्नति वे नहीं कर पाए।* उधर, समाज-व्यवस्था में परिवर्त्तन और समाज में मानवता का आदर्श प्रतिष्ठित होने के थोड़े ही दिनों के भीतर, इस प्रकार की उन्नति संभव हुई। १६वीं शती में रचित एग्रिकोला का ग्रंथ, 'डी रे मेटालिका' (De re metallica) इसका एक उत्कृष्ट प्रमाण है।

इन तथ्यों पर विचार करने से यही जान पड़ता है कि प्राचीन काल में, परीक्षण और अध्ययन के मार्ग पर अग्रसर होने के बदले युक्ति और तर्क के मार्ग पर विज्ञान के आगे बढ़ने, और परवर्ती काल में यह प्रगति भी रुक जाने का एक मुख्य कारण था समाज-व्यवस्था में दास-प्रथा का व्यापक प्रचलन। जब कभी, समाज-सेवा और जन-कल्याण में पूर्णतः नियोजित होने की प्रेरणा विज्ञान को नहीं मिल पाई, तभी विज्ञान की प्रगति में किसी-न-किसी प्रकार की रुकावट पड़ी। फैरिंगटन ने लिखा है :

"स्वतंत्र नागरिक और दास, समाज के इन दो टुकड़ों में विभाजित हो जाने का परिणाम ही दर्शन और प्रायोगिक विज्ञान का अनिष्टकर पृथक्करण हुआ। यह न तो प्रयोग के लिए ही हितकर था और न सिद्धांत के लिए। फ्रांसिस बेकन ने अपने समय के ज्ञान के अनुसार तथ्यों का सर्वेक्षण करते हुए इस सत्य को सामने रखा है। उनका कथन था कि यदि आप विज्ञान के मूल की तुलना किसी कुमारी कन्या से करते हैं तो फिर उससे किसी फल की आशा नहीं रखनी चाहिए। भौतिक जीवन में साधारण रूप से सुधार और सामाजिक रूढ़ियों एवं कुसंस्कारों से मुक्ति—ऐसे फल नहीं हैं, जिनका उत्पादन यह पवित्र कुमारी कन्यारूपी विज्ञान कर सके। प्राचीन विज्ञान अपने पतन के दिनों में ऐसी ही कुमारी कन्या बन गया था।"

प्राचीन विज्ञान के पतन के विषय में तत्कालीन दार्शनिक मतवाद और ईसाई धर्म का दायित्व

प्राचीन विज्ञान के पतन के मामले में ग्रीक दर्शन की क्रमिक अवनति,

---

* खानों से उत्पादन-कार्य की कला में समग्र प्राचीन काल में अर्थात् पहले-पहल जब खनिज पदार्थों का पता चला, तब से रोमन साम्राज्य के पतन तक, कोई तकनीकी प्रगति हुई हो, ऐसा नहीं दीख पड़ता।"—Neuburger, 'Technical Arts and Sciences of the Ancients', London, 1930.

पर्यवेक्षण और परीक्षण को महत्त्व देने के बदले केवल चिंतन, मायावाद और भाववाद की अधिकता, अलौकिक और दैवी शक्ति में बढ़ता हुआ विश्वास और अंततः प्राथमिक अवस्था के ईसाई धर्म और समाज तथा जीवन के उद्देश्य के संबंध में इस धर्म के विधानों और निर्देशों का दायित्व कुछ कम नहीं है। व्यक्ति और समाज-जीवन के उद्देश्य, आदर्श और लक्ष्य, उसकी उत्पत्ति और परिणति, पार्थिव और नैसर्गिक वातावरण से उसका सामंजस्य अथवा असामंजस्य, आदि विषयों में मनुष्य ने विभिन्न युगों में कुछ चरम सत्यों का संधान देने के लिए कितने ही भूल-रहित सिद्धांतों पर पहुँचने की चेष्टा की। धर्म और दर्शन के माध्यम से उसके इस प्रयास की अभिव्यक्ति हुई। इसलिए धर्म और दर्शन व्यक्ति तथा समाज के जीवन के उद्देश्य और लक्ष्य के संबंध में जो मत और दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, हर प्रकार की ज्ञान-चर्चा पर उस मत और दृष्टिकोण का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। इतना ही नहीं, अधिकांश क्षेत्रों मे ये मत और दृष्टिकोण ज्ञान-विज्ञान-चर्चा की गति और दिशा निर्धारित करते हैं। ज्ञान-चर्चा साधारणतया प्रचलित दार्शनिक मतवाद और धर्ममत से सामंजस्य और समन्वय बनाए रखकर होती रहती है। बीच-बीच में अवश्य ही सामंजस्य और समन्वय का बनाए रखना कठिन हो जाता है। नई मनीषा के आविर्भाव और ज्ञान-जगत् पर नए प्रकाश से, प्रचलित मतवाद के साथ नए ज्ञान का विरोध और संघर्ष होता है। विरोध बढ़कर नए ज्ञान की विजय होने पर, इस ज्ञान से मेल बैठाकर दर्शन की धारा परिवर्तित और पुनः प्रवाहित होती है। यह परिवर्तित दर्शन तब भावी ज्ञान-विज्ञान-चर्चा का मार्ग फिर नए सिरे से प्रस्तुत करता है।

चौथी और पाँचवीं शती से शुरू करके लगभग पाँच सौ वर्षों तक, यूरोप में, तत्कालीन दार्शनिक मतवाद और ईसाई धर्म के व्यापक प्रभाव ने ज्ञान-विज्ञान-चर्चा की गति में रोक लगाई, ऐसा मान लेने के यथेष्ट कारण हैं। इस समय के दर्शन पर मध्ययुगीय मनोभाव का जो प्रकाश, और प्रारंभिक युग के ईसाई धर्म के स्वरूप, विश्वास और नीतियों की गठन के पीछे जो दृष्टिकोण हमें दिखाई पड़ता है, उसका अध्ययन करने से यह बात समझ में आ जायगी कि यह मनोभाव और दृष्टिकोण ज्ञान-विज्ञान-चर्चा के अनुकूल क्यों नहीं हुआ। दर्शन किस प्रकार धीरे-धीरे धर्म का अनुचर बन गया और यूरोपीय विचार-जगत् पर निष्क्रियता क्यों छा गई।

हम यह देख चुके हैं कि पर्यवेक्षण के आधार पर दृश्य जगत् के विषय में विभिन्न तथ्य और ज्ञान एकत्रित करके, उन तथ्यों को भली-भाँति समझने के प्रयास के फलस्वरूप प्राचीन ग्रीक दर्शन की उत्पत्ति हुई। ग्रीक दर्शन के स्रष्टा आयोनी दार्शनिकों ने विज्ञान और दर्शन को अलग-अलग रूपों में नहीं देखा। सॉक्रेटिस् और प्लेटो के हाथों ग्रीक दर्शन को एक पूर्णतः नया रूप मिला। केवल पर्यवेक्षण की सहायता से प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन संभव नहीं और वास्तविक सत्य की उपलब्धि एकमात्र मनन शक्ति और आत्मिक-शक्ति पर निर्भर है, प्लेटो की इस धारणा ने विज्ञान-निर्भर दर्शन के स्थान पर, एक भाववादी, अति-प्राकृतिक तत्वीय दर्शन की सृष्टि की। इस दर्शन में मनुष्य का मन और चेतना ही सब कुछ है। इस मन और चेतना-द्वारा उपलब्ध सत्य ही एकमात्र शाश्वत सत्य है। इस प्रकार के दर्शन का अनिवार्य परिणाम यह है कि इससे विश्व प्रकृति और मनुष्य के इतिहास के संबंध में एक मनगढंत, स्वयं संपूर्ण मनवाद की उत्पत्ति होती है। इस मनगढंत स्वयंसंपूर्ण मतवाद को अभ्रांत सत्य मानकर, दार्शनिक विभिन्न दृश्यमान तथ्यों का कारण निर्देश करने लगते हैं। जिन तथ्यों का इस मतवाद से मेल बैठाया जा सकता है, वे ही वास्तविक तथ्य हैं, असली सत्य हैं; और जिन तथ्यों का इस प्रकार तालमेल नहीं बैठाया जा सकता, वे चेतना-द्वारा अग्राह्य, असत्य और इसलिए अर्थहीन हैं। इस प्रकार के दर्शन में प्रधान कठिनाई यह है कि यह प्रकृति संबंधी ठीक और संस्कार-मुक्त पर्यवेक्षण तथा परीक्षण के आदर्श के, और इसलिए विज्ञान की प्रगति के भी प्रतिकूल है। इसलिए हम देखते हैं कि जब भी कभी प्लेटो के दर्शन को प्रधानता प्राप्त हुई, तभी विज्ञान की अपमृत्यु हुई।

अरस्तू और उनके 'लाइसियम' (विद्यापीठ) के दर्शन में पर्यवेक्षण का आदर्श इस प्रकार कुंठित नहीं हुआ। ज्योतिष और पदार्थविद्या में प्लेटो के प्रभाव से वे पूर्णतः मुक्त न हो पाए हों, परंतु जीव-विद्या में वे परीक्षण और पर्यवेक्षण के आदर्श को पूरी तरह प्रतिष्ठित कर सके थे; उनके योग्य सहकर्मी थिओफ्रेस्टस् और स्ट्राटो ने इस आदर्श का और व्यापक रूप से प्रचार किया। अलेग्जेंड्रियाई विज्ञान के उज्ज्वल इतिहास का एक मुख्य कारण यह है कि म्युजियम के प्रथम अध्यक्ष, प्लेटो की अकादमी से नहीं, बल्कि लाइसियम् के अध्यापकों में से चुने गए। विख्यात पदार्थविद् स्ट्राटो इस पद पर नियुक्त हुए। परंतु अरस्तू प्रधानतः तर्कशास्त्र-विशारद थे। पदार्थ-विद्या और ज्योतिष में इस

तर्कशास्त्र को भिड़ाकर और सामग्री, सोरवस्तु, आकृति, परिमाण, गुण आदि चेतना-ग्राह्य कुछ सहज धारणाओं के आधार पर ज्योतिष और पदार्थ-विद्या संबंधी समस्याओं की मीमांसा के उद्देश्य से, उन्होंने जो मतवाद प्रस्तुत किए, उनसे, कम-से-कम इन दोनों विज्ञानों को तो बाधा ही मिली। दुर्भाग्यवश, मध्य-युगीन पंडितों को, अरस्तू के जीव-विद्या संबंधी ग्रंथ के स्थान पर, तर्क-शास्त्र, ज्योतिष तथा पदार्थ-विद्या संबंधी उनके ग्रंथों पर रचित कुछ असंपूर्ण और विकृत टीकाओं के अध्ययन करने का अवसर मिला। हो सकता है कि अरस्तू के वैज्ञानिक ग्रंथों की अपेक्षा, उनके अवैज्ञानिक अध्यात्म-विद्या संबंधी ग्रंथों का ही मध्ययुगीन मनोभाव से अधिक मेल बैठा हो।

स्टोइक और एपिक्युरीय दर्शनों की अंतर्वस्तु में विज्ञान का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होने पर भी दोनों में से कोई भी दर्शन, पूर्णतः विज्ञान पर आधारित नहीं है। एपिक्युरस ने अपनी दर्शन-रचना में डिमोक्रिटस्-प्रस्तावित अणु-सिद्धांत की शरण ली, परंतु वैज्ञानिक गवेषणा को प्रोत्साहित या प्रेरित करना उनका उद्देश्य नहीं था। वास्तव में एपिक्युरस ने स्वयं वैज्ञानिक गवेषणा में कोई उत्साह नहीं प्रकट किया। उन्हें यह विश्वास हुआ कि धर्मजनित भय ही मनुष्य की अशांति और सब दुखों का कारण है। धर्मजनित इस भय से मनुष्य को मुक्त करने के लिए दार्शनिक मतवाद की रचना में उन्होंने विज्ञान का आश्रय लिया।* इसी प्रकार स्टोइक दर्शन में हेराक्लिटस् का विज्ञान, अरस्तू का तर्कशास्त्र आदि अनेक प्रकार के ज्ञान का समावेश होने पर भी, इस दर्शन का केंद्रीय सत्य मनुष्य की इच्छा-शक्ति है। यह मुख्यतः मनुष्य के जीवन और आचरण को नियंत्रित करने के लिए एक प्रकार का नीति-दर्शन मात्र है। इस कार्य में आवश्यकतानुसार प्राकृतिक जगत् सबंधी और आध्यात्मिक ज्ञान का व्यवहार अवश्य हुआ है, परंतु प्रकृति या तत्वज्ञान संबंधी अधिक जानकारी प्राप्त करना स्टोइक दर्शन का लक्ष्य नहीं है। यह नीतिवादी दर्शन नितांत यथार्थवादी है और यही कारण है कि अतिशय व्यावहारिक रोमन जाति के चित्त पर उसने सहज ही आधिपत्य जमा लिया। विज्ञान का मुखौटा पहने हुए

* 'विज्ञान के प्रति एपिक्युरस की अभिवृत्ति बहुत स्पष्ट रूप में अंकित है। विज्ञान के रूप में, इसमें उनकी रुचि नहीं थी; परंतु उन्होंने इसका व्यवहार, मनुष्य को धर्म-जनित भय से मुक्त करने के एक साधन के रूप में किया। इस धर्मजनित भय को वे मनुष्य के सब दुःखों का कारण मानते थे।'—आर० डबल्यू० लिविंगस्टन द्वारा संपादित 'दि लिगेसी आफ ग्रीस' में दर्शन शीर्षक जे० बर्नेट का निबंध, पृ० ९१।

इन दोनों दर्शनों ने विज्ञान के पृष्ठ-पोषक के रूप में अनेक इतिहासकारों के मन में भ्रांति उत्पन्न की है, परंतु वास्तव में इन दोनों में से कोई भी विज्ञान की प्रगति के लिए अनुकूल नहीं हुआ। मनुष्य के दैनिक जीवन के नैतिक मान, धर्म-जात भय, अशांति आदि तुच्छ विषयों की चर्चा में अपने को सीमित रखने के कारण, ये दोनों दर्शन बृहत्तर ज्ञान के क्षेत्र में किसी प्रकार की प्रेरणा का कारण नहीं बन सके। इसमें कोई संदेह नहीं कि विधि-निर्माण और राष्ट्रीय शासन-व्यवस्था पर स्टोइक दर्शन का प्रभाव विशेष रूप से फलप्रद हुआ था, परंतु विज्ञान के प्रति इस दर्शन ने सामान्यतः लोगों को विमुख ही किया। कुछ लोग रोमनों में विज्ञान-चर्चा के प्रति उत्साहहीनता का भाव भरने के अन्यतम कारण के रूप में स्टोइक-दर्शन का उल्लेख करते हैं।

प्लेटोवाद या प्लेटो के दर्शन का सम्मान, प्रतिद्वंद्वी दर्शन या दर्शन-समूह के उत्थान के कारण, बीच-बीच में घट जाने पर भी, उसका प्रभाव पूर्णतः लुप्त कभी नहीं हुआ। घूम-फिरकर प्लेटोवाद ने मनुष्य के मन में घर किया, चाहे वह अपने विशुद्ध रूप में न होकर परिवर्तित रूप में हुआ हो। परंतु प्रारंभिक युग में प्लेटोवाद का जो ऊँचा मान स्थापित हुआ, वह उसे फिर लौटकर नहीं मिला। बाद के समय में इस दर्शन की जो अभिव्यक्ति हुई, वह निःसंशय निम्न स्तर की थी। प्लोटिनस् (२०४-२७० ई०) प्लेटोत्तर प्लेटोवादी दार्शनिकों में सबसे आगे थे। उन्होंने जो नव-प्लेटोवाद चलाया, वह ग्रीक दर्शन के इतिहास में अंतिम उल्लेखयोग्य प्रयत्न था। प्रज्ञा और विशुद्ध बुद्धि के आधार पर प्लेटो ने जिस तर्कसमन्वित दर्शन की रचना की थी, प्लोटिनस् ने उसमें रहस्यवाद का समावेश कर दिया। उनके शिष्य पोर्फिरी (मृत्यु ३०० ई०) और आयांब्लिकस् (मृत्यु ३३० ई०) ने नव-प्लेटोवाद को धीरे-धीरे और भी रहस्यवादी बना डाला। परिणामस्वरूप प्लेटो के मूल दर्शन में वैज्ञानिक पर्यवेक्षण और परीक्षण का जो भी समर्थन था, प्रकृति संबंधी गवेषणा के प्रति जो थोड़ा-बहुत उत्साह और प्रेरणा छिपी हुई थी, वह भी समाप्त हो गई। नव-प्लेटोवादी शिष्य रहस्यवाद-द्वारा आच्छादित, अति प्राकृतिक एक आनंदलोक का पता पाने के लिए व्यग्र हो उठे। यह अवसर पाकर, विभिन्न प्रकार की जादू-विद्या और कर्मकांड, तथा भाग्य और दैव शक्ति के प्रति विश्वास इस दर्शन के अंग बन गए। अलौकिक जादू-विद्या के मार्ग से ही आश्चर्यजनक दैवी शक्ति का साक्षात्कार मिलता है, आत्मा के कल्याण के लिए देवता, देवदूत और शैतान, प्रत्येक की आवश्यकता है, इस प्रकार की धारणा का प्रचार नव-प्लेटोवादी गर्व के साथ करने लगे। अर्थात्, दर्शन के

नाम पर, तरह-तरह के कु-संस्कार, जादू-विद्या और करामतों में-विश्वास, परमार्थ की खोज में संन्यास-जीवन व्यतीत करने का उन्माद आदि विभिन्न प्रकार के छल-प्रपंच एक-एक करके सिर उठाने लगे।

उस समय, यूरोपीय समाज जीवन में सर्वत्र इस प्रकार के रहस्यवाद की एक लहर चल पड़ी थी। मनुष्य के दुःख-कष्ट, अभाव-अभियोग, अनिश्चितता और अशांति से लाभ उठाकर इन रहस्यवादियों ने अपनी-अपनी दूकानें जमा लीं। इन रहस्यवादी विचार-धाराओं में ऑर्फिज्म (Orphism), मिथ्राइज्म (Mithraism) और मानिकेइज्म (Manichaeism) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन रहस्यवादी दर्शनों ने रोमन शासक वर्ग को अपना अनुयायी और पृष्ठ-पोषक बनाने के लिए विशेष चेष्टा की। रोमन साम्राज्य के मुख्य धर्म की पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए मिथ्राइज्म (Mithraism) एक समय ईसाई धर्म का प्रतिद्वंद्वी बन गया था। प्राचीन फारस (ईरान) के जरथुस्त्र धर्म से मिथ्राइज्म की उत्पत्ति हुई। मिथ्रास् (संस्कृत 'मित्र') का अर्थ है प्रकाश देवता या सूर्य देवता। इससे संबद्ध पवित्र धर्मोपाख्यान में मिथ्रास-द्वारा एक वृष की हत्या किए जाने की कहानी है। उसी वृष से निःसृत शोणित-धारा जीवन-बीज को अंकुरित करती रहती है। आत्मा की अविनश्वरता, जन्मांतरवाद, विभिन्न प्रकार के अनुष्ठान, प्रकट और गुप्त क्रियाकलाप, आदिम प्रकृति-पूजा, चित्ताकर्षक रूपक और पौराणिक उपाख्यानों के माध्यम से रहस्यवाद का प्रचार, इन विभिन्न धर्मों तथा संप्रदायों की विशेषता थी।*

रोमन साम्राज्य के युग में, विशेष रूप से उसके पतन-काल में, दर्शन की किस प्रकार अवनति हुई, वह कितने निम्न स्तर पर जा पहुँचा, उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है। जादू विद्या, देव-शक्ति और मंत्र-तंत्र में विश्वास रखनेवाले भाग्यवादी समाज में ज्ञान-विज्ञान-चर्चा का स्रोत अपने-आप सूख गया। उसके दिन कैसे कटेंगे, उसके भाग्य में क्या लिखा हुआ है, उसका अगला जन्म किस प्रकार का होगा, पाप का प्रायश्चित्त संभव है या नहीं, ईश्वर का साक्षात्कार किस प्रकार मिल सकता है, ये ही उस समय मनुष्य की प्रधान समस्याएँ थीं। इस प्रकार की समस्याओं का समाधान विज्ञान के दायरे के बाहर है, इसलिए विज्ञान-चर्चा, निष्फल प्रयास और समय का अपव्यवहार मानी गई।

---

* Legge, 'Forerunners and Rivals of Christianity'
B. Malinowski, 'Foundations of Faith and Morals', Oxford.

इसी रहस्यवादी वातावरण और पर्यावरण में ईसाई धर्म का जन्म हुआ। ईसा ने पृथ्वी में स्वर्ग-राज्य स्थापित करने की योजना बनाई थी। लोगों को पुकारकर उन्होंने कहा कि इस स्वर्ग-राज्य में प्रवेश का अधिकार प्राप्त करना हो तो सत्यनिष्ठ जीवन बिताना होगा, धन-दौलत का मोह त्यागना होगा। मिथ्याचरण, हठ और प्रतारण की उन्होंने तीव्र निंदा की। यहाँ तक कि धनी-दरिद्र की विषमता मिटाने के लिए उन्होंने उपदेश दिया कि प्रत्येक नर-नारी स्वर्ग-राज्य की प्रजा है, उसकी सारी धन-संपदा का मालिक स्वयं ईश्वर है। यह कहना अनावश्यक है कि समाज-सुधार की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण क्रांतिकारी आंदोलन था। ईसाई धर्मांदोलन यदि इस नीति वाक्य और आदर्शवाद तक ही सीमित रहता तो आरंभ में ही वह विनष्ट हो गया होता। गैलिलि, नैजारथ या जूडिया के अल्पसंख्यक यहूदी संप्रदाय में एक और नगण्य धर्म के रूप में यह एक कोने में पड़ा रहता।

ईसाई धर्म का, एक विश्व-धर्म के रूप में प्रचार करके सेंट पॉल ने उस धर्म को इस विपत्ति से बचा लिया। इसे अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए, अनुष्ठान, उपासना, जादू-विद्या, स्वर्ग-मर्त्य-पाताल की परिकल्पना आदि का प्रवर्तन करना पड़ा एक ऐसा जीवनादर्श तैयार करना पड़ा, जो जन साधारण के ग्रहणयोग्य हो। इस कार्य में ईसाई धर्म, मिथ्राइज्म (Mithraism) सेरापिस आइसिस् धर्म, स्टोइक दर्शन, नव-प्लेटोवाद आदि अनेक धर्मों और दार्शनिक मतवादों का ऋणी है। ईसाई धर्म के मूल उपदेश से यथासंभव ताल-मेल बनाए रखकर और आवश्यकतानुसार चुनकर, इन अनुष्ठानों और रहस्य-वाद को ईसाई धर्म के धागे में बड़ी कुशलता के साथ पिरोया गया। ओरिगेन (१८५-२५४ ई०) ने ग्रीक-दर्शन से अनेक प्राचीन मतों तथा तथ्यों को इकट्ठा करके यह दिखाने की चेष्टा की कि ईसाई धर्म-विश्वास की उत्पत्ति दर्शन और ज्ञान से हुई है। लोगौस (logos) या विश्वात्मा अथवा ब्रह्मांड की नित्यता, आत्मा का पूर्वापर अस्तित्व आदि ग्रीक अध्यात्मवाद के आधार पर उन्होंने प्रचार किया कि ईश्वर अपरिवर्तनशील है। ईसाई धर्म-विश्वास की इस प्रकार की पांडित्यपूर्ण व्याख्या ने शिक्षित समाज की दृष्टि आकर्षित की और शिक्षित व्यक्तियों में इस धर्म के प्रचार को और सहज कर दिया। सेंट ऑगस्टिन (३५४-४३० ई०) ने इस दार्शनिक नींव को और सुदृढ़ किया। पहले उनका मानिकेइज्म (Manichaeism) और नव प्लेटोवाद में विश्वास था— ईसाई धर्म में दीक्षा उन्होंने बाद में ली। वे अनेक शास्त्रों और विशेष रूप से प्लेटो के दर्शन के विद्वान थे। ईसाई धर्म-विश्वास के आधार पर संपूर्ण

ज्ञान को उन्होंने एक समन्वित रूप प्रदान किया। उनकी चेष्टा से ईसाई धर्म को आध्यात्मिक दर्शन का रूप प्राप्त हुआ। रहस्यवाद में भी सेंट ऑगस्टिन का विश्वास था; ईश्वरीय क्षमता को प्रकट करने के उद्देश्य से रहस्यवाद और जादू-विद्या की आवश्यकता वे स्वीकार करते थे। सेंट जेरोम और सेंट ग्रेगरी-जैसे धार्मिक नेताओं ने अत्याश्चर्यजनक ईश्वरीय क्षमता का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए हेय और हीन जादू-विद्या का आश्रय लिया।

इसलिए रहस्यवाद-ग्रस्त प्रारंभिक युग का ईसाई धर्म, अन्य रहस्यवादी दर्शनों की भाँति ही पर्यवेक्षणमूलक विज्ञान का तात्पर्य समझने में असमर्थ रहा। ऐसी अवस्था में एकमात्र धर्मसंबंधी ज्ञान को छोड़कर अन्य सभी प्रकार का ज्ञान उपेक्षित हुआ तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म का मूलमंत्र है विश्वास, अर्थात् धर्मयाजकों-द्वारा व्याख्यायित ईसाई धर्म की महिमा में विश्वास। जिस धर्म या दर्शन की मुख्य शिक्षा विश्वास है, उसमें स्वतंत्र चिंतन का स्थान नहीं, युक्ति-तर्क के लिए कोई अवसर नहीं और केवल ज्ञान के लिए ज्ञानान्वेषण अनावश्यक है। ग्रीक विज्ञान का जो अंश इस धर्म-विश्वास का समर्थक था, केवल उतना ही ले लिया गया और शेष सब कुछ विधर्मियों के अलस मस्तिष्क की व्यर्थ उपज के रूप में त्याग दिया गया। इस विषय में सेंट वेसिल का एक कथन ध्यान देने योग्य है :

"स्वर्ग की सारवस्तु के संबंध में ईसा ने जो कुछ कहा है, उससे हम संतुष्ट हैं···उसी प्रकार, जहाँ तक पृथ्वी का संबंध है, हम यह संकल्प करें कि उसकी सारवस्तु ढूँढने की चेष्टा में हम अपने को यंत्रणा नहीं देगें, हर हालत में हम तर्क के प्रदर्शनों की अपेक्षा विश्वास की सरलता को अधिक पसंद करेंगे।*

चंद, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि ज्योतिष्कों के संबंध में चर्चा और गवेषणा में एक और प्रधान आपत्ति यह है कि इन ज्योतिष्कों सहित संपूर्ण ब्रह्मांड ईश्वर की सृष्टि है। ईश्वर इस ब्रह्मांड से बहुत ऊपर है। इसलिए ग्रह-नक्षत्रों में चिंतन निबद्ध होने पर ईश्वर-चिंतन में विघ्न पड़ने की संभावना है, यहाँ तक कि ईश्वर के प्रति उदासीनता में वृद्धि भी आश्चर्य की बात नहीं होगी। इसलिए धर्मशास्त्र के बाहर अन्य सभी प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन या गवेषणा का परित्याग करना ही वांछनीय है। सेंट ऑगस्टिन ने तीव्र भाषा में यह मत इन शब्दों में प्रकट किया है :

* Homilus I, VIII and X

"ये धोखेबाज गणितज्ञ (अर्थात् ज्योतिषी) जो शकुन-विचार के लिए किसी प्रकार के बलिदान अथवा दैवी शक्ति की प्रार्थना नहीं करते और ईसाई तथा सच्ची धार्मिकता सिद्धांततः जिनका प्रत्याख्यान और निंदा करती है।*

प्राचीन यूरोपीय विज्ञान मुख्यत: विधर्मी ग्रीकों की प्रतिभा की सृष्टि है, इसलिए भी प्रारंभिक युग के ईसाइयों ने ग्रीक-विज्ञान का तीव्र विरोध किया। फिर भी ग्रीक-विज्ञान को पूरी तरह निकाल देना संभव नहीं हुआ। ईसाई-दर्शन की बुनियाद डालते समय सृष्टि-तत्व, विश्व-ब्रह्मांड, पृथ्वी, पृथ्वी के पेड़-पौधे, मनुष्य और प्राणियों के संबंध में कुछ कहना आवश्यक हो गया। जिस प्राकृतिक पर्यावरण पर मनुष्य-जीवन निर्भर है, उसे अलग रखकर मनुष्योपयोगी किसी धर्ममत या दर्शन का गठन करना संभव नहीं। इसलिए बाइबल के प्रारंभ में ही हम सृष्टि-रहस्य की अवतारणा पाते हैं। बाइवल में वर्णित इस सृष्टिरहस्य की, बाद के समय के ईसाई धर्मयाजकों ने, अनेक व्याख्याएँ और समालोचनाएँ कीं। इन व्याख्याओं और समालोचनाओं से 'हेक्सिमेरन' (Hexaemeron) नामक एक संपूर्ण ईसाई-विज्ञान की ही रचना हो गई। हेक्सिमेरन में विज्ञान के प्रति प्रारंभिक युग के ईसाइयों का दृष्टिकोण प्रतिबिंबित है। इसलिए विज्ञान के संबंध में प्रारंभिक ईसाई धर्म ने किस प्रकार का मनोभाव अपनाया था, उसे समझने के लिए हेक्सिमेरन में उल्लिखित कुछ वैज्ञानिक विषयों की चर्चा आवश्यक है।

हिपोलाइटस्, ओरिगेन, वेसिल, एँब्रोज-जैसे अनेक विशिष्ट धर्मयाजकों ने सृष्टि-तत्व की व्याख्या करने के लिए हेक्सिमेरन की रचना की। उनमें से बेसिल के ग्रंथ का ही सब से अधिक प्रभाव पड़ा। पहले ब्रह्मांड-परिकल्पना और उसके आध्यात्मिक महत्व की बात ले लीजिए। ग्रीक दार्शनिकों ने केवल एक स्वर्ग का उल्लेख किया है, परंतु बेसिल ने एकाधिक स्वर्ग के अस्तित्व का प्रचार किया। उनकी युक्ति यह है कि ग्रहों के लिए एककेंद्रीय सात गोलों की परिकल्पना यदि ग्राह्य हो तो अनेक स्वर्गों की परिकल्पना भी तर्कसम्मत है। बाइबल में एक जगह कहा गया है, 'स्वर्ग के नीचे जितना जल है, वह एक स्थान पर एकत्रित हो।' बेसिल ने इस विषय में टीका की कि यह उक्ति केवल समुद्र के लिए लागू है, झील या भूभाग-द्वारा घिरी हुई अन्य किसी प्रकार की जलराशि के लिए नहीं। तो फिर कैस्पियन सागर के क्षेत्र में क्या होगा ? इस आपत्ति का खंडन करने के लिए उन्होंने कहा कि भूगोलवेत्ताओं के विवरण और अभिमत

* Singer, 'From Magic to Science', p. 84.

से यह जानकारी मिलती है कि कैस्पियन सागर चारों ओर महासागर से जुड़ा हुआ है, इसलिए यह महासागर का ही एक अंश है। प्राणियों की प्रकृति और व्यवहार के संबंध में उन्होंने विचित्र मत व्यक्त किए हैं। प्राणियों की प्रकृति और स्वभाव की चर्चा में उनका मुख्य उद्देश्य था, उनके दृष्टांतों से, मनुष्यों पर लागू होने योग्य आवश्यक नीतियों और उपदेशों का संग्रह करना। जैसे, एक प्रकार का समुद्री घोंघा आँधी-तूफान की पूर्व सूचना देता है; भेड़, बकरी आदि कुछ प्रकार के पशु अपनी सहजात प्रवृत्ति-द्वारा विपत्ति का संकेत समझ लेते हैं। सारिका चिड़िया हेमलक विष पीकर भी इस कारण जीवित रहती है कि महत्वपूर्ण अंग-प्रत्यंगों में विष की क्रिया शुरू होने के पहले ही उस विष को वह पचा ले सकती है, इत्यादि। किसी-किसी पक्षी के स्वतः प्रजनन की बात का वेसिल ने उल्लेख किया है, अर्थात् नर-पक्षी की सहायता के बिना ही मादा-पक्षी अंडे दे सकती है। कुमारी मेरी द्वारा ईसा को जन्म देने के वृत्तांत की यह एक प्रकार की वैज्ञानिक व्याख्या है। हैल्सियन नामक एक प्रकार की चिड़िया, उत्तरायण के पहले, समुद्र में तूफान आने पर भी, अंडे दे सकती है और उन्हें से सकती है। यह ईश्वर की करुणा का एक प्रकाश है; दयालु ईश्वर ने इस असहाय पक्षी की सुविधा के लिए सात दिन तक समुद्र को शांत रखा।* हेक्सिमेरन में वर्णित इस प्रकार के अनेक और दृष्टांत उद्धृत किए जा सकते हैं।

हेक्सिमेरन के अतिरिक्त, उस समय एक और पुस्तक प्रचलित थी। उसका नाम है 'फीजिओलोगस्' (Physiologus)। इस ग्रंथ की उत्पत्ति के संबंध में बहुत मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं, ओरिगेन इस ग्रंथ के रचयिता थे, कुछ दूसरे कहते हैं कि यह एक तरह का विश्वकोश है, जिसमें अनेक व्यक्तियों की रचनाओं और मतों का संकलन किया गया है। जो भी हो, प्रकृति और प्राणियों-संबंधी इस ग्रंथ का उद्देश्य पर्यवेक्षण तथा परीक्षण-लब्ध वैज्ञानिक सत्य का निर्देशन और व्याख्या नहीं है। ईसाई धर्मग्रंथ में उल्लिखित अनेक प्रकार के रूपकों और उपाख्यानों की तथाकथित वैज्ञानिक व्याख्या प्रदान करना ही इस ग्रंथ का उद्देश्य है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ हेक्सिमेरन की श्रेणी में शामिल है। एक उदाहरण से फीजिओलोगस की अंतर्वस्तु का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। इसमें एक जगह कहा गया है, कि सिंहिनी मृत शिशु प्रसव

---

* 'ईश्वर दयार्द्र होकर, इस क्षुद्र जीव को और सात दिन की मुहलत देते हैं। सभी मल्लाह यह जानते हैं और इन दिनों को हैल्शियन दिन का नाम देते हैं।'

करती है, परंतु तीसरे दिन जब सिंहिनी इस शिशु की आँखों पर सांस छोड़ती है, तब उस श्वास के स्पर्श से मृत सिंह-शावक जीवन लाभ करता है। जूडा के सिंह, ईसा के समाधि से पुनः उठ खड़े होने के उपाख्यान को समझाने में मृत सिंह-शिशु के जीवन-लाभ की घटना और व्याख्या बहुत सहायक हुई थी।

ईसाई धर्म की प्रथमावस्था में धर्मयाजक विज्ञान का विचार किस दृष्टिकोण से करते थे, उपर्युक्त अध्ययन से यह मोटे तौर पर समझा जा सकता है। ईश्वर की अलौकिक क्षमता प्रमाणित करने और धर्मग्रंथ में बताए गए अनेक उपदेशों और रूपकों को प्राकृतिक दृष्टांतों-द्वारा सहज रूप से समझने के लिए विज्ञान की आवश्यकता है, ऐसी धारणा इनमें बनी थी। परंतु धीरे-धीरे इस कार्य में भी अनेक बाधाएँ और असुविधाएँ आ पड़ीं। ग्रीक विज्ञान और दर्शन की तर्क-प्रणाली से ईसाई धर्म-विश्वास का पग-पग पर संघर्ष होने लगा। फलस्वरूप ईसाई क्रमशः घोर ग्रीक-विद्वेषी हो उठे। ३९० ई० में विशप थिओफिलस-द्वारा अलेग्जेंड्रिया के एक अंश का विध्वस्त किया जाना, इस बढ़ते हुए विद्वेष का एक परिणाम था। इसके थोड़े ही दिनों बाद विदुषी गणितज्ञा हाइपेसिया की निर्मम हत्या के पीछे ईसाइयों का यही विद्वेष और पागलपन था। अज्ञान जब व्यापक रूप से एक गुण के तौर पर गिना जाता और प्रशंसित होता है, जब ज्ञान की हालत शोचनीय हो जाती है, उस समय भागकर बचने के अलावा और कोई उपाय नहीं रहता। और हुआ भी यही। ईसाइयों के व्यापक आक्रमण के भय से अनेक ग्रीक पंडितों ने अलेग्जेंड्रिया छोड़कर एथेंस में प्लेटो की अकादमी की शरण ली। एथेंस में ग्रीक दर्शन, शिक्षा और पांडित्य का उस समय भी कुछ आदर था। जादू-विद्या की अधिकता, कुसंस्कार आदि-द्वारा यह शिक्षा नाना प्रकार से दूषित और पतित होने पर भी प्रोक्लस (४१०-४८५ ई०) जैसे कुछ दार्शनिकों का प्रभाव तब तक मिट नहीं पाया था। परंतु एथेंस के विद्यापीठ के दिन भी समाप्त हो रहे थे। चारों ओर ईसाई धर्म की बाढ़ के बीच ग्रीक शिक्षा, संस्कृति और दर्शन का यह छोटा-सा टापू कब तक अपनी रक्षा कर पाता? सम्राट जस्टिनियन ने एक आदेश जारी करके एथेंस के विद्यापीठ का दरवाजा सदा के लिए बंद कर दिया (५२९ ई०) और साथ ही हर प्रकार के ग्रीक विज्ञान तथा दर्शन के प्रचार तथा अध्ययन का कानून-द्वारा निषेध कर दिया गया।

ग्रीक ज्ञान-विज्ञान की शोचनीय दुर्दशा और दुर्गति के इन दिनों में, चारों ओर बर्बरता और अज्ञान की तांडव-लीला के बीच, बाइजांटाइन साम्राज्य तथा उसकी राजधानी कुस्तुंतुनिया ने ग्रीक सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान की टिमटिमाती रोशनी को किसी प्रकार जलाए रखा। १४५३ ई० में आटोमन तुर्कों के आक्रमण से कुस्तुंतुनिया का पतन होने तक, ८-९ सौ वर्षों की अवधि में, ग्रीक ज्ञान-विज्ञान, दर्शन और संस्कृति बाइजांटाइन साम्राज्य में, एक बंद तालाब की तरह, किसी प्रकार जीवित रही। इससे ज्ञान का प्रसार और वृद्धि तो नहीं हुई, परंतु प्राचीन ज्ञान की, निश्चित और परिपूर्ण विनाश के हाथों से, रक्षा हुई। कुस्तुंतुनिया के पतन के बाद ग्रीक पंडित भागकर पश्चिम यूरोप पहुँचे। उन पंडितों-द्वारा, पश्चिमी यूरोप की उपजाऊ जमीन में, ग्रीक ज्ञान-विज्ञान की चर्चा शुरू किए जाने पर यूरोप में ज्ञान का किस तरह पुनर्जन्म हुआ, यह अध्ययन उपयुक्त स्थान पर किया जायगा।

यूरोप में मध्य युग के प्रसार और इस युग में ज्ञान-विज्ञान के शोचनीय पतन के कुछ कारणों का हमने मोटे तौर पर विवरण दिया है। पश्चिमी जगत् पर जिस समय अज्ञान का घोर अंधकार छाया हुआ था, उस समय पूर्व, ज्ञान-विज्ञान की आलोक-छटा से जगमगा रहा था। भारत, चीन, इस्लामी मध्यपूर्व, संक्षेप में, संपूर्ण एशिया में एक अखंड ज्ञान-राज्य प्रतिष्ठित था। वसुबंधु, ईश्वरकृष्ण, दिङ्नाग, बुद्धघोष, जिनगुप्त जैसे बौद्ध दार्शनिक समग्र एशिया में बौद्ध धर्म के प्रचार में तत्पर थे, भारत की गणितीय और ज्योतिषीय प्रतिभा के निदर्शन स्वरूप थे आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त और महावीर-जैसे विश्वविख्यात गणितज्ञ और ज्योतिर्विद। वाग्भट, माधवकर और वृंद, चिकित्सा-विज्ञान को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने में तल्लीन थे।

चीन में भी इस समय आश्चर्यजनक वैज्ञानिक तत्परता दिखाई देती है। इस समय के विख्यात चीनी गणितज्ञों और ज्योतिर्विदों के नाम हैं, चिन् लो-चि, हो चेन-त्येन, सु चुंग-चि, सिया-हू उंग, चेन-लुआन, चँग च्यु-चिएन, वांग स्याओ-तुंग, चु-तान, लि सुन्-फेंग, आइ-सिंग आदि; फाह्यान, ह्वेन-सांग, वांग हुआन् से, इत्सिंग-जैसे पर्यटकों और भूगोल-वेत्ताओं ने वैचित्र्यमय पूर्वी देशों की विभिन्न जातियों और उनकी भाषा, शिक्षा, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान संबंधी तथ्यों का संग्रह करके भ्रमण-वृत्तांत और भौगोलिक

ग्रंथों की [illegible] की। चौथा शती में चीन में तथाकथित 'भारतीय स्याही' या 'भूसा स्याही' का आविष्कार हुआ। ये आविष्कार एक देश से दूसरे देश में फैलते हुए, अंत में यूरोप जा पहुंचे। सम्राट जस्टिनियन के राजत्वकाल में कुछ नेस्टोरी ईसाई पादरी, चोरी-छिपे चीन से रेशम के कीड़ों के अंडे यूरोप ले गए और उन्होंने पहले ग्रीस में और बाद में यूरोप के अन्य स्थानों में रेशम का उत्पादन आरंभ किया।

सीरिया, मेसोपोटामिया और फारस में भी इस समय ज्ञान-चर्चा का प्रबल उत्साह दिखाई पड़ता है। कुस्तुंतुनिया से भगाए गए नेस्टोरी ईसाई पादरियों और ईसाई धर्म की कुछ अन्य शाखाओं के अनुयायियों, जैसे मानो-फिजाइटों ने मध्यपूर्व में ज्ञान-चर्चा का मार्ग खुला रखा। एडेसा, निसिबिस और जुंडिशाहपुर के चिकित्सा-विज्ञान केंद्रों को इस समय विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। मानोफिजाइट सर्जियस रासाएन और सेवेरस सेवख्त के नाम इतिहास-प्रसिद्ध हैं। ८ वीं शती के मध्य भाग से ११ वीं शती तक अरब वैज्ञानिक-प्रतिभा का विकास विज्ञान के इतिहास में एक और विस्मयोत्पादक घटना है। एशिया की इस आश्चर्यजनक वैज्ञानिक तत्परता के काल में यूरोप में आयाम्-ब्लिकस्, कैल्सिडियस्, मैक्रोवियस्, कैपेला, बोएंथियस्, कैसिओडोरस्, इसिडोर ऑफ सेविल्, बीड, ऐल्क्विन आदि थोड़े से दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के जो नाम मिलते हैं, उनकी वैज्ञानिक तत्परता नितांत निकृष्ट श्रेणी की थी। सातवीं शती में, समग्र रूप से पृथ्वी की विज्ञान-चर्चा के नमूने के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए प्राध्यापक सार्टन ने, इसीलिए, लिखा है।

'लैटिन लेखनी का प्रायः पूर्ण अभाव, एक और ऐसा तथ्य है, जिस पर बरबस हमारी निगाह पड़ती है। वार्बेरियां-द्वारा रचित कुछ संहिताओं के अतिरिक्त, एकमात्र इसिडोर की एटिमोलोजीस (Etymologics) को छोड़कर—और उसे बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता—मुझे और कोई रचना मिलती ही नहीं, जिसका मैं उल्लेख कर सकूं।

"लेकिन हम पूर्व की ओर देखें तो कैसा विरोधाभास दिखाई पड़ता है....इस्लाम का बौद्धिक जीवन अभी आरंभ नहीं हुआ है, लेकिन उसके आविर्भाव की तैयारी धीरे-धीरे हो रही है। इस बीच अंतिम पहलवी इतिहास सामने आता है। भारत के बारे में मैंने केवल तीन नाम लिए, परंतु उनमें से दो अत्यंत यशस्वी थे : धर्म कीर्ति, ब्रह्मगुप्त, वाग्भट। तिब्बत में महान नृपति सांग-त्सेन सांभोट गांपो और उनके सहयोगी सांभोट। चीन में विद्वानों की

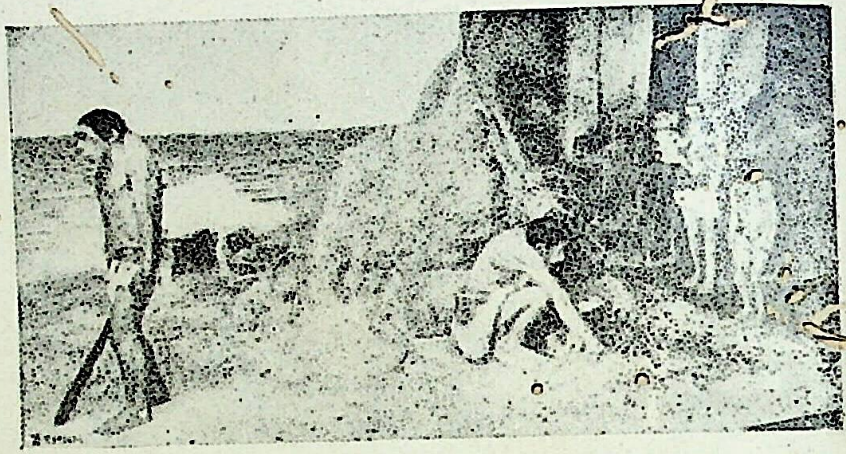
सेना खड़ी है : शान ताओ, ताओ सुआन, क्वि-चि, ताइ-त्सुं... स्याओ तुंग, च-तान, फू येन-चुन, पिआई-चु, ली-ताई, सुआन त्सांग, चाओ युवान-फांग, फांग सुआन-लिग्, याओ चियेन, लि पो-याओ, लिग्-हु ते-फेन, वाइ चेंग्, लि येन-शु, चिग् पो, लु फा-येन, सुआन यिंग् । कोरियो में एक्वान और क्वान् रोकु । और अंत में, जापान में शोटोकु और मिनाबुचि शोआन ।

"यदि हम विज्ञान की मुख्य शाखाओं पर अलग-अलग विचार करें तो हम देखते हैं कि गणित में विशेष ज्ञान-वृद्धि की ब्रह्मगुप्त ने; भूगोल में सुआन-सांग ने, और चिकित्सा-विज्ञान में पालोस एजेनेटा और वाग्भट की देन विशेष महत्वपूर्ण है । विख्यात नामों में से एक ग्रीक, एक चीनी और दो हिंदू हैं । स्पष्ट है कि मुख्य सांस्कृतिक प्रगति अब पूर्व में हो रही है ।"

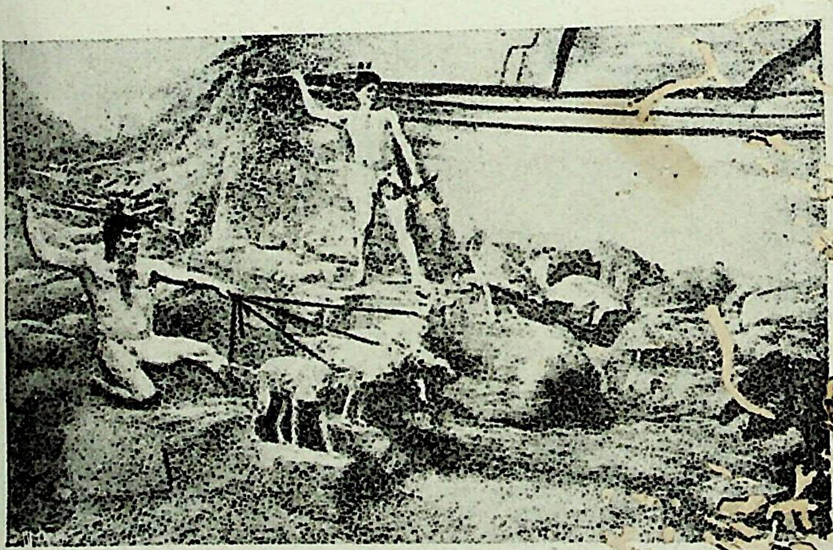
एशिया की वैज्ञानिक तत्परता के इतिहास की चर्चा हम अगले खंड में करेंगे । ग्रीक प्रतिभा के विकसित होने से पहले और जब उसे पूर्णतः विकसित अवस्था प्राप्त हुई, उस काल में, वैदिक भारत और चीन ने जिस आश्चर्य-जनक प्रतिभा और अपनी-अपनी विशेषताओं का परिचय दिया, उसकी चर्चा हमने प्रस्तुत खंड में की है । इन दो प्राचीन सभ्य जातियों की सृजनकारी प्रतिभा का यहीं अंत नहीं होता, ईस्वी संवत् के आरंभ से लेकर कई सौ वर्ष तक यह सक्रिय रही । उनकी चेष्टा से ज्ञान-विज्ञान की जो उन्नति हुई, परवर्ती काल का यूरोप उसका बहुत ऋणी है ।

Cf. Sarton, "Introduction to the History of Science," Vol 1, p. 463.

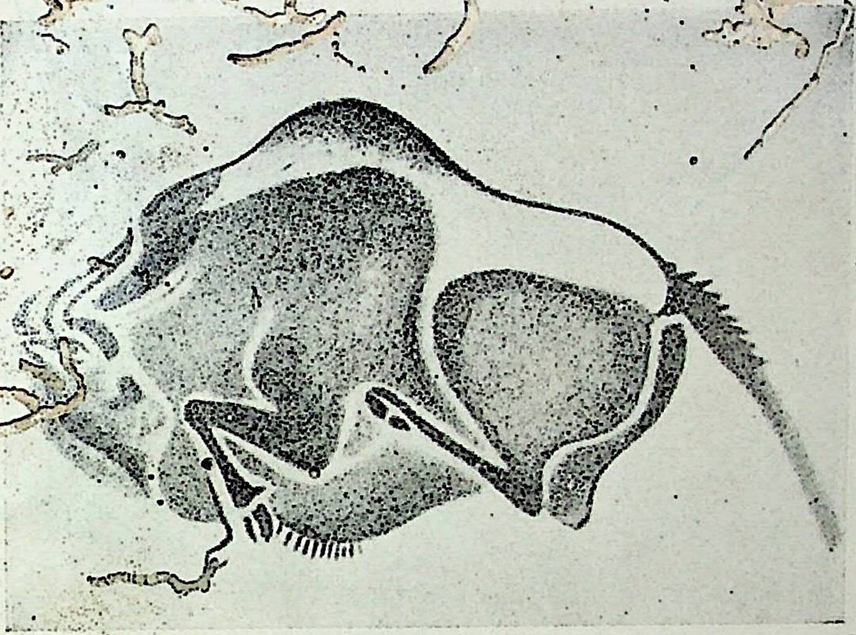
आर्ट प्लेट



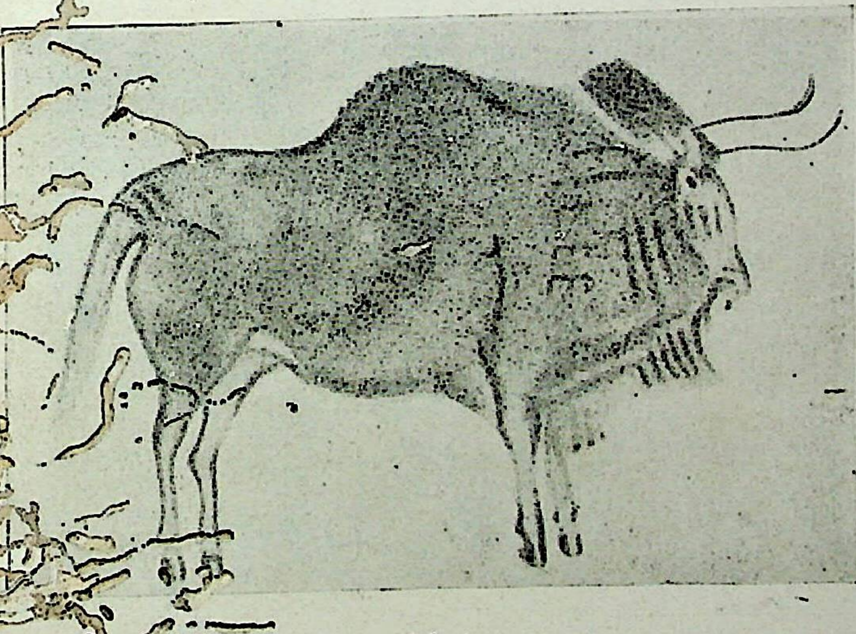
नियांडर्थल-मानव के पारिवारिक जीवन का एक काल्पनिक दृश्य—
जिब्राल्टर में प्राप्त नियांडर्थल मानव के ध्वंसावशेष पर आधारित (पृष्ठ-२६)



प्रागैतिहासिक ऐलिजियाई संस्कृति के एक मानव-समुदाय ने पहले
पहल कुत्ते को पालतू बनाया—मा दा'जिल, फ्रांस (पृष्ठ-३९)

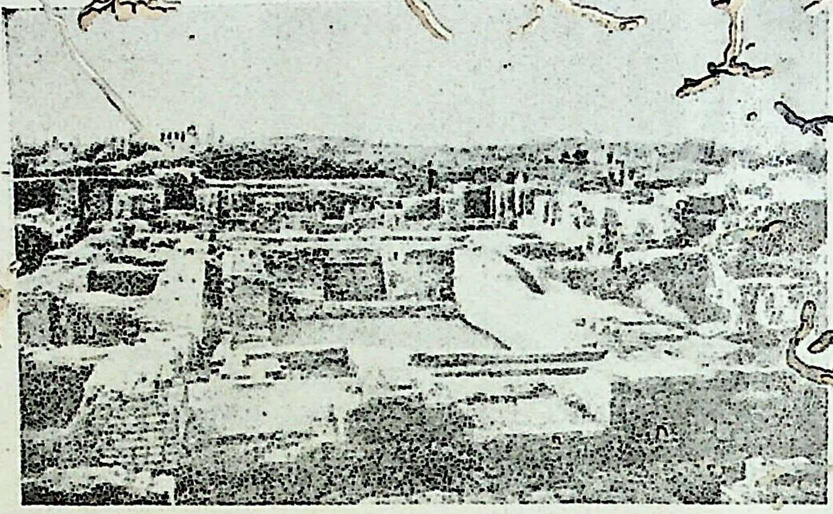


(१)

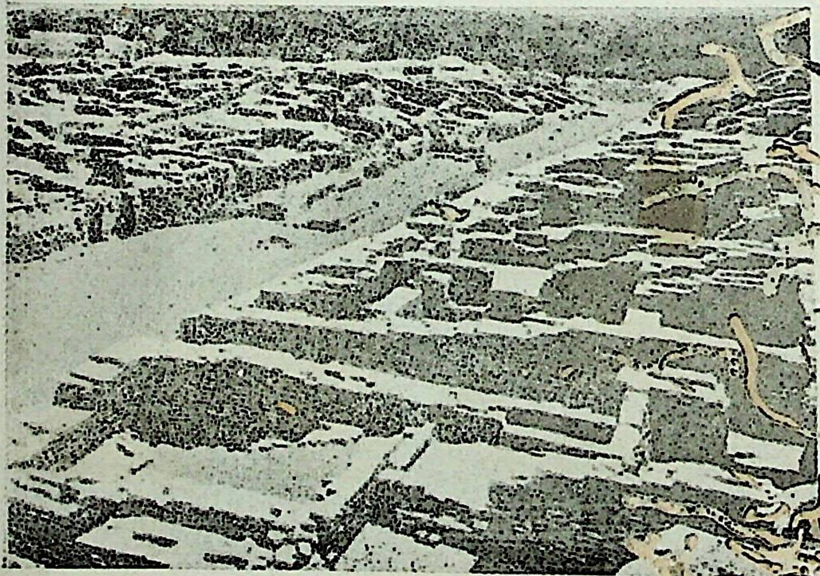


(२)

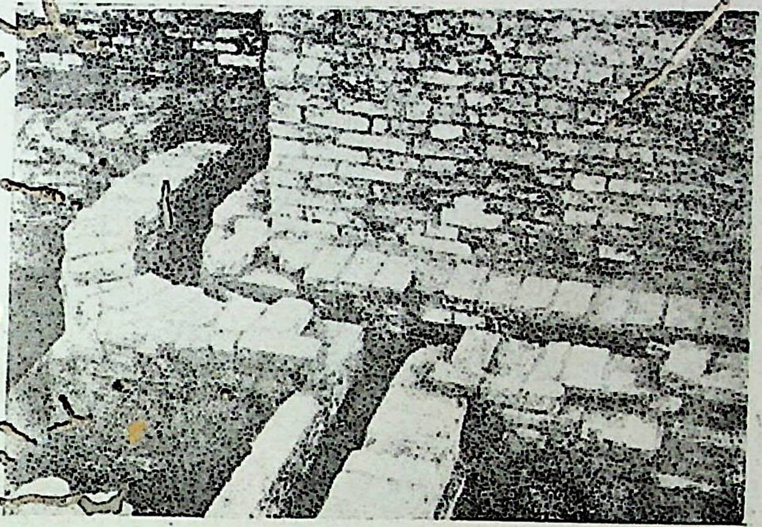
…हासिक युग का चित्रांकन : बाइसन– उत्तरी स्पेन में अल्तामिरा कंदरा में प्राप्त (पृष्ठ-३७)



मोहंजोदड़ो का विशाल जलाशय—दीवारें और गृहादि द्रष्टव्य हैं (पृष्ठ-७८)



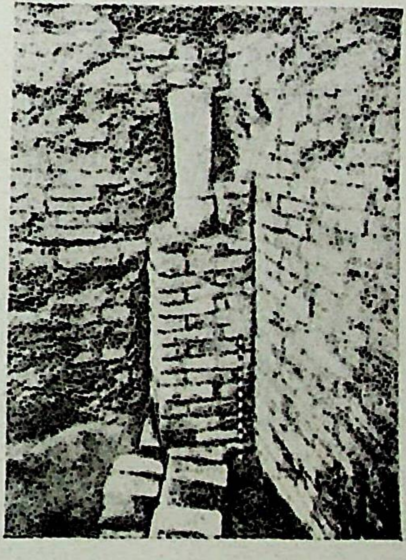
मोहंजोदड़ो का सबसे चौड़ा राजपथ—पहली सड़क (पृष्ठ-७६)



नाली—मोहंजोदड़ो (पृष्ठ-७६)

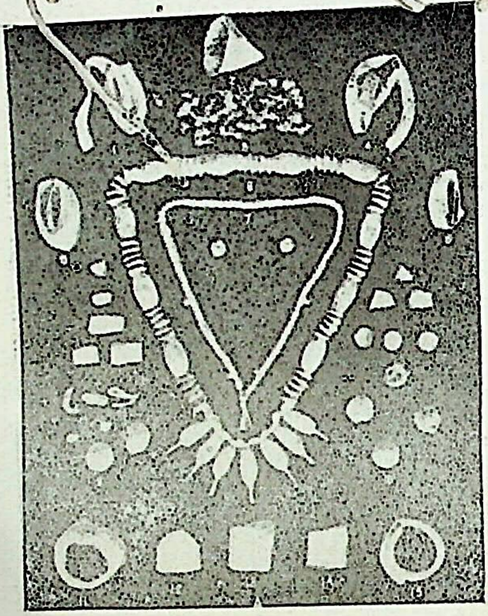


(१)

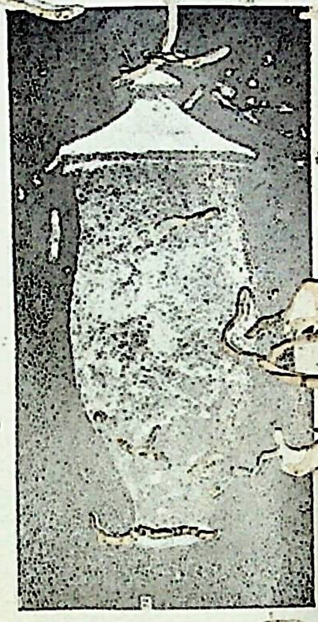


(२)

नाली के मुँह पर बैठाया गया, कचरा जमा करने का मिट्टी का बर्तन, पानी के निकास के लिए दीवार में जड़ा मिट्टी का पाइप—मोहंजोदड़ो (पृष्ठ-७६)



स्वर्णालकार मोहंजोदड़ो
(पृष्ठ-७९)



चाँदी का ... —मोहंजोदड़ो
(पृष्ठ-७९)



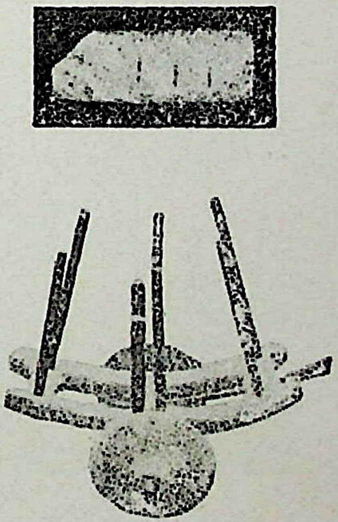
चित्रित और नक्काशीदार मिट्टी के बर्तन—मोहंजोदड़ो (पृष्ठ-...



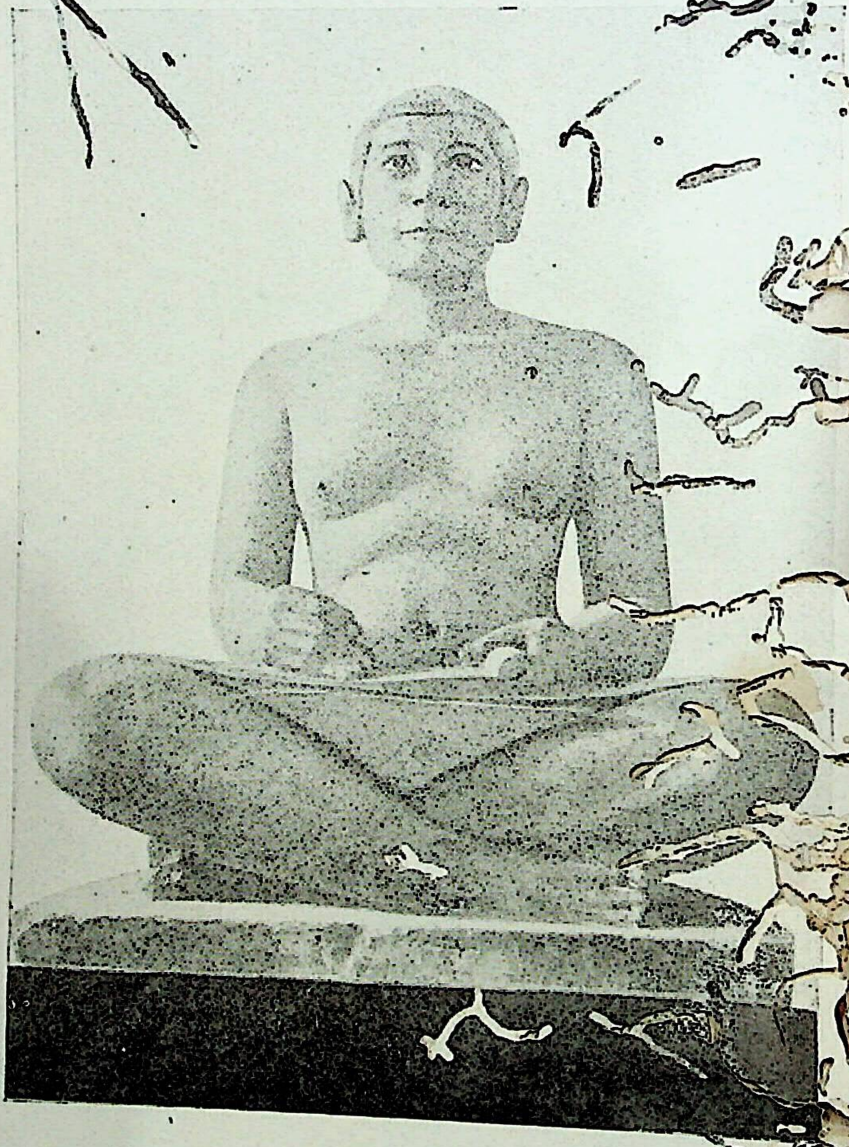
मोहंजोदड़ो की मुहरें—विभिन्न पशुओं की आकृतियां और लिपि के नमूने द्रष्टव्य हैं। (पृष्ठ-८१)



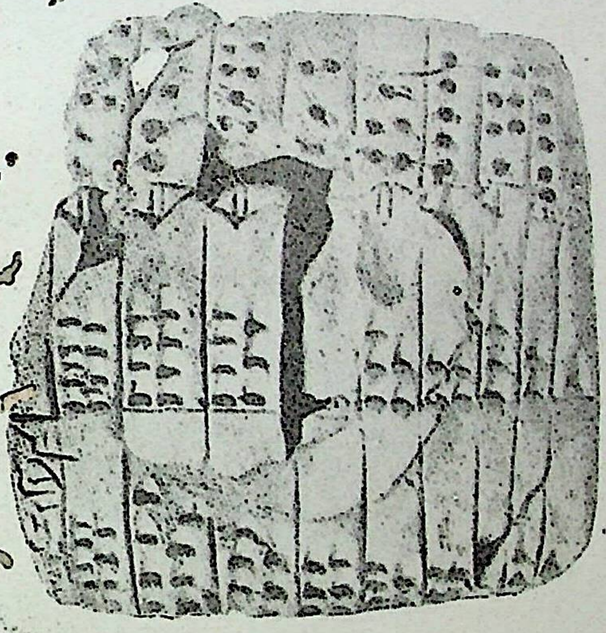
मिट्टी की कुछ ... मोहंजोदड़ो : (पृष्ठ-७८)



(ऊपर) आवरण की मांपनी, (नीचे) चक्के का व्यवहार (पृष्ठ-८०)



एक मिस्री लिपिक की प्रस्तर-मूर्ति (अनुमानत : ई० [illegible] २५
लूव्र म्यूजियम, पेरिस (पृष्ठ-९३)



दक्षिण मेसोपोटामिया के फारा नामक स्थान (प्राचीन शुरु-पाक) में प्राप्त कीलाक्षर संख्या-लिपि का एक सुमेरी मिट्टी का फलक; बीच की पंक्ति में नीचे से ऊपर १, २, ३, ४, ५ और ७, ८, तथा ९ और अंतिम पंक्ति के ऊपर १० तथा २० संख्याएं द्रष्टव्य हैं : (पृष्ठ-११४)



टॉलेमी के भूगोल में दिया गया पृथ्वी का मानचित्र : (पृष्ठ-४५८)

तकनीकी शब्दावली

अ

अंकगणित	Arithmetic
अंडज	Oviparous
अंडाशय	Ovary
अंडाशय-वाहिनी	Oviduct
अंतर्वस्तु	Contents
अंतर्जात	Innate
अंत्र	Intestine
अंधकारयुग	Dark age
अकशेरुकी	Invertebrate
अग्न्याशय	Pancreas
अजोली	Azilian
अतिपरवलय	Hyperbola
अतिप्राकृतिक	Supernatural
अतिसार	Diarrhoea
अत्यंत नूतन युग	Pleistocene
अधिचक्र	Epicycle
अनुप्रस्थ	Horizontal
अनुपाती	Proportional
अपचायक	Reducing
अपभू	Apogee
अपरिमेय	Irrational
अपवर्तन	Refraction
अपसन्यास	Apoplexy
अपारदर्शी	Opaque
अभाज्य	Prime

अभिकेंद्र	Centripetal
अभिन्नीकृत	Undifferentiated
अभियंता	Engineer
अभिवाह	Flux
अभिवृत्ति	Attitude
अभ्यंतरांग	Viscera
ऑरिग्नेसी	Aurignacian
अर्बुद	Tumour
अवकाश	aS pce
अवचेतन	Subconscious
अवतल	Concave
अव्यवहित	Immediate
अशल्क मीन	Catfish
असम्मेय	Incommensurable
असीडियन	Ascidian
अष्टक	Octaves
अक्षांश	Latitude
अक्ष	Axis

आ

आकाश गंगा	Milky Way
आकृति विज्ञान	Morphology
आगमनिक	Inductive
आघातवर्ध्य	Malleable
आदर्श अनुपात (नियम)	Proportionality (Law of)
आद्य (—आस्ट्रेलायड)	Proto (—Australoid)
आधार वाक्य	Premises
आनुभविक	Empirical
आनुवंशिक	Hereditary
आपेक्षिक (घनत्व)	Relative (density)
आयतन	Volume; Capacity
आरेख	Diagram

ऑरिग्नाकी	Aurignacian
आलंब	Fulcrum
आवर्त	Vortex

उ

उत्केंद्र (वृत्त)	Eccentric (circle)
उत्तल	Convex
उत्तोलक	Lever
उत्सर्जन	Excretion
उपदंश	Syphilis
उपभू	Perigee
उभयचर	Amphibious
उल्का	Meteor

ऊ

ऊतक	Tissue
ऊर्जा	Energy

ऋ

ऋजुरेखीय	Rectilinear; Rectilineal
ऋणात्मक	Negative

ए

एक-केंद्रीय	Concentric
एकघात (समीकरण)	Simple (Equation)
एकतंत्र	Autocracy
एपिक्युरीय	Epicurean

ऐ

ऐकेलाइफा	Acalypha
ऐजिलियाई	Azilian
ऐल्पिनायड	Alpinoid

क

कंपास	Compass
कण	Particle

कपाल	Cranium
करोटि	Skull
कर्कट संक्रांति	Summer Solstice
कर्ण	Hypotenuse
कलन	Calculus
कली चूना	Quicklime
कल्प	Period
कशेरुक	Vertebrate
कक्षा	Orbit
कांटेदार बरछी	Harpoon
कांस्ययुग	Bronze Age
काल	Era
कॉस्मॉस	Cosmos
कीपाकार	Funnel Shaped
कीमिया	Chemia
कीलक	Pivot
कीलाक्षर (लिपि)	Cuneiform (script)
कुंडलिनी	Helix
केशिका	Capillary
केशिका जाल	Rete Mirabile
कैंपिग्नियाई	Campignian
कोण	Angle
कोणीय	Angular
कोशिका	Cell
क्रमविकास	Evolution
क्रमागत	Consecutive
क्रमिक सन्निकटन	Successive Approximation
क्रस्टेशिया	Crustacea
क्रांतिवृत्त	Ecliptic
क्रिया	Operation
क्रिस्टलीकरण	Crystallisation
क्लोममुख	Gill Aperture

ख

खगोल	Celestial Sphere
खड़ी	Vertical
खराद	Lathe
खुरचनी	Scraper
खोज	Discovery

ग

गर्त	Pit
गलसुआ	Tonsil
गवेषणा	Research
गुणक	Multiplier
गुण-धर्म	Properties
गुणन	Factor
गुणन-फल	Product
गुणोत्तर (श्रेढ़ी)	Geometrical (progression)
गुण्य	Multiplicand
गुरुत्वकेंद्र	Centre of Gravity
गोरिल्ला	Gorilla
गोला	Sphere
गोलाभ	Spheroid
गोलीय त्रिभुज	Spherical Triangle
ग्रह	Planet
ग्रहघर	Planetarium
ग्रहण	Eclipse

घ

घन ज्यामिति	Solid Geometry
घात	Power
घिरनी	Pulley

च

चकमक पत्थर	Flint
चर	Variable

चांद्रचक्र	Saros
चाप	Pressure
चिकित्सा शास्त्र	Medical Science
चित्र-लिपि	Picture Writing; Pictographic Script

ज

जठर	Stomach
जड़वाद	Materialism
जरायुज	Viviparous
जल-विषुव	Autumnal Equinox
जलसेतु	Aqueduct
जलस्थलचर	Amphibious
जलोढ मिट्टी	Alluvial soil
जाति	Species
जिगर	Liver
जीवन-स्तर	Standard of Living
जीवशास्त्र	Biology
जीवा	Chord
जीवाश्म	Fossil
जैव (जीवन)	Organic (life)
ज्या	Sine
ज्यामिति	Geometry
ज्योतिष	Astronomy

झ

झिल्ली	Membrane

ट

टेलियोलॉजी	Teleology
टेक्नोलॉजी	Technology

ड

डामर	Pitch

त

तंत्र	System
तंत्रिका तंत्र	Nervous System
तकुआ-चक्री	Spindle Whorl
तत्व	Principle
तत्व मीमांसा	Metaphysics
तथ्य	Fact
तारामंडल	Constellation
तिल्ली	Spleen
तृणभूमि	Steppes
त्रिघात (समाकरण)	Cubic (equation)

द

दबाव, दाब	Pressure
दिक् सूचक	Compass
दीर्घवृत्त	Ellipse
दृष्ट	Apparent
द्रवण	Liquefaction
द्रवस्थिति-विज्ञान	Hydrostatics
द्वादश फलक	Dodecahedron
द्वादशिक	Duodecimal
द्विघात	Quadratic
द्रवस्थैतिक विज्ञान	Hydrostatics

धनात्मक	Positive
धमनी	Artery
धर्मसुधार	Reformation
धातृविद्या	Midwifery
धुरी दंड	Axle Rod
धुरी	Axis
धूपघड़ी	Gnomon
ध्रुव	Pole
ध्रुवक	Constant

ध्रुवतारा	Polestar
ध्वनिलिपि	Phonetic Writing

न

नवजीवक	Cenozoic
नवपाषाण (काल-युग)	Neolithic (age)
नाड़ी स्पंद	Pulse beat
नाभि	Focus
नाभिरज्जु	Umbilical chord
निगमनिक	Deductive
नियता	Directrix
नियतांक	Constant
निर्मेय	Problem
निरूपित करना	Formulate
निलय	Ventricle
निस्तापन	Calcination
निक्षेप	Deposit
नीहारिका (सिद्धांत)	Nebular (theory)
नूतनतम काल	Holocene
नैफ्था	Naphtha
नैसर्गिक (वरण)	Natural (Selection)
नौकरशाही	Bureaucracy

प

पंख	Fin
पटरी	Ruler
पथ्य	Diet
पद्धति	System
पपीरस	Papyrus
परकाल	Compasses (a pair of)
परमाणु	Atom
परवलय	Parabola
परावर्त्तक	Reflector

परिक्रमापथ	Orbit
परिगत (वृत्त)	Circumscribed (circle)
परिवहन (रक्त)	Circulation (of blood)
परीक्षण	Experiment
पर्यावरण	Environment
पक्षाघात	Paralysis
पानीपेंच	Water-Screw
पिंड	Body
पित्ताशय	Gall Bladder
पिरामिड	Pyramid
पुनर्जागरण	Renaissance
पुराजीवक	Paleozoic
पुरातत्वविद	Archeologist
पुरापाषाण काल	Paleolithic
पूंजीवाद	Capitalism
पृष्ठ	Surface
पेशी	Muscle
पैमाना	Scale
पौरोहित	Hieratic
प्रगलन-भट्ठी	Smelting Furnace
प्रकांड	Trunk
प्रजनन	Procreation
प्रतिकर्षित होना	Repel
प्रतिपक्ष	Antithesis
प्रतिलोम (अनुपात)	Inverse (ratio)
प्रतिज्ञा (सामान्य)	Enunciation (General)
प्रतीक	Symbol
प्रमेय	Theorem
प्रवाल	Coral
प्रस्ताव	Proposition
प्राक्कल्पना	Hypothesis
प्राक्-प्रतीक (बीजगणित)	Presymbolic (algebra)

प्राकृतिक घटनावली	Natural Pheuomena
प्राकृतिक दर्शन	Natural Philosophy
प्राकृतिक भूगोल	Physical Geography
प्राणि-विज्ञान	Zoology
प्रायोगिक पद्धति	Experimental Process
प्रेरक तंत्रिका	Motor Nerve
प्रेक्षण	Observation

फ

फलक	Blade
फलका	Hold of a Ship
फाॅसिल	Fossil

ब

बगला	Dhow
बंसी मछली	Angler Fish
बरमा	Drill
बल विज्ञान	Mechanics
बीज गणित	Algebra
बेलन	Cylinder

भ

भगंदर	Anal Fistula
भांडकर्म	Pottery
भावव्यंजक (लिपि)	Ideographic (writing)
भित्तिका	Septum
भित्तिचित्र	Wall Painting
भिन्न	Fraction
भुजा	Side
भूकंपमापी	Seismometer
भूपृष्ठ	Earth's Crust
भूमध्य समतल	Equatorial Plane,
भूविज्ञान	Geology
भौतिकतावादी	Materialistic

भौतिकी	Physics
भौमिकी	Geology
भ्रूण	Foetus
भ्रूण विज्ञान	Embryology

म

मंडल	Zone
मांगोलायड	Mongoloid
मकर-संक्रांति	Winter Solstice
मध्यजीव (कल्प)	Mesozoic (era)
मध्यमान	Mean
मध्ययुगीन	Medieval
मनोविज्ञान	Psychology
महाविषुव	Vernal equinox
माध्य	Mean
मानचित्र	Map
मानव-जाति विज्ञान	Ethnology
मापनी	Scale
मूत्राशय	Bladder
मूल	Root
माग्दली	Magdalenian
मोतियाबिंद	Cataract
मोमसांचा विधि	Cire perdue
मौसम विज्ञान	Meteorology
मौस्तरी	Mousterian

य

यकृत	liver
याम्योत्तर	Meridian
यायावर	Nomad
युग	Age
युगपत्	Simultaneous

र

रक्तक्षीणता	Anaemia
रविमार्ग	Ecliptic
रविमार्ग-समतल	Plane of the Ecliptic
रसायन	Chemistry
रहस्यवाद	Mysticism
राशि	Quantity
राशिचक्र	Zodiac
रिनोप्लास्टी	Rhinoplasty
रिनेसाँ	Renaissance
रीढ़-रज्जु	Spinal Cord
रेडियो-सक्रिय	Radio-Active

ल

लंब	Perpendicular
लंबकोण	Right Angle
लंबतः	Perpendicularly
लंबन	Parallax
लघुगणक	Logarithm
लव	Numerator
लेखाचित्र	Graph
लोकलिपि	Demotic Script
लोलक	Pendulum
लौकिक दिन	Civil Days

व

वंशानुगत	Hereditary
वनस्पति-विज्ञान	Botany
वरण (नैसर्गिक)	Selection (Natural)
वर्ग	Square
वर्तन	Refraction
वायुमंडल	Atmosphere
वास्तुकला	Architecture

वास्तुशिल्पी	Architect
विकर्ण	Diagonal
विकास	Evolution
विच्छेदन	Dissection
विषम-भुज तुला	Steelyard
विषुव-अयन	Precession of the Equinoxes
विषुव बिंदु	Equinoctial Point
विषुव-वृत्त	Equinoctial Line
विक्षेप	Astronomical Latitude
वृत्त	Circle
वेधशाला	Observatory
वेंट्रिकल	Ventricle
व्यक्तिनिष्ठ	Subjective
व्यवकलन	Subtraction
विच्छेदन	Dissection
व्यवस्थापित करना	Systematise
व्यास	Diameter
व्यासार्द्ध	Radius

श

संकु	Cone; Gnomon
शंकुभ	Conoid
शांकव गणित	Conics; Conic Sections
शिंपांजी	Chimpanzee
शिंबी	Leguminous
शरीर-रचना विज्ञान	Anatomy
शल्य विज्ञान	Surgery
शिरा	Vein
शिरोबिंदु	Zenith
शिक्षु	Apprentice
शीतकटिबंध	Frigid Zone
शीतोष्ण	Temparate
श्वेतक	Albumen

ष

षड्भुज (सम-)	Hexagon (regular)
षाष्ठिक (पद्धति)	Sexagesimal (system)

स

संग्रहालय	Museum
संघटन	Constitution
संतुलन	Equilibrium
संयुति (मास)	Synodic (month)
सवेदी तंत्रिका	Sensory Nerve
समकोण	Right Angle
समतल	Plane
समद्विबाहु	Isoscelles
सन्निकट	Approximate
समंजित करना	Adjust
समरूप	Similar
समलंब	Trapezium
समबाहु	Equilateral
समाकलन गणित	Integral calculus
समाचयन	Coalescence
समांतर	Parallel
समांतर माध्यम	Arithmetic Mean
समांतर श्रेढ़ी	Arithmetical Progression
समीकरण	Equation
समुद्री खरपतवार	Seaweed
सम्मेय	Commensurable
सर्वंजातीय जीव	Reptiles
सर्पिल	Spiral
सर्वव्यापी	Univeral
सर्वसम	Identical
सर्वसमिका	Identity

सलूत्री	Solutrean
साध्य	Proposition
सांध्यतारा	Evening Star
सामंततंत्री	Feudal
सामान्य	General
साम्यावस्था	Equilibrium
सार्वजनिक निर्माण	Public works
सार्वदेशिक	Universal
साहुल सूत्र	Plumbline
सिटेसिया	Cetacea
सिद्धांत	Principle
सुघट्य (अवस्था)	Plastic (state)
साध्य	Proposition
सूची-स्तंभ छिन्नक	Frustum of a Pyramid
सेफैलोपोडा	Cephalopoda
स्टेपीज	Steppes
स्टोइक	Stoic
स्थपति	Architect
स्थान	Space
स्थापत्य	Architecture
स्थापत्य कलाविद्	Architect
स्फटिक गोला	Crystal Sphere
स्राव	Secretion
स्वचल	Automatic
स्वनिक	Phonetic
स्वर-संगति	Harmony
स्वयं तथ्य	Axiom
स्वराघात (रेखा)	Accent (stroke)

ह

हर्निया	Hernia
हरात्मक माध्य	Harmonic Mean

हिंमकाल	Ice-Age
हैरोग्लिफी	Hieroglyphic
होलोथ्युरिया	Holothuria

क्ष

क्षेत्र कलन	Quadrature
क्षेत्रमिति	Mensuration